कृष्ण-काव्य
में
सौन्दर्य-बोध एवं रसानुभूति

(१३७५-१७००)

⊙

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० लिट्-उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

⊙

लेखिका

मीरा श्रीवास्तव

शक १८९८ : सन् १९७६ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक

प्रभात शास्त्री

प्रधान मंत्री : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

⊙

शक सं० १८९८ : सन् १९७६ ई०

मूल्य : पैंतीस रुपए

⊙

मुद्रक

प्रभात शास्त्री

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

⊙⊙

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक माधुर्य ब्रजभाषा काव्य में निहित है। विशेष रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य में माधुर्य का अपना उदात्त, विशिष्ट एवं महिमामय स्वरूप है। इसके समग्र एवं पक्ष विशेष पर अनेक शोधकार्य विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत सम्पन्न हुए हैं। कृष्ण-काव्य के सौन्दर्य-बोध एवं रसानुभूति के पक्ष पर एक समग्र ग्रंथ की अपेक्षा की जा रही थी। इस अभाव की पूर्ति डॉ० मीरा श्रीवास्तव ने की है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध डॉ० रामकुमार वर्मा जी के निदेशन में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० उपाधि के लिए समादृत हो चुका है।

डॉ० मीरा श्रीवास्तव ने गहन अध्ययन एवं प्रखर चिन्तन द्वारा कृष्णकाव्य में निहित सौन्दर्य-बोध, रसानुभूति एवं इसके अंतर्गत लीलारस तथा कृष्णभक्ति काव्य की उपलब्धि आदि से सम्बन्धित सभी पक्षों पर सुललित एवं सुचिंतित विचारों को गुंथित करने का सार्थक प्रयास किया है। भारतीय सौन्दर्य-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्य सौन्दर्य दर्शन की मीमांसा करते हुए उन्होंने कृष्ण-काव्य के उदात्त रस पक्ष की उज्ज्वलता और निगूढ़ता की ओर सुधी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। काव्यरस की रसानुभूति एवं कृष्ण-काव्य की रसानुभूति के पार्थक्य की ओर लेखिका ने सूक्ष्म विचार व्यक्त किया है। विश्वास है कि उनका यह प्रबन्ध विद्वज्जगत में सहृदयतापूर्वक पढ़ा जाएगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय के माध्यम से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त पाँच सहस्र रुपए की जो आनुदानिक सहायता हिन्दी साहित्य सम्मेलन को प्राप्त हुई है, इसके लिए सम्मेलन प्रयाग विश्वविद्यालय तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति आभार ज्ञापित करता है।

विश्वास है कि कृष्णकाव्य के रसिकों एवं भक्तों को प्रस्तुत कृति के अध्ययन से राधा-कृष्ण की लीलाओं के उज्ज्वल एवं उदात्त रूप का दिव्य दर्शन प्राप्त होगा।

होलिकोत्सव
सं० २०३२

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
साहित्यमंत्री

प्राक्कथन

श्रीकृष्ण ने मन की मर्यादाओं को अक्षुण्ण रखते हुये भी उन्हें लाँघकर प्राणों को आनंद, सौंदर्य तथा ऐश्वर्य का उपभोग करने की प्रेरणा दी। वे सोलह सौ गोपियों के कन्हय्या बने रहे। उनके युग की नारी गृह की देहरी लाँघ कर, मर्यादाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर जीवन के रस-समुद्र में कूद कर, राग भावना के व्यापक सौंदर्य तथा आनंद का उपभोग करती हुई भी निष्कलंक रही अर्थात् प्राणों के अधोमुखी पंक में नहीं गिरने पाई। श्रीकृष्ण ने जीवन की मानवीय देशकाल संबंधी सीमाओं को झरोखा बनाकर उन्हीं के भीतर से शाश्वत तथा असीम की अनुभूति प्राप्त करने की दृष्टि तथा उसके उपभोग कर सकने के लिए सूक्ष्म सौंदर्य का स्पर्श दिया। वे धरती के जीवन को तम-प्रकाश सद्सत के दुर्जय संघर्ष में मानव मन के सारथी ही नहीं रहे और उसे मृत्यु से आत्मा के अमृतत्व या अमरत्व की ओर ले जाने में ही सहायक नहीं रहे—उन्होंने इन्हीं द्वन्द्वों के बीच द्वन्द्वों के परे के रहस्य का साक्षात् करा कर मनुष्य को उन्नत जीवन के, सार्वभौम अस्तित्व के सोपानों पर आरोहण करने के लिए "रसो वै सः" मंत्र में भी दीक्षित किया। ऐसे विराट्, रहस्यमय, अचिन्त्य पुरुष से भारतीय चेतस् को, उसके कविर्मनीषी को युगों से जो प्रेरणा मिलती रही है वही हिन्दी कृष्णकाव्य में असीम के प्रति रस तथा सौंदर्य की श्रद्धांजलि के रूप से संचित हुई है—

इसी श्रद्धांजलि की सौंदर्यलहरियों में विलोड़ित रससमुद्र का आरपार निरीक्षण तथा गहन सार मंथन कर डा० कुमारी मीरा श्रीवास्तव ने अपनी डी० फिल् की थीसिस के बाद अपनी डी० लिट् की थीसिस के लिए उद्योग किया है।

श्री राधाकृष्ण का तन्मय तद्गत अयुगल व्यक्तित्व भारतीय काव्य-चेतना के अंतरिक्ष में सूर्यप्रभ रसकलश की तरह प्रकट अथवा उदय हुआ है, जिसमें यदि प्रकाश श्रीकृष्ण का है तो रसमाधुर्य श्री राधा जी के व्यक्तित्व के सम्मोहन का। कुमारी मीरा श्रीवास्तव ने, जो सदैव से उच्च उदात्त भावनाओं की साधिका रही हैं, अपनी अत्यन्त सूक्ष्म सौंदर्यग्राही रसदृष्टि से इस सूक्ष्म सूक्ष्मतरात्पर तत्व का मौलिक एवं सांगोपांग मूल्यांकन करने का प्रयास कर इस विषय को सार्थकता प्रदान की है। सौंदर्यबोध को वह मानव जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकता मानती हैं क्योंकि प्रज्ञा का निगूढ़ सत्य सौंदर्य-वैभव में परिधानित होकर ही समष्टि के लिए अनुभूति-सुलभ हो सकता है, इस सूक्ष्म सूक्ति से वह परमतत्व के सौंदर्यरस में अवतरित होने की सार्थकता की ओर संकेत करती हैं। उनकी दृष्टि से परमसत्य के बोध की उपलब्धि के लिए हृदय का सौंदर्यग्राही होना नितान्त आवश्यक है। रूप-प्रीति से हम भाव-प्रतीति की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर अग्रसर होकर ही मूर्त का रूपांतरण करने में समर्थ होते हैं जो मन को इंद्रियचारी से सूक्ष्म भावना-विहारी बनाकर जीवन के विकासक्रम में अथवा पुनर्निर्माण में सहायक होता है। सौंदर्यबोध हमें सृजन प्रेरणा देता है जिसके उदात्त पंखों द्वारा ही हम संबोधि के निःसीम आकाशों का स्पर्श प्राप्त कर सकते हैं।

कृष्णभक्ति काव्य में शोधप्रज्ञा ने सौंदर्य के धरातल का व्यापक निरूपण किया है। लालित्य और औदात्य के सूक्ष्म तानोंबानों से गुम्फित काव्य का यह सौंदर्यतत्व हृदय को सहज ही सम्मोहित कर लेता है। कृष्ण में औदात्य का आदित्य राधा में लालित्य का माधुर्य बनकर एवं अधिक भावग्राही बनकर, चित्त को तन्मय

कर देता है, अग्राह्य ग्राह्य बन जाता है। कृष्ण के रहस्यमय व्यक्तित्व की पूर्ति के लिए ही अविच्छिन्न एकता में ही जैसे राधा का आविर्भाव हुआ है। कृष्ण अवतरण के प्रतीक हैं, जो ईश्वरीय होता है, राधा आरोहण की, जो मानवीय है। कृष्ण अरूप से रूप की ओर, राधा रूप से अरूप की ओर अग्रसर होती हैं, किसी रहस्यमय स्थल पर दोनों का एकांत मिलन और बिछोह स्वाभाविक है, और मिलन में बिछोह, बिछोह में मिलन उनकी विशिष्टता है।

इस शोधप्रबन्ध के चतुर्थ और षष्ठ परिच्छेद अत्यंत महत्वपूर्ण बन पड़े हैं, जिनमें असीम का सौंदर्यबोध एवं परम के सौंदर्यबोध तथा रसानुभूति में शोध अपनी पराकाष्ठा का भी अतिक्रमण कर गई है। इन परिच्छेदों में इस प्रबन्ध के हृदय का स्पन्दन मर्म को स्पर्श किये बिना नहीं रहता। रूप रूपातीत बनकर, सीमित वस्तुओं का सौंदर्य असीम का, परम का सौंदर्य बनकर एवं किस प्रकार वर्णनातीत बनकर अपनी सम्मोहनता तथा मादकता से मनुष्य को आत्मविस्मृत कर देता है, इसका निरूपण करने में मीरा जी को असाधारण सफलता मिली है। लगता है, समस्त राधाकृष्ण का रूपक या प्रतीक जैसे यही व्यक्त करने को अंकित किया गया है कि सौंदर्य मूलतः परम एवं असीम ही है।

कुमारी मीरा श्रीवास्तव का 'कृष्णकाव्य में सौन्दर्यबोध एवं रसानुभूति' नामक शोधग्रंथ उनके गंभीर अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा सारग्राही बुद्धि तथा रससिद्ध सूक्ष्म दृष्टि का अकाट्य प्रमाण है, मैं इस प्रतिभासम्पन्न सूक्ष्म तत्व की साधिका एवं आराधिका को उसके इस महत्वपूर्ण कृतित्व के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ। शोध-प्रबन्धों में इसका सदैव ही विशिष्ट स्थान रहेगा, इसमें मुझे संदेह नहीं।

—सुमित्रानन्दन पन्त

भूमिका

डा० मीरा श्रीवास्तव ने 'कृष्ण-काव्य में सौन्दर्य-बोध एवं रसानुभूति' को अपने अध्ययन का विषय बनाकर एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। मध्यकाल में ब्रज भाषा काव्य में भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के रूप और गुण के माधुर्य का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह अपूर्व है। मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा; परन्तु इस व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा। धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया। ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यमय। इस ऐश्वर्यबोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धारकर्त्ता समझा। इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं; परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं। इस मनोवृत्ति को दार्शनिक कहते हैं। ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं। समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह, प्रबल होती रहीं। इसके फलस्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक मतवाद पैदा होते रहे। इन दोनों मनोवृत्तियों के फलस्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति, मन्दिर आदि निर्माण किए; अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललित कला की अभूतपूर्व समृद्धि सम्पादन की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा। परन्तु मध्यकालीन धर्म-साधना में कवियों और चित्रकारों को बिलकुल नए सिरे से सौन्दर्य साधना में निरत देखा जाता है। यह ये अस्वीकार नहीं करते कि ब्रह्म की शक्ति ऐश्वर्य है, वे उसे अभेद्य और अच्छेद्य भी स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि उस शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिए निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है—काल में भी और स्थान में भी; अर्थात वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकांगी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उनका एक अंग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अतिक्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में! जहाँ वह साधारण-से साधारण आदमी का समानधर्मा है। वही, इस प्रेम की प्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है, वही अहीर की छोहरियों के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

> जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद्य अभेद सुवेद बतावैं।
> ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भरि छांछ पै नाच नचावैं।

जो उसे ज्ञानमय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेममय समझते हैं, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं। ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।'

इसी विशेष सौन्दर्य दृष्टि को समझने का प्रयास किया है डा० मीरा श्रीवास्तव ने। उन्होंने अपने सुचिन्तित निबंध में बताया है कि 'मध्य युग' में कृष्ण-भक्ति साधना ने पहली बार भगवान के रूप और रस को ठोस धरातल पर उतारा। कृष्ण न तो सौन्दर्य की ज्योति हैं, न उसके प्रतीक, वे स्वयं 'सौन्दर्य' हैं,—सौन्दर्य की चित्तग्राह्य तत्वमूर्ति। उनका रस 'राम-रसायन' की भाँति शून्य-चेतना में पकने और वहीं तैयार होकर झरने वाला नहीं

है, वरन् अनुग्रहीत-चेतना के संपर्क द्वारा सत्ता के व्यक्त स्तरों पर अनुक्षण आनन्द का उन्मेष करने वाला है। उनके सौन्दर्य के बोध और रस की अनुभूति में व्यक्तिगत साधना का महत्व घट जाता है। परम-सौन्दर्य का दर्शन तथा चिदानंदरस की अनुभूति भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है।' उनका यह कहना बिल्कुल सही है; यद्यपि भगवान् के मनुष्य रूप में अवतीर्ण होने के स्पष्ट कारणों का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से किया जाता रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब धर्म की स्थापना के लिए, सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का विनाश करके धर्म की संस्थापना के लिए मैं शरीर धारण करता हूँ। किन्तु परवर्ती काल में दुष्ट-दमन आदि को भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु नहीं माना गया। लघुभागवतामृत में बताया गया है कि भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से लीला का विस्तार करना ही भगवान के प्रकट होने का उत्तम हेतु है:

स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥

इस प्रकार भक्तों पर भगवान की अनुग्रह छाया ही मुख्य रूप से अवतार का कारण बन जाती है। डा० श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है कि 'आनन्द चेतना अपनी भुक्ति में ही मुक्ति प्रदान कर देती है, मुक्ति के लिए अलग से आयास नहीं करना पड़ता। कृष्णभक्ति-साधना आनन्द-चेतना के इसी परम अनुग्रह पर निर्भर है। उससे अनुग्रहीत होकर जीव जीवन-मुक्त हो जाता है, व्यक्ति अमृत-भोगी। आनन्द की मधुरता सौन्दर्य-शोभा तथा रस-पेशलता के द्वारा व्यक्ति को जीवन-द्रष्टा और पूर्ण-प्रकाम बना देती है।' कृष्णभक्ति की मधुरोपासना सौन्दर्य और उसकी सिद्धि-स्वरूप है।

इस पुस्तक को पढ़कर मुझे विशेष आनन्द हुआ। मीरा जी ने बड़े परिश्रम से मध्यकालीन आकर ग्रंथों का मंथन करके कृष्ण काव्य में सौन्दर्य-बोध को सहृदयों के लिए सुलभ बनाया है। उनका यह कहना बिल्कुल सही है कि रूप और रस कृष्ण भक्ति साधना का मूल मंत्र है। रूप और रस की साधना ने व्यक्ति के सभी द्वन्द्व को समाप्त कर दिया है। पूर्ववर्ती साधनाओं में श्रेय और प्रेम में जो निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी वह श्रीकृष्ण की आराधना में समाप्त हो गई। आनन्द की साधना और सौन्दर्य की उपासना में प्रियता का जो तत्व है (प्रेय) वह भी कृष्ण से जुड़ कर श्रेय बन गया।

मुझे यह अध्ययन बहुत ही अच्छा लगा है और मुझे विश्वास है कि सभी सहृदय से पढ़कर तृप्ति अनुभव करेंगे।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

वाराणसी
२४-४-७६

पूर्ववाक्

⊙⊙

मध्ययुग की निराश और भग्नहृदय जनता को कृष्णावतार में सबसे अधिक सांत्वना प्राप्त हुई। जीवन की कुंठाओं, समाज की विषमताओं से त्रस्त उसे जिस मनोविज्ञान की आवश्यकता थी वह नीति-मर्यादा में पूर्णतया नहीं मिल सका। रामचरित का कीर्तिगान हुआ, किन्तु सगुण-साकार के उस रूप से जनसाधारण की अंतर्वेदना का उपचार नहीं हो सका। राजा राम के शील में जीवन की कटुताओं को शीतल आलेपन नहीं मिल पाया, और न अंतर्संघर्ष-जर्जर मन को युद्धोत्साह में विराम। जनमानस इतना खिन्न और ध्वस्त हो चुका था कि उसे विश्राम और सुख की खोज थी। विश्राम को पाकर वह जीवन का ऐसा गान सुनना चाहता था जो मधुर हो परममधुर हो—सारी कटुताओं, कर्कशताओं से रहित चिर-मधुर हो! उसकी इस पिपासा ने ब्रह्म का वह रूप अवतरित किया जो अमित छवि से सम्पन्न सौंदर्य की सिम.. लेकर, तथा अजश्र मधु से सिंचित रस का अकुंठ स्रोत लेकर जन जन के निकट उपस्थित हो सकता है, सबके हृदय से संलग्न रह सकता है, सारे दाह को उपशमित कर न केवल शांति का, वरन् अखण्ड आनन्द का वरदान दे सकता है। ब्रह्म का यह रूप था : मध्ययुग के भक्ति-काव्य में अवतरित कृष्ण। कृष्ण का अवतार सौंदर्य और माधुर्य, रूप और रस का अवतार है। उसने इन्हीं दो गुणों से जनजीवन के अंधकार और विषाक्तता का आत्यंतिक निदान प्रस्तुत किया। प्राणिमात्र में क्रियाशील आनन्द-पिपासा को कृष्ण ने सौंदर्य और रस से तृप्त किया। वृन्दाविपिन की सुषमा-मंडित रंगस्थली में विचरण करने वाले अप्राकृतमदन श्रीकृष्ण मध्ययुगीन सगुण-भक्तिधारा के सबसे आकर्षक और मूर्धन्य नायक बने। रसाकुल चिर-किशोरी राधिका भक्त-हृदय का प्रतिनिधित्व कर काव्य-जगत में युग युग के लिये अमर हो गईं।

भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में सौंदर्य और रस को मानवीय धरातल पर से ग्रहण कर उनके आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचने का उपक्रम है। प्रस्तुत प्रबन्ध में यही दृष्टि अपनाई गई है। भक्तिकालीन कृष्णकाव्य के सौंदर्य और रस को अधिकतर काव्यगत परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, उनके आधारभूत तत्वरूप में नहीं। अतएव, प्रशस्त राजमार्ग के अभाव में इस शोध-प्रबन्ध को जंगल में रास्ता काटने के समान कार्य करना पड़ा। इस दृष्टि से इसकी अपनी सीमायें होंगी ही, जो विद्वज्जनों की क्षमाशीलता एवं उदार सुझाव की अपेक्षा करती हैं।

समस्त कृष्णभक्ति संप्रदायों में किशोर-सौंदर्य तथा मधुर किंवा उज्ज्वल रस सर्वोपरि है। वल्लभसम्प्रदाय के अतिरिक्त कृष्ण का वात्सल्य एवं सख्य रूप अग्रहीत ही रहा है: सौंदर्य का सबसे अधिक आकर्षक रूप किशोर वयस् में आंका गया तथा रस की निविड़तम अनुभूति मधुररस में की गई। किशोर-सौंदर्य तदाश्रित मधुर-रस कृष्णभक्तिसाधना का मर्म है। प्रस्तुत प्रबन्ध के सौंदर्यबोध में किशोर-सौंदर्य तथा रसानुभूति में मधुरस को ही ग्रहण किया गया है।

प्रबन्ध दो खण्डों में विभक्त है : सौंदर्य-बोध एवं रसानुभूति। दोनों खण्डों को मिलाकर नौ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में सौंदर्य-बोध की आधारशिला का न्यास किया गया है। इसके अन्तर्गत सौंदर्य की आवश्यकता, उसके विधायक तत्व (मान) उसके बोध की प्रक्रिया तथा सौंदर्य-विषयक जिज्ञासा के लक्ष्य का विश्लेषण किया गया है। जीवन में सौंदर्यबोध की आवश्यकता है, वह कल्पना-विलास नहीं है। ज्ञान, कर्म, इच्छा के जिस सतत संघर्ष से मानव जर्जर हो उठता है उसे सौंदर्य का उन्मेष समरसता प्रदान करता है, वृत्तियों को आनन्द से सिक्त कर समरस कर देता है। वस्तुतः सौंदर्य आनन्द का घनीभूत निकष है, जिस तरह तप शिव का।

'सौंदर्य' मनुष्य की इच्छाशक्ति की साधना है। इच्छाशक्ति की साधना किंवा भावसाधना परोक्ष रूप से मनष्य की कर्मसाधना एवं ज्ञानसाधना भी बनती है। अतएव जीवन की साधना का इच्छाशक्ति की साधना से अनिवार्य सम्बन्ध है। और इच्छाशक्ति की साधना सौंदर्यापेक्षी होती है, जिस प्रकार ज्ञानशक्ति की साधना सत्यापेक्षी। जीवन में इन्द्रियों के प्रभुत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, सौंदर्य-बोध इन्हीं के माध्यम से परम-चेतना का साक्षात्कार कर जीवन को धन्य कर देता है। अस्तु, जीवन के मूल में ही सौंदर्यबोध की आवश्यकता है। प्रश्न यह उठता है कि सौंदर्य-बोध है क्या ? सौंदर्य के तत्व क्या हैं, उसका मान क्या है ? उसके अनुभव करने की प्रक्रिया क्या है ? सौंदर्य के न केवल बाह्यगुण—जैसे ऐक्य, समानुपात, संतुलन आदि—को लिया गया है वरन् उसके आंतरिक गुण—सुरुचि, आह्लाद, निस्संगता, आध्यात्मीकरण—को भी परखा गया है। बाह्य-गुणों के द्वारा अन्तश्चेतना के निर्माण पर भी प्रकाश डाल गया है। सौंदर्य-बोध की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए मानवचेतना के निगूढ़ स्तर को उद्घाटित किया गया है। सौंदर्य का बोध अनुभावन से आरम्भ होता है किन्तु असीम व्यंजनाओं के अनुचिंतन से जिस प्रत्यक्षीकरण पर वह पहुंचता है वह सामान्य मानसिक धरातल का सत्य-दर्शन नहीं होता, वह प्रातिभ (intuitive) एवं वह स्वयंप्रकाश (revelatory) होता है। सौंदर्यबोध की प्रक्रिया मानव चेतना को इस स्वयं-प्रकाश चेतना पर पहुंचाने का उपक्रम करती है। इस स्वयंप्रकाश चेतना में सौंदर्य का वह मूलादर्श उद्घाटित होता है जो सौंदर्य-साधना का लक्ष्य है। इस मूल-सौंदर्य को प्राप्त करना ही सौंदर्य-बोध का उद्देश्य है, कृष्णभक्तिकाव्य का सौंदर्यबोध इसे प्राप्त करने में पूर्णतया सफल हुआ है।

द्वितीय परिच्छेद में उस भारतीय सौंदर्य-दर्शन पर दृष्टिपात किया गया है जो भारतीय कला की आध्यात्मिक प्रेरणा बना हुआ है। पाश्चात्य सौंदर्य-दर्शन से तुलना करके उसकी आध्यात्मिक विशेषताओं का आकलन किया गया है। भारत के सौंदर्य-बोध में जिस अवबोध (faculty) की आवश्यकता है वह निरीक्षण नहीं, दर्शन है—अंतश्चेतना में प्राप्त स्वयंप्रकाश दृष्टि। इन दृष्टि को प्राप्त कर जिस सौंदर्य का दर्शन किया जाता है वह आंतरिक अभिव्यंजनाओं से सम्पन्न होता है। अतएव भारतीय सौंदर्यदर्शन में वस्तुपरकता पर बल न देकर (क्योंकि वह अपूर्ण है), परात्परता पर बल दिया गया है। परात्पर स्थिति में वस्तुजगत का अपूर्ण सौंदर्य पूर्ण हो जाता है। परात्परता के आग्रह ने भारतीय सौंदर्यबोध को सौंदर्य के आदिरूप तक पहुंचा दिया। सौंदर्य के आदिरूप में वह मूलादर्श (Ideal) सौंदर्य निहित है जो गणित के अर्थ में आदर्श हैं, कल्पना की इच्छा तृप्ति के रूप में किंवा धार्मिक रूप में नहीं। इस मूलादर्श को प्राप्त करने में सौंदर्य की एक निश्चित परम्परा सहायक हुई है। भारतीय सौंदर्य को हम रूढ़िवादी न कह कर परम्परापोषित कह सकते हैं, और यह परम्परा श्रेष्ठतम सौंदर्य-संस्कृति की पोषक रही है। जिस परम्परा का अनुसरण कर भारत ने सौंदर्य का आत्यंतिक दर्शन किया वह प्रकृति पर आश्रित है। प्रकृति में विश्वस्पंदन का सुचारु रूप देखकर तथा विश्व-जीवन के संतुलित प्रवाह को अनुभव कर उसने मानव-सौंदर्य को प्रकृति के सौंदर्य का पर्यायवाची बनाने की चेष्टा की है। जो कुछ है, जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकार नहीं किया, उसमें निहित किसी मूलस्रोत के अन्वेषण की प्रवृत्ति भारतीय सौंदर्य-दर्शन की विशेषता है। इस प्रवृत्ति ने उसे सामयिक एवं उपयोगितावादी दृष्टि से उपराम कर वह शाश्वत दृष्टि प्रदान की जो सौंदर्य के चिरन्तन रूप का साक्षात्कार एवं प्रस्तुतीकरण करती है। भारतीय सौंदर्य-दर्शन रहस्यवादी है, वस्तुवादी नहीं।

तृतीय परिच्छेद में कृष्णभक्तिकाव्य के सौंदर्य-धरातल का विवेचन किया गया है। सौंदर्य में लालित्य और औदात्य—इन्हीं दो तत्वों का संयोग रहता है। इनमें से किसी एक का आग्रह पूर्ण सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर पाता। इनका मणिकांचन योग अपेक्षित है। उससे जिस धरातल की सृष्टि होती है वह गरिमामय तथा महत् होता हुआ भी आकर्षक होता है, शास्त्रीय होता हुआ भी स्वच्छन्द होता है। कृष्णभक्तिकाव्य के संदर्भ में सौंदर्य के इसी धरातल का विश्लेषण किया गया है। कृष्णसौंदर्य में औदात्य की प्रतिष्ठा दिखा कर उसके प्रबल लालित्य की अभिव्यंजना की गई है।

चतुर्थ परिच्छेद में असीम सौंदर्य-बोध का विवेचन किया गया है। मानव-देह में आदिरूप के सन्धान की प्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हुए 'परम' के सौंदर्य तथा उस सौंदर्य के बोध से उत्पन्न विशेष मनोविज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। रूपातीत का सौंदर्य साधारण रूप-सौंदर्य नहीं है। उसकी निजी विशेषतायें हैं : वह शोभा-सिन्धु है—अगाध और अमाप सौंदर्य है, रूपश्री की इति है उसमें, नित्य नवोन्मेषशालिता के अमित गुण से सम्पन्न वह न केवल मोहन है वरन् मादन भी है। कृष्ण किंवा राधा में सौंदर्य के इन अलभ्य गुणों का विश्लेषण कर कृष्ण-भक्तिकाव्य के आलंबनगत सौंदर्य का तत्वरूप प्रस्तुत किया गया है। उसी प्रकार भावक पर पड़ने वाली सौंदर्य की प्रति-क्रियाओं—चकित, थकित, मोहित, विदेह-भाव, लोक-परित्याग, तद्गत-भाव—के सूक्ष्म मनोविज्ञान को उद्घाटित किया गया है। अतएव कृष्णभक्त के सौंदर्य-बोध को अन्य रसिकों के सौंदर्य-बोध से पृथक रूप में देखा गया है।

पंचम परिच्छेद में कृष्णभक्तिकाव्य के सौंदर्य-चित्रण का अनुशीलन किया गया है। सौंदर्य-चित्रण तीन रूपों में हुआ है—मानव-सौंदर्य, प्राकृतिक सौंदर्य एवं कलात्मक सौंदर्य। मानव सौंदर्य नैसर्गिक एवं प्रसाधनजनित—दोनों रूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्रसाधन के अंतर्गत आलेपन, मंडन, वस्त्र, आभूषण हैं। नैसर्गिक सौंदर्य के चित्रण में रूढ़ उपमानों का प्रयोग किया गया है किन्तु इससे उसकी नवता का कोई ह्रास नहीं होता। रूढ़ियों के द्वारा भारतीय सौंदर्य-दर्शन की उस परम्परा को अवगत किया जा सकता है जो ह्रासोन्मुखी नहीं, सांस्कृतिक है। कृष्णभक्तिकाव्य में चित्रित प्राकृतिक सौंदर्य वस्तुपरक है, किन्तु वस्तुपरिगणनात्मक नहीं। उसमें रूप, रस गंध वर्ण की विपुल माधुरी है, छायावादी सूक्ष्म व्यंजना नहीं। प्रस्तुत परिच्छेद में प्राकृतिक सौंदर्य के अन्तर्गत वृन्दावन के यमुना-पुलिन, कुंज, ऋतु सौंदर्य आदि का विशद रूप प्रस्तुत किया गया है, भक्तिकाव्य में अभिव्यक्त प्रकृति-सुषमा को लीलामधुर रूप में देखा गया है। कलात्मक सौंदर्य के प्रति भी कृष्णभक्त कवियों ने अपनी रुचि प्रदर्शित की है। नगर, गृहसज्जा, पर्व आदि के अवसर पर जिस वैचित्र्य संपन्न एवं भव्य कलात्मक सौंदर्य का अंकन हुआ है उसका निजी महत्व है। अतएव सौंदर्य-चित्रण के अन्तर्गत उसे भी समादृत किया गया है। इस प्रकार, कृष्णभक्त कवियों की सर्वांगीण एवं गूढ़ सौंदर्य-दृष्टि का बोध प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद में रसानुभूति का सूत्रपात किया गया है। कृष्णभक्तिकाव्य की रसानुभूति काव्यरस की रसानुभूति से भिन्न है। उसके कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जिन्हें दृष्टि में रख कर ही उसकी रसानुभूति से अवगत हुआ जा सकता है, उन्हें छोड़कर नहीं। आलंबन, उद्दीपन की प्रणाली पर कृष्णभक्ति की रससाधना की गुरुता को नहीं समझा जा सकता। यह सत्य है कि राधा-कृष्ण उसके आलंबन हैं, किन्तु कृष्ण या राधा नायक-नायिका रूप से ही आलंबन नहीं हैं, वे स्वयं रसरूप हैं। अमूर्त रस को वे अपने में मूर्त करके रसानुभूति के आधार बने हैं। भक्ति के संदर्भ में रस की एक विशेषता यह प्रतीत होती है कि जो रसमय है, वही रसिक भी है। सच्चिदानंद रस रूप है, वही रसिक भी है। इन्हीं दोनों पार्श्वों को अपने में संजोने के कारण कृष्ण का लीलाभाव सार्थक हो पाता है। वे कूटस्थ और निर्लेप नहीं हैं, रसभोक्ता भी हैं। वे भक्त को जो रसानुभूति प्रदान करते हैं वह लीलाभाव पर आश्रित लीलारस है। कृष्णभक्तिकाव्य में इस लीलारस की अनुभूति करना ही मुख्य है, काव्य-रस की अनुभूति गौण। कृष्णभक्तों की रसानुभूति का लक्ष्य ब्रह्मानंद सहोदर नहीं है, ब्रह्मानन्द भी नहीं, वह परमानंद है—कृष्ण का लीला-रस। इस लीलारस की निष्पत्ति में संचारी, अनुभाव आदि आवश्यक नहीं है, आवश्यक हैं, धाम, परिकर, भगव-त्तत्व। कृष्ण के लीलारस की अनुभूति यत्र तत्र सर्वत्र नहीं हो सकती, वह उनके धाम वृंदावन (किंवा भक्त के हृदय-कमल) में ही सम्भव है। लीलारस की अनुभूति जिस तिस सब को नहीं हो सकती, वह उनकी कृपा से अनुग्रहीत भक्तों को ही होती है। उस रस की अनुभूति के वाहक हैं ब्रज की चिदात्मायें—कृष्ण के परिकर। और रस के आधार हैं स्वयं भगवान कृष्ण। रस के ये तीन उपकरण कृष्णभक्तिकाव्य की रसानुभूति को सामान्य रसानुभूति से एकदम पृथक कर देते हैं। प्रस्तुत परिच्छेद में इसी अलौकिक तत्व को अधिगत एवं अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। लीलारस को ब्रजरस एवं नित्यविहाररस में वर्गीकृत कर उसके साधन एवं सिद्धि पक्ष पर प्रकाश डाला गया है।

सप्तम परिच्छेद में लीलारस की अनुभूति में सहायक संयोगपरक लीलाओं का विवेचन किया गया है। माखन-चोरी, चीरहरण, रास, पनघट, दान, हिंडोला, वसन्त, निकुंज आदि संयोगपरक लीलायें रसानुभूति का सोपान निर्मित करती हैं। वे चिदानंदरस को मनस् से प्राण, प्राण से देह में उतारती हुई, अन्तर्वाह्य का एकाकार करती हुई व्यक्ति को आनंद-चेतना से ओत-प्रोत कर देती हैं। इन लीलाओं का विश्लेषण करते हुये रसानुभूति में उनके योगदान पर विचार किया गया है।

अष्टम परिच्छेद में लीलारस को वियोगगत लीलाओं के सन्दर्भ में देखा गया है। बिना वियोग की अनुभूति के, बिना अहंता और ममता के निरुद्ध हुए, कृष्ण का रस अनुभूत नहीं हो सकता। अतएव वियोग-लीलाओं का रससाधना में महत्वपूर्ण स्थान है। पूर्वरागजन्य विरह, मानलीला तथा मथुरागमन लीला का विस्तृत रूप प्रस्तुत करते हुए उनमें निहित रसानुभूति के विकास को अंकित किया गया है। अंत में, तदाकारता की स्थिति में राधाकृष्ण के एकरूप हो जाने में रसानुभूति की चरमावस्था का प्रतिपादन किया गया है। कृष्णभक्तिकाव्य के रसबोध में जिस तात्विक दृष्टि की आवश्यकता है उसे सूत्र रूप में ग्रहण कर कृष्ण की मानवीय लीलाओं एवं गोपियों की मानवीय अनुभूतियों पर आंतरिक आलोक डालने का प्रयास किया गया है।

नवम परिच्छेद में सौंदर्य एवं रस की समीक्षाओं का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए एतद्विषयक कृष्णभक्ति-काव्य की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया गया है। कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन और जगत का आत्यंतिक अर्थ पुरुषोत्तम में पाया गया है। सौंदर्य और प्रेम के द्वारा लीलाश्रित ब्रह्म ने, इस काव्य का उपजीव्य बन कर, जन-मन का न केवल अनुरंजन किया वरन् उसका रूपान्तर भी किया है। सृष्टि का रहस्य लीला है, माया नहीं। इस लीलाभाव से कृष्णभक्ति साधना अभिभूत है। लीला रूप (साकार) तथा रस (सगुण) का आधार लेकर पल्लवित पुष्पित होती है। रूप, रस कृष्णभक्तिकाव्य के मूलमंत्र हैं। काव्य के माध्यम से कृष्णभक्तिधारा ने रूप और रस के मूलस्रोत को उन्मुक्त किया है। उसकी यही उपलब्धि है। ब्रह्म की रूपरेखा को उसने इतना आकर्षक रूप प्रदान किया कि 'रूपासक्ति' जीवन का मूलमंत्र बन गई; और प्रकृति के गुणों से मुंह न मोड़ कर अथवा दास्यभाव से स्तब्ध न करके उसने उन्हें अजस्र माधुरी और सम्मोहन से भर दिया। गुणासक्ति भी उसकी एक उपलब्धि है। इनके माध्यम से उसने जगत और जीवन के स्रोत को आदिस्रोत से जो दिया। कृष्ण के लीला में श्रेय और प्रेय की एकत्मिका वृत्ति फलीभूत हुई। यही कृष्णभक्तिकाव्य के सौंदर्यबोध और रसानुभूति की चरम उपलब्धि है।

परिशिष्ट में देवविग्रह के विशिष्ट अनुपात को निरूपित कर सौंदर्य के आदिरूप को समझा गया है। कृष्ण-राधा के नायक-नायिका रूप की शास्त्रीयता पर भी दृष्टिपात किया गया है।

इस प्रकार, सौंदर्य के आदिरूप के अन्वेषण में ही कृष्णभक्तिकाव्य के सौंदर्य-बोध की परीक्षा की गई है, और रस के आदिस्रोत की वांछा में ही उसकी रसानुभूति की समीक्षा की गई है। इस दिशा में निर्देशक आचार्य प्रवर डा० रामकुमार वर्मा ने अपने सुचारु निर्देशन एव अपनी सुदक्ष आलोचनात्मक-प्रतिभा से मेरी अल्पबुद्धि को बहुत कुछ देने की कृपा की है। उनकी महत् अनुकम्पा के लिए मैं चिर-ऋणी हूँ। इस कठिन कार्य में उखड़ जाने के क्षण भी आये हैं। उन विषम स्थितियों में कविवर सुमित्रानंदन पंत ने अपनी वात्सल्यमयी छाया से जो प्रोत्साहन दिया है, उसके लिए कृतज्ञता व्यक्त करने में मैं असमर्थ हूँ।

विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति ने तीन वर्ष तक सीनियर-रिसर्च-फेलोशिप प्रदान करके शोधकार्य को व्यावहारिक दृष्टि से सुविधाजनक बनाया था। स्तरीय प्रकाशनों के लिए विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति जो धन-राशि देती है, उसे भी प्राप्त करने का सौभाग्य इस प्रबन्ध को हुआ है। प्रकाशन की समुचित सुविधा को जिस तत्परता एवं आत्मीयता से हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने जुटाया है; उसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ।

'रागांचल'
८९ टैगोर नगर, इलाहाबाद

—मीरा श्रीवास्तव

संकेत

सू० सा०	:	सूरसागर
रा०पं०	:	रासपंचाध्यायी
प्र०भा०	:	प्रथम भाग
पद सं०	:	पद संख्या
पृ०	:	पृष्ठ
ले०	:	लेखक
प्रका०	:	प्रकाशक
Pub.	:	Publisher
P.	:	Page

विषय-सूची

⊙

प्रथम खण्ड : सौंदर्य-बोध

—द्वितीय खण्ड : रसानुभूति—

प्रथम खण्ड

सौन्दर्य बोध

प्रथम परिच्छेद

सौंदर्य-बोध का विवेचन

(क) जीवन में सौंदर्य-बोध की आवश्यकता

भारतीय दर्शन और साहित्य मानव-जीवन के अंतराल में सत्य और सौन्दर्य का अन्वेषण करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। दर्शन ने जिस सत्य का प्रस्तुतीकरण किया उसे रागात्मक वृत्तियों से जोड़ कर साहित्य ने सौंदर्य का रूप दिया। एकान्त सत्य तब तक स्पृहणीय नहीं है जब तक कि वह समष्टि में अन्तर्भूत न हो, और समष्टि में अन्तर्भाव सौन्दर्य के माध्यम से ही हो सकता है। दर्शन सिद्धान्तगत है, साहित्य अनुभूतिगत। यद्यपि दार्शनिक-साहित्य एवं साहित्यगत-दर्शन सत्य और अनुभूति का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं, तथापि दर्शन सौन्दर्य का आग्रह नहीं करता, उसी भांति साहित्य सत्य का आग्रह न मानते हुए, उसे कल्पना से समन्वित करते हुए अनुभूति के धरातल पर ले आता है। यह एक मान्य तथ्य है कि सत्य में ही सौंदर्य का प्रतिफलन होता है और सौन्दर्य अपने क्रोड़ में सत्य का अंतर्भाव किए रहता है। ऐसी स्थिति में सत्य और सौंदर्य एक ही स्थिति के दो संयोजक पार्श्व हैं जिनको खोजना दर्शन और साहित्य का इष्ट रहा है। सत्य में जिस सीमा तक सौंदर्य-बोध होगा, उसी सीमा तक वह संग्रहणीय होगा, और इसीलिए साहित्य ने जीवन में सत्य को हृदयंगम करने के लिए सौंदर्यबोध की आवश्यकता समझी।

(१) आनन्द की खोज : इच्छाशक्ति का योग

सच्चिदानन्द की त्रिवागति—सत्, चित्, आनन्द—जीवन में ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा के रूप में आन्दोलित रहा करती है। इस आलोड़न का नाम ही जीवन है। मानव-मन का वर्तमान निरन्तर क्षोभ और मंथन से चंचल है। किन्तु यही उसकी काम्य स्थिति नहीं है। प्रत्याघातों के बीच भी मानव चिंतन किंवा परिकल्पना, भावना एवं कर्म से एक ऐसी स्थिति पर पहुंचने की अभीप्सा से उत्पीड़ित रहता है जहां पर संघर्ष समाप्त हो जाय। आलोड़न थम जाय, अंतर के किसी अगम स्रोत से शान्ति और सौख्य का स्रोत फूट कर जीवन को स्निग्ध एवं उज्ज्वल कर दे। यह अभीप्सा मन को ऊपर से आक्रान्त किए रहती है। एक ओर जहां वह जैविक-भुक्तिवाद से संतुष्ट नहीं हो पाता, दूसरी ओर वहां सन्यास की निरामय स्थिति में भी वह आत्मोपलब्धि नहीं कर पाता। जीव-जगत की आहार, निद्रा, मैथुन की वृत्तियां ही मानव-मन के वैचित्र्य -संपन्न जगत् का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं। देह और प्राण की भूख ही उसका सब कुछ नहीं बन पाती, क्योंकि बुद्धि तत्त्व के अवतरण से देह और प्राण की चेतना कुछ और ही हो जाया करती है। उसके जीवन का अर्थ केवल आहार जुटाना, निद्रामग्न किंवा भोगरत रहना नहीं होता। प्राण की आकांक्षा हिंसारत संघर्ष की विजय-संतृप्ति, कामबुभुक्षा आदि, तथा सामाजिक चेतना केवल वंशवृद्धि तक सीमित नहीं रह पाती। देह व प्राण के साथ संयुक्त होकर जब मनस्तत्त्व उसके व्यक्तित्व का संचालन करता है तब वस्तुजगत के प्रति मनुष्य के अन्तर्जगत की प्रतिक्रिया बहुत-कुछ रूपान्तरित हो जाती है। उसका मन केवल काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर का अखाड़ा नहीं बना रहता, वरन् उसमें नानान्य सूक्ष्म वृत्तियों का उदय होता है जो उसके वैचित्र्य-सम्पन्न चित्त का निर्माण करती हैं। ज्ञान, कर्म, एवं भाव—सभी का आधार ये चित्तवृत्तियाँ हैं, अपरिमार्जित सहज प्रवृत्तियां नहीं। ये उसके लिये उतनी ही सहज हैं जितनी पशु के लिए पाशविक वृत्तियाँ।

इन वृत्तियों का संतुलन एवं सामंजस्य खोज पाना ही मानव-चैतन्य का संघर्ष है। जब चित्तवृत्तियां किसी ऐसी स्थति में पहुंच जाती हैं जहाँ मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना को विश्रान्ति मिलती है तब वहां कर्म, ज्ञान, और भाव की त्रिधारा एक हो जाती है। इस समरसता में एक अपूर्व अनिर्वचनीय तृप्ति का अनुभव होता है जिसे 'आनन्द' की संज्ञा दी गई है। इसी आनन्द-प्राप्ति के हेतु सारी सृष्टि व्याकुल है। किन्तु आनन्द जड़ता में उतर कर 'सुख' का रूप धारण कर लेता है, अपने मूल से च्युत होकर खण्डित हो जाता है। आनन्द का जो रूप हम जीवजगत में देखते हैं वह 'सुख' रूपात्मक है, वह अखण्ड और निर्द्वन्द्व नहीं है। सुख दुःख से निरन्तर विषण्ण होता रहता है। चेतना के ऊपरी धरातल पर प्राप्त सुख के साथ दुःख की जो अविच्छिन्न एवं निरवद्य कड़ी जुड़ी हुई है उसके कारण सुख को आनन्द समझ लेने की भ्रान्ति मनुष्य के अंतःकरण को नहीं होती। दुःख-सुख की द्वन्द्वात्मक अनुभूति में चेतना को विश्राम नहीं मिलता, समरसता नहीं आ पाती। किसी एकतान, निश्चिंत, अखण्ड आनन्द की कामना मानव-चेतना को विक्षुब्ध किए रहती है। खण्ड, विच्छिन्न, अनिश्चित सुख में वह तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता। अखण्ड आनन्द की कामना की तृप्ति चित्र विचित्र आकांक्षाओं की तृप्ति पर निर्भर नहीं है—यह निर्विवाद सत्य है। तो यह आनन्द, पूर्ण आप्त-काम हो जाने का संतोष किस प्रकार उपलब्ध किया जा सकता है? न तो वृत्तियों को कुचल कर, दबाकर, किंवा अवसन्न करके यह प्राप्त होता है, और न उनके यथातथ्यरूप के निर्बाध विलास से। पहले प्रकार का प्रयास मनुष्य की खण्ड-सत्य परिप्रेक्ष्यी बुद्धिसाधना किया करती हैं, दूसरे प्रकार का प्रयास यंत्रारूढ़ कर्म-प्रेरणा। एक जीवन की समस्त हलचल को स्तब्ध कर देना चाहती है, दूसरी उस हलचल को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहती है। किन्तु न हतप्रभता से परितोष हो पाता है न अहेतुक कर्मठता से। अपने मूल रूप में ज्ञानशक्ति निमीलित आनन्द को पाना चाहती है और क्रियाशक्ति उन्मीलित 'आनंद' को। आनन्द के इन दोनों पहलुओं को थाम कर जीवन और जगत में बिखेरने का वरदान मनुष्य की इच्छाशक्ति को मिला है। नाना वर्जनाओं के अनुशासन में ज्ञान जिस प्रमील आनन्द में लीन होता है, उसी प्रमील आनन्द को भाव सौन्दर्य के सस्मित इंगित से पा लेता है। क्रियाशक्ति जीवन की हलचल, संघर्षशीलता एवं विस्फोटों में जिस छंदोमय, गतिमय आनन्द को पाना चाहती है, मनुष्य की भावसाधना सौंदर्योद्दीप्त छंद एवं लय में उसे आसानी से बांध लेती है।

(२) आनन्द-सौंदर्य : इच्छाशक्ति की साधना

मनुष्य के कर्म एवं ज्ञान के पीछे भी उसका भाव सक्रिय रहता है। अतः भाव-साधना किंवा इच्छा की साधना प्रच्छन्न रूप से उसकी ज्ञान-साधना और कर्म-साधना भी बनती है। इच्छाशक्ति की साधना आनन्द की साधना है जो सौंदर्यापेक्षी है। सच्चिदानंद का सत् जहाँ ज्ञान-चक्षु की सत्य-दृष्टि के सामने उपस्थित होता है, चित् कर्म-संन्यास के शिवत्व में अभिव्यक्त होता है, वहां आनन्द भाव-मण्डित इच्छारंजित सौन्दर्य में उद्घाटित होता है। यों तो सच्चिदानन्द फलस्वरूप सत्यं शिवं सुन्दरम् एक इकाई है, किन्तु वृत्तिविशेष की प्रधानता के कारण सत् ज्ञान में, चित् कर्म में और आनन्द भाव किंवा इच्छा में अनाविल रूप में प्रतिबिम्बित होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आनन्द की प्राप्ति 'सुन्दरम्' की साधना का लक्ष्य है। और 'सुन्दरम्' की यह साधना मनुष्य की इच्छाशक्ति की ही साधना है। बिना इच्छाशक्ति के संयमन और अभिभावन के मानव जीवन को अंतिम-सौख्य नहीं मिल पाता। कर्म की दिशा भी इच्छा की दिशा पर निर्भर है। कर्म के पीछे इच्छा की ही प्रेरणा रहती है। जीवन कर्मप्रधान है, निष्क्रिय कोई नहीं रह सकता। इन इच्छाओं की संवेदना जितनी ही परिमार्जित एवं सुसंस्कृत अर्थात् सौंदर्यमय होगी, कर्म उतना ही श्रेय से संयुक्त होकर शिवमय बन जायगा। अतः इच्छा के विकास से कर्म का विकास सम्बद्ध है, और कर्म की स्तरोन्नति से जीवन का उन्नयन। सौंदर्य-बोध से जीवन का स्तर स्वयमेव उठ जायगा। अंतिम स्थिति में, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मिथ्याभेद मिट जाएगा। तब

विश्वसत्ता और उसके मानव-अंश का सम्मिलन होगा, इसी सामंजस्य को प्राप्त करने के लिए ही मानवता जाने-अनजाने प्रयत्नशील है।[१] सौन्दर्य की यह सामंजस्योन्मुखी प्रेरणा जीवन के अंतराल में स्वयं भी गतिशील है। विना इस प्रेरणा के जीवन का विकास ही नहीं हो सकता। सौंदर्य के प्रति जागरूकता जीवन की अनगढ़ता को व्यवस्था, विषमता को समरसता प्रदान कर देगी। तब आनन्द की प्राप्ति स्वयमेव हो जाएगी और मानव-चैतन्य का संघर्ष समाप्त हो जाएगा। अस्तु, जीवन के मूल में ही सौंदर्य-बोध की आवश्यकता निहित है।

(३) सौंदर्य-बोध और इन्द्रियाँ :

मनुष्य का भाव आनन्द-पिपासु है, उसकी इच्छा आनन्द की खोजी है। सौंदर्य आनन्द का घनीभूत निकष है। अतः भाव का विकास सौंदर्य-बोध पर आश्रित है। सत्य का मार्ग पकड़ कर भाव का विकास खोजना टेढ़ा रास्ता पकड़ना है। सौंदर्य के बोध से भाव स्वयं विकसित होने लगता है किन्तु भाव का विकास चित्त के विकास से सम्बद्ध है और चित्त का विकास इन्द्रिय-चेतना के विकास से। अतएव मूल रूप से सौंदर्य-बोध इन्द्रिय-बोध के स्तर पर उतर कर आता है। मानव-जाति के प्रारम्भ से ही जीवन पर इन्द्रियों का प्रभुत्व स्थापित है। चाहे ज्ञान हो या कर्म, उसकी माध्यम इन्द्रियां ही हैं, तभी इन्द्रियों का वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय में किया गया है, इन्द्रियों की शिक्षा ही प्रारम्भिक शिक्षा है। नैतिक या बौद्धिक नियंत्रण के द्वारा चित्त का संयमन नहीं हो पाता और शारीरिक दंड सामयिक रोकथाम कर सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इन्द्रियों की सुशिक्षा से ही चित्त एवं भाव का विकास सम्पन्न होता है। अतएव सर्वप्रथम इन्द्रिय-शिक्षा अनिवार्य है।[२] सौन्दर्य-बोध ऐन्द्रिय-चेतना के विकास का सहजतम एवं प्रबलतम साधन है। सौंदर्य के द्वारा इन्द्रियों का शोधन होता है विभिन्न कलाएँ, जो सौंदर्य की मुखर रूप हैं, हमारी दर्शन, श्रवण, स्पर्शादि इन्द्रियों की सूक्ष्मता को मुकुलित करके उन्हें गहनतर एवं स्वच्छतर करती हैं। बुद्धि और अध्यात्म का संस्पर्श भी अविकसित इन्द्रिय-चेतना से विकृत हो जाता है। सुरुचिसम्पन्न इन्द्रियों से जीवन सौंदर्य एवं प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। अतएव

---

१. "The conviction is based on the plain fact that the qualities of feelings (that is, of the aesthetical nature) are constant and potent in their influence on action, and that the quality of feeling, and consequently of action can be raised and purified by the impartation to them of the qualities and characteristics that are inherent in the arts and crafts, which are the external forms and expression of aesthetical nature.

And when beauty is established in life the natural and inevitable ascension of the quality of life that will follow will eliminate false differences between its material and spiritual aspects; and the unification between the Being of the Universe and its fragment ation of the human spirit, towards which humanity aspires, though darkly, will be accomplished."

—*Vames, H. Cousins* : The Aesthetical Necessity in life, p. 23

२. A mental or moral correction is hardly understood, a physical one will act as a temporary check, which will possibly have bad effects later and is in any case only a negative measure. An education of the senses, which are the chief organs of the emotional life, should therefore, be the first to be attempted.

—*Maria Petrie* : Art and Regeneration, p. 15

इन वृत्तियों का संतुलन एवं सामंजस्य खोज पाना ही मानव-चैतन्य का संघर्ष है। जब चित्तवृत्तियां किसी ऐसी स्थति में पहुंच जाती हैं जहाँ मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना को विश्रान्ति मिलती है तब वहां कर्म, ज्ञान, और भाव की त्रिधारा एक हो जाती है। इस समरसता में एक अपूर्व अनिर्वचनीय तृप्ति का अनुभव होता है जिसे 'आनन्द' की संज्ञा दी गई है। इसी आनन्द-प्राप्ति के हेतु सारी सृष्टि व्याकुल है। किन्तु आनन्द जड़ता में उतर कर 'सुख' का रूप धारण कर लेता है, अपने मूल से च्युत होकर खण्डित हो जाता है। आनन्द का जो रूप हम जीवजगत में देखते हैं वह 'सुख' रूपात्मक है, वह अखण्ड और निर्द्वन्द्व नहीं है। सुख दुःख से निरन्तर विषण्ण होता रहता है। चेतना के ऊपरी धरातल पर प्राप्त सुख के साथ दुःख की जो अविच्छिन्न एवं निरवद्य कड़ी जुड़ी हुई है उसके कारण सुख को आनन्द समझ लेने की भ्रान्ति मनुष्य के अंतःकरण को नहीं होती। दुःख-सुख की द्वन्द्वात्मक अनुभूति में चेतना को विश्राम नहीं मिलता, समरसता नहीं आ पाती। किसी एकतान, निश्चित, अखण्ड आनन्द की कामना मानव-चेतना को विक्षुब्ध किए रहती है। खण्ड, विच्छिन्न, अनिश्चित सुख में वह तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता। अखण्ड आनन्द की कामना की तृप्ति चित्र विचित्र आकांक्षाओं की तृप्ति पर निर्भर नहीं है—यह निर्विवाद सत्य है। तो यह आनन्द, पूर्ण आप्त-काम हो जाने का संतोष किस प्रकार उपलब्ध किया जा सकता है? न तो वृत्तियों को कुचल कर, दबाकर, किंवा अवसन्न करके यह प्राप्त होता है, और न उनके यथातथ्यरूप के निर्बाध विलास से। पहले प्रकार का प्रयास मनुष्य की खण्ड-सत्य परिप्रेक्ष्यी बुद्धिसाधना किया करती है, दूसरे प्रकार का प्रयास यंत्रारूढ़ कर्म-प्रेरणा। एक जीवन की समस्त हलचल को स्तब्ध कर देना चाहती है, दूसरी उस हलचल को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहती है। किन्तु न हतप्रभता से परितोष हो पाता है न अहेतुक कर्मठता से। अपने मूल रूप में ज्ञानशक्ति निर्मीलित आनन्द को पाना चाहती है और क्रियाशक्ति उन्मीलित 'आनंद' को। आनन्द के इन दोनों पहलुओं को थाम कर जीवन और जगत में बिखेरने का वरदान मनुष्य की इच्छाशक्ति को मिला है। नाना वर्जनाओं के अनुशासन में ज्ञान जिस प्रमील आनन्द में लीन होता है, उसी प्रमील आनन्द को भाव सौन्दर्य के सस्मित इंगित से पा लेता है। क्रियाशक्ति जीवन की हलचल, संघर्षशीलता एवं विस्फोटों में जिस छंदोमय, गतिमय आनन्द को पाना चाहती है, मनुष्य की भावसाधना सौंदर्यदीप्त छंद एवं लय में उसे आसानी से बांध लेती है।

(२) आनन्द-सौंदर्य : इच्छाशक्ति की साधना

मनुष्य के कर्म एवं ज्ञान के पीछे भी उसका भाव सक्रिय रहता है। अतः भाव-साधना किंवा इच्छा की साधना प्रच्छन्न रूप से उसकी ज्ञान-साधना और कर्म-साधना भी बनती है। इच्छाशक्ति की साधना आनन्द की साधना है जो सौंदर्यापेक्षी है। सच्चिदानंद का सत् जहाँ ज्ञान-चक्षु को सत्य-दृष्टि के सामने उपस्थित होता है, चित् कर्म-संन्यास के शिवत्व में अभिव्यक्त होता है, वहां आनन्द भाव-मण्डित इच्छारंजित सौन्दर्य में उद्घाटित होता है। यों तो सच्चिदानन्द फलस्वरूप सत्यं शिवं सुन्दरम् एक इकाई है, किन्तु वृत्तिविशेष की प्रधानता के कारण सत् ज्ञान में, चित् कर्म में और आनन्द भाव किंवा इच्छा में अनाविल रूप में प्रतिबिम्बित होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आनन्द की प्राप्ति 'सुन्दरम्' की साधना का लक्ष्य है। और 'सुन्दरम्' की यह साधना मनुष्य की इच्छाशक्ति की ही साधना है। बिना इच्छाशक्ति के संयमन और अभिभावन के मानव जीवन को अंतिम सौख्य नहीं मिल पाता। कर्म की दिशा भी इच्छा की दिशा पर निर्भर है। कर्म के पीछे इच्छा की ही प्रेरणा रहती है। जीवन कर्मप्रधान है, निष्क्रिय कोई नहीं रह सकता। इन इच्छाओं की संवेदना जितनी ही परिमार्जित एवं सुसंस्कृत अर्थात् सौंदर्यमय होगी, कर्म उतना ही श्रेय से संयुक्त होकर शिवमय बन जायगा। अतः इच्छा के विकास से कर्म का विकास सम्बद्ध है, और कर्म की स्तरोन्नति से जीवन का उन्नयन। सौंदर्य-बोध से जीवन का स्तर स्वयमेव उठ जायगा। अंतिम स्थिति में, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मिथ्याभेद मिट जाएगा। तब

विश्वसत्ता और उसके मानव-अंश का सम्मिलन होगा. इसी सामंजस्य को प्राप्त करने के लिए ही मानवता जाने-अनजाने प्रयत्नशील है।[१] सौन्दर्य की यह सामंजस्योन्मुखी प्रेरणा जीवन के अंतराल में स्वयं भी गतिशील है। बिना इस प्रेरणा के जीवन का विकास ही नहीं हो सकता। सौंदर्य के प्रति जागरूकता जीवन की अनगढ़ता को व्यवस्था, विषमता को समरसता प्रदान कर देगी। तब आनन्द की प्राप्ति स्वयमेव हो जाएगी और मानव-चैतन्य का संघर्ष समाप्त हो जाएगा। अस्तु, जीवन के मूल में ही सौंदर्य-बोध की आवश्यकता निहित है।

(३) सौंदर्य-बोध और इन्द्रियाँ :

मनुष्य का भाव आनन्द-पिपासु है, उसकी इच्छा आनन्द की खोजी है। सौंदर्य आनन्द का घनीभूत निकष है। अतः भाव का विकास सौंदर्य-बोध पर आश्रित है। सत्य का मार्ग पकड़ कर भाव का विकास खोजना टेढ़ा रास्ता पकड़ना है। सौंदर्य के बोध से भाव स्वयं विकसित होने लगता है किन्तु भाव का विकास चित्त के विकास से सम्बद्ध है और चित्त का विकास इन्द्रिय-चेतना के विकास से। अतएव मूल रूप से सौंदर्य-बोध इन्द्रिय-बोध के स्तर पर उतर कर आता है। मानव-जाति के प्रारम्भ से ही जीवन पर इन्द्रियों का प्रभुत्व स्थापित है। चाहे ज्ञान हो या कर्म, उसकी माध्यम इन्द्रियां ही हैं, तभी इन्द्रियों का वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय में किया गया है, इन्द्रियों की शिक्षा ही प्रारम्भिक शिक्षा है। नैतिक या बौद्धिक नियंत्रण के द्वारा चित्त का संयमन नहीं हो पाता और शारीरिक दंड सामयिक रोकथाम कर सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इन्द्रियों की सुशिक्षा से ही चित्त एवं भाव का विकास सम्पन्न होता है। अतएव सर्वप्रथम इन्द्रिय-शिक्षा अनिवार्य है।[२] सौन्दर्य-बोध ऐन्द्रिय-चेतना के विकास का सहजतम एवं प्रबलतम साधन है। सौंदर्य के द्वारा इन्द्रियों का शोधन होता है विभिन्न कलाएँ, जो सौंदर्य की मुखर रूप हैं, हमारी दर्शन, श्रवण, स्पर्शादि इन्द्रियों की सूक्ष्मता को मुकुलित करके उन्हें गहनतर एवं स्वच्छतर करती हैं। बुद्धि और अध्यात्म का संस्पर्श भी अविकसित इन्द्रिय-चेतना से विकृत हो जाता है। सुरुचिसम्पन्न इन्द्रियों से जीवन सौंदर्य एवं प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। अतएव

---

१. "The conviction is based on the plain fact that the qualities of feelings (that is, of the aesthetical nature) are constant and potent in their influence on action, and that the quality of feeling, and consequently of action can be raised and purified by the impartation to them of the qualities and characteristics that are inherent in the arts and crafts, which are the external forms and expression of aesthetical nature.

And when beauty is established in life the natural and inevitable ascension of the quality of life that will follow will eliminate false differences between its material and spiritual aspects; and the unification between the Being of the Universe and its fragment ation of the human spirit, towards which humanity aspires, though darkly, will be accomplished."

—*Vames, H. Cousins* : The Aesthetical Necessity in life, p. 23

२. A mental or moral correction is hardly understood, a physical one will act as a temporary check, which will possibly have bad effects later and is in any case only a negative measure. An education of the senses, which are the chief organs of the emotional life, should therefore, be the first to be attempted.

—*Maria Petrie* : Art and Regeneration, p. 15

इन वृत्तियों का संतुलन एवं सामंजस्य खोज पाना ही मानव-चैतन्य का संघर्ष है। जब चित्तवृत्तियां किसी ऐसी स्थति में पहुंच जाती हैं जहाँ मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना को विश्रान्ति मिलती है तब वहां कर्म, ज्ञान, और भाव की त्रिधारा एक हो जाती है। इस समरसता में एक अपूर्व अनिर्वचनीय तृप्ति का अनुभव होता है जिसे 'आनन्द' की संज्ञा दी गई है। इसी आनन्द-प्राप्ति के हेतु सारी सृष्टि व्याकुल है। किन्तु आनन्द जड़ता में उतर कर 'सुख' का रूप धारण कर लेता है, अपने मूल से च्युत होकर खण्डित हो जाता है। आनन्द का जो रूप हम जीवजगत में देखते हैं वह 'सुख' रूपात्मक है, वह अखण्ड और निर्द्वन्द्व नहीं है। सुख दुःख से निरन्तर विषण्ण होता रहता है। चेतना के ऊपरी धरातल पर प्राप्त सुख के साथ दुःख की जो अविच्छिन्न एवं निरवद्य कड़ी जुड़ी हुई है उसके कारण सुख को आनन्द समझ लेने की भ्रान्ति मनुष्य के अंतःकरण को नहीं होती। दुःख-सुख की द्वन्द्वात्मक अनुभूति में चेतना को विश्राम नहीं मिलता, समरसता नहीं आ पाती। किसी एकतान, निश्चित, अखण्ड आनन्द की कामना मानव-चेतना को विक्षुब्ध किए रहती है। खण्ड, विच्छिन्न, अनिश्चित सुख में वह तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता। अखण्ड आनन्द की कामना की तृप्ति चित्र विचित्र आकांक्षाओं की तृप्ति पर निर्भर नहीं है—यह निर्विवाद सत्य है। तो यह आनन्द, पूर्ण आप्त-काम हो जाने का संतोष किस प्रकार उपलब्ध किया जा सकता है? न तो वृत्तियों को कुचल कर, दबाकर, किंवा अवसन्न करके यह प्राप्त होता है, और न उनके यथातथ्यरूप के निर्बाध विलास से। पहले प्रकार का प्रयास मनुष्य की खण्ड-सत्य परिप्रेक्ष्यी बुद्धिसाधना किया करती है, दूसरे प्रकार का प्रयास यंत्रारूढ़ कर्म-प्रेरणा। एक जीवन की समस्त हलचल को स्तब्ध कर देना चाहती है, दूसरी उस हलचल को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहती है। किन्तु न हतप्रभता से परितोष हो पाता है न अहेतुक कर्मठता से। अपने मूल रूप में ज्ञानशक्ति निर्मीलित आनन्द को पाना चाहती है और क्रियाशक्ति उन्मीलित 'आनंद' को। आनन्द के इन दोनों पहलुओं को थाम कर जीवन और जगत में बिखेरने का वरदान मनुष्य की इच्छाशक्ति को मिला है। नाना वर्जनाओं के अनुशासन में ज्ञान जिस प्रमील आनन्द में लीन होता है, उसी प्रमील आनन्द को भाव सौन्दर्य के सस्मित इंगित से पा लेता है। क्रियाशक्ति जीवन की हलचल, संघर्षशीलता एवं विस्फोटों में जिस छंदोमय, गतिमय आनन्द को पाना चाहती है, मनुष्य की भावसाधना सौंदर्योद्दीप्त छंद एवं लय में उसे आसानी से बांध लेती है।

(२) आनन्द-सौंदर्य : इच्छाशक्ति की साधना

मनुष्य के कर्म एवं ज्ञान के पीछे भी उसका भाव सक्रिय रहता है। अतः भाव-साधना किंवा इच्छा की साधना प्रच्छन्न रूप से उसकी ज्ञान-साधना और कर्म-साधना भी बनती है। इच्छाशक्ति की साधना आनन्द की साधना है जो सौंदर्यापेक्षी है। सच्चिदानंद का सत् जहाँ ज्ञान-चक्षु की सत्य-दृष्टि के सामने उपस्थित होता है, चित् कर्म-संन्यास के शिवत्व में अभिव्यक्त होता है, वहां आनन्द भाव-मण्डित इच्छारंजित सौन्दर्य में उद्घाटित होता है। यों तो सच्चिदानन्द फलस्वरूप सत्यं शिवं सुन्दरम् एक इकाई है, किन्तु वृत्तिविशेष की प्रधानता के कारण सत् ज्ञान में, चित् कर्म में और आनन्द भाव किंवा इच्छा में अनाविल रूप में प्रतिबिम्बित होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आनन्द की प्राप्ति 'सुन्दरम्' की साधना का लक्ष्य है। और 'सुन्दरम्' की यह साधना मनुष्य की इच्छाशक्ति की ही साधना है। बिना इच्छाशक्ति के संयमन और अभिभावन के मानव जीवन को अंतिम-सौख्य नहीं मिल पाता। कर्म की दिशा भी इच्छा की दिशा पर निर्भर है। कर्म के पीछे इच्छा की ही प्रेरणा रहती है। जीवन कर्मप्रधान है, निष्क्रिय कोई नहीं रह सकता। इन इच्छाओं की संवेदना जितनी ही परिमार्जित एवं सुसंस्कृत अर्थात् सौंदर्यमय होगी, कर्म उतना ही श्रेय से संयुक्त होकर शिवमय बन जायगा। अतः इच्छा के विकास से कर्म का विकास सम्बद्ध है, और कर्म की स्तरोन्नति से जीवन का उन्नयन। सौंदर्य-बोध से जीवन का स्तर स्वयमेव उठ जायगा। अंतिम स्थिति में, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मिथ्याभेद मिट जाएगा। तब

विश्वसत्ता और उसके मानव-अंश का सम्मिलन होगा, इसी सामंजस्य को प्राप्त करने के लिए ही मानवता जाने-अनजाने प्रयत्नशील है।[१] सौन्दर्य की यह सामंजस्योन्मुखी प्रेरणा जीवन के अंतराल में स्वयं भी गतिशील है। बिना इस प्रेरणा के जीवन का विकास ही नहीं हो सकता। सौंदर्य के प्रति जागरूकता जीवन की अनगढ़ता को व्यवस्था, विषमता को समरसता प्रदान कर देगी। तब आनन्द की प्राप्ति स्वयमेव हो जाएगी और मानव-चैतन्य का संघर्ष समाप्त हो जाएगा। अस्तु, जीवन के मूल में ही सौंदर्य-बोध की आवश्यकता निहित है।

(३) सौंदर्य-बोध और इन्द्रियाँ :

मनुष्य का भाव आनन्द-पिपासु है, उसकी इच्छा आनन्द की खोजी है। सौंदर्य आनन्द का घनीभूत निकष है। अतः भाव का विकास सौंदर्य-बोध पर आश्रित है। सत्य का मार्ग पकड़ कर भाव का विकास खोजना टेढ़ा रास्ता पकड़ना है। सौंदर्य के बोध से भाव स्वयं विकसित होने लगता है किन्तु भाव का विकास चित्त के विकास से सम्बद्ध है और चित्त का विकास इन्द्रिय-चेतना के विकास से। अतएव मूल रूप से सौंदर्य-बोध इन्द्रिय-बोध के स्तर पर उतर कर आता है। मानव-जाति के प्रारम्भ से ही जीवन पर इन्द्रियों का प्रभुत्व स्थापित है। चाहे ज्ञान हो या कर्म, उसकी माध्यम इन्द्रियां ही हैं; तभी इन्द्रियों का वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय में किया गया है, इन्द्रियों की शिक्षा ही प्रारम्भिक शिक्षा है। नैतिक या बौद्धिक नियंत्रण के द्वारा चित्त का संयमन नहीं हो पाता और शारीरिक दंड सामयिक रोकथाम कर सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इन्द्रियों की सुशिक्षा से ही चित्त एवं भाव का विकास सम्पन्न होता है। अतएव सर्वप्रथम इन्द्रिय-शिक्षा अनिवार्य है।[२] सौन्दर्य-बोध ऐन्द्रिय-चेतना के विकास का सहजतम एवं प्रबलतम साधन है। सौंदर्य के द्वारा इन्द्रियों का शोधन होता है विभिन्न कलाएँ, जो सौंदर्य की मुखर रूप हैं, हमारी दर्शन, श्रवण, स्पर्शादि इन्द्रियों की सूक्ष्मता को मुकुलित करके उन्हें गहनतर एवं स्वच्छतर करती हैं। बुद्धि और अध्यात्म का संस्पर्श भी अविकसित इन्द्रिय-चेतना से विकृत हो जाता है। सुरुचिसम्पन्न इन्द्रियों से जीवन सौंदर्य एवं प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। अतएव

---

१. "The conviction is based on the plain fact that the qualities of feelings (that is, of the aesthetical nature) are constant and potent in their influence on action, and that the quality of feeling, and consequently of action can be raised and purified by the impartation to them of the qualities and characteristics that are inherent in the arts and crafts, which are the external forms and expression of aesthetical nature.

And when beauty is established in life the natural and inevitable ascension of the quality of life that will follow will eliminate false differences between its material and spiritual aspects; and the unification between the Being of the Universe and its fragment ation of the human spirit, towards which humanity aspires, though darkly, will be accomplished."

—*Vames, H. Cousins* : The Aesthetical Necessity in life, p. 23

२. A mental or moral correction is hardly understood, a physical one will act as a temporary check, which will possibly have bad effects later and is in any case only a negative measure. An education of the senses, which are the chief organs of the emotional life, should therefore, be the first to be attempted.

—*Maria Petrie* : Art and Regeneration, p. 15

इन्द्रिय-शिक्षा को बुद्धि-शिक्षा तथा अध्यात्मशिक्षा के पूर्व ही स्थान मिलना चाहिए।[१]' हमारी वर्तमान मानव संस्कृति यांत्रिक और भौतिक सभ्यता एवं कलात्मक और आध्यात्मिक मूल्यों के बीच की गहरी खाई के कारण असफल हो रही है। दोष हमारी चेतना में है, चाहे वह बौद्धिक अहंकार हो अथवा आध्यात्मिक दरिद्रता। जो भी हो, उससे हमारी संवेदनाओं का शैशव नष्ट हो गया है, और इस शैशव के ह्रास के साथ ही इन्द्रियों की पवित्रता का भी ह्रास हो गया है। पाश्चात्य दार्शनिक हेनरी थोरो ने निर्भीक एवं सशक्त वाणी में घोषित किया है कि हमें विशुद्ध इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी स्वर्ग की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। हम अपाततः बहरे हैं, गूंगे हैं, अंधे हैं—घ्राण, स्वाद और संवेदनरहित। प्रत्येक पीढ़ी यह अनुभव करती है कि उसने अपनी दैविक शक्ति को इधर-उधर गँवा दिया है, प्रत्येक इन्द्रिय एवं अवबोध (Faculty) का गलत उपयोग हुआ है। हमारे कान इन क्षुद्र बातों को सुनने के लिए नहीं बने हैं जिन्हें हम सुनते रहते हैं वरन् स्वर्गिक नाद के श्रवण के लिए बने हैं। आँखें इस वस्तुजगत में भटकने एवं जीर्ण होने के लिए नहीं बनी हैं, वरन् उस सौंदर्य को देखने के लिए बनी हैं जो अभी हमारे लिए अदृश्य है।[२]

कृष्ण-भक्ति-काव्य में इन्द्रिय-जगत की समृद्धि द्रष्टव्य है वहाँ न सन्तों की निराकार बौद्धिकता को प्रश्रय दिया गया, न सूफियों की प्रतीकात्मक व्यंजना को। जो कुछ अगम्य है, अगोचर है उसे कला की रेखाओं और रंगों में सँवार कर, इन्द्रियों के प्रदेश में उतार कर चित्त के सम्मुख उपस्थित किया गया है। भक्तिकालीन कृष्णकाव्य ने परमसौंदर्य को ऐन्द्रिय धरातल पर पकड़ा है। उसकी वाणी में स्वर, लय, रूप, रंग सभी उभरे हैं। मूर्ति, चित्र, संगीत—सभी कलाएँ इस काव्यकला में संयोजित हैं। आध्यात्मिक नायक-नायिका—राधा-कृष्ण—ने मूर्तिकला की मांसलता, चित्रकला की लाक्षणिकता, संगीत की अनुभूतिशीलता, सभी को एक साथ समाहित कर लिया है। राधा, कृष्ण, वृन्दावन आदि का ध्यान संप्रदायों की साधना का आधार है। इस ध्यान में विभिन्न वर्णों, रेखाओं, प्रकाश आदि का अपरिहार्य नियोजन है। ये विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से हमारी ऐन्द्रिय चेतना को उस सूक्ष्मतम लोक में प्रेषित कर देते हैं जहाँ इन्द्रियाँ आत्मरूप हो जाती हैं और आत्मा इन्द्रिय-गम्य। रेखाओं, रंगों, आकारों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सत्य हैं जिनका मनुष्य की अंतश्चेतना से गहरा सम्बन्ध

---

१. Together with the physical education, this sense-education should precede the later unfolding of the intellect and the spirit. To leave the emotions undeveloped or uncontrolled is to impoverish or greatly endanger the normal balance of man and is one of the primal causes of the many physical, mental, nervous and moral disorders we see all around us today.

—*Maria Petrie* : Art and Regeneration, p. 15-16

२. We need pray for no higher heaven than the pure senses can furnish, a purely sensuous life. Our present senses are but rudiments of what they are destined to become. We are comparatively deaf and dumb and blind, and without smell or taste or feeling. Every generation makes the discovery that its divine vigour has been dissipated, and each sense and faculty misapplied and debauched. The ears were made not for such trivial uses as men are wont to suppose, but to hear celestial sounds. The eyes were not made for such groveling uses as they are now put to and worn out by, but to behold beauty now invistible.

—*Herbert Read* : Icon and Idea, p. 139

है। वे केवल मनोरंजन के साधन नहीं हैं, इन्द्रियों के उन्नयन के भी हैं। इन्हें बौद्धिक अहमन्यता में प्रायः उपेक्षित रखा जाता है, पर मनुष्य के भाव-जगत से वे एकदम सीधे और मूलरूप से सम्बद्ध हैं।[1] हम इनमें जितना ही डूब सकेंगे उतना ही भाव का विकास हो सकेगा। जैसे-जैसे हमारी इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती जाएँगी, वैसे ही वैसे हम वाणी की उन सूक्ष्म ध्वनियों को सुन सकेंगे जो हम नहीं सुन पाते, वे असाधारण छन्दोमय रेखाएँ एवं वर्णयोजनाएँ हमारे सामने प्रकाशित हो उठेंगी जो हमारी स्थूल दृष्टि से ओझल हैं। इन्हीं के माध्यम से, इन्द्रिय-चेतना के आत्यंतिक विकास से मनुष्य उस 'बोध' पर पहुँच सकता है जिसे हम 'सौंदर्य' कहते हैं। सत्य तर्क के द्वारा 'परम' का साक्षात्कार है, मंगल तप के द्वारा, और सौंदर्य इन्द्रियों द्वारा परम का साक्षात्कार है।

(ख) सौंदर्य के मान

सौंदर्य की पहचान क्या है, उसके विशेष गुण क्या हैं? इस विषय का भारतीय मनीषा ने अधिक विश्लेषण नहीं किया। चारुता, रमणीयता, प्रियता एवं आह्लाद जैसे शब्दों में सौंदर्यानुभूति की विशेषता को भले ही अभिव्यक्त किया गया हो, उसके विधायक तत्वों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया। काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत रसानुभूति का जितना विशद विवेचन किया गया है उसे देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि कला-मनीषियों ने सौंदर्यानुभूति का उतना विशद विश्लेषण क्यों नहीं किया। पाश्चात्य विद्वानों ने सौंदर्य के उपकरणों की विशेष छानबीन की है, उन उपकरणों से उत्पन्न सौंदर्य-चेतना का सांगोपांग विवेचन भी किया है।

प्लेटो के अनुसार सौंदर्य के वाह्यगुण हैं : ऐक्य (Unity), समानुपात (Symmetry) विस्तार में संतुलन (Balance in details)। प्लॉटिनस व्यवस्था (Organisation) पर बल देता है। हीगेल अनेकता में एकता को महत्व देता है और डिडेरो (Diderot) पारस्परिक-सम्बन्ध को। इन सबको एक सूत्र में बाँधते हुए आधुनिक सौंदर्यशास्त्री जेम्स एच० कज़न्स सौंदर्य को संयोजन किंवा पूर्णता (Integration or wholeness) की संज्ञा प्रदान करता है। उसके मत से व्यवस्था ही स्वर्ग का प्रथम नियम है, यही सौंदर्य का भी गुण है। एस० एलेक्जैन्डर कुछ अन्य गुणों का भी उल्लेख करता है। उसके अनुसार सौंदर्य हमारी अनासक्त (disinterested) चेतना का द्योतक है। सौंदर्य का एक अन्य गुण भ्रमात्मकता (illusoriness) है, अर्थात् कोई भी सुन्दर वस्तु बहुत से सूक्ष्म संकेतों से भरपूर रहती है।

१. ऐक्य (Unity)—सर्वप्रथम हम ऐक्य किंवा विविधता में एकता को लें। यह तत्व जीवन और वृद्धि का विशेष गुण है, सौंदर्य की विशेष माँग है। द्वन्द्व और विषमता को सुलझा कर ऐक्य उत्पन्न करना, किन्तु उस ऐक्य को वैचित्र्यशून्य न बनने देना, सौंदर्य का गुण है। ऐक्य से सामंजस्य का आविर्भाव होता है।

---

१. "......lines, colours, shapes, possess their own forces of expression, independent of any association with the external aspects of the world; that their life and action are self-conditioned psychological phenomena rooted in human nature; that these elements are not chosen by convention for any utilitarian or other reason as words and figures are they are not merely abstract signs, but they are immediately and organically bound up with human emotions. The revelation of this fundamental law has opened up a vast new field in art giving the possibility of expression to those human impulses and emotions which have been neglected."

—*Herbert Read.* : The Forms of Things Unknown, p. 164.

२. **समानुपात** (Symmetry)—दूसरा गुण है समानुपात। समानुपात का नमूना हमें स्वयं मानव देह में दृष्टिगत होता है। यह ज्यामितिक गुण है। ज्यामिति के नियमों के पीछे गूढ़ तत्त्व छिपे रहते हैं। विश्व के निर्माण में इनका ही आधार लिया गया है। अतः व्यवस्था, जिसे कज़न्स ने सौंदर्य का अनिवार्य अंग माना है, वहुत कुछ समानुपात पर निर्भर है।

३. **संतुलन** (Balance)—किन्तु समानुपात से अधिक महत्वपूर्ण है असमानुपातों में सन्तुलन (Asymmetrical Balance) । नियमतिता (Regularity) के कारण सौंदर्य का ह्रास होने लगता है। अतएव समानुपात से असमानुपातों का समुचित संयोजन अधिक महत्वपूर्ण है। इसे ही संतुलन (Balance) कहा गया है। इस तत्व से जीवन की गति का बोध होता है। पूर्ण से अंशों के सम्बन्ध का निर्धारण सौंदर्य को प्रवाह प्रदान करता है। यह गतिशीलता अस्थिरता में नहीं, संतुलन में प्राप्त की जाती है।

सौंदर्य के उत्पादन में समानुपात का विवेक चेतना को ऐसे विन्दु तक पहुँचा देता है जहाँ वस्तु का बोध सुख और संतोष का कारण बनता है। किसी वस्तु के संप्रेक्षण में वस्तु के समग्र रूप के एक साथ ग्रहीत होने की आवश्यकता है। समस्त वस्तु की इकाई तभी हृदयंगम हो सकती है जब उसके विविध अवयव एक विशेष रूपाकार में प्रस्तुत हों। इसलिए अनुपात की विशिष्टता किसी भी वस्तु के समस्त रूप को एक साथ ही संप्रेषित करने में सहायक होती है। किन्तु किसी भी वस्तु का समानुपात ही पर्याप्त नहीं है जब तक कि वह अनुपात अपनी सूक्ष्म और स्थूल अभिव्यंजना में संयोजित न हो। इस प्रकार समानुपात में संयोजन (Integration) की विशिष्ट दृष्टि ही सौंदर्य की अनुभूति को जन्म देती है।

सौंदर्य के बाह्य तत्त्वों का विश्लेषण कर देने मात्र से सौंदर्य-बोध की मानसिक प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता। सौंदर्य एक ऐसा मनोवैज्ञानिक धरातल है जिसकी अपनी विशेषताएँ हैं। उन विशेषताओं को हम उसका आन्तरिक गुण कह सकते हैं; वे निम्नलिखित हैं:—

१. **सुरुचि**—सुरुचि सौंदर्य का प्राथमिक गुण है। जो सौंदर्यबोध हमारे भाव एवं चित्त में सुरुचि उत्पन्न कर सकने में असमर्थ है वह शिथिल और निरर्थक कहा जायगा। संसार में विभिन्न रुचियों की जमघट दिखायी पड़ती है, रुचियों की इस भीड़ में ठेलमठेल अधिक रहती है, रंजकता कम। इन रुचियों को परिष्कृत करके उन्हें ऐसी चेतना पर पहुँचा देना, जहाँ उनमें समत्व, प्रियत्व, स्निग्ध, आह्लाद तथा आभिजात्य की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, सौंदर्यबोध का काम है। सुरुचि के अभाव में ही हमारे जीवन में नाना प्रकार के कलुष, विरूपता किंवा कुरूपता के दर्शन होते हैं। इसके अभाव में कर्म यांत्रिक और तामसिक तथा भाव उद्धत और राजसिक हो जाते हैं। सत्वोद्रेक की वह शालीनता जो रस का आधार है सौंदर्य-बोध से ही उत्पन्न की जा सकती है। सुरुचि जाग्रत करके सौंदर्य जीवन को तमस् की जड़ता और रजस् के उद्वेलन से अनायास ही मुक्त कर देता है, और चित्त का उस शान्त और दीप्त अवस्था में अभिनिष्क्रमण कराता है जिसे सत्व कहते हैं। इस सत्व में ही आत्मा का सत्य अनाविल होकर विभासित होता है।

२. **आह्लाद**—आह्लादकारिता को सौंदर्य की सबसे महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य वृत्ति माना गया है। जो कुछ सुन्दर है वह हमारे मन-मस्तिष्क में एक विचित्र आह्लाद को जन्म देता है। सौंदर्य की परिभाषा देते हुए डा० हरद्वारीलाल शर्मा कहते हैं—'अपनी अनुभूति-प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना, आदि-द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाली वस्तु के गुण को 'सौंदर्य' और उस वस्तु को 'सुन्दर' कहते हैं।'[१] यह आह्लाद किंवा आनंद मन-प्राण की सामान्य, क्षुद्र लालसाओं के अथक पोषण से उत्पन्न नहीं होता। लालसा का वह रूप तृप्त नहीं हो पाता क्योंकि उसमें सौंदर्य-दृष्टि का अभाव रहता है। सौंदर्य से उत्पन्न जिस तृप्ति को हम आनन्द कहते हैं वह हमारी

---

१. सौंदर्यशास्त्र : डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृ० १०।

साधारण दुःख-सुखानुभूति से भिन्न है। 'हमारी साधारण तृप्ति में उद्वेग का स्पर्श रहता है, इससे जीवन का ह्रास होता है। सौंदर्य जिस तृप्ति का नाम है उससे जीवन का विकास, प्राणों में स्फूर्ति, हृदय में उदात्त वेदना का संचार तथा कल्पना के लिए नवीन आलोक का सृजन और शांति का संचार होता है। श्रम नहीं, विश्राम ही सौन्दर्यानुभूति का फल है। इस विशेषता के कारण ही वह जीवन के लिए परम उपयोगी अनुभव है—दार्शनिक दृष्टि से तो यह जीवन का परम आधार है।'[१] चेतना का सारा संघर्ष इस विश्राम को पाने के लिए है। किन्तु विश्राम ही अन्तिम स्थिति नहीं है। विश्राम को प्राप्त कर वह सक्रिय आनन्द को पाना चाहता है। प्राणों की स्फूर्ति एवं हृदय की उदात्त वेदना के द्वारा सौंदर्य इसी सक्रिय आनन्द को प्राप्त करने में उद्यमशील होता है।

३. **निस्संगता (विश्वसत्ता की परितृप्ति)**—सौंदर्य की अनुभूति हमारी साधारण संवेदनाओं के दायरे से बाहर है क्योंकि उसमें व्यक्ति के अहम् से उत्पन्न नाना सीमाओं की खींचतान नहीं हुआ करती। सौंदर्य हमारी रुचि-अरुचि की संकुचित आत्मतृप्ति नहीं है, यह सबके अन्दर स्थित सार्वभौम चेतना की तृप्ति है। यह अनुभूति कष्टरहित है क्योंकि व्यक्तिगत अभिरुचियों के पारस्परिक संघर्ष का प्रश्न वहाँ समाप्त हो जाता है। तब उस विश्व-व्यापी सत्ता की तृप्ति रह जाती है जो द्वन्द्वरहित और आप्तकाम है, जिसे भारतीय मनीषा ने युग-युग के मन्थन के पश्चात् सच्चिदानन्द कहा है—अर्थात् वह आनन्द जो सत् है आत्मस्थित है, बहिर्मुखी नहीं, और चित है अर्थात् प्रकाश-मंडित है, जड़ता से विमूढ़ दुःख का दायी नहीं। उस विश्वजनीन सत्ता में पूर्ण सामंजस्य है, इसीलिए सौंदर्य, जो परमसामंजस्य की तृप्ति को जन्म देता है, व्यक्ति में स्थित उस विभुचैतन्य की परितृप्ति है, केवल व्यक्ति की नहीं।[२] इसीलिए सौंदर्यबोध से उत्पन्न भाव में उद्वेलन नहीं वरन् आनन्द की शुद्ध स्पंदित अनुभूति व्यक्त होती है। इसमें हमारे व्यक्तित्व की परिष्कृत पारिमार्जित अवस्था एवं अनासक्ति विद्यमान रहती है, अधिकार-भावना किंवा आसक्ति नहीं।[३] इसीलिए एलेक्जैण्डर निस्संगता (Disinterestedness) को सौंदर्य का आवश्यक ही नहीं, प्रथम गुण मानता है।[४] अरस्तू का भी यह मत है कि सौंदर्य-प्रेम हमारी ऐन्द्रिय-इच्छाओं की भांति नहीं है जो एकाधिकार की भावना से आक्रान्त रहती हैं, वरन् वह एक अनासक्त-भाव है।[५]

---

१. सौंदर्यशास्त्र : निवेदन, डा० हरद्वारीलाल शर्मा।

२. Lotze says what we call beautiful does not please us as individuals only but pleases the universal spirit in us.

—*Ramaswamy Shastri* : The Indian Concept of the Beautiful; p. 17

३. Aesthetic emotion is not passion, but a pure and calm feeling of delight. Other appetites leave a sense of fatigue or surfeit even disgust after their satisfaction. But in the satisfaction of our aesthetic appetite the elements of refinement and detachment and disinterestedness are present and the elements of craving and possessiveness and attachment are absent....'

—*Ramaswamy Shastri* : The Indian Concept of the Beautiful p. 6

४. Beauty and other Forms of Value : S. Alexander, p. 35.

५. He however felt and saw that love of beauty is not like sense—desires which crave exclusive possession. The emotion of beauty is a disinterested emotion.

—*K. S. Ramaswamy Shastri.* : Indian Aesthetics. p. 13

जब हमारी आकांक्षाएँ थम जाती हैं, अहं विश्राम करता है, तभी हम सौन्दर्य तक पहुँच पाते हैं।[१] पाश्चात्य विद्वानों ने निस्संगता पर बहुत अधिक बल दिया है। निस्संगता को बहुत महत्व देने से सौंदर्यबोध का पूर्ण मनोविज्ञान नहीं समझा जा सकता। यह सत्य है कि सौंदर्य का बोध अनासक्त चित्त में होता है किन्तु सौंदर्य का संदर्शन केवल निस्संगता को ही जन्म नहीं देता। प्रत्युत, सौंदर्य के विराट् वैभव और आलोक के समक्ष जीवन का समस्त अस्तित्व अभिभूत होकर विह्वल हो उठता है। यह विह्वलता व्यष्टि का समष्टि के प्रति आत्मसमर्पण कहा जा सकता है। समर्पण और विह्वलता ही अंतिम स्थिति नहीं है, सौंदर्य की वस्तु से तादात्म्य-प्राप्ति का प्रयास भी देखा जाता है। तादात्म्य का यह आयास निस्संगता से उदभूत नहीं होता, वरन सौंदर्य के प्रति नितान्त आसंगभाव के कारण जन्म लेता है।

४. **आध्यात्मीकरण**—जीवन और जगत् में हमें सर्वत्र अपनी सीमाओं का आमना-सामना करना पड़ता है। मन मस्तिष्क एवं देह की अपूर्णताओं से हमारी चेतना निरन्तर क्षुब्ध रहती है, उसमें सामंजस्य एवं संतुलन का अभाव रहता है। हम ऐसी आदर्श-स्थिति की खोज में रहते हैं जहाँ सारी सीमाएँ मिट जाती हैं, विरोध समाप्त हो जाते हैं। यह आदर्श-स्थिति, चेतना की आंतरिक सम्पूर्णता, जो मनुष्य की आत्मा में निवास करती है, सौंदर्य में अभिव्यक्त ही होती है। अतः सौंदर्यबोध न केवल ज्ञान-बोध है, न भाव-बोध, वह आत्म-बोध है, जिसमें व्यक्ति की समस्त चेतना का संस्कार हो जाता है।[२] प्रकृति के रूपों और व्यापारों में, जीवन और व्यक्तित्व की पूर्णता नहीं होती। मानव-मन जड़जीवन के इस अभाव की पूर्ति में सदैव नियोजित रहता है। जहाँ यह पूर्णता और सामंजस्य प्राप्त होता है वहाँ सौंदर्य की सृष्टि होती है। हीगेल के मतानुसार सौंदर्य जड़ता में विचार (Idea) का उद्‌घाटन है। सत्य विचार है और सौंदर्य विचार की अभिव्यक्ति। अनुपात एवं औचित्य के बिना सौंदर्य की स्थिति नहीं है। इस प्रकार सौंदर्य सापेक्षता में निरपेक्ष की उपलब्धि है। कला प्रकृति का अनुकरण नहीं, उसका अतिक्रमण है। यह प्रकृति की आधारशिला पर खड़ा हुआ आत्मा का सौध है। कला वास्तविकता पर खड़ी होती है किन्तु आदर्श में श्वास लेती है।[३] अंततोगत्वा सौंदर्य बोध जड़ता के

---

१. Schopenhauer carries the idea of Hegel even further. According to him it is when desire ceases and our ego is at rest that we reach eternity, beauty, and perfection.

—*K. S. Ramaswamy* : Indian Aesthetics, p. 16

२. Fitche teaches that in nature we see the sum of our limitations while in art we see the sum of our free idealized activity. Beauty is an inner completeness and resides in the soul, and should aim not at the education of mind or heart alone but of the whole man.

—*Ramaswmay Shastri* : The Indian Conecpt of the Beautiful, p. 16.

३. According to him (Hegel)Beauty is the disclosure of Mind, Mind being a higher reality than nature, the beauty of Art is superior to the beauty of Nature. . . .Beauty is the shining of the idea through Matter. The beauty of Nature is but a reflection of the beauty of the Soul. The True is the Idea and the Beautiful is the manifestation of the Idea. There is no beauty without propotion and appropriateness. Beauty is thus the Absolute realising itself in the relative. Art is not the imitation of Nature but the trans cendence of Nature. It stands on the actual and respires in the ideal.

—*Ramaswamy Shastri* : The Indian concept of the Beautifuli. p. 17

अध्यात्मीकरण की प्रक्रिया बन जाता है। एमिएल (Amiel) के अनुसार सौंदर्य-बोध में वस्तु का ऐसा रूपान्तर हो जाता है कि उसमें किसी आदर्श की स्मृति सजीव हो उठती है। वह आदर्श कोरी कल्पना की पूर्णता नहीं होता, वरन् यथार्थ से भी अधिक सत्य होता है क्योंकि उसमें हम नश्वर वस्तु के अनश्वर तत्व को पकड़ लेते हैं।[१]

अस्तु, हम देखते हैं कि सौंदर्य का जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध है। स्थूल रूप में सौंदर्य में अन्विति, संतुलन, सामंजस्य आदि का होना आवश्यक है। ये तत्व चित्त को तद्रूप करके उसे विन्यस्त, संतुलित एवं सामंजस्य-पूर्ण स्थिति में प्रेषित करते हैं, इसलिए सौंदर्य को जीवन-निरपेक्ष किसी काल्पनिक जगत् की वस्तु नहीं समझा जा सकता। जीवन को पूर्ण करना भी सौंदर्य का हेतु है। यह सत्य है कि यह परिपूर्णता उपयोगितावादी परिपूर्णता नहीं बन पाती, क्योंकि सौंदर्यजनित आत्मोपलब्धि में सामयिक एवं अवसरवादी सन्तुष्टि की दृष्टि ही नहीं रहती, उसकी उपलब्धि में किसी शाश्वत सत्य की सुचारुता रहती है, जिसका सामंजस्य हममें और जगत् में अभिव्यक्त होकर बीहड़ जीवन को नए छन्द, नई लय में बाँध देता है और उसके दैनन्दिन चलने वाले संघर्षों में एक संतुलन स्थापित करके उसे विश्राम और आह्लाद का वरदान दे पाता है।

इस प्रकार, सौंदर्यबोध जीवन के उन स्वच्छ स्रोतों को मानव के व्यक्तित्व में उन्मुक्त करके प्रवाहित कर देता है, जो संतुलित गति से वेगवान, मधुर अनुभूति से मंथित उन्मुक्त उल्लास की धारा लेकर बहते हैं, और अन्त में जाकर उस असीम चैतन्य-समुद्र में मिल जाते हैं जहाँ सांत-अनन्त की पारस्परिक क्रीड़ा गतिमान रहती है। अंशी अंश को अपने में समाहित किए हुए उसके साथ चपल क्रीड़ा में गतिशील रहता है। इसे ही दार्शनिकों ने लीला कहा है और लीला को आनन्दानुभूति किंवा रस। सौंदर्यबोध अन्ततः रसबोध बन जाता है। अन्त में दोनों एकाकार हो जाते हैं, अभिन्न बन जाते हैं। सौंदर्य अरूप बन कर रस बन जाता है, और रस रूपायित होकर सौंदर्य। दोनों वस्तुतः एक ही तत्व के निराकार और साकार रूप हैं जिनकी पृथक् पृथक् विवेचना भले ही की जाय किन्तु उन्हें पृथक् कभी नहीं किया जा सकता, और न पृथक् रूप से समझा ही जा सकता है। श्रीकृष्ण में सौंदर्य और रस की तात्विक एकता को अनुभूत एवं अभिव्यक्त करके कृष्ण-भक्तिकाव्य ने एतद-विषयक मानवीय जिज्ञासा को आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचाने का प्रयास किया है। इस काव्य के सौंदर्य-दर्शन और रसानुभूति में मानवीयता का परिधान होते हुए भी वह इतना पारदर्शी है कि उसमें अतिमानवीय दीप्ति की देह झलकती है। इस झलक को पा लेना ही कृष्ण-भक्तिकाव्य का कविकर्म है, लोकरंजकता नहीं। मानव के धूमिल चित्त को उस नीली ज्योति के श्यामलरस में रमण एवं अवगाहन कर सकने की क्षमता प्रदान करना उसकी रसानुभूति का अथक श्रम है। लीलाशुक विल्वमंगल ने श्लोक के बाद श्लोक में निरंतर यही याचना की है कि लीलागान के क्रम में कब उन्हें उस नीली द्युति का दर्शन होगा जो रसप्रवण तरुण आनंद है, गोपीरमण है। कृष्ण की नाना मुग्ध एवं मनोहारी गतियों को देखने की याचना से ही 'कृष्णकर्णामृत' भरा हुआ है। अपनी वाणी को कमनीय किशोर मूर्ति के आनन्द से, उसके सौंदर्य की मधुरता की लघुतम कणिका से रसवंती करने की दीन प्रार्थना करते हुए विल्वमंगल कहते हैं:—

---

१. Beauty is thus a phenomenon belonging to the spiritualisation of matter. It is a (momentary) transfiguration of the privileged object to remind us of the ideal. . . . The Ideal is, after all truer than the real; for the ideal is the eternal element in the perishable things, it is their type, their sum, their reason d'etre and the most exact and the most condensed expression of them.

—*K. S. R. Shastri* : The Indian concept of the Beautiful, p. 18

कमनीय-किशोरमुग्धमूर्तेः　　　　कलवेणुक्वणितादृताननेन्दोः।
मम वाचि विजृम्भतां मुरारेर्मधुरिम्णः कणिकापि कापि कापि ॥[1]

अद्भुत मोर के पंख से विभूषित मस्तक, मदन-मन्थर मुग्ध मुखाम्बुज, ब्रजबन्धुओं के नयनांजन को रंजित करने वाले भगवान कृष्ण ही इस वाङ्मय के जीवित हैं, अन्य कुछ भी नहीं, कोई भी नहीं।[2] वाणी में उन्हीं के विजय की कामना की गई है।

सच्चिदानन्द का सौंदर्य और रस ही भक्ति-काल के कृष्णकाव्य का उपर्जीव्य है, यही उसका मूल मंत्र है।

(ग) सौंदर्य-बोध की प्रक्रिया

कलाकार के मस्तिष्क के विश्लेषण के द्वारा हम सौंदर्य-बोध की प्रक्रिया को आसानी से अवगत कर सकते है। कलाकार मात्र निपुण कारीगरी में ही उलझा नहीं रहता, वह निपुणता से सुरुचि, सुरुचि से मोहकता और मोहकता से सौंदर्य तक पहुँचता है। कारीगरी (Craftsmanship) से कला और आगे बढ़ती है। उसमें केवल व्यावहारिक उद्देश्य से ही वस्तुओं का परिग्रहण नहीं किया जाता बल्कि उन्हें अपने लिए, उनमें निहित सौंदर्य के लिए ग्रहण किया जाता है। कलात्मक सौंदर्य केवल व्यावहारिक न रह कर ही चिन्तनात्मक (Contemplative) हो जाता है। वस्तुओं या व्यापारों को एक विशेष अर्थ प्रदान कर दिया जाता है, जिससे वे आंतरिक चिन्तन के विषय बन जाते हैं। कलाकार अपने को उन संकेतों के प्रति समर्पित कर देता है जिन्हें हम साधारण भाषा में अभिधान (Idea) कह सकते हैं। ये अभिधान विषयवस्तु की प्रत्यक्ष अभिधा से परे होते हैं। वह वस्तु जिसमें ये संकेत जुड़े होते हैं सौंदर्यबोध की प्रक्रिया में स्वयं भी रूपान्तरित हो जाती है।

रस्किन ने सौंदर्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि कोई वस्तु जो अपने वाह्य गुणों के अनुचिन्तन से बुद्धि के प्रत्यक्ष और सुनिश्चित दबाव के बिना ही, उसमें सुख प्रदान कर सकती है, वह किसी रूप में या किसी मात्रा तक सुन्दर कही जाती है।[3] किन्तु एस० एलेक्जेन्डर का कहना है कि इस परिभाषा में सौंदर्य-परक चिन्तन, जो कि व्यावहारिक निरीक्षण से भिन्न है, नहीं समझाया गया है। इसी परिभाषा को और अधिक पुष्ट करता हुआ वह कहता है: सौंदर्य हमारे सृजनात्मक आवेग की संतुष्टि है—तब जब कि वह आवेग व्यावहारिक न रह कर चिंतनात्मक बन जाता है।[4] यह सत्य है कि प्रकृति में आवश्यक उपादान मौजूद रहते हैं, किन्तु मनुष्य चयन

---

१. श्रीकृष्णकर्णामृत, श्लोक ७।

२. मदशिखण्डिशिखण्ड-विभूषणं, मदनमन्थर-मुग्धमुखाम्बुजम्।
ब्रजवधूनयनाञ्जनरंजितं विजयतां मम वाङ्मय जीवितम् ॥
—श्रीकृष्णकर्णामृत, श्लोक ८।

३. Ruskinrightly defines beauty in this way : "Any material object which cangive us pleasure in the simple contemplation of its outward qualities without any direct and definite exertion of the intellect, I call in some way or in some degree beautiful."
—*S. Alexander* : Beauty and Other Forms of Value, p. 21-22.

४. . . . the beautiful is the object (and perhaps we may even add, the satisfaction) of the constructive impulse when that impulse has become contemplative instead of practical.
—*S. Alexander* : Beauty and Other Forms of Value, p. 22.

(Selection) रचना (Composition) और यदि आवश्यकता हुई तो काल्पनिक योग (imaginative addition) के द्वारा उन्हें सुन्दर बनाता है। सौंदर्य-निर्माण की जो प्रक्रिया है सौंदर्य-बोध की ठीक वही नहीं है। वही न भी सही, पर दोनों में पर्याप्त समानता है।,

इस प्रकार सौंदर्य-बोध के निम्नलिखित त्रिपाद हैं :—

(१) अनुभावन (Perception)

(२) विभिन्न नए तत्वों के संकेत से उत्पन्न अनुचिंतन (Contemplation)

(३) अनुचिन्तन से उत्पन्न प्रत्यक्षीकरण किंवा उद्भासन ((Revelation)

आनन्दानुभूति या रस की उपलब्धि इस उद्भासन से जुड़ी होती है।

सौंदर्य की सारी प्रक्रिया ऐंद्रिय संवेदना (Sensation) पर निर्भर है। उसमें मानसिक विचारों का सहारा नहीं लिया जाता। चिंतन के लिए जिन संकेतों का संचार होता है वे विचार से नहीं कल्पना किंवा संबोधि (intuition) से समझे जाते हैं। विना संवेदन के कोई उद्भासन नहीं हो पाता। कभी-कभी अनुभावन से सीधे उद्भासन हो जाया करता है पर वहाँ जहाँ संवेदना कुशाग्र है किंवा वस्तु स्थूल नहीं है, और संकेतों को अनाच्छादित किए हुए है। यों अनुभावन के पश्चात् चिन्तनात्मक किंवा सृजनात्मक कल्पना का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। अतएव मस्तिष्क की रचनात्मक प्रतिभा सौंदर्यबोध के लिए आवश्यक है।

(घ) सौंदर्य-बोध का लक्ष्य : मूलरूप की प्राप्ति

—सौंदर्य का चरम उद्देश्य किसी अनिवार्य मूल रूप (Essential Form) का सृजन करना है, और वह रूप सत्य से एकाकार होता है। सत्य को हम यथार्थ वास्तविकता के बन्धन से नहीं जकड़ सकते। उसका अपना अस्तित्व है, जिसे हमारी चेतना अपने विकास के अनुरूप ग्रहण करती है। सौंदर्यबोध में गुम्फित सृजनात्मक कल्पना का प्रयोजन रूप के मूल सत्य को प्राप्त करना है। सत्य का राज्य हमारी भावनाओं से परे है, इसे दर्शन (Vision) से अधिगत किया जा सकता है। दर्शन किंवा संबोधि ही काल और व्यक्तिगत सीमाओं का उल्लंघन कर पाती है। इन्हीं दोनों कारणों से हमारा सौंदर्यबोध बाधित होता है और हमारे जीवन में दुःख की स्थिति बनी रहती है।[१] सौंदर्य की अनुभूति अनिवार्यतः आनन्द की अनुभूति है जो व्यावहारिक चिंतन किंवा वैयक्तिक कल्पना पर निर्भर नहीं है वरन् चेतना की उस सुदीप्त अवस्था पर आश्रित है जहाँ सत्य अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। यों तो सौंदर्य-बोध की कई श्रेणियाँ हो सकती हैं, किन्तु जिस बोध से प्रौढ़ एवं गहन सौंदर्य की झलक मिलती है वह प्रातिभरूप से संबोधिजन्य (intuitive) किंवा स्वयंप्रकाशित (revelatory) होता है और उसमें आदि रूप किंवा मूल रूप (Essential Form or Archetype) की अभिव्यक्ति होती है।

जीवन के व्यापारों को दमित करना सौंदर्य का उद्देश्य नहीं है वरन् उसके भौतिक प्रभुत्व को सृजनात्मक इच्छाशक्ति से वशीभूत करना है, मानव जगत् का पुर्ननिर्माण करना है।[२] मनुष्य की इच्छाशक्ति अपने भौतिक

---

१. Mondrian made an heroic effort to escape from our subjective vision and from our determined position in time, for it is these that make us unhappy, that create tragedy. Reality is a realm beyond our feelings, and it can be reached by vision. Plato believed that this pure timeless realm can be reached by intuition, but the meaning is the same, that time and subjective vision veil the true reality.

—*Herbert Reed.* : The Forms of Things Unknown, p. 163

२. The intention was not to suppress the content of life but to dominate it, to compel

परिवेश पर सदैव ही विजयी होना चाहती है। वैज्ञानिक आविष्कार काल और स्थान के व्याघातों को व्यावहारिक रूप से अतिक्रमण करते हैं, किन्तु कलात्मक आविष्कार उन्हें रूपान्तरित कर देते हैं क्योंकि उनमें सौंदर्य-दृष्टि होती है, केवल निरीक्षण-दृष्टि (observation) ही नहीं। सौंदर्य-बोध से जिस नए जगत का निर्माण होता है उसमें चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है, किसी ज्योतिर्लोक के भूतल पर उतारे जाने की अभीप्सा क्रियान्वित रहती है,—वह प्रकाश-लोक जो मनुष्य के देह, प्राण, मन के लिए अमृतत्व और आनन्द का, तथा जगत के लिए सुव्यवस्था, संतुलन और सामंजस्य का संदेश लेकर अवतरित होता है।

कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन और जगत को चरम सौंदर्य-दृष्टि से दीप्त कर तद्रूप मानव-जीवन के निर्माण का प्रयास किया गया है। उसका सौंदर्य-दर्शन प्रत्यक्ष में परोक्ष को प्रतिबिम्बित करके, मर्त्य में अमर्त्य को प्रतिष्ठित करके, इस जड़जीवन को ही चरमसौंदर्य से अभिमंडित करना चाहता है। वह यथार्थ में सौंदर्य के अन्तिम सत्य की प्रतिष्ठा चाहता है। इसीलिए उसकी सौंदर्यदृष्टि यथार्थदर्शी होते हुए भी प्रज्ञात्मक है। उसके सौंदर्य-बोध में आंतरिक जीवन का कर्षण है। संसार में जो कुछ भी है वह अपने में या अपने लिए अस्तित्व नहीं रखता, उसका सम्बन्ध किसी वृहत्तर तथा सूक्ष्मतर चेतना से रहता है। इसीलिए मूर्त के अन्दर से अमूर्त दर्शन तक पहुँचा जा सकता है। अमूर्त अमूर्तता (abstraction) नहीं बन जाता, वास्तविकता पर उसका अधिकार नहीं खो जाता। मूर्त में अमूर्त प्रतिच्छायित है, इसीलिए मूर्तता के संकेतों से अमूर्त को ग्रहण किया जाता है।[१] हम क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, प्रत्यक्ष से परोक्ष, मर्त्य से अमर्त्य की ओर बढ़ते हैं। वाह्य रूपों से आंतरिक रूपों तक पहुँचा जा सकता है। अन्त में हम विश्व-जीवन और विश्व-व्यक्तित्व तक पहुँच सकते हैं।[२] सौंदर्य-साधना की यह चरम परिणति है।

---

it to surrender its physical ascendancy to the power of creative will— — to man's drive to manipulate and refashion his world.

—*Herbert Read* : Icon and Idea., p. 40

१. It is from this pull towards the inner life of things that the distinctive attitude of Indian art arises, together with the philosophy of beauty and the arts that is involved in it. Nothing is seen as existing in and for itself but in relation to a larger and subtler Self. The Platonic impulse of ascension from concrete to abstract is here at work; but the abstract does not become mere abstraction : the grip on the objective reality is never loosened.

—*James. H. Cousins.* : The Philosophy of Beauty., p. 57-58.

२. ...there are gradations of aesthetical pleasure, from the sense of external form and appearance to the sense of an inner form and inner appearance; and the aesthetical values may have to adjust themselves to a deeper and wider view of man and the universe than is capable of being taken by an aesthetics divorced from the warmth and uplift of recognition of the Cosmic life and Personality.

—*James. H. Cousins.* : The Philosophy of Beauty, p. 8-9.

द्वितीय परिच्छेद

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन

पाश्चात्य सौंदर्य-दर्शन से तुलना

प्रत्येक राष्ट्र का अपना चिंतन होता है जो उसके जीवन एवं संस्कृति में अभिव्यक्त होता है। पश्चिम का सौंदर्य-चिंतन पूर्व के सौंदर्य-चिंतन से पृथक है। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय सौंदर्य-सृजन में यूनानी सौंदर्य की छाया नहीं है। गांधार-कला के प्रभावस्वरूप पाश्चात्य सौंदर्य की रेखायें भी भारतीय मूर्तिकला में सम्मिलित हो गई, किन्तु वे पूर्णतया घुलमिल नहीं सकीं। बौद्धकला में तथागत के मस्तक में प्रज्ञा से उद्भूत सम्बोधिज्ञान की स्थिति का साक्षात्कार भारतीय कला की ही देन है। एक अतिसुन्दर युवा पुरुष के सुडौल नाक-नक्शों में मुस्कान की रेखा एक बात है, और उसमें अन्तर्निहित ज्योति की विकीर्णता दूसरी बात। प्रथम पाश्चात्य कला का ऐश्वर्य है, तो दूसरा भारतीय कला की दिव्य विभूति। ठीक यही भेद मुगल-चित्रकला तथा राजपूत-चित्रकला में है। मुगल-चित्रकला भारतीय सौंदर्य-दृष्टि में पूर्णतया घुलमिल नहीं सकी। उसके तीखे चित्रों में रेखाओं की प्रभविष्णुता चाहे कितनी भी हो, किन्तु दृष्टि की वह तरलता, जो अजन्ता से विरासत में मिली है और जो राजपूताना-शैली के चित्रों में पाई जाती है, उसमें अनुपस्थित है। राजपूत-कलाचित्रों में भारतीय सौंदर्य-दृष्टि है। उसने इस्लामी प्रभाव का अनुकरण नहीं किया, वरन् अपनी प्रतिभा के अनुरूप उसे ढाल लिया। काव्य के क्षेत्र में सूफी-सन्तों की विह्वल सौन्दर्योपासना कृष्ण-भक्तिकाव्य में ग्रहीत हुई किन्तु अपनी पृथक् छवि के साथ। बात यह है कि चाहे मूर्तिकला हो, चाहे चित्र हो, या काव्य, यहाँ की सौन्दर्य-चेतना अपनी विशिष्ट भारतीयता के बिना प्रकट नहीं होना चाहती क्योंकि उसका एक सनातन दर्शन है। इसी दर्शन से उसकी संस्कृति और उसका जीवन अनुप्राणित रहा है। जीवन और जगत के प्रति भारत का अपना अलग दृष्टिकोण है—असत् से सत् की ओर प्रयाण का। यही उसका सनातन दर्शन है जो केवल चिन्तन में ही नहीं, सृजन में भी और यहाँ तक कि दोनों के माध्यम से जीवन में अवतरित होना चाहता है। उस दर्शन के बिना भारतीय सौंदर्य-सृजन निष्प्राण है। बिना उसे समझे हम ललित कला को नहीं समझ सकते क्योंकि उसे देखने के लिए वही एकमात्र दृष्टि है, अन्य नहीं। इस दृष्टि की उपेक्षा करके हम कुछ भी न देख सकेंगे, कुछ भी न समझ पायेंगे। पहले हममें इस भारतीय दृष्टि का उन्मेष हो, बाद में हम उसके दृश्य की प्रशंसा कर पायेंगे। किन्तु यह दृष्टि साधारण मानवीय दृष्टि नहीं है। सौन्दर्य की भारतीय रूपरेखायें बाहरी आँखों से देखी गई रूपरेखायें नहीं हैं, वरन् द्रष्टा एवं ऋषि-कवियों के अन्तर्चक्षु के सम्मुख संभूत दुर्लभ चित्र हैं जो हमारी साधारण दृष्टि से ओझल रहते हैं। यह अन्तर्दृष्टि बाह्य दृश्यों में भी अभिव्यंजित है, नहीं तो कलात्मक सृजन के उपकरण कहाँ से मिलते ? यह अंतःअभिव्यंजना ही यहाँ की उच्च परोक्षगामी सौंदर्यदृष्टि को इष्ट है जो विशिष्ट रूप से भारतीय है, और भारतीय बन कर ही हम जिसके संकेतों से सुविज्ञ हो सकते हैं।

यह दृष्टि है क्या ? यह जीवन और जगत को देखने की अन्तर्ज्योति है जिसके प्रकाश में जड़ता अध्यात्म से, मानवीयता अति-मानवीयता से ओतप्रोत दिखाई पड़ती है। इसी दृष्टि को लेकर भारत का सौन्दर्य-दर्शन जन्मा है। इसीलिए यहाँ का सौंदर्य-सृजन प्रतीकात्मक, तत्वपरायण (Metaphysical) और अमूर्त (Abstract) है। स्थूल से स्थूल सौंदर्याभिव्यक्ति में ये तत्व आवश्यक रूप से समाहित हैं। उसकी इस विशेषता को न समझ

सकने के कारण मैक्समूलर तथा रस्किन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय कला पर वीभत्सता, विरूपता, अस्वाभाविकता का कटु आक्षेप किया है। किन्तु भारत के सौंदर्य-सृजन की प्रेरणा को समझ लेने पर मर्मज्ञ के सन्मुख एक नए लोक की आश्चर्यजनक कल्पना एवं गहराई उद्‌घाटित होती है। स्वाभाविकता की रट लगाए रहने पर यह गहन सौन्दर्य उपस्थित होकर भी ओझल ही रहेगा। पश्चिम में मनुष्य, मनुष्य का सौन्दर्य एवं उसकी बुद्धि ही सब कुछ है। यही सौंदर्य और यही बौद्धिक प्रतिभा यूनानी कला में अभिव्यक्त हुई है, किन्तु इन आदर्शों का भारत के मस्तिष्क पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ पाया क्योंकि भारत का चिंतन बौद्धिक न होकर आध्यात्मिक है, नैतिक भी नहीं। भारत की दृष्टि अमर्त्य से विद्ध है, मर्त्य से नहीं, असीम से मुग्ध है, ससीम से नहीं। उसकी ये आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ ही, सीमा से असीम, नश्वरता से अमृत की ओर अभीप्सा ही, उसकी कला—काव्यकला, चित्रकला एवं मूर्तिकला आदि—में अभिव्यक्त हुई है। इन कलाओं के माध्यम से भारतीय सौन्दर्य-दर्शन ने अन्त में जीवन-कला में अभिव्यक्त होने का श्रम किया है।

भारतीय सौंदर्य-दर्शन कुछ विशिष्ट मान्यताओं से परिचालित है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) निरीक्षण नहीं दर्शन (Observation : Vision)

पश्चिम की सौंदर्यदृष्टि प्रत्यक्ष से अनुशासित है, उसी से अनुमोदित भी। जो कुछ हमें दृश्यजगत् में जड़ और चेतन दिखाई पड़ता है उसी का अनुकरण करना पाश्चात्य कला का उद्देश्य है। कलाकार की सौंदर्य-चेतना इस प्रत्यक्ष जगत की नाना सुन्दर वस्तुओं से तदाकार होकर कृतार्थ हो जाती है। जो कुछ नेत्रों के सम्मुख है वही उपादान है। सौंदर्य की सामग्री और कहीं नहीं, यहीं हमारे चर्मचक्षु के सामने अनावृत है। आवश्यक है कि इस सामग्री को प्रकृति से चुन कर—क्योंकि प्रकृति में सुन्दर असुन्दर दोनों है—सजायें, कलाकृतियों में उपस्थित करें। मानव एवं प्राकृतिक सौंदर्य के यथातथ्य निरूपण करने में ही पाश्चात्य सौंदर्यस्रष्टा की सफलता है। फलस्वरूप वहाँ वस्तु के आकारों, रूपों एवं प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों, नितान्त स्वाभाविक अवस्था में चित्रित करके सौंदर्यसृजन धन्य हो जाता है। इस चित्रण में कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिए; कल्पना भी इसी को संवारने के लिए हो, नूतन आविष्कार के लिये नहीं। अतः सौंदर्य-सृजन के लिए सबसे महत्वपूर्ण अवबोध (faculty) है निरीक्षण (Observation)।

किन्तु भारतीय सौंदर्य-दृष्टि के लिए सौन्दर्य का अवलोकन नहीं, उसका दर्शन (vision) अपेक्षित है। वह दर्शन वस्तु के वाह्यरूप की यथातथ्यता से आक्रान्त नहीं है, इस यथातथ्यता में संशोधन भी किया जा सकता है,—उसकी आन्तरिक पूर्णता के हित में। दृष्टि के इस विभेद को दृष्टि-दोष मानना पश्चिम के लिए स्वाभाविक ही है। रस्किन का कथन है कि 'यह सत्य है कि भारत की कला कोमल और सुस्पष्ट है, किन्तु इसमें एक अजीब प्रवृत्ति है जो इसे समान रूप से प्रशंसनीय कला के अन्य नमूनों से पृथक् करती है—वह यह कि भारत की कला कभी नैसर्गिक तथ्य को अभिव्यक्त नहीं करती। यह या तो अर्थहीन रंगों के टुकड़ों और रेखाओं के प्रवाह से रूप-निर्माण करती है, अथवा, यदि किसी सप्राण जीव को व्यक्त भी करती है तो, उसे विरूप करके या दानवी रूप में प्रस्तुत करती है। प्रकृति के सारे तथ्यों एवं रूपों के प्रति यह अपने को जबर्दस्ती, संकल्पपूर्वक विरोधी बना लेती है।'[१] नैसर्गिकता के प्रति दुराग्रह ने ही इस प्रकार की अनर्गल समीक्षा को जन्म दिया है। प्रकृति के

---

१. It is quite true that the art of India is delicate and defined. But it has one curious character distinguishing it from all other art of equal merit in design—it never represents a natural fact. It either forms its compositions out of meaningless fragments of colour and flowings of line, or if it represents any living creature, it represents that creature under some

तथ्यों एवं आकारों से अनुमोदित न होने के कारण किसी वस्तु का सौन्दिर्य नष्ट होकर विरूप किंवा दैत्याकार हो जाता है : यह कहना हास्यास्पद है। भारतीय कलाकारों ने आदर्श-रूप (model) का आधार कभी नहीं लिया, या जो कुछ हमारे चर्मचक्षु से दिखाई पड़ता है उसी के अनुकरण को सौंदर्य का मापदण्ड नहीं समझा। ऐसा न करने में उन्हें कोई पश्चाताप भी नहीं हुआ, और न तो असुंदर के सृजन का भय रहा। उनके आदर्श-रूप यदि कोई हैं भी तो अंतर्बिम्ब (Visions) हैं, जो गहन निदिध्यासन में प्रकट होते हैं। भारतीय कला इस रूप में परम रचनात्मक है, वह चिन्तन का परिणाम है। यदि हम यूनान की कलाकृतियों को देखें तो हम पायेंगे कि यूनानी देवता मानव-सौंदर्य के आदर्शीकृत रूप हैं। वे मानव-सौंदर्य की आदर्श परिपूर्णता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें कोई अन्य उच्चतर आदर्श निहित नहीं है, और न ही कोई उच्चतर अर्थ उनसे ध्वनित होता है। किन्तु भारत में यह बात नहीं है। देवता यहाँ भी मानवीय रूप लिये हुए हैं, पर उनकी कल्पना और रचना मानव सौंदर्य के 'माडल' या नमूनों को लेकर नहीं की गई है। यहाँ नैसर्गिकता का अनुकरण नहीं किया गया, केवल उसकी कार्यगत (functional) विशेषताओं को अपना लिया गया है। रचनात्मक शक्ति होने के कारण रूप के संबंध में भारतीय सौंदर्य-चेतना की अपनी विधा है। रूपांकन के लिए कलाकार निरीक्षण तक ही सीमित नहीं रह सकता, उसे अन्तर्दर्शन (vision) तक पहुँचने का उपक्रम करना पड़ता है। ध्यान की यह प्रक्रिया सौंदर्य-चेतना को गूढ़ एवं अंतरालोकित करने के लिए अपरिहार्य है। सामान्यतया मन किसी एक विशेष बिन्दु पर केन्द्रित करके स्थिर नहीं रखा जा सकता। हमारी चित्तवृत्तियाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर उछला करती हैं, या चुपचाप सरक जाया करती हैं। इससे किसी वस्तु के सम्पूर्ण रूप से आत्मसात होने में बाधा पहुँचती है। ध्यान अन्तश्चेतना के प्रयासों की वह शृंखला है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने मस्तिष्क की गतिविधियों को नियंत्रित रखने का प्रयत्न करता है, और इस नियंत्रण के द्वारा उसे किसी एक केन्द्र-बिन्दु पर स्थित कर देता है। ध्यान की सफल प्रक्रिया समाधि की अवस्था ले आती है। समाविस्थ अवस्था में ध्यानी का मन वस्तु से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। वह अन्य सभी वस्तुओं के प्रति उदासीन किंवा हतसंवेदन हो जाता है—चाहे वे वस्तुएँ ऐन्द्रिय जगत की हों, या काल्पनिक लोक की। इस स्थिति में पहुँचने पर अब किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जाती। ध्याता के मस्तिष्क के सम्मुख उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जाता। ध्याता ध्येय की इस तादाकारता में ही दिव्यरूपों का प्राकट्य संभव होता है, जिन्हें कलाकार अपनी कला के माध्यम से अभिव्यंजित किया करता है। किसी भी देवता के सफल ध्यान के लिए यह आवश्यक था कि वह उसके बिम्ब को मस्तिष्क में उतारने में सक्षम हो। शास्त्रों में इन बिम्बों के रूप विस्तार से निरूपित हैं। कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह उन संकेतों या विवरणों का अनुसरण करके ही तदनुरूप कलाकृति को जन्म दे। कृष्णभक्ति-काव्य में राधा-कृष्ण के रूप-चिन्तन का भी यही महत्व है। संप्रदाय की मूर्तियाँ मानवीय रूप से आविष्ट नहीं हैं, उनका अपना 'स्वरूप' है जिसके सफल ध्यान के अनन्तर ही उनका सत्य उद्घाटित होता है, और आराधक आराध्य का 'दर्शन' प्राप्त करता है। प्रत्येक देवता नमनशील रेखाओं या वर्णाभिव्यंजना द्वारा एक विशेष प्रकार के अभिधान (Idea) को अभिव्यक्त करता है। ध्याता का यह कर्तव्य है कि वह प्रस्तुत देवता की भौतिक मूर्ति के द्वारा उसके आध्यात्मिक स्वरूप तक पहुँचे, और उस अभिधान की अनुभूति कर सके जो उस देवता की भौतिक अभिव्यक्ति में संचित है। निष्कर्ष यह है कि, ध्यान करने वाले को अन्त में आध्यात्मिक अभिधान (Spiritual idea) के संलाप (communion) तक पहुँचना होगा। ध्यान के द्वारा देवता की भौतिक अभिव्यक्ति अपनी

---

distorted or monstrous form. To all facts and forms of nature it wilfully and resolutely opposes itself.

—*O. C. Ganguly* : Indian Art and Heritage., p. 5.

व्यंजनाओं को उद्घाटित करती जायेगी। वह ऐसी पारदर्शिता से सम्पन्न हो जायेगी कि मस्तिष्क के साथ आध्यात्मिक विचार के संलाप में बाधा न डाल सकेगी। अतएव यह स्पष्ट है कि देवताओं के रूपायन में भारतीय कला का उद्देश्य मानवीय रूप के सौन्दर्य या उसकी उत्तमता का अनुकरण करना नहीं है, जैसा कि यूनानी कला का उद्देश्य रहा है, वरन् उस आध्यात्मिक संदेश को अभिव्यक्त करना है जो देवता के निजी रूप में निहित है। मानव-सौंदर्य के चित्रण में भी भारतीय सौंदर्य-भावना मानव रूप के आदर्शीकरण की ओर उतनी झुकी हुई नहीं है, जितनी कि उस सौंदर्य को प्रकृति के सौंदर्य का उपमेय बनाने की ओर है।

(२) परात्परता (Transcendence)

ध्यान से ग्रहणशील संबोधि (intuition) को बाह्याकार देना भारतीय सौंदर्य-दर्शन का उपक्रम है। किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय कलाकार वस्तुजगत की वास्तविकताओं के प्रति संवेदनशून्य है। यहाँ भी उन्हें देखा गया है किन्तु प्राज्ञ-दृष्टि के द्वारा। दिव्य दृष्टि से ग्रहण कर नैसर्गिक रूपों का अतिक्रमण किया गया है। ध्यान किंवा स्वयंप्रकाश-चेतना में व्यक्त भावात्मक उपलब्धि को भी कलाकार वाह्य प्रकृति के स्वर में उतार लाता है। पर अंतःप्रत्यय के साथ बाह्य प्रकृति का सामंजस्य होना अनिवार्य है। कलाकार का उद्देश्य निसर्ग के प्रति ईमानदार होना ही नहीं है, बल्कि उसका अतिक्रमण करना भी है। यह अतिक्रमण इसलिए सम्भव होता है कि प्रस्तुत विषय का स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी बोध किया जाता है, वह कलाकार की आंतरिक संबोधि से ओतप्रोत रहता है। यह दूसरी प्रक्रिया सौंदर्य-सृजन में मानव-अवदान को उद्घाटित करती है, बिना इसके कोई भी सृजन सम्भव नहीं है। कला केवल प्रकृति का अनुकरण नहीं है, वरन् मनुष्य की रचनात्मक प्रतिभा के द्वारा प्रकृति का नवनिर्माण है। एक ओर जहाँ कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह वाह्य-प्रकृति के उपादानों में कलाकृति के अर्थ को प्रकट करे, दूसरी ओर, वहाँ यह भी आवश्यक है कि वह अपनी अंतरात्मा से उस पर ऐसा अमृत ढाल दे जो कलाकृति की नैसर्गिकता को आध्यात्मिक बना सके। यहीं पर वाह्य एवं अन्तर्जगत के स्रोतों का संगम होता है। कलाकार का सौंदर्य-सृजन एक स्थिर एवं जड़ अस्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं करता, वरन् उस जीवन-स्रोत को अभिव्यक्त करता है जो असीम से ससीम में उतरा हुआ है, और जिसकी ओर ससीम प्रवाहित हो रहा है। अपनी सीमित अभिव्यक्ति के द्वारा कला अध्यात्म से वस्तु, और वस्तु से अध्यात्म के शाश्वत प्रवाह को इंगित करती है।

पौर्वत्य कला का सम्बन्ध प्रकृति से उतना नहीं है जितना कि प्रकृति की अन्तर्प्रकृति से। इस रूप में वह कला सम्बन्धी आधुनिक धारणाओं की तुलना में विज्ञान के अधिक निकट ठहरता है। जहाँ आधुनिक विज्ञान ने शक्तियों की क्रमोन्नतता को स्थापित करने के लिए बीजगणित के सूत्रों का सहारा लिया है वहाँ पूर्व ने अपना जीवन-ज्ञान प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त किया है। शिव और शक्ति अपनी नाना अभिव्यक्तियों में वे शाश्वत छोर हैं जिनसे वस्तुजगत का सारा तनाव उत्पन्न होता है। कार्यरूप में उन्हें अभिव्यक्त देखने के कारण पौर्वात्य कला पाश्चात्य कला से अलग हो जाती है। यूनानी 'टाइप' सत् के स्थिर आदिरूप हैं, जो वस्तुजगत में प्रतिबिम्बित हैं, भारतीय 'टाइप' वे कार्य या कार्यप्रणाली हैं जो एक निर्धारित सृष्टि में उपयुक्त हैं, किन्हीं परिस्थितियों के अन्दर ठीक हैं, किन्तु परम नहीं है। वे वस्तुजगत में प्रतिबिम्बित नहीं हैं, वरन् हमारी मानसिक चेतना की उन शक्तियों का बोध कराते हैं जिनके कारण वस्तुजगत अपना अस्तित्व प्राप्त करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह विचारप्रणाली वस्तुवाद के विकास की, उसके सुधार की सूचक कही जा सकती है।[१]

---

१. In this constant reference to types of activity, Oriental art differs essentially from Greek art and its prolongation in Europe : Greek types are archetypes of being 'Ding, an

(३) **मूलादर्श** (Ideal)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत की सौंदर्य-दृष्टि आदर्शपरक है, यथार्थ-सिद्ध नहीं। किन्तु आदर्श का अर्थ यदि हम यह लें कि वह कल्पना के निकटतम पहुँचने का प्रयास है तो हमारी भूल होगी। उसी प्रकार यह समझना भी गलत होगा कि भारतीय कला किसी आदर्श-लोक को प्रस्तुत करती है। आदर्श का वह रूप उसमें नहीं है जो सामान्यतया भावुक या धार्मिक शब्दावली में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि यथार्थ को हृदय की इच्छा के अनुरूप, उसकी निकटतम परितृप्ति के साँचे में ढाल लिया जाय। ऐसा करना स्वयं जीवन के प्रति अन्याय होगा। हम देखते हैं कि एशिया की कला गणित के अर्थ में आदर्श है, प्रकृति की भाँति प्रतीति (appearance) में नहीं, क्रिया में।[१]

तात्विक दृष्टि से विषयीगत और विषयगत तत्व अभिन्न हैं, ऐसा नहीं है कि एक की सत्यता प्रमाणित करने के लिए दूसरे का त्याग आवश्यक हो। सत्य की स्थिति वहीं है जहाँ विमर्श और प्रत्यक्ष सामान्य एकता में मिलते हैं। यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वे केवल अपने में, एक दूसरे के बिना, अस्तित्व रखते हैं। इसीलिए भारतीय सौंदर्यशास्त्र में यथार्थ और आदर्श के सादृश्य (analogy) का दूसरा अर्थ होता है। सादृश्य का अर्थ तदाकारता नहीं होता। सादृश्य का अर्थ है वह गुण जो स्वयं कलाकृति के अन्दर विद्यमान है—मानसिक और संवेद्य तत्वों की अनुरूपता। बाह्य रूप को स्वयं उसके लिए व्यक्त करना सौंदर्य का उद्देश्य नहीं है। सौंदर्य का उद्देश्य कलाकार के विचार, या अन्तर्यामी दिव्यसत्ता, या जीवन-स्पंदन को प्रकृत रूपों द्वारा उद्घाटित करना है। कला का उद्देश्य जीवन की गतियों में अध्यात्म की क्रिया को उद्घाटित करना है, प्रकृत रूपों के माध्यम से दिव्य सत्ता को व्यक्त करना है। भारत ही नहीं, पूर्वीय कला के सर्जक देश चीन में भी इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।[२]

Sich', external to experience, and conceived of as though reflected in phenomena, Indian types are acts or modes of action, only valid in a conditioned universe, correct under given circumstances but not absolute, not thought of as reflected in phenomena, but as representing to our mentality the informing energies to which phenomena owe their peculiarity. Historically, the latter mode of thought might be described as an improvement of animism.

—*Mulk Raj Anand* : The Hindu View of Art, p. 101.

१. It will appear presently that we should err equally in supposing that Asiatic art represents an "ideal" world, a world "idealized" in the popular (Sentimental, religious) sense of the words, that is, perfected or remoulded nearer to the heart's desire, which, were it so, might be described a blasphemy against the witness of Perfect Experience, and a Cynical depreciation of life itself. We shall find that Asiatic art is ideal in the mathematical sense : like Nature (natura naturans), not in appearance (viz. that of ens naturata), but in operation"

—*Anand Coomarswamy* : The Transformation of Nature in Art, p. 10-11.

२. It is not the outward appearance (hsing) as such, but rather the idea in the mind of the artist, or the imminent divine spirit (Shen) or the breath of life (ch'i) that is to be revealed by a right use of natural forms. We have not merely the first canon of Hsieh Ho,

इसीलिए भारतीय सौंदर्यशास्त्र में कला के सिद्धान्तों में 'प्रमाण' सर्वप्रमुख सिद्धान्त है। सत्य वस्तु-परक प्रत्यक्षानुभव (empirical perception) नहीं है, वरन् एक अंतःअनुभव है, जो ज्ञान को रूप देता है और ज्ञान का कारण भी है। आवश्यकता इतनी ही है कि ऐसा ज्ञान हमारे प्रत्यक्ष अनुभव का सहयोगी हो प्रतिद्वन्दी न हो। यही विधि विज्ञान की भी है, वह 'प्रयोग' को सिद्धान्त के परीक्षण के लिए अपनाता है, सिद्धान्त के मूलस्रोत के रूप में नहीं। सैद्धान्तिक रूप से, प्रमाण विशिष्ट परिस्थितियों में वस्तु या तथ्य का स्वतः प्रत्यक्षीकरण है। प्रमाण को हम पूर्वी किंवा भारतीय अन्तरात्मा (Conscience) कह सकते हैं, जो सब प्रकार की क्रियाओं पर शासन करता है, चाहे वे मानसिक हों, चाहे कलात्मक, चाहे नैतिक। सत्य, सुन्दर एवं प्रेम एक दूसरे से सादृश्य के द्वारा अनुगुम्फित हैं, एकरूपता के कारण नहीं, एक दूसरे से अनुमोदित न होकर ईश-प्रकृति में निहित व्यवस्था के सामान्य सिद्धान्त से अनुमोदित हैं। दर्शन में प्रमाण का अर्थ है ठीक तरह से संचालित विचार, नीतिशास्त्र में प्रमाण का अर्थ है उचित रूप से संचालित कर्म, कला में उसका अर्थ है उचित रूप से अनुभावित रूप-रेखा।[१] सौंदर्य के क्षेत्र में प्रमाण का सिद्धान्त अपनी अन्तिम स्थिति में आदि-रूप (Archetype) के सृजन पर पहुँचता है।

सौंदर्य-प्रमाण के कुछ विधि-नियम हैं जो परम्परा और विशेषाधिकारियों द्वारा निर्दिष्ट हैं। शास्त्र-मान सौंदर्य-दृष्टि ही सच्ची सौंदर्य-दृष्टि समझी गई है, स्वच्छन्द सौंदर्य-दृष्टि नहीं। इन प्रमाणों की विधेयता मानव स्वभाव की अपूर्णता के कारण है। मनुष्य केवल सहज-प्रवृत्यात्मक या व्यवहारवादी पशु नहीं है, किन्तु उसने ऐसी स्थिति भी नहीं प्राप्त कर लिया है जहाँ अन्तर एवं बाह्य एकाकार हैं। चिंतन और क्रिया की वह एकता, जिसके द्वारा क्रिया में बिना किसी अनुशासन के पूर्ण सुविधाजनक रूप में रत हुआ जाता है, मनुष्य में नहीं है। परिपूर्णता की सहज, चरम स्वतंत्र एवं अयत्नज स्थिति तक मनुष्य नहीं पहुँच पाया है। विधि विधान से स्वतंत्र कोई भी अभिव्यक्ति कला नहीं कहला सकती। स्वाधीनता का अर्थ स्वेच्छाचारी विद्रोह या मनमानी मौलिकता नहीं है। व्यक्ति की नितान्त निजी अभिव्यक्ति से इसका सबसे कम सम्बन्ध है। सहजता (Spontaneity) सुनिर्धारित नियमों को स्वयं अपनाती है। ये नियम बन्धन नहीं हैं, वरन् ऐसे लोगों के लिए आवश्यक हैं जिनकी क्रिया अयत्नज नहीं हो सकी है, इच्छाशक्ति पर निर्भर है। पूर्णता की ओर अग्रसर होता हुआ कलाकार क्रमशः इन विधानों के प्रति अधिकाधिक बेखबर होता जाता है। सुदक्ष कलाकार के लिए आत्मस्फुरण और कार्यव्यापार साथ-साथ चलते हैं। किन्तु प्रत्येक क्षण कलाकार उन विधानों में भी रस लेता है, वैसे ही जैसे भाषावेत्ता व्याकरण में, यद्यपि वह बिना उसके नियमों का निर्देश करते हुए ही बोलता है। सौंदर्य का उद्देश्य

---

which asserts that the work of art must reveal "the operation (yiin) of the spirit (Ch'i) in life-movement," but also such sayings as "By means of natural shape (hsing) represent divine spirit (Shen),". . . .

—*A. Coomarswamy* : The Transformation of Nature in Art, p. 15.

१. Truth, Beauty, and Love as activities and therefore relative, are thus connected by analogy, and not by likeness, none deriving its sanction from any other, but each from a common principle of order inherent in the nature of God, or in the chinese terms of Heaven and Earth. To sum up, Pramana means in philosophy the form of properly directed thought, in ethics the norm of property directed action, in art the norm of properly conceived design, practically the recta ratio factibilium of St. Thomas.

—*A. Coomarswamy.* : The Transformation of Nature in Art, p. 16-17.

प्रकृति की बहुरूपता को व्यवस्था में नियोजित करना है। इसी अर्थ में वह सारे जीवों को उनकी परम व्यवस्था–परमात्मा—के निकट लौटाने की तैयारी करता है।

(४) पारस्परिक या सांस्कृतिक (Conventional or Cultural)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय सौंदर्य-मीमांसा में नियम या रूढ़ि (Convention) अपरिहार्य है और इस दृष्टि से हमारे सौंदर्य-दर्शन पर रूढ़िवादिता का आरोप लगाना सहज है। किन्तु सबसे पहिले तो हमें रूढ़ि का वास्तविक अर्थ समझ लेना है जिससे कि भारतीय सौंदर्यशास्त्र से हम अकारण ही खिन्न न हों। सुनिश्चित सरलीकरण से पारंपरिकता (Conventionality) का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है,—ऐसा सरलीकरण जैसा कि हम आधुनिक नमूनों में देखते हैं, और न ही उसका सम्बन्ध प्रस्तुतीकरण किंवा अभिव्यक्ति की अवनति से है, जैसाकि कला के इतिहासकार समझ लेते हैं। यह दुर्भाग्य ही है कि 'परम्परा' का अर्थ ह्रासोन्मुखी कला के निंदनीय अर्थ में रूढ़ हो गया है। ह्रासोन्मुखी कला ऐसी कला है जिसमें अनुभूति की शून्यता एवं निःशक्तता रहती है, परंपरा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परम्परा का अर्थ ही दूसरा है। विशुद्ध सौंदर्य-दर्शन का अपना तर्क होता है और उसके अपने मान होते हैं। यदि दुर्गा के अनेक हाथ दर्शाये जाते हैं तो उनका कलात्मक औचित्य इस बात में है कि हम उसमें अभिव्यक्त शक्ति और शक्ति-व्यवस्था के प्रति जागरूक हैं। पाश्चात्य विद्वानों की तरह उसे मनुजाकार (anthropomorphic) या पाशवाकार (theriomorphic) कह कर, उसके कलात्मक सौंदर्य के प्रति आँख मूँद कर उसकी निन्दा करने नहीं बैठते। उसी प्रकार, कलादृष्टि से कृष्ण का चित्रण ब्रजगोपियों के चित-चोर के रूप में हुआ है, यदि हम नीति के आधार पर उसका विरोध करें तो हास्यास्पद ही होगा। इसका अर्थ यह होगा कि इस प्रसंग को हम आचरण के धरातल पर उपस्थित आदर्श अथवा नमूने के रूप में ग्रहण करते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ पर कला, परम्परा द्वारा भलीभाँति समझे गये तथा पचाये गये, आत्मा और परमात्मा के उस स्वाभाविक संबंध का निरूपण करती है जिसमें सारी सृष्टि ईश्वर के लिए प्रकृति किंवा स्त्री है। यदि इस परम्परा को हम न समझ सकें या स्वीकार न करें तो यह हमारे सौंदर्यबोध की असमर्थता समझी जायगी। सौंदर्य-चेतना के अन्तर्दर्शन पर पहुँच कर किसी अभिव्यक्ति का मूल्य उसके भौतिक धरातल के कारण नहीं आंका जाता। भारतीय मूर्ति के अंग एक दूसरे से जीव-रचना, की भाँति संबंधित नहीं है। उनकी कल्पना इस रूप में की ही नहीं गयी है कि वे जीव-विज्ञान के अनुसार कार्य करें। उनके अंगोपांग आदर्शरूप से सम्बन्धित हैं वे दृश्यगम्य एवं अनुभवगम्य माध्यम में एक विशेष प्रकार की क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि विभिन्न अंग एक दूसरे से असम्बद्ध हैं या सम्पूर्ण कृति में अन्विति नहीं हैं, बल्कि यह कि उनका सम्बन्ध मानसिक है, कार्यगत (functinal) नहीं। यह सिद्धान्त मूर्ति-विधान एवं प्राकृतिक दृश्य दोनों पर लागू होता है।[१] पश्चिम में कोई भी अभिव्यक्ति हमसे बाहर अपना अस्तित्व रखती है, वह हम तक लाई जाती है। पूर्व में, बिम्ब हमारे अन्दर, हमारे मस्तिष्क एवं हृदय में अस्तित्व

---

१. The parts of the icon are not organically related, for it is not contemplated that they should function biologically, but ideally related, being the required component parts of a given type of activity stated in terms of the visible and tangible medium. This does not mean that the various parts are not related, or that the whole is not a unity, but that the relation is mental rather than functional. These principles will apply as much to landscape as to iconography.

—*Anand Coomarswamy.* : The Transformation of Nature in Art p. 28-29

रखता है, स्थान में उसे केवल प्रतिबिम्बित या प्रक्षेपित किया जाता है। इन दोनों दृष्टिविन्दुओं में पहला जिसे हम वैज्ञानिक कहते हैं, कलात्मक दृष्टि से, दूसरे प्रकार के दृष्टिविन्दु से किसी भी तरह अधिक लाभदायी सिद्ध नहीं होता।

इस बात को हम भूल जाते हैं कि परम्परा के कारण एक सुगठित संस्कृति का निर्माण होता है। परम्परा के द्वारा जीवन की ऊबड़-खाबड़ भूमियों को तराशा जाता है, सुनिश्चित योजना के अनुरूप उसे रूपान्वित किया जाता है। इसके अभाव में जीवन के जंगल-सदृश होने का भय रहता है। परंपरा से उसे एक बाग का रूप दिया जाता है। जीवन के इस सौंदर्य को हम नियमित कह सकते हैं। किन्तु किसी भी सुसंस्कृत दर्शक के लिए यह नियमितता अधिक आकर्षक होगी बजाय अपूर्णता की उस अनियमितता के जो एक साधारण मनुष्य द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इस बाह्य नियमितता के कारण मनुष्य की सौंदर्य-चेतना भीड़ में न खो कर एक ऐसी गोपनीयता अथवा आंतरिकता के अन्दर चली जाती है जिसमें उसकी वैयक्तिकता निर्बन्ध होकर मुकुलित होती है। यह ठीक ही कहा गया है कि सभ्यता शिष्ट शैली है। इस अर्थ में एक अन्तर्व्यापी संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति को बाह्य शालीनता प्रदान करती है, एक सुनिश्चित पूर्णता जिसे विरले ही अपनी शक्ति से अर्जित कर सकते हैं। यह पूर्णता केवल प्रतिभाशाली व्यक्तियों में ही रहती है। एक प्रजातंत्र जो हर व्यक्ति से अपने बाह्य एवं अंतर को यथावत् बनाये रखने की अपेक्षा करता है वस्तुतः उसे अपनी अपूर्णता और अनियमितता के प्रदर्शन के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार की अरूढ़ अपूर्णता सहज रूप से प्रदर्शन के उस स्तर पर उतर आती है जो मिथ्याभिमान को गुण की संज्ञा दे देती है और उसे आसानी से आत्माभिव्यक्ति कह डालती है।[१]

(५) प्रकृति के माध्यम से विश्व-स्पंदन

यूनानी कलाकार प्रकृति के सौंदर्य के प्रति बहुत कुछ संवेदनशून्य थे, वे मानव देह के विभिन्न अंगों के सुगठन में ही सौंदर्य की पराकाष्ठा आंकते रहे। उनके लिए आदर्शीकृत मानव-देह ही सौंदर्य का मापदण्ड थी। किन्तु भारतीय कलाकारों ने ऐसा अनुभव नहीं किया, उनके अनुसार आदर्शीकृत प्रकृति ही सौंदर्य का उत्तम मान है। भारतीय कलाकार ने सौन्दर्य की आदर्शकल्पना के लिए प्रकृति का क्षेत्र चुना, उसके वैविध्य एवं रमणीयता से चमत्कृत होकर उसे सौन्दर्य का साधना-कक्ष बनाया। भारतीय संस्कृति प्रकृति के विशाल प्रांगण में ही खेलकूद कर बड़ी हुई है। वैदिक युग इस दृश्यजगत की नाना प्राकृतिक शक्तियों के ओज और सौन्दर्य, उनकी शान्ति और रमणीयता से अभिभूत रहा है। प्रकृति के नाना रूपों में एकचेतना का आवाहन करते हुए उसने उन शक्तियों से मानव-जीवन को सम्पन्न-समृद्ध, सशक्त, सुन्दर तथा रसमय करने की निरन्तर प्रार्थना की है सागर की नीलाभ गहराई में ऋषिकवियों ने वरुण की गंभीरता, प्रचण्ड वात में अर्यमा के वेग, तथा

---

१. It has been well said that civilization is style. An imminent culture in this sense endows every individual with an outward grace, a typological perfection, such as only the rarest beings can achieve by their own effort, a kind of perfection which does belong to genius where as a democracy which requires every man to save his own "face" and "soul", actually condemns each to an exhibition of his own irregularity and imperfection, and this implicit acceptance of formal imperfection only too easily passes over into an exhibitionism which makes a virtue of vanity and is complacently described as self-expression.

—*A. Coomarswamy.* : The Transformation of Nature in Art, p. 36-37.

विपुल आकाश के मेघाडंबर और विद्युत् की कड़क में इन्द्र का वज्रघोष सुना। पाताल, पृथ्वी, आकाश सर्वत्र प्राकृतिक शक्तियों के रूप में देवतागण विचरण करते हैं। ये देवता सोमपायी हैं,—किसी महत्तर आनन्द से परिस्फूर्त होकर ये दिवा-निशि मानवता के कल्याण-कार्य में तत्पर रहते हैं। मानव-जीवन इसी विराट् प्रकृति के प्रति श्रद्धांजलि है, इसमें अभिव्यक्त विभु के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों के लिए यज्ञ की समिधा है। इसी विश्व-व्यापी दृष्टिकोण के कारण भारतीय सौंदर्य-दृष्टि उदात्त, प्रौढ़ और अन्तःरसमग्न रही है। वैदिक युग में ही नहीं, बाद में भी भारतीय कला और साहित्य प्रकृति से मुग्ध है। देवताओं के निर्माण में वाह्य प्रकृति सन्निविष्ट है, ऐसा करने में प्रकृति की वस्तुओं और आध्यात्मिक विचारों की एकरूपता को पहिचाना गया है। कदाचित् ही कोई देवता ऐसा है, जिसके साथ प्रकृति की कोई वस्तु जुड़ी न हो, चाहे वह फूल हो, लता हो, पक्षी हो या पशु।

मानव शरीर के गठन में भी प्रकृति के लय, छंद को अवतरित किया गया है। प्रकृति के आकार-प्रकार में एक सुसंगति है जो संघर्षरत जैविक-रूपों में नहीं पाई जाती। और साधारण पशु-संवलित मानवता का चित्रण करना भारतीय कला का कभी भी उद्देश्य नहीं बन सका। भारतीय सौंदर्य-चेतना ने मानव को भीतर के उन प्रसन्न स्रोतों से अभिसिंचित करना चाहा है जिसे सारी प्रकृति अपनी बहिर्मुखता में भी अन्तर्व्याप्त किए हुए है। इसीलिए मानव-सौंदर्य के निर्माण में फूल, पत्ती या लता-तन्तुओं के सौजन्य तथा चारुता को समाहित किया गया है। सामान्य मनुष्य के भौतिक आकार में मांसपेशी, स्नायु और तंतुओं के ऐच्छिक संकेत (Volitional implications) सदैव संघर्षण में रहते हैं। वे किसी सुनिश्चित गति में ढले, एक दूसरे के अनुकूल नहीं रहते। इसका कारण यह है कि साधारण मनुष्य की चेतना में इच्छा, भाव और विचार किसी ऐसे परमविधान के नियंत्रण में नहीं रहते जिसके द्वारा वे एक आदर्श में गुंथकर सामंजस्य प्राप्त कर सकें। बाहरी और भीतरी वेगों से प्रेरित वे मनुष्य की अवचेतना से भाग कर ऐसे अव्यवस्थित और बेतरतीब रूप में बाहर आ उपस्थित होते हैं कि किसी व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से थोड़े समय के लिए उन्हें भले ही नियंत्रित किया जा सकता है, किन्तु सामंजस्य में नहीं लाया जा सकता। ये इच्छाएँ, भाव या विचार वात्याचक्र की तरह घुमड़ते हैं, और अपना चिह्न मनुष्य की दैहिक अभिव्यक्ति पर छोड़ते चलते हैं। व्यक्ति जब वाह्य प्रकृति के हाथों का खिलौना बना रहता है, पाशविक प्रकृति की मौजों के अनुसार चलता है तब उसकी मांसपेशियाँ और स्नायु किसी उच्चतर चेतना के संकेत या आदेश के अनुरूप संयोजित होने में असमर्थ रहते हैं। एक संत, अतिमानव, या देवता का शरीर इससे भिन्न होता है। उसकी देह में वे ही मांसपेशियाँ, स्नायु आदि रहते हैं किन्तु वे अपने उद्दाम भावावेगों, इच्छाओं को संयमित कर उन्हें किसी महत्तर आदर्श से भर देते हैं। इसलिए उनमें जीवन-शक्ति का छन्दमय स्पन्दन रहता है—एक आदर्श, एक अभिरुचि से झंकृत। देवता भी किसी अध्यात्मिक मनोभाव का प्रतिरूप होता है इसलिए सामान्य मानव की देह जैसी शरीर-रचना सम्बन्धी अनिवार्यता उसमें लागू नहीं होती। बुद्ध या सरस्वती में साधारण मनुष्य की संवेदनाएँ नहीं हैं, उनमें सहज आंतरिक संतुलन है। उनका देह-रूप जीवन के मूल प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता, उसके अंगों में आत्मरस प्रवाहित होता है। लता, गुल्मों और पुष्पों में जो जीवन प्रवाहित होता है उसका इस प्रकार के जीवन से पर्याप्त साम्य है। पल्लव और लताओं में जीवन-शक्ति साधारण व्यक्ति की जीवन-शक्ति की भाँति पारस्परिक संघर्ष में रत नहीं रहती। अतएव उनमें जीवन का आवेग एक ऐसे उतार-चढ़ाव में बहता है जो संतुलित होता है, उसमें अनियमित झटका नहीं होता और न वह प्रवाह किसी प्रकार से बाधित होता है। मनुष्य के अन्दर बुद्धि के अवतरण से जो जटिलता आ जाती है उसके कारण उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति भी जटिल हो जाती है। इस जटिलता के अन्दर उसका सहज आत्म-तत्व खो जाता है। आत्मा का छंद उसके भाव तथा विचार के अनगढ़ छंदों में ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इसलिए कलाकार बुद्धितत्व की गरिमा को ध्यान में रखते हुए

आत्मा की गहन धारा के लय को मानव-देह में अवतरित करने का उपक्रम करता है। इस दिशा में उसे जितनी सहायता प्रकृति से मिलती है उतनी कहीं से नहीं। प्रकृति के निर्मल प्रभावों से वह शुद्ध-चैतन्य मानव का निर्माण करता है, उसके छंदोमय वेगों से मनुष्य के आवेगों को उचित गति देकर एक अभिनव मानव की मूर्ति गढ़ता है।

यह बात नहीं है कि भारतीय कलाकार मानवदेह के विभिन्न अंगों के अनुपात से अनभिज्ञ थे। गुप्तकालीन कला ने मानव के प्रकृतरूप को बड़ी योग्यता से दर्शाया है। वह विभिन्न लोगों के आचार-विचार वस्त्रादि से भलीभाँति परिचित थी। लेकिन प्रकृत अनुरूपता को उपस्थित करने में उसने यूनान के ज्यामितिक विधानों का अनुसरण नहीं किया। उसके सम्मुख जीवन के नैसर्गिक प्रवाह को अंकित करने का उद्देश्य था, वह प्रवाह जो प्रकृति में अपने को प्रकट करता है। यह कार्य वक्र आन्दोलित रेखाओं के द्वारा किया गया। कहीं भी हमें सीधी रेखा के दर्शन नहीं होते, वक्रता (curves) के द्वारा ही जीवन के स्पन्दन और प्रवाह को व्यक्त किया गया है। इसी हेतु गुप्तकालीन कलाकारों ने मानव के मुखड़े को अंडाकार बनाया, मस्तक और भ्रू को धनुष के आकार से रेखांकित किया, आँखों में खंजन, मछली या हिरण का अनुसरण किया। हाथ कमल-नाल के अनुरूप ढाले गये और अंगुलियाँ चम्पक-कली की भाँति। स्त्री-रूप को आनत-वदन अंकित किया गया है। जो सौंदर्य-प्रेरणा तत्कालीन चित्रकला में है, वही काव्यकला में भी है। मानव शरीर के विभिन्न अंग वनस्पति-जगत के सुन्दर रूपों की समता में रचे गये हैं। इसके द्वारा प्रकृति-जगत और मानव-जगत की एकता का प्रतिपादन किया गया। मानव-सौंदर्य प्राकृतिक सौंदर्य की प्रतिध्वनि-मात्र है। इस निसर्गपरता ने मानव चित्रण में पवित्रता का संचार किया है, जैविक धरातल को सूक्ष्म बनाया। वनस्पति-जीवन और मानव-जीवन की एकता को अजन्ता के भित्ति-चित्रों में इस खूबी के साथ चित्रित किया गया है कि जहाँ स्त्री-पुरुष परस्पर आलिंगन या चुम्बन करते भी दिखाये गये हैं. वहाँ एक ऐसी पावनता और मुग्धता है, शारीरिक बुभुक्षा ऐसी अनुपस्थित है कि प्रतीत होता है मानो कोई तरु लतिका से आवेष्टित है। इसी भावना के कारण बौद्ध विहारों में इस प्रकार के चित्रों को भी स्थान मिल सका। भिन्न भिन्न अंगों की चारु मुद्राएँ, नेत्रों की भंगिमाएँ, सब कुछ उस भोलेपन और मधुरता से तरल हैं जो हमें वनस्पति जगत में परिव्याप्त दिखायी देती हैं। इन चित्रों में किसी पाशविक या दूषित वासना की गंध नहीं है। वासना की उद्दाम मदोन्मत्तता का प्रेम-दृश्यों में कोई स्थान नहीं है, वहाँ देह का यौन-संबंध भी प्रेम की आध्यात्मिक अभीप्सा के रूप में व्यक्त है।[१] पाश्चात्य समीक्षक रेने ग्रूसे ने अजन्ता के सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि केवल हाथ का रेखांकन ही उस फ्रान्सिस्कन कोमलता को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, जिससे वे अनुप्राणित हैं। उनकी लघुतम मुद्राओं में कैसा आध्यात्मिक गुण है, उनके आलिंगन-विलास में कितना रहस्य-वादी भाव है! प्रेम-दृश्यों में भी शरीर और आत्मा पवित्रता के भाव से अभिषिक्त हैं। यह सारी प्राकृतिक कला प्रबल रूप से रहस्यवादी है, और एक तीव्र भक्ति के साथ उच्चतम आदर्शवाद के द्वारा अपने से निरन्तर

---

१. The representation of the graceful postures of the limbs and the bodies; the gestures of the eyes, all seem to flow in that natural innocence and sweetness which reminds us more of the natural flow of life in the plant world. There is no sign, no indication of brutal or corrupt passion; the bacchanalion fury of passion has no place in the demonstration of love scenes and the sexuality of the body seems to express itself in terms of spiritual longing for love.

—*S. N. Das Gupta.* : Fundamentals of Indian Art, p. 89.

ऊपर उठाई हुई है।[1] यही बात कुछ भिन्न रूप में राजपूत चित्रकला के संबंध में भी लागू होती है। इन चित्रों में कृष्ण-कथा का अध्यात्मिक रहस्य बड़ी कोमलता के साथ प्रकृति-परिवेश में चित्रित है।

केवल मानव-सौन्दर्य को आत्मा के धरातल पर प्रस्तुत करने के लिए ही प्रकृति का उपयोग नहीं किया गया है, वह स्वयं अपने में सौंदर्य की चिरनवीन अभिव्यक्ति है। प्रकृति की उपेक्षा भारतीय सौंदर्य-द्रष्टाओं ने कभी नहीं की है। ऋतुओं का इन्द्रधनुषी वैभव, नदी, उपत्यका, आकाश के क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाले वेश को कलाकार ने अपनी कला में संजोया है। दृश्यजगत में उसकी रुचि वैसी ही सद्य है जैसी अन्तर्जगत में। उसका ध्यान केवल मनुष्य में ही केन्द्रित नहीं रहा है, वरन् चराचर को उसने मुग्ध होकर देखा है, और उसके सौंदर्य को परखा है। चित्र में जिसे हम परिदृश्य (perspective) कहते हैं, वह काव्य की पृष्ठभूमि बन कर उतरा है। प्रकृति का दृश्य भी यहाँ उतना वस्तुगत नहीं है जितना पाश्चात्य कला-कृतियों में है। यहाँ वह अधिक मनोवैज्ञानिक अतएव स्वच्छंद और निर्बन्ध है। दृश्य-जगत का मानसिक प्रत्यय ही यहाँ की कला-साधना को अभीष्ट है। मनुष्य के अंतर्साक्षात्कार के साथ-साथ कलाकार प्रकृति के वाह्य जगत में मुख्यतः अध्यात्म-सत्ता के साक्षात्कार को उत्सुक रहा है। चीन की कला में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है। उसका ज़ेन-शास्त्र स्वर्ग, मनुष्य दानव, दूर्वादिल, वृक्षश्रेणी में लिखा हुआ है, प्रत्येक पुष्प बुद्ध को प्रतिबिम्बित करता है।[2] प्रकृति के सौंदर्य में कवि या चित्रकार ने उस असीम के सौंदर्य का दर्शन किया जो गोपन रह कर अपनी झलक दिखाता हुआ हमारी आत्मा को आकर्षित करता है। जीवन के उतार-चढ़ाव, आशा-निराशा आदि के चक्र को काट कर वह सौंदर्य-सम्पत्ति उसे किसी ऐसे सम्मोहन में बाँधना चाहती है जिसमें कटुता न हो, कुरूपता न हो, निराशा न हो, हो केवल एकतान मधुरता, रमणीयता, उत्फुल्लता। तभी जीवन सौंदर्यमंडित हो सकेगा। इस दिशा में सबसे अधिक सहायता मनुष्य को प्रकृति से मिलती है, जिससे उसने भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा की है। प्राकृतिक-सौंदर्य संघर्षाकुल मानव का चिरसहचर है। प्रकृति सौंदर्य की प्रेरणादायिनी सहचरी है।

(६) सामयिक नहीं शाश्वत : (रहस्यवादिता)

भारतीय दृष्टि सदैव शाश्वत की खोज में रही है, नश्वरता से वह कभी लुब्ध न हो सकी, न इसकी अपूर्णता में अपने को बाँध सकी। सामयिक तथ्य का निरूपण भी यदि उसने किया है तो शाश्वत की झलक के रूप में, स्वयं अपने में उसे कोई महत्व प्रदान नहीं किया।

---

१. ....the treatment of hands alone by the painters of Ajanta would be enough to express almost Franciscan tenderness by which they are animated; what a spiritual quality there is in their slightest gestures, what a mystical feeling in their most amarous caress. Even in the idyllic scenes, body and soul alike are instinct with an emotion of piety. Thus all this naturalistic art remains passionately mystical and is constantly lifted above itself by most fervent bhakti (piety) as well as by leftiest idealism

—*S. N. Das Gupta* : Fundamentals of Indian Art, p. 89.

२. Ch'an—Zent art, seeking realization of the divine being in man, proceeds by way of opening his eyes to a like spiritual essence in the world of Nature external to himself; the scripture of Zen is written with the characters of heaven, of man, of beasts, of demons, hundreds of blades of grass, and of thousand of trees (Dogen), every flower exhibits the image of Buddha.

—*A. Commarswamy* : The Transformation of Nature in Art, p. 40-41.

आत्मा की गहन धारा के लय को मानव-देह में अवतरित करने का उपक्रम करता है। इस दिशा में उसे जितनी सहायता प्रकृति से मिलती है उतनी कहीं से नहीं। प्रकृति के निर्मल प्रभावों से वह शुद्ध-चैतन्य मानव का निर्माण करता है, उसके छंदोमय वेगों से मनुष्य के आवेगों को उचित गति देकर एक अभिनव मानव की मूर्ति गढ़ता है।

यह बात नहीं है कि भारतीय कलाकार मानवदेह के विभिन्न अंगों के अनुपात से अनभिज्ञ थे। गुप्तकालीन कला ने मानव के प्रकृतरूप को बड़ी योग्यता से दर्शाया है। वह विभिन्न लोगों के आचार-विचार वस्त्रादि से भलीभाँति परिचित थी। लेकिन प्रकृत अनुरूपता को उपस्थित करने में उसने यूनान के ज्यामितिक विधानों का अनुसरण नहीं किया। उसके सम्मुख जीवन के नैसर्गिक प्रवाह को अंकित करने का उद्देश्य था, वह प्रवाह जो प्रकृति में अपने को प्रकट करता है। यह कार्य वक्र आन्दोलित रेखाओं के द्वारा किया गया। कहीं भी हमें सीधी रेखा के दर्शन नहीं होते, वक्रता (curves) के द्वारा ही जीवन के स्पन्दन और प्रवाह को व्यक्त किया गया है। इसी हेतु गुप्तकालीन कलाकारों ने मानव के मुखड़े को अंडाकार बनाया, मस्तक और भ्रू को धनुष के आकार से रेखांकित किया, आँखों में खंजन, मछली या हिरण का अनुसरण किया। हाथ कमल-नाल के अनुरूप ढाले गये और अंगुलियाँ चम्पक-कली की भाँति। स्त्री-रूप को आनत-वदन अंकित किया गया है। जो सौंदर्य-प्रेरणा तत्कालीन चित्रकला में है, वही काव्यकला में भी है। मानव शरीर के विभिन्न अंग वनस्पति-जगत के सुन्दर रूपों की समता में रचे गये हैं। इसके द्वारा प्रकृति-जगत और मानव-जगत की एकता का प्रतिपादन किया गया। मानव-सौंदर्य प्राकृतिक सौंदर्य की प्रतिध्वनि-मात्र है। इस निसर्गपरता ने मानव चित्रण में पवित्रता का संचार किया है, जैविक धरातल को सूक्ष्म बनाया। वनस्पति-जीवन और मानव-जीवन की एकता को अजन्ता के भित्ति-चित्रों में इस खूबी के साथ चित्रित किया गया है कि जहाँ स्त्री-पुरुष परस्पर आलिंगन या चुम्बन करते भी दिखाये गये हैं. वहाँ एक ऐसी पावनता और मुग्धता है, शारीरिक बुभुक्षा ऐसी अनुपस्थित है कि प्रतीत होता है मानो कोई तरु लतिका से आवेष्टित है। इसी भावना के कारण बौद्ध विहारों में इस प्रकार के चित्रों को भी स्थान मिल सका। भिन्न भिन्न अंगों की चारु मुद्राएँ, नेत्रों की भंगिमाएँ, सब कुछ उस भोलेपन और मधुरता से तरल हैं जो हमें वनस्पति जगत में परिव्याप्त दिखायी देती है। इन चित्रों में किसी पाशविक या दूषित वासना की गंध नहीं है। वासना की उद्दाम मदोन्मत्तता का प्रेम-दृश्यों में कोई स्थान नहीं है, वहाँ देह का यौन-संबंध भी प्रेम की आध्यात्मिक अभीप्सा के रूप में व्यक्त है।[१] पाश्चात्य समीक्षक रेने ग्रूसे ने अजन्ता के सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि केवल हाथ का रेखांकन ही उस फ्रान्सिस्कन कोमलता को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, जिससे वे अनुप्राणित हैं। उनकी लघुतम मुद्राओं में कैसा आध्यात्मिक गुण है, उनके आलिंगन-विलास में कितना रहस्य-वादी भाव है! प्रेम-दृश्यों में भी शरीर और आत्मा पवित्रता के भाव से अभिषिक्त हैं। यह सारी प्राकृतिक कला प्रबल रूप से रहस्यवादी है, और एक तीव्र भक्ति के साथ उच्चतम आदर्शवाद के द्वारा अपने से निरन्तर

---

१. The representation of the graceful postures of the limbs and the bodies, the gestures of the eyes, all seem to flow in that natural innocence and sweetness which reminds us more of the natural flow of life in the plant world. There is no sign, no indication of brutal or corrupt passion; the bacchanalion fury of passion has no place in the demonstration of love scenes and the sexuality of the body seems to express itself in terms of spiritual longing for love.

—*S. N. Das Gupta.* : Fundamentals of Indian Art, p. 89.

ऊपर उठाई हुई है।[१] यही बात कुछ भिन्न रूप में राजपूत चित्रकला के संबंध में भी लागू होती है। इन चित्रों में कृष्ण-कथा का अध्यात्मिक रहस्य बड़ी कोमलता के साथ प्रकृति-परिवेश में चित्रित है।

केवल मानव-सौन्दर्य को आत्मा के धरातल पर प्रस्तुत करने के लिए ही प्रकृति का उपयोग नहीं किया गया है, वह स्वयं अपने में सौंदर्य की चिरनवीन अभिव्यक्ति है। प्रकृति की उपेक्षा भारतीय सौंदर्य-द्रष्टाओं ने कभी नहीं की है। ऋतुओं का इन्द्रधनुषी वैभव, नदी, उपत्यका, आकाश के क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाले वेश को कलाकार ने अपनी कला में संजोया है। दृश्यजगत में उसकी रुचि वैसी ही सद्य है जैसी अन्तर्जगत में। उसका ध्यान केवल मनुष्य में ही केन्द्रित नहीं रहा है, वरन् चराचर को उसने मुग्ध होकर देखा है, और उसके सौंदर्य को परखा है। चित्र में जिसे हम परिदृश्य (perspective) कहते हैं, वह काव्य की पृष्ठभूमि बन कर उतरा है। प्रकृति का दृश्य भी यहाँ उतना वस्तुगत नहीं है जितना पाश्चात्य कला-कृतियों में है। यहाँ वह अधिक मनोवैज्ञानिक अतएव स्वच्छंद और निर्बन्ध है। दृश्य-जगत का मानसिक प्रत्यय ही यहाँ की कला-साधना को अभीष्ट है। मनुष्य के अंतर्साक्षात्कार के साथ-साथ कलाकार प्रकृति के बाह्य जगत में मुख्यतः अध्यात्म-सत्ता के साक्षात्कार को उत्सुक रहा है। चीन की कला में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है। उसका ज़ेन-शास्त्र स्वर्ग, मनुष्य दानव, दूर्वादिल, वृक्षश्रेणी में लिखा हुआ है, प्रत्येक पुष्प बुद्ध को प्रतिबिम्बित करता है।[२] प्रकृति के सौंदर्य में कवि या चित्रकार ने उस असीम के सौंदर्य का दर्शन किया जो गोपन रह कर अपनी झलक दिखाता हुआ हमारी आत्मा को आकर्षित करता है। जीवन के उतार-चढ़ाव, आशा-निराशा आदि के चक्र को काट कर वह सौंदर्य-सम्पत्ति उसे किसी ऐसे सम्मोहन में बाँधना चाहती है जिसमें कटुता न हो, कुरूपता न हो, निराशा न हो, हो केवल एकतान मधुरता, रमणीयता, उत्फुल्लता। तभी जीवन सौंदर्यमंडित हो सकेगा। इस दिशा में सबसे अधिक सहायता मनुष्य को प्रकृति से मिलती है, जिससे उसने भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा की है। प्राकृतिक-सौंदर्य संघर्षाकुल मानव का चिरसहचर है। प्रकृति सौंदर्य की प्रेरणादायिनी सहचरी है।

(६) सामयिक नहीं शाश्वत : (रहस्यवादिता)

भारतीय दृष्टि सदैव शाश्वत की खोज में रही है, नश्वरता से वह कभी लुब्ध न हो सकी, न इसकी अपूर्णता में अपने को बाँध सकी। सामयिक तथ्य का निरूपण भी यदि उसने किया है तो शाश्वत की झलक के रूप में, स्वयं अपने में उसे कोई महत्व प्रदान नहीं किया।

---

१. ....the treatment of hands alone by the painters of Ajanta would be enough to express almost Franciscan tenderness by which they are animated; what a spiritual quality there is in their slightest gestures, what a mystical feeling in their most amarous caress. Even in the idyllic scenes, body and soul alike are instinct with an emotion of piety. Thus all this naturalistic art remains passionately mystical and is constantly lifted above itself by most fervent bhakti (piety) as well as by leftiest idealism

—*S. N. Das Gupta* : Fundamentals of Indian Art, p. 89.

२. Ch'an—Zent art, seeking realization of the divine being in man, proceeds by way of opening his eyes to a like spiritual essence in the world of Nature external to himself; the scripture of Zen is written with the characters of heaven, of man, of beasts, of demons, hundreds of blades of grass, and of thousand of trees (Dogen), every flower exhibits the image of Buddha.

—*A. Commarswamy* : The Transformation of Nature in Art, p. 40-41.

पाश्चात्य कला ने काल के क्षण-क्षण को अंकित किया है, उसमें सामयिकता का आग्रह पाया जाता है। आधुनिक कला भी वस्तुओं को उन्हीं के रूप में अंकित करती है। किन्तु भारतीय और एशियाई कला ने वस्तु को केवल कालबद्ध रूप में न देख कर उसे उसके मूलस्रोत की निकटतम अवस्था में, ईश्वर में, देखने की चेष्टा किया है। कला में किसी एक क्षण को नहीं, उसकी निरन्तर स्थिति को मूर्तिमान करने का प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिये बुद्ध को ही लिया जा सकता है। बुद्ध ने शताब्दियों पूर्व बोधि प्राप्त किया था, किन्तु उसका प्राकट्य अभी भी उपलब्ध है और रहेगा क्योंकि वह चेतना की उस स्वयं-प्रकाश स्थिति का अंकन है जो काल और स्थान से बद्ध नहीं है। उसी प्रकार नटराज का नृत्य न केवल तारक वन में होता है, चिदम्बरम् में भी नहीं, वह आराधक के हृदय में नित्य होता रहता है। कृष्ण-लीला केवल ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, वह एक ऐसी क्रीड़ा है जो सारे जीवों के अन्तर में निरन्तर चलती रहती है। हाँ, उसे देखने के लिए दृष्टि चाहिए। इसे ऐतिहासिकता का अभाव नहीं कहा जा सकता, जैसा कि बहुधा पाश्चात्य विद्वान् कहा करते हैं। इतिहास उन खण्ड-सत्यों से निर्मित होता है जिनके पीछे कोई शाश्वत सत्य क्रियाशील रहता है। इतिहास में, सामयिकता में कालप्रवाह की समग्रता को पकड़ पाना कोई आसान कार्य नहीं है। इसे ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव न कह कर इतिहास की अन्तर्दृष्टि कहना अधिक उचित है। भारतवर्ष सदैव 'टाइप' की खोज में रहा है, व्यक्ति और घटनायें उसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। क्षणिक प्रभावों से वह सन्तुष्ट नहीं हो सका, चेतना को चिरन्तन रूप से प्रभावित करने वाले व्यापारों को ही उसने कला की प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ कहीं ऐतिहासिक कथा भी अपनाई गई है, सामयिक घटनाओं को भी स्थान दिया गया है, वहाँ शाश्वत की अभिव्यंजना के रूप में, स्वयं अपने लिए नहीं। खूबी यह है कि शाश्वतता थोड़े हेर-फेर के साथ सामयिकता की माँग में भी खप जाती है। वह शाश्वत है इसलिए न तो समय के लिए अनुपयोगी हो जाती है, न समय से बाहर मृत।

सौंदर्य में शाश्वत तत्व के आग्रह के कारण भारतीय कला ने रहस्यपरक मार्ग पकड़ लिया। भारत में मानव-जीवन को अन्य जीवों के जीवन से, तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट माना गया है। अन्तश्चैतन्य-खोजी सौंदर्य-दृष्टि के कारण भारतवर्ष में नग्न मानवदेह का कला की दृष्टि से महत्व नहीं है। दूसरी ओर, मानव प्रेम की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया—दृष्टि-सम्मिलन से आत्म-विस्मृति तक की स्थिति-को आध्यात्मिक रूप से महत्वपूर्ण माना गया है, और धार्मिक प्रतीकों में यौन-बिम्बों को स्वच्छंदता से प्रयुक्त किया गया है। दैहिक मिलन के द्वारा उस आध्यात्मिक तादात्म्य को प्रतिपादित किया गया है जहाँ पर एक चिरन्तन पुरुष है, दूसरी चिरन्तन प्रकृति। इसीलिए वैष्णव-रहस्यवाद ने आत्मा-परमात्मा के शाश्वत संबंध को राधा और कृष्ण, ब्रजगोपी और गोपाल, पार्थिव प्रिया और स्वर्गिक प्रियतम के मानवीय बिम्बों में अंकित किया है। ऐसे साहित्य में ऐन्द्रियता का आध्यात्मिक महत्व है, और आध्यात्मिकता की ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति। वृन्दावन का सौंदर्य-लोक एक ऐसा रूपान्तरित लोक है जहाँ हर पुरुष वीर है, स्त्री सुन्दरी, प्राणावेगमयी तथा लज्जाशीला। पशु, यहाँ तक कि वृक्ष और नदी भी परम मधुर प्रियतम की उपस्थिति से ओतप्रोत है। यह लोक एक साथ ही कल्पना का है और सत्य का है।

भारतीय सौंदर्य-दर्शन की उपर्युक्त विशेषताएँ कृष्ण भक्ति काव्य के सौंदर्य-दर्शन में अन्तर्निहित हैं। उसकी सौंदर्य-कल्पना में ये विचार-धाराएँ ही क्रियाशील रही हैं। उसके सौंदर्य-बोध को इन्हीं सूत्रों के द्वारा पकड़ा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

●●

तृतीय परिच्छेद

कृष्णभक्ति काव्य में सौन्दर्य का धरातल

लालित्य : LOVLINESS औदात्य : SUBLIME

लालित्य

सौन्दर्य में आह्लादकारिता का जो अनिवार्य गुण है उसका आधार उसमें निहित आकर्षण-तत्व है। इस आकर्षण के मूल में वह गुण है जिसे हम चारुता या लालित्य (Lovliness, Prettiness) कहते हैं। सौंदर्य में चित्त को रमाने की जो सहजात क्षमता आ जाती है वह इस रमणीयता किंवा लालित्य के कारण आती है। निश्चित समानुपात, ऐक्य आदि बाह्य उपकरणों के बावजूद भी यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु या व्यक्ति सुन्दर है। हम उसे सुडौल कह लेंगे—सुडौलता भी सौन्दर्य का आवश्यक उपादान है, किन्तु वही सर्वस्व नहीं है। सुडौल वस्तु को हम एकदम सुन्दर ही कह डालें ऐसा संभव भी है, नहीं भी। कोई वस्तु चाहे वह कितनी भी सुडौल क्यों न हो, सुगठित क्यों न हो, हमें तब तक आकर्षण के सम्मोहन में नहीं बाँध पाती जब तक वह रम्य न हो। रमणीयता वह सम्मोहन है जो सौन्दर्य के अनिवार्य गुण—आकर्षण—का प्राण है। रमणीयता के अभाव में सौन्दर्य जड़ एवं निष्प्राण रहेगा। इसी गुण के कारण सौन्दर्य जीवन में शिव और सत्य से कहीं अधिक स्पृहणीय बनता है। उसके निहित सत्य में चित्त स्वयं रमने लगता है,—उसकी रमणीयता के कारण। प्रवृत्ति मार्ग से चित्तवृत्तियों का निरोध करने में सबसे अधिक सफलता कृष्णभक्ति-धारा को मिली है। मनुष्य की सारी आकर्षण-वृत्तियों को परम-सुंदर की चिर-रमणीयता में रमा कर उन्हें निष्कासित न करके अह्लादित किया गया है। इस अह्लाद (रावस्) का कारण श्रीकृष्ण का वह गुण है जिसके कारण वे अन्य सभी अवतारों से श्रेष्ठ ठहरते हैं—लालित्य का, रमणीयता का। सारी वर्जनाओं को कृष्ण की रमणीयता में आत्मोपलब्धि मिल जाती है। वे उनमें रम जाती हैं। कृष्ण का सभी कुछ मधुर है, सर्वांग मधुर है, वेणु वेत्र मधुर हैं, सहचर मधुर हैं, क्रीड़ा-स्थली मधुर है, वे स्वयं लीला-मधुर हैं। इस माधुर्य की अनुभूति कृष्ण-भक्ति की सौन्दर्य-साधना की इति है। किन्तु कहने या सुनने में यह जितना सहज और सरल लगता है उतना है नहीं। सूरदास जी ने स्पष्ट ही कहा है कि रास का वर्णन करना उनकी शक्ति के परे था। एकमात्र आराध्य (राधा-कृष्ण) तथा श्रीगुरु की कृपा से ही वे इस परम रमणीक स्थिति का वर्णन करने में समर्थ हुए हैं। भजन के प्रताप तथा चरण की महिमा से सौन्दर्य की वह मधुरता उपलब्ध होती है।[1]

---

१. मैं कैसे रस रासहिं गाऊँ।
श्रीराधिका स्याम की प्यारी, कृपा बास ब्रज पाऊँ।।
आन देव सपनैहुँ न जानौं, दंपति कौं सिर नाऊँ।
भजन-प्रताप, चरन-महिमा तैं गुरु की कृपा दिखाऊँ।।
नव निकुंज बन-धाम-निकट इक, आनँद-कुटी रचाऊँ।
सूर कहा बिनती करि बिनवै, जनम-जनम यह ध्याऊँ।।
—सूरसागर, पद सं० १७९२

इस रमणीयता की अनुभूति में बुद्धि, चित्त सभी को अपना मानवीय स्तर छोड़ कर चेतना के ऐसे लोक में पहुँचना पड़ता है जहाँ चिद्-प्रकाश है,—ब्रजलोक किंवा गोलोक में। इस गोलोक में ही घनश्याम द्युति वाले किसी अति-मधुर की रमणीयता के दर्शन हो सकते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। इस रमणीयता का अनुभव करने के लिए विल्वमंगल निरन्तर याचना करते रहे, किन्तु उनकी पकड़ में वह मुश्किल से ही आ पाता। पकड़ पाने पर वह यहीं कहते रहे कि किसी सरस घन अमृत में उनका मन डूबा जा रहा है, प्रेम-क्रीड़ा के मद से मुदित, शशि-शोभा का अपहरण करने वाले मुख-कमल के माधुर्य-सिन्धु में उनका चित्त लीन हुआ जा रहा है।[१]

पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक को ही काव्य माना है। उनके अनुसार काव्य में रमणीय तत्व का होना आवश्यक है। किसी भी सौंदर्य-रचना में रमणीय तत्व का उपस्थित रहना अनिवार्य है। यह रमणीयता ही उस विचित्र आह्लाद को जन्म देती है जो सौंदर्य के बोध मात्र से किसी अजान उत्स से फूट पड़ता है। सौन्दर्य को आनन्द या रस रूप बना देने में रमणीयता अपरिहार्य है।

औदात्य

किन्तु रमणीयता से ही पूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो जाती। आकर्षण, रमणीयता जिसका मूलाधार है, ही सौन्दर्य की एकमात्र और अनुपम वृत्ति नहीं है। सौन्दर्य का एक दूसरा ही मान है जो उसके शिवत्व एवं सत्य का व्यंजक है,—वह है औदात्य। जो कुछ उदात्त है वह सुन्दर हो यह आवश्यक नहीं, किन्तु सौन्दर्य गरिमा-विहीन हो यह भी आवश्यक नहीं है। केवल रमणीयता पर बल देने से सौन्दर्य की ऊँचाई और गहराई की माप नहीं हो सकती। इसीलिए रमणीयता को सौन्दर्य का आवश्यक तत्व मानते हुए भी उसे सौन्दर्य का पर्यायवाची मानने की भूल कला-मनीषियों ने नहीं की। आदर्श-सौंदर्य रमणीयता से ही निर्मित नहीं होता, क्योंकि रमणीयता का मान एक ऐसा विषयीगत मापदंड है जो व्यक्ति के निजी स्नेह पर भी निर्भर करता है। इसीलिए केवल रमणीयता को पूर्ण सौन्दर्य से पृथक् रक्खा गया है। उसे सापेक्ष सौंदर्य की संज्ञा दी गई है।[२] सौन्दर्य की पूर्णता के लिए भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि में एक और भी तत्व आवयक है जिसे हम 'उदात्त' कहते हैं। अह्लादकारिता को किसी ऐसे धरातल का वरण करना पड़ता है जो हमारी व्यक्तिगत आसक्तियों से ऊपर है। सौन्दर्य का बोध हमें हमारी सीमित चेतना की उछलकूद से प्रफुल्लित नहीं करता, वरन् चेतना को उठाकर किसी महत्तर लोक में ले जाने का भी उपक्रम करता है। नहीं तो, चेतना के विकास की दृष्टि से सौन्दर्यबोध की जीवन में कोई विशेष सार्थकता ही नहीं रह जायेगी। आह्लाद के स्तर का विकास ही सौन्दर्य का उपक्रम है। इस स्तरोन्नयन में सबसे अधिक सहायता उदात्त तत्व से मिलती है। इस औदात्य के सहारे कल्पना सौन्दर्य के विषय से वे तत्व ग्रहण करती है जो हमारे साधारण अनुभव का अतिक्रमण कर जाते हैं पर फिर भी एकदम अग्राह्य नहीं

---

१. कुसुम-शर-शर-समर-कुपित-मद-गोपी—
कुचकलस-घृसृणरस-लसदुरसि देवे।
मदमुदित-मृदुहसित-मुषित-शशि-शोभा,
मुहुरधिक मुखकमल-मधुरिमणि लीये।—श्रीकृष्णकर्णामृत, श्लोक, ५३।

२. ....Further as there are two truths, absolute and relative (Vidya and Avidya) so there are two Beauties, the one Absolute or Ideal, the other relative, and better termed lovliness, because determined by human affections. These two are clearly distinguished in Indian Aesthetics.

—*Mulk Raj Ananb* : The Hindu View of Art, p. 95.

होते। हम किसी ऐसे तत्व की उपस्थिति से अभिभूत हो जाते हैं जो हमारी मनमानी कल्पना पर टोक लगा देती है। उसकी विशालता, उच्चता, गरिमा के आगे हमारा मन और मस्तिष्क नत हो जाता है। उदात्त के आगे हमारी लघुता का बोध उभर आता है, उसकी विशालता से मन में एक चकित आह्लाद का जन्म होता है, और हम अपने से महत् किसी सत्ता के आगे समर्पित हो जाते हैं। इस समर्पण में हमारे व्यक्तित्व का ह्रास नहीं होता वरन् उसकी लघुता उस महत्ता में परिणत हो जाती है जिससे वह अभिभूत होती है, ठीक वैसे ही जैसे कीट भृंग में परिणत हो जाता है। इस आत्मविलयन को आत्मविकास कहना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि यह सीमा से अतिसीम की ओर अग्रसर होना है। सौन्दर्यबोध में इस उदात्त तत्व की उपस्थिति के कारण रमणीयता के प्रति हमारी जो अति स्वच्छंद ललक होती है उसे एक दूसरी दिशा मिलती है। उदात्त के बोध के साथ सौन्दर्यबोध उतना सुकर नहीं रह जाता, जितना मात्र उसकी रमणीयता की अनुभूति में रहता है। इसके कारण सौन्दर्य का बोध कठिन हो जाता है क्योंकि उदात्त वृत्ति के कारण उसमें वह गुण नहीं रह जाता कि हम मनोनुकूल रूप में उसे पकड़ लें; वह एक प्रकार से हमारी पहुँच के बाहर हो जाता है। इसीलिए उसमें चित्त-वृत्ति का मनोरंजन न होकर उदात्तीकरण होता है। पाश्चात्य विद्वान् उदात्त-सौंदर्य को कठिन-सौन्दर्य कहते हैं, और उसे सरल-सौंदर्य से पृथक करते हुए उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विश्लेषण भी करते हैं। शॉपेनहावर का कथन है कि उदात्त के परिग्रहण से हमारे मस्तिष्क की स्वच्छन्द क्रीड़ा का प्रतिरोध होता है, यह प्रतिरोध रुद्धता नहीं है, वरन् किसी अन्य प्रकार की चेतना में पुनर्स्वस्ति (recovery) है। विना इस प्रकार के रोक के हमें सरल-सौंदर्य का दर्शन होता है, वह सौन्दर्य जिसमें विषय एवं समर्थक बिम्ब के सन्तुलन तथा सामंजस्य में विलम्ब नहीं लगता। किन्तु उदात्त के आगमन से यह सन्तुलन एवं सामंजस्य (विषय तथा विषयी दोनों में) एक व्यवधान किंवा हलचल के पश्चात् प्राप्त होता है। असामान्य सामान्य हो जाता है।[१] इस प्रकार उदात्त विक्षुब्ध स्थिति में प्राप्त सामंजस्य है, सौंदर्य का वह ऐसा संतुलन है जो सामान्य स्थिति के बाधित होने के अनन्तर किसी विशालतर सत्य में पहुँच कर विशालतर चेतना के अनुकूल हो जाता है। इसीलिए 'उदात्त' एक विशेष प्रकार का कठिन-सौन्दर्य है (यह नहीं कि सभी कठिन सौन्दर्य उदात्त होता है), सौन्दर्य का एक अन्य रूप है।[२]

---

१. The difference of the sublime and the beautiful seems to be closely akin to that of difficult and easy beauty. Schopenhauer observes that in the apprehension of the sublime there is a check to the free play of our minds. The check is followed by recovery. Without such check we may say we have easy beauty; the subject and the supplemetary images settle smoothly into equilibrium and harmony. But with the sublime, equilibrium and harmony (in the object be it observed as well as in the contemplating mind) are recovered after disturbance; the fearful or paralysing object is blended with the thought of the abiding normality of the object which at first seemed abnormal...

—*S. Alexander* : Beauty and Other Forms of Value, p. 167.

२. ....the sublime is a harmony effected in a disturbing situation which becomes a reconciling one on a larger view of itself. The sublime is therefore a special kind of difficult beauty, for not all difficult beauty is sublime, and is consequently another form of beauty.

—*S. Alexander* : Beauty and Other Forms of Value, p. 167-168.

साधारण चेतना का संतुलन एक प्रकार का जड़ संतुलन रहता है। जिस प्रकार पशु अपने धरातल पर पूर्ण संतुष्ट रहता है उसी प्रकार मनुष्य भी। साधारण मनुष्य अपनी चेतना के अपूर्ण सामंजस्य को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट रहता है। वही उसका सामान्य धरातल होता है। वह अपने से महत्तर किसी भी सत्ता के प्रति सजग नहीं रहता। किन्तु जब किसी उच्चतर सत्ता का उसके परिचित चित्त में अवतरण होता है तो उसका तथा-कथित सन्तुलन बिगड़ जाता है या बिल्कुल ध्वस्त हो जाता है। तब अपनी स्थिति को पुनर्संगठित करने के लिए उसे उस महत्तर सत्ता की चेतना में आरोहण करना पड़ता है। इस आरोह-अवरोह के अन्तर्मिलन से जिस नये सामंजस्य की सृष्टि होती है वह उदात्त-लोक की होती है। मनुष्य की साधारण चेतना का किसी महत् चैतन्य में एक प्रकार से पुनर्जन्म-सा होता है। यही बात कठिन किंवा उदात्त-सौन्दर्य के विषय में कही जा सकती है। साधारणतया जो सौन्दर्य हमारे आकर्षण का विषय बना रहता है उसका धरातल बहुत-कुछ सामान्य और जैविक होता है। उदात्त सौन्दर्य का अवतरण उस धरातल को हिला देता है, किन्तु हिलाने का अर्थ उसका विनाश नहीं होता। नये किन्तु गूढ़तर तत्वों के प्रवेश से उस धरातल के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया जारी रहती है। और तब, जिस नये सौन्दर्य-धरातल का सृजन होता है वह पहले से अधिक पूर्ण, अधिक विकसित और महान होता है। चूँकि गरिमा का आग्रह सामान्य सौन्दर्य-रसिकों में नहीं होता इसीलिए उदात्त के प्रवेश से उनकी स्थिति डावाँ-डोल होने लगती है। प्रबुद्ध सौन्दर्य-द्रष्टा आरम्भ से ही सौन्दर्य की रमणीयता में उदात्त तत्व का योग अनिवार्य समझते हैं। नहीं तो सौन्दर्य को वह धरातल नहीं मिल पाता जिसे ऋषि-कवि सत्य और ऋत् के लोक से एका-कार करके देखता है। इसके पूर्व हम भारतीय सौन्दर्य-दर्शन में जिस मूलादर्श का उल्लेख कर आये हैं वह सौन्दर्य की काल्पनिक अनुभूति पर निर्भर नहीं है, वरन् वह आदर्श सौन्दर्य के साथ उस उदात्त तत्व के मिश्रण से सत्य है जिसका हमें वास्तविक जगत में प्रायः दर्शन नहीं होता, होता भी है तो बहुत अपूर्ण। उदात्त का महत् कोई नैतिक आदर्श का महत् नहीं है, वह सौन्दर्य की गरिमा का एक अविच्छेद्य अंग है। औदात्य से सौन्दर्य की चल गतिमयता को मेरुदण्ड मिलता है। इसके अभाव में सौन्दर्य में स्थैर्य नहीं रह जाता, और बिना स्थैर्य के सौन्दर्य-बोध का धरातल नहीं निर्मित हो पाता।

ललित और उदात्त का संयोग : सौन्दर्य में शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी गुण

रमणीयता से सौन्दर्य को जिस प्रकार उन्मुक्त होकर उड़ने-विचरने के नाना अवसर प्राप्त होते हैं, उदात्त में उसी प्रकार पैर जमाने के। एक सौन्दर्य की गतिमयता है, दूसरी स्थिति। चल और अचल ब्रह्म की भाँति सौन्दर्य के ये दो अभिन्न पहलू हैं,—रमणीयता उदात्त होकर सबल होती है और उदात्त रमणीय होकर आकर्षक। इन दोनों के सामंजस्य से ही पूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि होती है। रमणीयता और उदात्त के योग में चरम सौन्दर्य की सृष्टि होती है। ये दोनों अपने द्वारा मनुष्य के राग एवं बुद्धि-तत्व का पोषण करते हैं। इन दोनों के सफल समन्वय से सौन्दर्य के आकर्षण को वह धरातल मिलता है जो महिम है, गौरवशाली है, और महिमा को वह हार्दिकता मिलती है जो मोहक है, स्पृहणीय है। इन दोनों के मणिकांचन-न्याय में ही वास्तविक सौन्दर्य-बोध है। इन दोनों का मेल काव्य में 'रोमांटिक' और 'क्लासिकल' विधाओं के मेल की भाँति है। शास्त्रीयता में संयम, व्यवस्था, माध्यम की मितव्ययिता और ग्राह्यों की समता रहती है, यह कलात्मक परंपराओं एवं रूढ़ियों को महत्व देती है। यह व्यक्तिगत अनुभव में विश्वजनीन (Universal) सत्य को खोजती है और शालीन, निर्दोष, नियंत्रित चारुता किंवा रमणीयता (Lovliness) के नमूनों का निर्माण करती है। विचार की पार-दर्शिता और अभिव्यक्ति की प्रांजलता इसका लक्ष्य होता है। किन्तु जब तक एक वृहत कल्पनात्मक आवेश न हो, शास्त्रीयता एक ठंढी निष्प्राण कला को जन्म देती है। दूसरी ओर स्वच्छंदतावाद (Romanticism) की अभि-व्यक्ति किसी अतिक्रान्त करने वाली कल्पना के कारण सफल होती है। यह अपरिचित, असाधारण, नूतन, असामान्य

तथा दूर की किसी वस्तु की खोज में रहता है, और आत्मसंयम के स्थान पर आत्मस्वच्छंदता को ले आता है। किन्तु यदि कलाकार संयमी और जागरूक न हो तो स्वच्छंदतावाद मात्र पागलपन, अव्यवस्था किंवा रूपहीनता का प्रतीक बन कर रह जाता है। अतएव उत्तम कलाकार की दृष्टि से इन दोनों विधाओं का पारस्परिक सहयोग वांछित है। वह क्लासिसिज्म को रोमांटिसिज्म से और रोमांटिसिज्म को क्लासिसिज्म के उत्तम गुणों से मंडित करता है। सौन्दर्य में रमणीयता की स्थिति बहुत कुछ रोमांटिक तत्व के कारण है और उदात्त की क्लासिकल के कारण। इन दोनों का सफल समन्वय सौन्दर्य में स्वच्छंदतावादी और शास्त्रीय दोनों तत्वों की अनुभूति प्रदान करने में समर्थ होता है।

भक्तिकाल के कृष्ण-काव्य में इन दोनों तत्वों—उदात्त और लालित, क्लासिकल और रोमांटिक—का संगुंफन किया गया है। यह सत्य है कि आराध्य कृष्ण तथा उनके परिकर-परिवेश में लालित्य तथा रोमांटिक तत्व का रंग चटख है, किन्तु भक्तिकाल के सौन्दर्य में लालित्य तथा रोमांटिक तत्व का बोध मात्र लालित्य एवं रूमानियत की प्रेरणा से नहीं है। बहुत सावधानी से न देखने पर इस बात का भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। सत्य तो यह है कि हिन्दी के भक्त-कवि पुरुषोत्तम के सौन्दर्य और रस की विवेचना करने नहीं बैठे, गौड़ीय भक्तों की भाँति उसे अपनी ओर से समझाने की चेष्टा नहीं की, परन्तु उनकी निजी अनुभूति का धरातल क्या था इसे समझने के लिए रीतिकाल के कृष्ण-कवियों की सौन्दर्यदृष्टि से पृथक् उनकी भक्ति-गर्भित दृष्टि में प्रवेश करना पड़ेगा। भक्तिकाल के कृष्ण-काव्य में लालित्य एवं रूमानियत का वह ढीला आवेश नहीं है जो रीतिकाल में है। आवेश उसमें भी है किन्तु अतल गहराइयों से अनुप्राणित है। कृष्ण के ललित मधुर सौन्दर्य के पीछे उनके उदात्त और महत् सौन्दर्य की झाँकी निरन्तर दर्शायी गयी है, यद्यपि उस झरोखे से आते प्रभाव को देर तक नहीं ठहरने दिया गया है, क्योंकि ऐसा करने में ब्रह्म के सौन्दर्य की आत्मीयता में बाधा पड़ती। भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में उदात्त को रमणीक बना कर, कठिन-सौन्दर्य को ललित बना कर, तथा सौन्दर्य के आदि रूप को प्रकृत बना कर अवतरित किया गया है। उसकी सौन्दर्य-सृष्टि में ये विशेषताएँ न होतीं तो भक्ति-काल के सौन्दर्य-बोध और रीतिकाल के सौन्दर्य-बोध में कोई अन्तर ही न रह पाता।

पाश्चात्य विद्वान जिसे कठिन-सौन्दर्य कहते हैं वह कृष्ण भक्तिकाव्य में पूर्णतया विद्यमान है, समान्य जन के लिए पट-भूमि में, किन्तु उस चरम-सौन्दर्य के द्रष्टाओं के लिए उद्घाटित रूप में। वह अतिरमणीय सौन्दर्य कितना उदात्त है इसकी अनुभूति को सजग करने के लिए भक्त-कवियों ने किसी-किसी लीला के प्रसंग में कुछ संकेत दिये हैं। कृष्ण के सौन्दर्य में प्रसाद एवं मधुर गुण इतना अधिक है कि उसके उदात्त और ओज गुण को हम सहज ही भूल जाते हैं। कृष्ण के ललित-सौन्दर्य में उदात्त-सौन्दर्य की कमी नहीं है। गोवर्द्धन-पूजा के प्रसंग में यह सत्य छिपा नहीं रह पाता। उनमें विराट् तत्व की सन्निहिति उद्घाटित हो जाती है। उनकी चिरपरिचित राधिका से सखी ललिता कहती है कि नंद के हाथ को पकड कर खड़े रहने वाले कृष्ण का जो रूप है वही गिरि गोवर्द्धन का रूप है। गोवर्द्धन के देवता ने भी वही कुंडल, वही माला, वही पीताम्बर धारण कर रखा है किन्तु वह सहस्र भुजायें फैला कर नैवेद्य ग्रहण कर रहा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि गोवर्द्धन-शिखर की शोभा श्याम की छवि से आपूर है, और श्याम की छवि गिरि के जोड़ की है। उदात्त और लालित्य के इस तादात्म्य को देखकर राधा भूली-सी हो जाती हैं। कहीं वे उदात्त के प्रभुत्व से दब न जायँ, इसलिए कृष्ण उन्हें अपने मधुर वश में कर लेते हैं।[1] ललिता को इस बात का बोध हो जाता है कि जो गोकुल का वासी है वही त्रिभुवन का स्वामी

1. गिरिवर स्याम की अनुहारि।
करत भोजन अधिक रुचि यह, सहस भुजा पसारि।।
नंद कौ कर गहे ठाढ़े यहै, गिरि कौ रूप।

साधारण चेतना का संतुलन एक प्रकार का जड़ संतुलन रहता है। जिस प्रकार पशु अपने धरातल पर पूर्ण संतुष्ट रहता है उसी प्रकार मनुष्य भी। साधारण मनुष्य अपनी चेतना के अपूर्ण सामंजस्य को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट रहता है। वही उसका सामान्य धरातल होता है। वह अपने से महत्तर किसी भी सत्ता के प्रति सजग नहीं रहता। किन्तु जब किसी उच्चतर सत्ता का उसके परिचित चित्त में अवतरण होता है तो उसका तथा-कथित सन्तुलन बिगड़ जाता है या बिल्कुल ध्वस्त हो जाता है। तब अपनी स्थिति को पुनर्संगठित करने के लिए उसे उस महत्तर सत्ता की चेतना में आरोहण करना पड़ता है। इस आरोह-अवरोह के अन्तर्मिलन से जिस नये सामंजस्य की सृष्टि होती है वह उदात्त-लोक की होती है। मनुष्य की साधारण चेतना का किसी महत् चैतन्य में एक प्रकार से पुनर्जन्म-सा होता है। यही बात कठिन किंवा उदात्त-सौन्दर्य के विषय में कही जा सकती है। साधारणतया जो सौन्दर्य हमारे आकर्षण का विषय बना रहता है उसका धरातल बहुत-कुछ सामान्य और जैविक होता है। उदात्त सौन्दर्य का अवतरण उस धरातल को हिला देता है, किन्तु हिलाने का अर्थ उसका विनाश नहीं होता। नये किन्तु गूढ़तर तत्वों के प्रवेश से उस धरातल के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया जारी रहती है। और तब, जिस नये सौन्दर्य-धरातल का सृजन होता है वह पहले से अधिक पूर्ण, अधिक विकसित और महान होता है। चूँकि गरिमा का आग्रह सामान्य सौन्दर्य-रसिकों में नहीं होता इसीलिए उदात्त के प्रवेश से उनकी स्थिति डावाँ-डोल होने लगती है। प्रबुद्ध सौन्दर्य-द्रष्टा आरम्भ से ही सौन्दर्य की रमणीयता में उदात्त तत्व का योग अनिवार्य समझते हैं। नहीं तो सौन्दर्य को वह धरातल नहीं मिल पाता जिसे ऋषि-कवि सत्य और ऋत् के लोक से एकाकार करके देखता है। इसके पूर्व हम भारतीय सौन्दर्य-दर्शन में जिस मूलादर्श का उल्लेख कर आये हैं वह सौन्दर्य की काल्पनिक अनुभूति पर निर्भर नहीं है, वरन् वह आदर्श सौन्दर्य के साथ उस उदात्त तत्व के मिश्रण से सत्य है जिसका हमें वास्तविक जगत में प्रायः दर्शन नहीं होता, होता भी है तो बहुत अपूर्ण। उदात्त का महत् कोई नैतिक आदर्श का महत् नहीं है, वह सौन्दर्य की गरिमा का एक अविच्छेद्य अंग है। औदात्य से सौन्दर्य की चल गतिमयता को मेरुदण्ड मिलता है। इसके अभाव में सौन्दर्य में स्थैर्य नहीं रह जाता, और बिना स्थैर्य के सौन्दर्य-बोध का धरातल नहीं निर्मित हो पाता।

ललित और उदात्त का संयोग : सौन्दर्य में शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी गुण

रमणीयता से सौन्दर्य को जिस प्रकार उन्मुक्त होकर उड़ने-विचरने के नाना अवसर प्राप्त होते हैं, उदात्त में उसी प्रकार पैर जमाने के। एक सौन्दर्य की गतिमयता है, दूसरी स्थिति। चल और अचल ब्रह्म की भाँति सौन्दर्य के ये दो अभिन्न पहलू हैं,—रमणीयता उदात्त होकर सबल होती है और उदात्त रमणीय होकर आकर्षक। इन दोनों के सामंजस्य से ही पूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि होती है। रमणीयता और उदात्त के योग में चरम सौन्दर्य की सृष्टि होती है। ये दोनों अपने द्वारा मनुष्य के राग एवं बुद्धि-तत्व का पोषण करते हैं। इन दोनों के सफल समन्वय से सौन्दर्य के आकर्षण को वह धरातल मिलता है जो महिम है, गौरवशाली है, और महिमा को वह हार्दिकता मिलती है जो मोहक है, स्पृहणीय है। इन दोनों के मणिकांचन-न्याय में ही वास्तविक सौन्दर्य-बोध है। इन दोनों का मेल काव्य में 'रोमांटिक' और 'क्लासिकल' विधाओं के मेल की भाँति है। शास्त्रीयता में संयम, व्यवस्था, माध्यम की मितव्ययिता और म्राध्यों की समता रहती है, यह कलात्मक परंपराओं एवं रूढ़ियों को महत्त्व देती है। यह व्यक्तिगत अनुभव में विश्वजनीन (Universal) सत्य को खोजती है और शालीन, निर्दोष, नियंत्रित चारुता किंवा रमणीयता (Lovliness) के नमूनों का निर्माण करती है। विचार की पार-दर्शिता और अभिव्यक्ति की प्रांजलता इसका लक्ष्य होता है। किन्तु जब तक एक वृहत कल्पनात्मक आवेश न हो, शास्त्रीयता एक ठंढी निष्प्राण कला को जन्म देती है। दूसरी ओर स्वच्छंदतावाद (Romanticism) की अभि-व्यक्ति किसी अतिक्रान्त करने वाली कल्पना के कारण सफल होती है। यह अपरिचित, असाधारण, नूतन, असामान्य

तथा दूर की किसी वस्तु की खोज में रहता है, और आत्मसंयम के स्थान पर आत्मस्वच्छंदता को ले आता है। किन्तु यदि कलाकार संयमी और जागरूक न हो तो स्वच्छंदतावाद मात्र पागलपन, अव्यवस्था किंवा रूपहीनता का प्रतीक बन कर रह जाता है। अतएव उत्तम कलाकार की दृष्टि से इन दोनों विधाओं का पारस्परिक सहयोग वांछित है। वह क्लासिसिज्म को रोमांटिसिज्म से और रोमांटिसिज्म को क्लासिसिज्म के उत्तम गुणों से मंडित करता है। सौन्दर्य में रमणीयता की स्थिति बहुत कुछ रोमांटिक तत्व के कारण है और उदात्त की क्लासिकल के कारण। इन दोनों का सफल समन्वय सौन्दर्य में स्वच्छंदतावादी और शास्त्रीय दोनों तत्वों की अनुभूति प्रदान करने में समर्थ होता है।

भक्तिकाल के कृष्ण-काव्य में इन दोनों तत्वों—उदात्त और ललित, क्लासिकल और रोमांटिक—का संगुंफन किया गया है। यह सत्य है कि आराध्य कृष्ण तथा उनके परिकर-परिवेश में लालित्य तथा रोमांटिक तत्व का रंग चटख है, किन्तु भक्तिकाल के सौन्दर्य में लालित्य तथा रोमांटिक तत्व का बोध मात्र लालित्य एवं रूमानियत की प्रेरणा से नहीं है। बहुत सावधानी से न देखने पर इस बात का भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। सत्य तो यह है कि हिन्दी के भक्त-कवि पुरुषोत्तम के सौन्दर्य और रस की विवेचना करने नहीं बैठे, गौड़ीय भक्तों की भाँति उसे अपनी ओर से समझाने की चेष्टा नहीं की, परन्तु उनकी निजी अनुभूति का धरातल क्या था इसे समझने के लिए रीतिकाल के कृष्ण-कवियों की सौन्दर्यदृष्टि से पृथक् उनकी भक्ति-गर्भित दृष्टि में प्रवेश करना पड़ेगा। भक्तिकाल के कृष्ण-काव्य में लालित्य एवं रूमानियत का वह ढीला आवेश नहीं है जो रीतिकाल में है। आवेश उसमें भी है किन्तु अतल गहराइयों से अनुप्राणित है। कृष्ण के ललित मधुर सौन्दर्य के पीछे उनके उदात्त और महत् सौन्दर्य की झाँकी निरन्तर दर्शायी गयी है, यद्यपि उस झरोखे से आते प्रभाव को देर तक नहीं ठहरने दिया गया है, क्योंकि ऐसा करने में ब्रह्म के सौन्दर्य की आत्मीयता में बाधा पड़ती। भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में उदात्त को रमणीक बना कर, कठिन-सौन्दर्य को ललित बना कर, तथा सौन्दर्य के आदि रूप को प्रकृत बना कर अवतरित किया गया है। उसकी सौन्दर्य-सृष्टि में ये विशेषताएँ न होतीं तो भक्ति-काल के सौन्दर्य-बोध और रीतिकाल के सौन्दर्य-बोध में कोई अन्तर ही न रह पाता।

पाश्चात्य विद्वान जिसे कठिन-सौन्दर्य कहते हैं वह कृष्ण भक्तिकाव्य में पूर्णतया विद्यमान है, सामान्य जन के लिए पट-भूमि में, किन्तु उस चरम-सौन्दर्य के द्रष्टाओं के लिए उद्घाटित रूप में। वह अतिरमणीय सौन्दर्य कितना उदात्त है इसकी अनुभूति को सजग करने के लिए भक्त-कवियों ने किसी-किसी लीला के प्रसंग में कुछ संकेत दिये हैं। कृष्ण के सौन्दर्य में प्रसाद एवं मधुर गुण इतना अधिक है कि उसके उदात्त और ओज गुण को हम सहज ही भूल जाते हैं। कृष्ण के ललित-सौन्दर्य में उदात्त-सौन्दर्य की कमी नहीं है। गोवर्द्धन-पूजा के प्रसंग में यह सत्य छिपा नहीं रह पाता। उनमें विराट् तत्व की सन्निहिति उद्घाटित हो जाती है। उनकी चिरपरिचित राधिका से सखी ललिता कहती है कि नंद के हाथ को पकड़ कर खड़े रहने वाले कृष्ण का जो रूप है वही गिरि गोवर्द्धन का रूप है। गोवर्द्धन के देवता ने भी वही कुंडल, वही माला, वही पीताम्बर धारण कर रखा है किन्तु वह सहस्र भुजायें फैला कर नैवेद्य ग्रहण कर रहा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि गोवर्द्धन-शिखर की शोभा श्याम की छवि से आपूर है, और श्याम की छवि गिरि के जोड़ की है। उदात्त और लालित्य के इस तादात्म्य को देखकर राधा भूली-सी हो जाती हैं। कहीं वे उदात्त के प्रभुत्व से दब न जायँ, इसलिए कृष्ण उन्हें अपने मधुर वश में कर लेते हैं।[1] ललिता को इस बात का बोध हो जाता है कि जो गोकुल का वासी है वही त्रिभुवन का स्वामी

---

१. गिरिवर स्याम की अनुहारि।
करत भोजन अधिक रुचि यह, सहस भुजा पसारि।।
नंद कौ कर गहे ठाढ़े यहै, गिरि कौ रूप।

है। वही उधर सहस्र भुजा से खा रहा है, वही इधर गोपियों से बात कर रहा है। जो नागर है वही दैत्यारि है।[१] प्रेम से भोग अर्पित करते हुए ब्रजवासियों ने जब आँख बन्द की तब गिरि को खाते हुए देखा। वह गिरि और कोई नहीं, नंद का पुत्र ही था। इसीलिए कवि-सम्राट् सूरदास भी नंद-सुत की अगोचर महिमा को व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाने लगते हैं—'नंदसुत महिमा अगोचर, सूर क्यों कहि जाइ।'[२] कृष्ण जब अपने वाम कर में गोवर्द्धन पर्वत धारण कर लेते हैं तब ब्रजवासी उनके ललित रूप पर तरस खाकर गिरिवर की प्रबलता के भय से अपनी-अपनी लकुट लेकर सहायता के लिए आ पहुँचते हैं। उन्हें यह आशंका होती है कि कहीं कोमल कृष्ण के हाथ से पर्वत गिर न पड़े।[३] ललित-सौन्दर्य की महिमा उन्हें विमूढ़ नहीं करती वरन् कृष्ण के ललित रूप के पीछे इतने प्रबल पौरुष को देख कर ब्रजवासियों को आश्चर्य होता है। वे कोमल सौन्दर्य के परुष औदात्य से अभिभूत तो होते हैं किन्तु नमित होकर नहीं, चकित होकर। उनके इस भाव की सुरक्षा स्वयं कृष्ण भी करते हैं। वह कहते हैं कि यदि सखाओं ने सहायता न की होती तो भला उनसे वह भारी-भरकम गोवर्द्धन कैसे थमता?[४]

सखी ललिता राधिका सौं कहति देखि स्वरूप।।
यहै कुंडल, यहै माला, यहै पीत पिछौरि।
सिखर सोभा स्याम की छबि, स्याम-छबि गिरि जोरि।।
नारि बदरौला रही, वृषभानु-वर रखवारि।
तहाँ तैं उहिं भोग अरप्यौ, लियौ भुजा पसारि।।
राधिका-छबि देखि भूली, स्याम निरखैं ताहि।
सूर प्रभु-बस भई प्यारी, कोर-लोचन चाहि।।—सूरसागर, पद सं० १४५५।

१. देखहु री हरि भोजन खात।
सहस भुजा धरि उत जेंवत हैं, इतहिं कहत गोपिन सौं बात।
ललिता कहति देखि हो राधा, जो तेरैं मन बात समाइ।
धन्य सबै गोकुल के वासी, संग रहत त्रिभुवन के राइ।।
जेंवत देखि उतहि सुख कीनौ, अति आनंद गोकुल-नर-नारि।
सूरदास-स्वामी सुख-सागर, गुन-आगर नागर, दैतारि।।—सूरसागर, पद सं० १४५६।

२. सूरसागर, पद सं० १४५४

३. गिरि जनि गिरे स्याम के करतैं।
करत बिचार सबै ब्रजबासी, भय उपजत अति उर तैं।।
लै-लै लकुट ग्वाल सब धाए, करत सहाय जु तुरतैं।
यह अति प्रबल, स्याम अति कोमल, रबकि-रबकि गय हरबर तैं।। वही, पद सं० १४९१।

४. (तेरें) भुजनि बहुत बल होइ कन्हैया।
बार बार भुज देखि तनक से, कहति जसोदा मैया।।
स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी, ग्वालनि कियौ सहैया।
लकुटिनि टेकि सबनि मिलि राख्यौ, अरु बाबा नंदरैया।।
मोसौं क्यों रहतौ गोबरधन, अतिहिं बड़ो वह भारी।
सूर स्याम यह कहि परबोध्यौ चकित देखि महतारी। वही, पद सं० १५८३।

जिस सौन्दर्य पर कालिय नाग विष की ज्वाला बरसाता है वह लोक-अभिराम है।[1] उसके जहरीले फन पर नंदनंदन आनंदित हो कर इस प्रकार नृत्य करते हैं जैसे पर्वत पर छाये हुए बादल को देख कर मोर नृत्य करता है।[2] दावानल का पान करने वाले नंद महर के पुत्र के पुरुषार्थ पर ब्रज-वनिताओं को अतीव आश्चर्य होता है, क्योंकि वह स्याम शरीर अत्यन्त कोमल है।[3] उन्हें भी यह विश्वास हो जाता है कि यह अति-कोमल स्याम शरीर वाले का अवतार बहुत बड़ा अवतार है, ये ही संसार के कर्ता हैं।[4] पूतना का वध करने वाला छौना, तृणावर्त को पटकने वाला, वन-विचरण में अघासुर, बकासुर का वध करने वाला, वाम कर में गिरि धारण करने वाला बलि-सा बौना अपने सौन्दर्य से ब्रज-नारियों को मोहित कर लेता है। इन सब महत् कार्यों के संपादन से उसके सौन्दर्य में किसी प्रकार की भीषणता या विरूपता नहीं आ पाती, वह फिर भी 'अति सुंदर' है, ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वह कोई टौना जानता हो।[5]

यही नहीं, मथुरा की रंगभूमि में भी कृष्ण का यही चपल ललित सौन्दर्य क्रीड़ायित होता है। कुवलयापीड़ के संग युद्ध में चपल नेत्र और रसीले मुख वाले सौन्दर्य की नृत्यकारी को देख कर सब चकित से उठते हैं।[6] जिसके घनश्याम तन, कमलदल से चारु चपल लोचन, इंदु वदन, मधुर मुस्कान आदि की छवि को देख कर मथुरा की नारियाँ भूल-सी जाती हैं वह अद्भुत सामर्थ्य से पूर्ण है।[7] उसी पीले पट की फेंट सहित रणरंग में नन्द का पुत्र सुशोभित हो जाता है। उसी ललित नटवर रूप के सुन्दर वेश में वह चाणूर के उर पर विराजित हो जाता है। इस संग्राम में भी उसके सौन्दर्य और वेश को देख कर नर-नारियाँ प्रीति से रंग जाती हैं। मल्ल से भिड़े हुए लाल काछनी काछे कृष्ण के रूप को देख कर नरलोक तथा सुरलोक तक मोहित हो जाता है।[8]

---

१. वही, पद सं० ११७०।

२. सूरसागर, पद सं० ११८४।

३. ब्रजबनिता सब कहति परस्पर, नंद महर को सुत बड़ बीर।
देखौ धौं पुरुषारथ इहिको, अति कोमल है, स्याम सरीर। वही, पद सं० १२१८।

१२३७६

४. वही, पद सं० १२१८।

५. अति सुंदर नँद महर-ढुटौना।
निरखि-निरखि ब्रजनारि कहति सब यह जानत कुछ टौना।।
कपट रूप की त्रिया निपाती, तबहिं रह्यो अति छौना।
द्वार सिला पर पटकि तृना कौं, ह्वै आयौ जो पौना।।
अघा बकासुर तबहिं सँहार्‌यौ प्रथम कियौ बन-गौना।
सूर प्रगट गिरि धर्‌यौ बाम कर, हम जानति बलि बौना।।—वही, पद सं० १२१९।

६. खेलत गज संग कुँवर स्याम राम दोऊ।
क्रोध दुरद ब्याकुल अति, इनकौं रिस नैंकु नहिं, चकित भए जोधा तहँ देखत सब कोऊ।।
ऐसे आतुर गुपाल, चपल नैन मुख रसाल, लिए करनि लकुट लाल, मनौ नृत्यकारी।।
वही, पद सं० ३६७६।

७. सूरसागर, पद सं० ३६४५-४६।

८. भिर्‌यौ चानूर सौं नंदसुत बाँधि कटि, पीतपट फेंट रन रंग राजैं।
दिपैं दन्त कर कलित मेष नटवर ललित, मल्ल उर सल्ल तल ताल बाजैं।।
पीन भुज लीन जय लच्छि रंजित हृदय, नील घन सीत तनु तुंग छाती।
देखि रहीं भेष अति प्रेम नर नारि सब, वदति तजि भीर रति-रीति-राती।।

स्वयं मल्ल भी उस परम सुन्दर रूप को देखकर चकित होता है, किन्तु उसके अन्दर निहित प्रबल बल से सकपका जाता है।[१] स्थान-स्थान पर चार भुजाओं में आयुध लेकर उस सौन्दर्य की उदात्तता का दर्शन नहीं कराया गया है। ललित के पराक्रम द्वारा ही उस सौन्दर्य के औदात्य का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

लालित्य की प्रबलता

किन्तु इस सौंदर्यांकन में जो वस्तु अत्यन्त मुखर है वह है छविमयता, सौन्दर्य का 'रोमांटिक' रंग। यह रंग इतना तीखा है कि कृष्ण एवं कृष्ण-परिकर के सौन्दर्य में क्लासिकल स्पर्श खोज पाना कठिन हो जाता है। उनके दैवत रूप का अत्यन्त मानवीय चित्रण है। इस मानवीय नैसर्गिकता में क्या परम सौन्दर्य तिरोहित हो जाता है? ऐसा लगता तो नहीं। क्योंकि जब भी हम कृष्ण या राधा का नख-शिख देखते हैं, तब उसके रूढ़ उपमानों में सौन्दर्य की क्लासिकल प्रतिष्ठा ही उभरती आती है। सौन्दर्य वहाँ अजन्ता के सौन्दर्य की भाँति मांसल तथा स्वप्निल, क्लासिकल और रोमांटिक होकर एक साथ चमकता है। जो इस प्रकार सौन्दर्यचित्र की रेखाओं और वर्ण-योजना को काव्य में नहीं पहचान पाता उसे कृष्ण-सौन्दर्य में क्लासिकल तत्व के अभाव का भ्रम बना रह सकता है। किन्तु सच तो यह है कि कृष्ण-काव्य में सौन्दर्य की शास्त्रीयता इतनी अपार छविमयता के साथ अवतरित हुई है कि उसके लिए 'ध्यान' की क्षमता का विकास नहीं करना पड़ता, वरन् उस सौन्दर्य की ओर दृष्टि की वृत्ति सहज ही, स्वतः चल पड़ती है। ऐसा उसकी शोभा के कारण होता है। शोभा के इस तत्व को पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों ने छविमयता (Prettiness) कह कर अभिहित किया है। सौन्दर्य का कार्य हमारी प्रसुप्त जागरूकता को जगाना एवं सन्नद्ध करना है। सौन्दर्य वह वस्तु है जो, जैसे कि देखने या सुनने के लिए ही बनी है।[२] शोभा या छवि ध्यान पर बिना बोझ डाले हमें आकर्षित करती है, उन प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है जो सहजवृत्ति या आदत के कारण उसके एक संकेत से ही उत्पन्न होने लगती हैं।[३] भक्तिकाल के कृष्ण-सौन्दर्य की वह सूक्ष्मता भी है जो विशेष निरीक्षण की अपेक्षा रखती है, किन्तु सुषमा की वह रमणीक छविमयता, जो सौन्दर्य के प्रति हमें बिना किसी कष्ट के उन्मुख करके आकर्षण के अनंत झरोखे खोल देती है, अत्यन्त विपुलता से विद्यमान है। छविमयता को हम सौन्दर्य का आवश्यक गुण समझते हैं। यद्यपि यह उदात्त तत्व के

मत्त मातंग बल अंग दंभोलि दल, काछनी लाल गलमाल सोहै।
कमल दल नैन मृदु बैन वंदित बदन, देखि सुरलोक नरलोक मोहै॥—वही, पद सं० ३६९०।

१. स्याम बलराम रँगभूमि आए।
मल्ल लघु रूप सुन्दर परम देखि पुनि, प्रबल बल जानि मन मैं सकाए॥ वही, पद सं० ३६९१।

२. This distinction would square on the one hand with what Mr. Osborne says of beauty, that "We do not look at pictures for emotional stimulation but for the sake of seeing them," and that "the value we assign to beauty derives from its power to awaken and excercise our dormant capacities of awareness that, in fact, the beautful is that which is as if made for the purpose of being looked at or listened to;....

—*F. E. Sparshott* : The Structure of Aesthetics, p. 73-74.

३. The pretty, on the other, plcases without taxing the attention, whether because it arouses what Professor Richards calls "stock responses", reactions so prepared by instinct or habit that the merest suggestion starts them off, or because it is inherently trivial.

—*F. E. Sparshott* : The Structure of Aesthetics, p. 75.

दूसरे छोर पर लालित्य के माध्यम से प्रकट होती है, तथापि उसे हम 'क्षुद्र' नहीं कह सकते जैसा कि पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्री कहते हैं। वरन् छविमयता लालित्य का चरम निकष है। इसी के द्वारा कृष्ण का सौंदर्य हमें बरबस अपनी ओर खींच लेता है। इस छविमयता को ही अधिक सजीव भाषा में 'छबीलापन' कहा गया है। कृष्ण की रसमयता के लिए उनका छैलापन अनिवार्य है, उनके सौंदर्य-बोध के लिए ही उनका छबीला रूप है। सौंदर्य के इस छबीलेपन के अनेक प्रभावों में से सबसे प्रमुख है उसका बरबस कर्षणत्व। इस छविसंपन्नता के कारण ही परम-सौन्दर्य मानव-मन को अपने में बाँध सकने की वह योग्यता प्राप्त करता है जो ज्ञान किंवा वैराग्य में अनुपस्थित है।

सौंदर्य में रूप की छटा जो छबीलापन उत्पन्न कर देती है उससे मन मुग्ध हो जाता है, उसी सहजरूप से जैसे उदात्त-सौंदर्य की झलक से मन विस्मित हो जाता है। एक आह्लाद की चपलता को जन्म देता है, दूसरे आह्लाद की गहनता को। एक के बिना दूसरा अधूरा है। लालित्य की छविमयता औदात्य की पूरक है। कृष्ण के उदात्त-सौंदर्य का बोध तो प्रसंगविशेष में, कहीं-कहीं ही, मुखरित हुआ है, किन्तु उनका लालित्य अपनी अनन्त शोभा के साथ उनका निरन्तर सहचर बना हुआ है। उनके अंग-अंग में रूप की छटा उच्छलित है। उस छटा के पान में दर्शक का मन निरन्तर लुब्ध रहता है। वह छवि चुभ-सी जाती है, और तन मन पर विवशता छा जाती है।[१] कृष्ण का छबीलापन उनके सौंदर्य का अविच्छिन्न अंग है। विशाल नेत्रों वाले नायक के छबीले सौंदर्य से मुग्ध होती हुई ग्वालिन दधिदान में चाहे जितनी आनाकानी करे सफल नहीं हो पाती।[२] जमुना-घाट पर रोके जाने पर चन्द्रावली हँस कर उस छबीले छैल से अपना अंचल छोड़ने को कहती है।[३] कृष्ण के नेत्र मदमाते हैं, तरुण हैं, उनकी चपल भृकुटि से विचित्र छवि विस्तरित होती है। यद्यपि उनके प्रफुल्ल अरुण नेत्रों में कृपा-रस भरा हुआ है तथापि उसमें मादकता भी है और है छबीलापन। इसीलिए उनके श्री-मुख को निरखते हुए कभी तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता।[४] नेत्र तो उस सौंदर्य में अग्रदूत हैं ही, किन्तु छबीले गिरिधर का क्या छबीला नहीं है? न केवल उनका वेश-विन्यास और शृंगार छबीला है, उनका अंग-प्रत्यंग छबीला है,—अधर,

---

१. कहा री कहों मोहन मुख सोभा।
बदन इंदु लोचन चकोर मेरे पीवत किरन रूप रस लोभा।।
अंग अंग उछलित रूप छटा कोटि मदन उपजत तन गोभा।
'गोविंद'प्रभु देखें बिबसभई प्यारी चपल कटाच्छ लाग्यो चोभा।।

—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४३८

२. मदन मोहन लाल अंबुज नैंन बिसाल—
अँचरा छाँड़हु बलि अब ही हों आई हो।
छबीले सुंदर स्याम मटुकी धरि कें धाम—
तुम्हारी सपत ग्रह पलहुँ न लाई हो।।

—वही, पद सं० ३८

३. जमुना घाट रोकी हो रसिक चंद्रावलि।
हँसि मुसिकाइ कहति ब्रजसुंदरि छबीले छैल छाँड़ो अंचल।।

—वही, पद सं० ३६

४. नैंन छबीले तरुन मद माते।
चंचल चपल भृकुटि छबि उपजत अनि अनि अनि मुसिकाते।।
भक्त कृपा रस सदाई प्रफुलित मानो कमल दल राते।
'गोविंद' प्रभु को श्रीमुख निरखत पान करत न अघाते।।—गोविन्दस्वामी; पदसंग्रह, पद सं० ४४५

दशन, वाणी सभी छबीले हैं। इसीलिए वे नखशिख से रसीले हैं। यह अपार छविमयता उनके सौंदर्य में रंग और रस का संचार कर देती है। उनके इस रंगीले और रसीले 'छबीलेपन' पर गोपी के व्याज से भक्त अपने को न्योछावर कर देता है।[१] राधा की रस-रूपता का एक आवश्यक अंग उनके सौन्दर्य का छबीलापन भी है, वे अत्यन्त छबीली हैं। उनके रूप के विषय में कुछ कहते नहीं बनता।[२] उनके अंग-अंग की छविमाधुरी को निरखते हुए कृष्ण कभी तृप्त नहीं होते, उस सौंदर्य के प्रति उनमें निरन्तर तृषाकुलता बनी रहती है। अपनी छवि के प्रति कृष्ण की ललक को जानकर रसिकनी राधिका उन्हें और भी लालायित किये रहती है।[३] सौन्दर्य का यह छविमय रूप लालसापरक हो जाता है। सौन्दर्य निरपेक्ष ही न रह कर सापेक्ष हो उठता है। वह कल्पना की सूक्ष्मताओं और गहराइयों को जन्म न दे कर भावलोक पर क्षिप्र गति से पदक्षेप करता है। छविमयता का यह क्षिप्र प्रभाव उसकी क्षुद्र-प्रकृति के कारण नहीं है, वरन् सौन्दर्य के उस लालित्य के कारण है जो रूप को माधुर्य और रमणीयता प्रदान करता है। रूप का यह लालित्य व्यक्ति को अपने रस में डुबा लेने की क्षमता रखता है।[४] यह छबीलापन रूप की माधुरी का ही द्योतक है, क्षुद्रता का नहीं।[५] इस माधुर्य के आकर्षण में बँधकर नेत्रों को शाश्वत आकर्षण का आधार मिल जाता है। माधुर्य के कारण कृष्ण की सौन्दर्य-मूर्ति हृदय के बीचो बीच अड़ जाती है। यही नहीं, वह चित्त में चढ़-सी जाती है। उस मधुर छवि से मन और मस्तिष्क दोनों रुद्ध हो जाते हैं। वही प्राण और जीवन का आहार बन जाती है। इस माधुर्य के हाथ ही मीराँबाई बिक गयी थीं। इसी मधुर छवि को देखने की आदत ने उन्हें बिगाड़ रखा था।[६] सौंदर्य की छविमयता का आकर्षण सहज होता है, उसमें जागरूकता के प्रच्छन्न स्रोतों को उत्प्रेरित करने के स्थान पर जाग्रत चेतना को अपने

---

१. तेरी हौं बलि बलि जाऊँ गिरिधरन छबीले।
कुल्ले छबीली पाग छबीली अलक छबीली तिलक छबीलो—
नैंन छबीले प्यारी जू के रंग रँगीले।।
अधर छबीले दसन छबीले बेंन छबीले हो अति सरस सु ढीले।
'गोविंद' प्रभु नखसिख अंग अंग प्रति ललन रसीले।। —वही, पद सं० ४५१

२. सुनि मेरो बचन छबीली राधा। तैं पायौ रससिंधु अगाधा।।
तेरो रूप कहत नहिं आवे (जै श्री) हित हरिवंश कछुक जस गावै।।
—हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० १८

३. अंग अंग छबि माधुरी, निरखत पिय न अघाइ।
देखि लाल के लालचहिं, लालच रही ललचाइ।।३९।।
—ध्रुवदास; बयालीसलीला, (आनंददसा बिनोद लीला), पृ० २२७

४. दोऊ जन भींजत अटके बातन।
सघन कुंज के द्वारे ठाड़े अम्बर लपटे गातन।।
ललिता ललित रूप रस भीज़ीं बूंद बचावत पातन।
जय श्री हितहरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रतिरस घातन।।—हितहरिवंश : स्फुटवाणी, पद सं० २३

५. लाल की रूपमाधुरी नैंननि निरखि नेकु सखी। —वही, पद सं० २२

६. आली रे मेरे नैणाँ बाण पड़ी।।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
—मीराँबाई की पदावली, पद सं० ११

में विलीन करने का गुण अधिक रहता है। यह स्वीकार किया गया है कि सौंदर्य हमारे गंभीर ध्यान की अपेक्षा रखता है, मात्र लालित्य उतना नहीं।[1] मात्र लालित्य का आग्रह सौंदर्य-बोध को हल्का बना सकता है। किन्तु यह स्वीकार करने में भी कोई त्रुटि नहीं जान पड़ती कि लालित्य सौंदर्य की गरिमा में खप कर हमारे ध्यान को सौंदर्य की ओर सहज किंतु प्रबल रूप से गतिशील कर देता है। इतना ही नहीं, उसे आकर्षण तत्व से रंजित कर देता है। सौंदर्य रंजकता के माध्यम से तभी प्रकट होता है जब उसमें लालित्य का (रमणीयता, छविमयता, मधुरता,—उसी लालित्य तत्व के ही विभिन्न रूप हैं) समावेश हो जाता है। केवल औदात्य से सौन्दर्य महत् और गरिमामय हो सकता है, आकर्षक नहीं। आकर्षण के लिए वह ललित-तत्व की अपेक्षा रखता है। इससे जागरूक हो जाता है। उसके प्रति जागरूक होने के लिए अपनी चेतना के प्रसुप्त अंशों को उकसाना नहीं पड़ता। लालित्य में अपना सहज आकर्षण होता है, इसीलिए सौन्दर्यबोध में ध्यान को जमाने की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। ललित-तत्व सौन्दर्य को क्षुद्र नहीं बनाता, (यद्यपि मात्र लालित्य क्षुद्र भी हो सकता है), वरन् उसे कुछ ऐसे गुण प्रदान कर देता है कि उसके प्रति हमारी चेतना को सहजात-सा आकर्षण होने लगता है। जिस प्रकार उदात्त-सौन्दर्य हमारी चेतना को विस्मित करके अपने वृहत्तर सौंदर्य में पर्यवसित कर लेता है, उस प्रकार ललित-सौंदर्य चकित करके हमारी चेतना को अपने चूड़ान्त सम्मोहन में बाँध लेता है। लालित्य के आकर्षण में इतनी प्रबलता है कि व्यक्ति चकित होकर उस सौन्दर्य को देखता ही रह जाता है। वह अपनी सारी संज्ञा लालित्य में भी खो बैठता है। उदात्त-सौन्दर्य में संज्ञा किसी अतिसीम महत्ता का आभास पाती है, ललित-सौन्दर्य में डूब कर किसी अतिसीम मधुरता का। एक व्यक्ति की चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाता है, दूसरा अन्तर्गामी। कोई ग्वालिन यशोदा के पास कृष्ण की माखनचोरी का उलाहना लेकर जाती है। किन्तु दृष्टि के सामने नंदनंदन के पड़ते ही वह उन्हें केवल देखती ही रह जाती है। उलाहना देना तो दूर, उसे खुद अपना ज्ञान भी नहीं रह जाता। उस सौन्दर्य को देख कर वह चित्रवत् हो जाती है।[2] इसका कारण वही है : उस लालित्य का सहज आकर्षण। जिस प्रकार मधुकर सरोज के प्रति सहज ही धावित होता है उस प्रकार दृष्टि की वृत्ति उस ललित सौन्दर्य के प्रति सहज ही धावित होती है। जब तक उस सौंदर्य का दर्शन नहीं होता तब तक कोई अपने को उससे विमुख रख सकता है, किन्तु यदि वह मुखाम्बुज अपने को दर्शा दे तब उससे विमुख होने की हिम्मत शायद ही किसी में रह जाय ! तब सौंदर्य-पायी दृष्टि उस ओर मात्र आकर्षित ही होकर नहीं रह जायगी, उसी क्षण उधर कर सहज ही दौड़ पड़ेगी।[3] उसे देख कर व्यक्ति बिक-सा जाता हैं, क्योंकि उसमें अति विकट मनोहारिता होती है। कृष्ण के अंग-अंग के सौंदर्य में

---

1. The point of the distinction here seems to be that what is pretty does not demand serious attention, but what is beautiful does : hence the beautiful is distinguished from the "merely" pretty.

—*F. E. Sparshott* : The Structure of Aesthetics p. 74.

२. भूल्यो उराहने कौ दैवौ।
सनमुख दृष्टि परे नँदनंदन चकित हि करति चितैवौ।
चित्र लिखी सी काढी ग्वालिनि को समझै समुझैवौ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरवर मुख निरखत कठिन पर्‍यो घर जैवौ।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १५४

३. बंदूँ जो तब हि मान धरि आवै।
सुंदर स्याम नेकु सन्मुख ह्वै अंबुज वदन दिखावै।।
तब लगि मान करहु कोउ कैसें जब लगि वह दरसन नहिं पावै।
दृष्टि परे मानों मधुकर तिहिं छिनु सहज सरोज हिं धावै।। —वही, पद सं० २३७

खो कर अपने तन मन का ख्याल जाता रहता है। उसमें अपने को भूल कर चेतना एकदम भोली-सी हो जाती है, कोई भी चातुरी उसमें नहीं बच रहती।[१] कृष्ण के ललित-सौंदर्य में मनोहारिता तो है ही, चटपटापन भी है। उनके नव-घनश्याम कलेवर का वैभव इतना आकर्षक है कि नेत्रों को चटपटी लग जाती है।[२] रूप की यह छविमयता सौंदर्य को अत्यन्त रसात्मक बना देती है। कृष्ण का त्रिभंगी स्वरूप स्थिर रूप में अपनी छविमयता से जितना आकर्षित करता है गतिशील रूप में उससे कहीं अधिक आकर्षित करता है क्योंकि तब उसमें सौंदर्य की राशि राशि वंकिमता चंचल हो उठती है।[३] सौंदर्य का यह मनोहारी, रसाल रूप सुख की राशि विकीर्ण करता है। वह ध्यान का हरण करने के साथ-साथ आह्लाद का भण्डार भी खोल देता है।[४] छबीलेपन की यह अद्‌भुतता रति-पति का भी चित्त चुरा लेती है, (मानव की क्या)[५] ? छवि के इसी अतिरेक के कारण राधा, कृष्ण के सौंदर्य के सम्मुख कामदेव के लज्जित, मूर्च्छित अथवा चकितवंत होने की बात स्थान-स्थान पर दोहराई गई है। भक्त-कवि मोहन के मुखारविन्द पर कोटि कोटि मन्मथ को वारने में नहीं हिचकता, क्योंकि उस मोहक सौंदर्य के अंग में जहां-जहां ही दृष्टि पड़ती है वहां वहां ही लुब्ध होकर रह जाती है। कृष्ण के अलक, तिलक, कुंडल, कपोल में छवि का इतना आतिशय्य है कि कवि की वाणी रुद्ध हो जाती है। और वह उस वेश पर कामदेव के साथ रसिक को न्योछावर कर के ही स्वस्ति लाभ करता है।[६]

---

१. गोरस बेचत आपु बिकानी।
भवन गोपाल मनोहर मूरति मोही तुम्हारी बानी।
अंग-अंग प्रति भूलि सहेली ! मैं चातुरि कछुवे न (हिं) जानी।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिवर मन अटक्यो तन मन हेत हिरानी ॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २५८

२. नवलकिसोर मैं जु बन पाए।
नव घनस्याम-कलेवर वैभो देखत नैंन चटपटी लाए ॥ —वही, पद सं० २३९

३. सखी ! नंद को नंदन साँवरो मेरौ चित चोरे जाइ री !
रूप अनूप दिखाइ के सखि ! गयो है अचानक आइ री !
टेढी चलनि मधुर चंचल गति, टेढे नैंनन चाइ री।
टेढोई कुछु ह्वै रहे सखी ! मधुरे बेनु बजा री ॥
कानन कुंडल मोर मुकुट सखि ! सोभा बरनि न जाइ री।
'चतुर्भुज' प्रभु प्रान को प्यारौ, सब रसिकनि को राइ री ॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २७२

४. कहावत जो गोकुल गोपाल !
औचक हीं मिलि गए नंद-सुत अंग-अंग रूप रसाल ॥
.. ..
'चतुर्भुजदास' रासि सब सुख की, सोभा भृकुटी भाल।
तन बिसर्‌यो मन हर्‌यो मनोहर गोवर्द्धनधर लाल ॥ —वही, पद सं० २५४

५. छबीले लाल के संग ललना झूलत नव सुरंग हिंडोरें।
पीउ प्यारी अद्‌भुत छबि रति-पति चितु चोरें ॥ —वही, पद सं० १२२

६. मोहन मुखारविंद पर मनमथ कोटिक वारों री माई।
जहीं जहीं अंगन दृष्टि परति हैं तहीं तहीं रहत लुभाई ॥
अलक तिलक कुंडल कपोल छबि एके रसना मोपे बरनी न जाई।
'गोविन्द' प्रभु की बानिक ऊपर वलि-बलि रसिक चूडामनि राई ॥—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, ४४०

शतसहस्र ब्रज वनिताओं के मोहनकारी कृष्ण कंदर्प का दर्प हरण किये हुए सौंदर्य-लोक में विराजित रहते हैं।[1]

सौन्दर्य में उदात्त एवं ललित तत्वों का मिश्रण मानव-सौन्दर्यांकन में ही उभर कर आया है, प्राकृतिक एवं कलात्मक सौन्दर्य में मात्र ललित-तत्व की घोषणा है। लालित्य राधा-कृष्ण में समान रूप से अभिव्यंजित है, किन्तु औदात्य कृष्ण के सौंदर्य-बोध के प्रसंग में ही अधिक प्रकट है राधा में कम, कदाचित् इसलिए कि पराक्रम कार्यों में उनको इस दिशा में अपने सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने में सहायता पहुंचाई है। राधा के रूपांकन में इस प्रकार का अवसर नहीं मिल पाया है। इसीलिए मान के प्रसंगों को छोड़ कर, जहां उनका सौन्दर्य गरिमामय हो गया है पर ठीक उदात्त नहीं, राधा के सौन्दर्य में लालित्य का ही एकछत्र राज्य है। गोस्वामी हितहरिवंश जी ने राधा के सौन्दर्य में औदात्य को सुरक्षित रखने की चेष्टा की है, विशेष कर 'राधासुधानिधि' में। वृन्दावन के कण-कण में रमणीय सौंदर्य की श्री बिखरी हुई है। उसमें प्रकृति का प्रचण्ड सौन्दर्य भले ही कहीं-कहीं दृष्टिगत हो जाय, उदात्त सौंदर्य की झलक कहीं भी नहीं मिलती। सारी प्रकृति राधा-कृष्ण के मदन-विलास से मंथर, लालित्य से स्निग्ध और सहजाकर्षक है।

●●

१—तहँ राजत नंदनंद चंद कंदर्प-दर्प-हर ॥—नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १७४

चतुर्थ परिच्छेद

असीम का सौन्दर्य-बोध

(क) मानव देह में आदिरूप (AREHETYPE) का सन्धान

सौंदर्य के उपकरणों को विशाल विश्व में बिखरा हुआ देख कर मनुष्य आरम्भ से ही आकर्षित और आह्लादित होता आया है। इसमें झलकते हुए किसी अपार सौन्दर्य का आकर्षण अनुभव करना प्रबुद्ध रागात्मकता की अनिवार्य वृत्ति रही है। जो कुछ अपने चारों ओर, आस-पास दृष्टिगत होता है वही परम है, ऐसी भ्रान्ति मनुष्य को नहीं हो पाई। बुद्धितत्व के विकास ने उसके अन्दर एक अविरल खोज की प्रेरणा भर रखी है। सीमा में बद्ध, परितुष्ट, एक भोगी पशु की भांति विश्व में विचरण कर के ही वह जीवन की सार्थकता नहीं पाता। इस बद्धता में अकुलाहट महसूस करता हुआ किसी असीम सत्य को अपने में एवं अपने परिवेश में अभिव्यक्त करने का मार्ग भी खोजता है। सत्य के पोषक रूप से जीवन की सुविधाएँ जुटा पाने के बाद वह तुरन्त उसके रंजक रूप की ओर विकल होकर दौड़ पड़ता है। सत्य का पोषण यदि शिवम् में होता है तो रंजन सुन्दरम् में। सुन्दरम् की खोज ही जीवन की अंतिम खोज बनती है। मनुष्य सृष्टि में प्रतिबिम्बित सौन्दर्य के खण्डों को देख कर एकदम भावविभोर नहीं होजाता, वह उन खण्डों में प्रतिच्छायित किसी पूर्ण सौन्दर्य को पकड़ने को उत्सुक रहता है। पूर्ण सौन्दर्य को पकड़ने की इस चेष्टा ने सौन्दर्य की प्रतीकात्मक साधना को जन्म दिया। प्रकृति एवं मानव-जगत के सुन्दर रूपों के द्वारा परम सौंदर्य को व्यक्त करने की संकेतात्मक शैली को निराकार-साधना ने अपनाया। किन्तु मात्र प्रतीकों से अभिव्यक्त होकर वह पूर्ण-सौन्दर्य इतने निकट नहीं आ सका जितनी मनुष्य को पिपासा थी। चरम सौंदर्य का सदेह आलिंगन करने, उसके साथ इसी भूमि में विचरण तथा क्रीड़ा करने के लिए जो उसकी मानवीय पिपासा थी वह न बुझ सकी। और इस पिपासा को शान्त कर सकना असम्भव-सा हो गया। मध्ययुग की धर्मसाधना ने एक ओर जहां निराकार की खोज में उच्चातिउच्च दार्शनिक सत्यों का साक्षात्कार किया, वहां साकार साधना में उन सत्यों को देह धारण करा कर जनमानस के सम्मुख रोचक रूप में ला उपस्थित किया। इस रोचकता का इतिहास श्रीकृष्ण की कथा में सर्वाधिक विस्तार के साथ लिखा गया। इसका कारण यह था कि कृष्ण मुख्यतः शील और शक्ति के अवतार न थे, वरन् सौंदर्य और आनन्द के घनीभूत विग्रह थे। सौन्दर्य के प्रति अदम्य आग्रह ने ही कृष्णावतार को केन्द्रीय स्थान पर आसीन कर दिया। कृष्णभक्तों ने परम-सौन्दर्य को पाने की कोई सूफ़ी-सी योजना नहीं बनायी—जहाँ पर साधना का प्रत्येक चरण प्रतीकात्मक है, यहां तक कि स्वयं साध्य भी प्रतीकात्मक है—पद्मावती किंवा अन्य नायिकाओं के रूप में। कृष्णभक्त का यह विश्वास ही नहीं वरन् अटूट आस्था भी थी कि सौंदर्य के परम आधार इस भूतल पर मानवदेह धर कर अपने भक्तों के अनुरंजन के लिए अवतरित होते हैं—कृष्ण अवतार का यही हेतु है, अन्य सारे हेतु गौण हैं। मनुष्य असीम सौन्दर्य की झलक पाने के लिए चिर-तृषित नहीं रह जायेगा, उस तृष्णा की शान्ति कृष्ण-विग्रह में संचित है। यदि सौंदर्य का ऐसा परम, किन्तु मानवीय आधार न होता तो मनुष्य के अन्दर उसे पकड़ लेने की अदम्य लालसा होती ही क्यों? चरम सौन्दर्य के लिए ऊर्ध्वगामी अभीप्सा इसीलिए जन्म लेती है कि वह परम-सुन्दर स्वयं रूप की सीमा में बद्ध होने को आतुर रहता है। पाश्चात्य विद्वान भी यह मानते हैं कि बिना अवतरण के आरोहण नहीं हो सकता।

जीवन का वास्तविक उन्नयन, आत्म एवं कर्म का वैशिष्ट्य-सम्पन्न आरोहण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि आत्मा से सम्बन्धित तत्व रूप की उन सीमाओं में न उतरे जिनसे हमारी मानवीय अभिव्यक्ति की विविधता निर्मित है।[१] असीम सौन्दर्य के लिए मानवीय अभीप्सा के अनिवार्य उत्तर में अरूप रूपायित होता है। कृष्णावतार की यही प्रेरणा है।

रूप के अन्तर्गत मानव एवं प्रकृति के रूप सम्मिलित हैं। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव-मन में मानवरूप की प्रधानता रही है, प्रकृति के रूप ने उसका शृंगारमात्र किया। अतएव मानव-देह में देवत्व का अवतरण ही अरूप के रूपान्विति की चरम साधना बनी। मूर्तिकला का जन्म ही इस भावना को लेकर हुआ। न केवल भारत में देव-विग्रहों को मंदिरों में उत्कीर्ण किया जाता था, यूनान में भी क्लासिकल युग के कलाकार ईश्वर का आवास बनने योग्य मानव-देह को मूर्त करने में प्रयत्नशील रहे। मूर्तिकला, विशेषकर यूनानी मूर्तिकला की ओर संकेत करते हुए हीगेल कहता है कि इसमें आत्मा (Spirit) निरे भौतिक माध्यम में कल्पित किया जाता है। इस ललित कला का कार्य दिव्यसत्ता को उसके अनन्त विश्राम और औदात्य में व्यक्त करना है—कालातीत, अचल, विषयीगत व्यक्तित्व से, कर्म एवं परिस्थिति के संघर्ष से रहित।[२] इस प्रकार मूर्तिकला का उद्देश्य निश्चित हो जाने पर यह अनिवार्य हो जाता है कि कलाकार आत्मा का आवास बनाने के लिए मानव देह का सर्वोत्तम उपयोग करे। किन्तु ऐसा करने में उसे अपनी वैयक्तिकता को छोड़ कर आत्मा के उन वस्तुगत तथ्यों को ग्रहण करना होता है, जो अपरिवर्तनशील और विश्वजनीन हैं। इसीलिए मूर्तिकार मानवदेह को अपने ऐन्द्रिय अनुभव के धरातल से ग्रहण कर उसके विकसित निर्माण में संलग्न होता है।[३]

---

१. The epigram is "There is no inspiration without aspiration. The reversal is, "There can be no aspiration without inspiration." In other words, there can be no real elevation of life, no ascent to individual eminence of spirit and action without a complementary and equivalent descent of all that is meant by "the spirit" into the limitation of form that constitute the varieties of human expression—

—*James. H. Cousins* : The Aesthetical Necessity in life p. 40

२. Sculpture....conceives the astounding project of making Spirit imagine itself in an exclusively material medium." The function of sculpture, Hegel goes on to say, "is to present the Divine simply in its infinite repose and sublimity, timeless, destitute of motion, entirely without subjective personality in the strict sense and without conflict of action or situation."

—*Herbert Read* : Icon and Idea p. 81

३. Such being the function of sculpture, the artist must, asit were, make the best of the human body as the House of Spirit. But he must then distinguish between his own subjectivity as such, which is spirit as self-consciousness, and "the truly objective content of Spirit" which is something stable and universal. The Sculptor, therefore, says Hegel, takes the human body such as he finds it in his sensuous expreience, and then proceeds to build up.

—*Herbert Read* : Icon and Idea p. 81.

देह की दिव्य अभिव्यक्ति तक पहुंचने के पहिले मनुष्य ने परमतत्व को मूर्तिमान करने के लिए जिन उपायों का सहारा लिया उनके इतिहास पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। आदिमकाल से लेकर 'क्लासिकल' युग के चित्रों एवं मूर्तियों के अध्ययन से मानव-मस्तिष्क में जन्म लेते एवं विकसित होते हुए सौन्दर्यबोध के उत्तरोत्तर क्रम को जाना जा सकता है। क्लासिकल युग में जाकर उसने नैसर्गिकता एवं तात्विकता का सामंजस्य पा लिया। किन्तु इस सामंजस्य को पाने का उपक्रम किस प्रकार किया गया?

प्रस्तर-युग (Neolithic Age) में ही कला का जन्म हो चुका था। उस युग के कलाकार रूप के ऐसे लोक के सृजन में रत थे जो परिवर्तनशील किंवा नश्वर क्रियाओं या घटनाओं की व्याख्या नहीं करता, वरन् एक परिवर्तनशील व्यवस्था के भीतर मानव-मानव के पारस्परिक संबंध तथा विश्व से उसके सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता था। इसलिए प्रस्तर-युग के कलात्मक नमूनों में जीवन के तत्वों का दमन नहीं, उस पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास है, भौतिकता को मनुष्य ही रचनात्मक इच्छा शक्ति से अनुशासित करने, संसार को फिर से निर्मित करने का प्रयत्न किया गया है। भौतिक अपूर्णता में जिस वस्तु की कमी दिखायी पड़ी उसे उसने अपने अन्तर्ज्ञान के आधार पर, गणित के सत्यों से सुधारने का प्रयत्न किया, इसलिए इस युग का रूप-निर्माण ज्यामितिक है। वह ज्यामितिक नमूना एक प्रकार की प्रतीकात्मक भाषा है जिसे समझने के लिए उचित बोध की आवश्यकता है। ज्यामितिक शैली में सौंदर्य को रूपबद्ध करने के लिए जिन तत्वों का सहारा लिया गया है उनमें से मुख्य हैं समन्वय, सरलता, बाह्य-अनिवार्यता (formal necessity) तटस्थता, सुनिश्चितता। समन्वय के द्वारा इस युग की कला ने वस्तुओं की अनेकरूपता में एक इकाई के निर्माण की इच्छाशक्ति का परिचय दिया है। थोड़े से उपादानों से जटिल रूपों के निर्माण करने की क्षमता सरलता की है। बाह्य-अनिवार्यता के प्रभाव से उसने उन नमूनों में विषयवस्तु को अभिव्यक्त करने तथा छिपाने दोनों का प्रयत्न किया है। तटस्थता के द्वारा कलाकार की उस इच्छाशक्ति का पता लगता है जिससे वह बाहरी और भीतरी जगत के वस्तुव्यापारों से, ऐन्द्रिय-भावनाओं तथा भौतिक-वस्तुओं से ऊपर उठता है। इन सबके द्वारा एक कलात्मक रूप का निर्माण कर उस युग के कलाकार ने उसे ऐसी शक्ति से भरना चाहा जो मनुष्य की भौतिक शक्तियों तथा उसके जीवन का अतिक्रमण कर जाती है, चाहे उसे जादू के रूप में देखा जाय चाहे धर्म के। और इन रूपों में अभिव्यक्त अर्थ का सम्बन्ध, जीवन और मृत्यु के दोनों लोकों से जोड़ दिया गया।

इस प्रकार, कला के निर्माण में सौन्दर्यबोध के प्रथम उपकरण, समानुपात का समावेश प्रस्तुर-युग में ही हो चुका था। समानुपात का सबसे बड़ा नमूना मनुष्य को स्वयं अपने शरीर में दिखाई पड़ा। पूर्व-प्रस्तर-युग (Paleolithic Age) की मूर्तिकला में समानुपात अत्यन्त स्पष्ट होकर दृष्टिगत होता है, विशेषकर मानव रूप के प्रस्तुतीकरण में। इन मूर्तियों में समानुपात पर जान बूझ कर बल दिया गया है। कलाकार न केवल समानुपात के प्रति जागरूक है, वरन् उसने इस सिद्धान्त का सचेतन रूप से प्रयोग किया है। किन्तु समानुपात के आग्रह से ज्यामितिक कला में एक दोष आ गया—नियमितता (regularity) और यथातथ्यता (exactitude) के कारण उत्पन्न कलात्मक दोष। संवेदनशील कलाकार ने इस दोष को पहिचान लिया, उसने पुनरावृत्ति दोष से बचने के लिए उन नमूनों में जान-बूझ कर अनियमितता को स्थान दिया। कलात्मक सजीवता के लिए अंगांगि सम्बन्ध की सूक्ष्म जानकारी आवश्यक है, और इस तत्व ने संतुलन ((Balance) के सिद्धान्त को जन्म दिया। इस प्रकार की संतुलित रचना सहजात है, बुद्धि से उसका हम विश्लेषण मात्र कर सकते हैं, निर्माण नहीं। ज्यामितिक कला के विकास-क्रम में उपलब्ध संतुलन का यह तत्व आगे चल कर आलंकारिक (Figurative) कला में संक्रमण कर गया। उसके परिणाम कलात्मक रूप से संतोषजनक सिद्ध हुए। समानुपात (Symmetry) और संतुलन (Balance)—ज्यामिति के इन नियमों ने ही सबसे पहिले कलात्मक-चेतना का निर्माण किया। कलारूपों के चिन्तन में गणित की अनिवार्यता का अनुभव किया गया। जहाँ तक दो

आयामों के अन्तर्गत रचना का प्रश्न है ये दो तत्व ही पर्याप्त थे, कलात्मक-चेतना के और अधिक विकास की न आवश्यकता हुई, न सम्भावना। विकासक्रम में तीसरे आयाम का जन्म हुआ—गहराई में स्थान का (Space in depth)।

मानव-देह के ज्यामितिक रूप से उसके परंपरानुमोदित क्लासिक-आकार तक का परिवर्तन क्रमिक गति से हुआ। धातु-युग (Bronze Age) में यह रूप अधिक सुस्पष्ट हो गया। मनुष्य का रूप एकदम ज्यामितिक साथ-साथ एकदम अंगावयिक (anatomical) हो गया। वह त्रिकोणात्मक रूपाकारों के वृन्द से अधिकाधिक गोल आकारों की ओर अग्रसर हुआ है। वस्तुतः ज्यामितिक आकार मानवदेह के भीतर उन सूक्ष्म सत्यों को अभिव्यक्त करते हैं जिन्हें हम अपनी साधारण एवं प्रत्यक्षोन्मुखी दृष्टि से नहीं देख पाते। इन ज्यामितिक आकारों से ही यंत्र के रूप में तंत्रशास्त्र ने देवता के शरीर का निर्माण किया। देवता के शरीर को मानव शरीर से एकाकार न कर दिया जाय इसीलिए तंत्र में गणितपरक आधार के द्वारा उनके देह-रूप के निर्माण का उपाय खोजा गया। प्रस्तरयुग में मानव देह के इसी आंतरिक आधार को खोजने के प्रयास में ज्यामिति-आकारों के समानुपात को महत्व दिया गया था। किन्तु मात्र ज्यामितिक आकार से मनुष्य के स्थूल रूप की पहचान नहीं हो सकती। इसीलिए धातु-युग में, इस सूक्ष्म धरातल से स्थूल धरातल के आकारों का गठबन्धन भी किया गया। इस प्रकार ७वीं शताब्दी तक मानव-देह का आदर्श रूप निर्मित हुआ। पश्चिम में ७वीं शताब्दी का मूर्तिकार दो प्रकार की संवेदनाओं—मानव की जीवन्त प्रतिमा के प्रति संवेदनशीलता और ज्यामितिक सामंजस्य के आमूर्त तत्वों के प्रति संवेदनशीलता—के समन्वय की ओर अग्रसर हुआ। जब यह समन्वय प्राप्त कर लिया गया तभी 'आदर्श-मानव' के दार्शनिक सत्य को समझना सम्भव हो सका। इस समृद्ध शैली को 'आदर्श' के नाम से पुकारा गया। यूनानी कला इसी का नमूना है जिसे पश्चिमी सौन्दर्यदृष्टि से क्लासिकल (classical) कहा जाता है। इसी की व्याख्या करते हुए हीगेल ने मानव-देह में आत्मा (spirit) की अभिव्यक्ति को मूर्तिकला का उद्देश्य माना है। उसने बाह्य नैतिक शक्तियों को मूर्ति की प्रेरणा के रूप में स्वीकार नहीं किया। एकमात्र आध्यात्मिक-सत्ता का मानव-देह में अवतरण ही हीगेल के मूर्तिकला-सम्बन्धी मत का सार है।

क्लासिकल शैली मनुष्य की उस सचेत इच्छाशक्ति का प्रतिफलन है जो सदैव से व्यष्टि का समष्टि से, अनेकता का एकता से, स्वतंत्रता का अनिवार्यता से मेल कराने में प्रयत्नशील रही है। मनुष्य के अंदर के दार्शनिक ने मानव से आत्मा के, वास्तविकता से आदर्श के मिलन को अधिकाधिक नैकट्य से पाने की कामना की है। इसीलिए यूनानी कला में दो शक्तियों का समन्वय हुआ है—एक ऐन्द्रिय, दूसरी तात्विक। इस प्रकार मनुष्य की बुद्धि एवं भाव ने सौन्दर्य के ऐसे मानवीय विग्रह को जन्म दिया जिसकी वास्तविकता दार्शनिक रूप से भी सत्य है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने सौन्दर्य के ऐसे लोक की कल्पना की है जो हमारे भौतिक जगत से स्वतंत्र है, जिसकी अपनी पृथक, स्वतंत्र सत्ता है, यद्यपि इस भौतिक जगत में भी उस लोक के खण्ड सत्यों की झलक मिलती है। प्लेटो ने उसे दिव्य सार का लोक (world of divine essence) कहा है, और उसका वर्णन एकदम ज्यामितिक रूप में किया है। 'सौंदर्य' दिव्य-सार का सर्वोत्तम लोक है जिसे सर्वाधिक रमणीक अतः महत्वपूर्ण होने का विशेषाधिकार प्राप्त है। कृष्ण-काव्य के ब्रजलोक की कल्पना इसी के समानान्तर है। उस सौंदर्य लोक में एक आदि-रूप (Archetype) है जिसे हम परम सौन्दर्य (Absolute Beauty) कह सकते हैं। इस लोक में प्रक्षेपित सौन्दर्य उसी की आंशिक, अपूर्ण, एवं क्षणिक अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक सौन्दर्य का आदर्श रूप आदिरूप के सौंदर्य की झलक मात्र है। इस आदि-रूप के बिना भौतिक जगत के खण्ड-सौन्दर्य-रूपों की स्थिति ही नहीं है, पर नश्वर रूपों के बिना भी आदिरूप की स्थिति थी और है, चाहे मानव द्वारा उसका ग्रहण हो या न हो। यह आदिरूप हमारे मस्तिष्क में रहता है पर साधारणतः हम उसकी उपस्थिति से अनभिज्ञ रहते हैं। वह अचेतन किंवा निष्क्रिय नहीं है, वह ऐसी गति है जो अन्तश्चैतन्य की विद्युत्धारा से संचालित होकर

क्रियाशील होती है। जब यह आदिरूप क्रियान्वित होता है तब एक पूर्वनिश्चित रूप में—अपनी भौतिक-रचना और यांत्रिकता के द्वारा नियमित हो कर—क्रियान्वित होता है।[१] प्लॉटिनस का कथन है कि दिव्य-चेतना और दिव्य-लोक का सौन्दर्य केवल चिन्तन के सम्मुख उद्घाटित होता है। उसके प्रकाशन में कला या शैली में अवतरित 'रूप' महत्वपूर्ण है, कला का माध्यम नहीं।[२]

कृष्णभक्ति काव्य में वर्णित ब्रज उसी प्रज्ञात्मक लोक के सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करता है और श्रीकृष्ण किंवा श्रीराधा दिव्य-चेतना के सौन्दर्य का प्रतिनधित्व करते हैं। भक्ति-साहित्य की इस धारा ने आदिरूप की इन दोनों अभिव्यक्तियों को न केवल मानसिक धरातल पर स्थित माना है (यद्यपि वह भी चेतना के आत्मोद्‌घाटन पर हर युग में हर समय सुलभ है) वरन् श्री कृष्णावतार के समय इस भूतल पर अवतरित हुआ भी स्वीकार किया है।

श्रीकृष्ण और श्रीराधा में वह परमसौंदर्य प्रकट है जिसकी खोज में प्राणी रत है। ऐतिहासिक अवतरण के समय वे प्रकट थे, अब अप्रकट रहते हुये भी अन्तश्चेतना के ब्रजलोक में प्रकट हुआ करते हैं। ब्रज की प्रेम-भक्ति साधना इसी सौन्दर्य से परिस्फूर्त है। राधा-कृष्ण के रूपवर्णन को परम्परागत किंवा रूढ़ कह कर हमारी स्थूल बुद्धि उससे ऊब सकती है, किन्तु इन रूढ़ियों में उस आदि-रूप के आकारों का सत्य निहित है जिसे सौंदर्य-द्रष्टाओं ने अन्तर्चक्षुओं से देखा है। सौन्दर्य के रूढ़ उपमानों ने सौन्दर्य के उस आदि रूप का चित्र बना रखा है जो समय के प्रवाह से धुल नहीं सकता। कृष्णभक्ति की रूपोपासना निर्जीव रूढ़ियों की उपासना नहीं है, वरन् उस आदिरूप की साधना है जो हमसे ओझल है, पर जिसे हम (प्लॉटिनस के शब्दों में) चिन्तन के माध्यम से अपनी चेतना में खींच सकते हैं। खींच इसलिए सकते हैं क्योंकि वह सौन्दर्य तटस्थ नहीं है। वह एक ऐसा आकर्षण है जो आकर्षित करता है और आकर्षित भी होता है : वह कृष्ण है। कृष्ण-रूप में आकर्षण की यह द्विधा गति है।

आदिरूप की रूपरेखा न्यूनाधिक निश्चित होती है, उसका अपना भाव होता है। उस रूप का दर्शन ध्यान द्वारा ही प्राप्य है, कल्पना द्वारा नहीं। इसीलिए मूर्तिशास्त्र के प्रणेताओं ने प्रत्येक देवता का लक्षण निर्धारित करते हुए शिल्पी को पहले उसे अपने आभ्यन्तरिक ध्यान में अवतरित करके तब बाह्य आकार देने का निर्देश दिया है। नहीं तो प्रस्तुतीकरण वास्तविक न होकर काल्पनिक हो सकता है, सत्य की प्रतिकृति न होकर मिथ्यात्व का समावेश कर सकता है। भारतीय मूर्तिशास्त्र में महत् देवताओं के विग्रह अन्य देवताओं तथा मनुष्य के

---

१. The archetypes, therefore are a function of the brain, but we are not normally aware of their existence. They are not so much unconscious or unactivated, dynamos that do not go into action until charged with some psychic current. When they go into action, they act in a predetermined way,—in the way predetermined by their physical constitution and mechanism.

—*Herbert Read* : The Forms of Things Unknown, p·54.

२. ...The beauty of the divine Intellect and of the Intellectual cosmos in revealed to contemplation and that its revelation is due primarily to the fact that art or technique has value solely because of 'form' and not in consequence of the medium of the work of art.—

—*Milton C. Nahn* : Aesthetic Experience and its Presuppositions, p. 42.

के अंग-अंग में इतनी अपार शोभा है कि एक ही अंग का अवलोकन करते हुए आँखों में जल भर आता है, सर्वांग की क्या बात ?[१] चरम सौन्दर्य की इसी विशिष्टता को राधा और गोपियों के सौंदर्यबोध के पार्थक्य के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। गोपियाँ कृष्ण से एकाध बार ही मिलती हैं कि उस सौन्दर्य से आप्यायित उसका पूरा वर्णन कर डालती हैं। राधा कृष्ण का न जाने कितनी बार दर्शन कर चुकी हैं किन्तु जब वह गोपियों से मिलती हैं तो बराबर यही इन्कार करती चली जाती हैं कि उन्होंने कृष्ण को कभी नहीं देखा। गोपियाँ उन्हें धूर्त और कपटी समझती हैं तथा नाना प्रकार की व्यंग्योक्तियों से इस चोरी को खुलवाना चाहती हैं। चोरी खुल भी जाती है एक अवसर पर,—किन्तु यह उद्‌घाटन भी कितना रहस्यपूर्ण तथा सौंदर्यबोध की गहराइयों में झाँकता हुआ है। गोपियाँ बड़ी निश्चिन्तता से बखान कर जाती हैं कि नंद-नंदन को हमने ऐसा देखा—सुन्दर श्याम तन पर पीत वसन, मानो नील जलद पर तड़ित हो, मंद-मंद मुरली की गर्जन, दृष्टि सुधा-वर्षण करने वाली, उर पर बनमाला इत्यादि इत्यादि, कृष्ण के रूप का वे यथातथ्य चित्र खींच डालती हैं। परन्तु कृष्ण को न पहचानने की सौगन्ध खाने वाली राधा उस सौगन्ध की सत्यता कृष्ण की अतिसीम रूपव्यंजना में प्रमाणित करती हैं। वे निधड़क होकर कहती हैं कि 'तुम सब ने कृष्ण को देखा है (?) इस बात पर मैं विश्वास नहीं करती। मैंने समझा कि जिस तरह मैंने नहीं देखा उसी तरह तुमने भी नहीं देखा। किन्तु मैं तो तुम्हें धन्य समझती हूँ जो तुम उस अपरूप सौन्दर्य का सर्वांग व सम्पूर्ण दर्शन कर सकीं। बार-बार मैं तुम्हारी स्तुति करती हूँ कि तुम सौन्दर्य को देखने में समर्थ हुईं, मैं तो एक अंग ही देख रही थी कि आँखों में पानी भर आया। मुझमें तो एक अंग के अवलोकन की भी क्षमता नहीं है। कुंडल की झलक से दीपित कपोलों की आभा—इतने, सिर्फ इतने में ही मैं बिक गई, एकटक देखती रही, दोनों नैन रुँध उठे और फिर कुछ देख न सकी। सच कहती हूँ मैंने श्याम को नहीं पहचाना।'[२] (केवल मात्र कपोल से ही किसी को कैसे पहचाना जा सकता है ?) राधा की इस अकिंचनता में कृष्ण के अपार सौन्दर्य की महिमा व्यंजित है। गोपियों को बारम्बार 'धन्य धन्य' कह कर राधा ने उनके सौन्दर्य-बोध के प्रति आश्चर्य प्रकट किया है। वह सौन्दर्य अपरम्पार है। राधा कहती हैं कि आँखें जान कर भी अजान हो गयीं, कृष्ण को देख कर भी ऐसी हो गईं मानो देखा ही नहीं। एक ही अंग को देखती रह गईं, और कहीं न जा सकीं। उस एक अंग के ही देखने में ऐसी बेसुध हो गईं कि सौन्दर्य की राशि को न समेट सकीं। एक अंग को नाना प्रकार से देखते हुए समय बीत गया, सौन्दर्य का एक कण भी हाथ न लगा। सब-कुछ वैसे ही छूट गया जैसे चोर रात भर सामान को उलटते-पलटते भोर कर देता है और

आपुन अँग अंग बिथ्यौ, मोकों बिसराई।
बार बार कहत यहै, तू क्यौं नहिं आई॥
कबहूँ लै जात साथ, बाँह गहि बुलाई।
सूर स्याम छबि अगाध, निरखत भरमाई॥ —सूरसागर, पद सं० २४५१

१. एक अंग सोभा अवलोकत, लोचन जल भरि आवै।
सूर स्याम के अंग-अंग प्रति, कोटि काम-छवि छावै॥ —वही, पद सं० २०२०

२. तुम देखे मैं नहीं पत्यानी।
मैं जानति मेरी गति सबही, यहै साँच अपनैं मन आनी॥
जो तुम अंग अंग अवलोक्यौ, धन्य धन्य मुख अस्तुति गानी।
मैं तो एक अंग अवलोकति, दोऊ नैन गए भर पानी॥
कुंडलझलक कपोलनि आभा, मैं तो इतनेहि माँझ बिकानी।
इकटक रही नैन दोउ रूँधे, सूर स्याम कौं नहिं पहिचानी॥ —सू० सा०, पद सं० २४००

क्रियाशील होती है। जब यह आदिरूप क्रियान्वित होता है तब एक पूर्वनिश्चित रूप में—अपनी भौतिक-रचना और यांत्रिकता के द्वारा नियमित हो कर—क्रियान्वित होता है।[१] प्लॉटिनस का कथन है कि दिव्य-चेतना और दिव्य-लोक का सौन्दर्य केवल चिन्तन के सम्मुख उद्घाटित होता है। उसके प्रकाशन में कला या शैली में अवतरित 'रूप' महत्वपूर्ण है, कला का माध्यम नहीं।[२]

कृष्णभक्ति काव्य में वर्णित ब्रज उसी प्रज्ञात्मक लोक के सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करता है और श्रीकृष्ण किंवा श्रीराधा दिव्य-चेतना के सौन्दर्य का प्रतिनधित्व करते हैं। भक्ति-साहित्य की इस धारा ने आदिरूप की इन दोनों अभिव्यक्तियों को न केवल मानसिक धरातल पर स्थित माना है (यद्यपि वह भी चेतना के आत्मोद्घाटन पर हर युग में हर समय सुलभ है) वरन् श्री कृष्णावतार के समय इस भूतल पर अवतरित हुआ भी स्वीकार किया है।

श्रीकृष्ण और श्रीराधा में वह परमसौंदर्य प्रकट है जिसकी खोज में प्राणी रत है। ऐतिहासिक अवतरण के समय वे प्रकट थे, अब अप्रकट रहते हुये भी अन्तश्चेतना के ब्रजलोक में प्रकट हुआ करते हैं। ब्रज की प्रेम-भक्ति साधना इसी सौन्दर्य से परिस्फूर्त है। राधा-कृष्ण के रूपवर्णन को परम्परागत किंवा रूढ़ कह कर हमारी स्थूल बुद्धि उससे ऊब सकती है, किन्तु इन रूढ़ियों में उस आदि-रूप के आकारों का सत्य निहित है जिसे सौंदर्य-द्रष्टाओं ने अन्तर्चक्षुओं से देखा है। सौन्दर्य के रूढ़ उपमानों ने सौन्दर्य के उस आदि रूप का चित्र बना रखा है जो समय के प्रवाह से धुल नहीं सकता। कृष्णभक्ति की रूपोपासना निर्जीव रूढ़ियों की उपासना नहीं है, वरन् उस आदिरूप की साधना है जो हमसे ओझल है, पर जिसे हम (प्लॉटिनस के शब्दों में) चिन्तन के माध्यम से अपनी चेतना में खींच सकते हैं। खींच इसलिए सकते हैं क्योंकि वह सौन्दर्य तटस्थ नहीं है। वह एक ऐसा आकर्षण है जो आकर्षित करता है और आकर्षित भी होता है : वह कृष्ण है। कृष्ण-रूप में आकर्षण की यह द्विधा गति है।

आदिरूप की रूपरेखा न्यूनाधिक निश्चित होती है, उसका अपना भाव होता है। उस रूप का दर्शन ध्यान द्वारा ही प्राप्य है, कल्पना द्वारा नहीं। इसीलिए मूर्तिशास्त्र के प्रणेताओं ने प्रत्येक देवता का लक्षण निर्धारित करते हुए शिल्पी को पहले उसे अपने आभ्यन्तरिक ध्यान में अवतरित करके तब बाह्य आकार देने का निर्देश दिया है। नहीं तो प्रस्तुतीकरण वास्तविक न होकर काल्पनिक हो सकता है, सत्य की प्रतिकृति न होकर मिथ्यात्व का समावेश कर सकता है। भारतीय मूर्तिशास्त्र में महत् देवताओं के विग्रह अन्य देवताओं तथा मनुष्य के

---

१. The archetypes, therefore are a function of the brain, but we are not normally aware of their existence. They are not so much unconscious or unactivated, dynamos that do not go into action until charged with some psychic current. When they go into action, they act in a predetermined way,—in the way predetermined by their physical constitution and mechanism.

—*Herbert Read* : The Forms of Things Unknown, p·54.

२. ...The beauty of the divine Intellect and of the Intellectual cosmos in revealed to contemplation and that its revelation is due primarily to the fact that art or technique has value solely because of 'form' and not in consequence of the medium of the work of ait.—

—*Milton C. Nahn* : Aesthetic Experience and its Presuppositions, p. 42.

विग्रह से भिन्न हैं। उनके अंग-अवयवों का अनुपात भिन्न है, तथा विग्रह महिम गरिमा से युक्त है। भगवत-विग्रह, चाहे बुद्ध बन कर प्रकट हुआ हो या शिव अथवा वष्णु,—उसकी रूपरेखा प्रायः एक-सी है, क्योंकि वही एक परम-चैतन्य नाना अवस्थाओं में अभिव्यक्त है। मुखाकृति एक जैसी है, भाव भिन्न है, देह-यष्टि एक-सी है, भंग अपने-अपने हैं। बुद्ध और कृष्ण के विग्रह में यदि अंतर है तो इतना ही कि जहाँ बुद्ध समभंग मुद्रा में स्थिरता के प्रतिमान बने हैं वहाँ कृष्ण त्रिभंग हो कर गितिमय हो गये हैं। कमल-नयन भगवान ध्यानी बुद्ध में संबोधि की चेतना से मीलित-नयन हैं, वेणुधारी कृष्ण में प्रेम की निगूढ़ तन्मयता से मुदित, मीलित-नयन हैं। अमिताभ बुद्ध स्वर्ण आभा से प्रदीप्त हैं, तो ब्रजेश्वर कृष्ण नीलाभ ज्योति में प्रेम और आनन्द का रहस्य-लोक समाहित किए हुए हैं। कृष्ण मूलतः सच्चिदानन्द के सौन्दर्य और प्रेम के प्रतीक हैं। उनमें सौन्दर्य की राशि है। सच्चिदानन्द ही आदिरूप है, उसी का सौन्दर्य प्लेटो का परम-सौन्दर्य (Absolute Beauty) है। जहाँ, जिस चेतना में वह सौन्दर्य देखा तथा जिया जा सकता है उसे परम-सौन्दर्य का धाम (Realm of Absolute Beauty) कह कर अभिहित किया गया है। भारतीय सौन्दर्य-साधना ने कृष्ण को ही आदि-सौन्दर्य तथा वृन्दावन को परमसौन्दर्य का लोक घोषित किया है। कृष्ण का सौन्दर्य ऐसा सौन्दर्य है जिसके सम्मुख अप्सराओं, गन्धर्वों का सौन्दर्य भी विरूप हो जाता है। यही नहीं, त्रिलोक का सौन्दर्य उस पर न्योछावर है। वह आध्यात्मिक सौन्दर्य है, इसीलिए आधिदैविक और आदिभौतिक सौन्दर्य को परास्त किये हुए है। किन्तु परम-सौन्दर्य की अनुभूति सर्वसुलभ नहीं है। साधना किंवा भगवत् या गुरुकृपा से जिसके अन्तर्चक्षुओं के आगे वह दिव्य-सौन्दर्य उद्घाटित हो जाता है, वह विद्या अविद्या के पार चला जाता है।

(ख) 'परम' का सौन्दर्य-बोध

उस परमतत्व का सौन्दर्यबोध सौन्दर्य के आधार (आलम्बन) तथा भावक (आश्रय) दोनों पक्षों में अपनी अत्यन्त विशिष्ट विशेषताओं से युक्त है। वह सौन्दर्य क्या है तथा उसका बोध कैसा है—इसकी चर्चा कृष्णभक्त-कवियों ने लीलागान के बीच-बीच में की है। उसी के आधार पर भक्ति के आश्रित कृष्ण-काव्य के सौन्दर्यबोध के विश्लेषण का प्रयास किया जा सकता है।

(१) **रूपातीत का सौन्दर्य :** (राधा या कृष्ण)

शोभा-सिन्धु—चरम सौन्दर्य की उपासना जहाँ स्त्री रूप में हुई है वहाँ राधा उसकी मूर्तिमान रूप हैं, कृष्ण आराधक, जहाँ पुरुष रूप में हुई है वहाँ कृष्ण उस सौन्दर्य के आधार हैं, राधा आराधिका। दोनों ही रूपों में सौन्दर्य की चरम स्थिति तथा उसकी गति का निदर्शन भक्त-कवियों ने ऐसी उक्तियों द्वारा किया है कि उसके असीम होने का आभास हमें निरन्तर मिलता रहता है। वह अम्लान, अप्रतिहत सौन्दर्य ससीम के सौन्दर्य का अतिक्रमण किये रहता है, और मन को अतिचेतन लोक में अभिनिष्क्रमित कर देता है। उसकी सीमाहीनता का आभास भक्तकवियों ने सिन्धु या सागर की उपमा से दिया है। कृष्णजन्म होते ही जिस शोभा का सिन्धु भूतल पर उमड़ पड़ता है, उसकी सीमायें निर्धारित करना असम्भव है, उसका कोई अन्त ही नहीं है[१]

---

१. सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
देखौ जाइ आजु गोकुल मैं, घर-घर बेंचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत बिधि, कहत न मुख-सहसहुँ निबही री।
—सूरसागर, पद सं० ६४७

यह सागर अमाप है—इसके विस्तार का पार पाना दुष्कर है और अगाध भी—इसमें रूप की अतल गहराइयाँ हैं। राधा-कृष्ण के रूप में सौन्दर्य की गम्भीरता और व्यापकता दोनों पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। राधा की श्रीशोभा का वर्णन करते हुए स्वामी हरिदास कहते हैं कि वह रूप कोटि ब्रह्माण्डों को आच्छादित कर सकने में समर्थ है। वह इतना अगाध है कि उसका ग्रहण एक जन्म में नहीं हो सकता : काल की सीमाएँ भी अपने को वहाँ तोड़ देती हैं। न जाने कितने जन्म तो केवल उसका विचार करते-करते ही बीत जाते हैं। उसका वर्णन तो दूर, ग्रहण भी भली भाँति नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय अलौकिक सौन्दर्य क्रम-क्रम से प्राप्त करने योग्य है।[1]

इस शोभा-सागर में राशि-राशि सौन्दर्य है। श्याम सर्व-प्रथम 'रूप की राशि' हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि वह शोभा-सिन्धु अगाध है,—मन में बारम्बार उसके बोध को उतारने की चेष्टा करने पर भी उसका कूल पाना दुःसाध्य है। वह सिन्धु अत्यन्त गम्भीर है।[2] कृष्ण के तन की उपमा कवियों ने सिन्धु से देकर उनके समस्त प्रसाधन को सागर के विभिन्न अवयवों के रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी श्यामल देह पर पीतवस्त्र का फहराना मानो सौन्दर्य की अपार लहरों का उठना है। उस महाछवि का वार-पार नहीं है, मन थकित होकर तट पर हारा-सा बैठ जाता है। चलते समय अंग को त्रिभंग करना, तथा भौंहों का वक्र करना ऐसा प्रतीत होता है मानो उस सागर में भँवरें पड़ रही हों और ये भँवरें भी कैसी—मनुष्य का चित्त भ्रमित होकर उसमें गिर पड़ता है। श्रवण-कुंडल मकर और विशाल नेत्र मीन हैं, बाहुदण्ड भुजंग हैं जो इस जलधि के बीच बिहार करते हैं। कृष्ण का रूप मानो समुद्रमंथन से उपलब्ध श्री और सुधा का चषक है, शोभा और माधुरी का निकष है।[3]

भ्रमात्मक (Illusive)—उस अगाध छविसागर को देख कर मनुष्य भ्रमित हो जाता है, आत्महारा हो जाता है। उस रूप को देखने की साध कभी पूरी होती-सी नहीं दिखायी पड़ती। प्रयत्न करके रूपोपासक हार जाता है, वह रूप दिखायी नहीं पड़ता, सदैव व्यक्ति की पकड़ से परे चला जाता है। उसे पकड़ पाना उसी प्रकार असम्भव है जैसे सागर को हथेली पर रखना, उसमें डूब जाना ही एकमात्र उपाय है। आत्मविसर्जित होकर ही उसका बोध हो पाता है, क्योंकि उस अगाध छवि को देख कर मन-प्राण भ्रमित-से हो रहते हैं।[4] कृष्ण

---

१. तुव जस कोटि ब्रह्माण्ड विराजै राधे।
श्री शोभा वरनी न जाय अगाधे।।
बहुतक जनम विचारत ही गये साधे साधे।
हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी।
कहत प्यारी ए दिन क्रम क्रम करि लाधे।।

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ४१

२. तन मन नारि डारति वारि।
स्याम सोभासिंधु, जान्यौ, अंग अंग निहारि।।
पचि रहीं मन ज्ञान करि करि लहति नाहिंन तीर।
स्यामतन जल-रासि-पूरन, महा गुन गंभीर।।

—सूरसागर, पद सं० २४३९

३. वही।

४. स्याम रूप देखन की साध, भरी माई।
कितनौ पचिहारी रही, देत नहिं दिखाई।।
मन तौ निरखत सु अँग, मैं रही भुलाई।
मोसों यह भेद कहौ कैसैं, उहि पाई।।

के अंग-अंग में इतनी अपार शोभा है कि एक ही अंग का अवलोकन करते हुए आँखों में जल भर आता है, सर्वांग की क्या बात ?[१] चरम सौन्दर्य की इसी विशिष्टता को राधा और गोपियों के सौंदर्यबोध के पार्थक्य के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। गोपियाँ कृष्ण से एकाध बार ही मिलती हैं कि उस सौन्दर्य से आप्यायित उसका पूरा वर्णन कर डालती हैं। राधा कृष्ण का न जाने कितनी बार दर्शन कर चुकी हैं किन्तु जब वह गोपियों से मिलती हैं तो बराबर यही इन्कार करती चली जाती हैं कि उन्होंने कृष्ण को कभी नहीं देखा। गोपियाँ उन्हें धूर्त और कपटी समझती हैं तथा नाना प्रकार की व्यंग्योक्तियों से इस चोरी को खुलवाना चाहती हैं। चोरी खुल भी जाती है एक अवसर पर,—किन्तु यह उद्‌घाटन भी कितना रहस्यपूर्ण तथा सौंदर्यबोध की गहराइयों में झाँकता हुआ है। गोपियाँ बड़ी निश्चिन्तता से बखान कर जाती हैं कि नंद-नंदन को हमने ऐसा देखा—सुन्दर श्याम तन पर पीत वसन, मानो नील जलद पर तड़ित हो, मंद-मंद मुरली की गर्जन, दृष्टि सुधा-वर्षण करने वाली, उर पर बनमाला इत्यादि इत्यादि, कृष्ण के रूप का वे यथातथ्य चित्र खींच डालती हैं। परन्तु कृष्ण को न पहचानने की सौगन्ध खाने वाली राधा उस सौगन्ध की सत्यता कृष्ण की अतिसीम रूपव्यंजना में प्रमाणित करती हैं। वे निधड़क होकर कहती हैं कि 'तुम सब ने कृष्ण को देखा है (?) इस बात पर मैं विश्वास नहीं करती। मैंने समझा कि जिस तरह मैंने नहीं देखा उसी तरह तुमने भी नहीं देखा। किन्तु मैं तो तुम्हें धन्य समझती हूँ जो तुम उस अपरूप सौन्दर्य का सर्वांग व सम्पूर्ण दर्शन कर सकीं। बार-बार मैं तुम्हारी स्तुति करती हूँ कि तुम सौन्दर्य को देखने में समर्थ हुईं, मैं तो एक अंग ही देख रही थी कि आँखों में पानी भर आया। मुझमें तो एक अंग के अवलोकन की भी क्षमता नहीं है। कुंडल की झलक से दीपित कपोलों की आभा—इतने, सिर्फ इतने में ही मैं बिक गई, एकटक देखती रही, दोनों नैन रुँध उठे और फिर कुछ देख न सकी। सच कहती हूँ मैंने श्याम को नहीं पहचाना।'[२] (केवल मात्र कपोल से ही किसी को कैसे पहचाना जा सकता है ?) राधा की इस अकिंचनता में कृष्ण के अपार सौन्दर्य की महिमा व्यंजित है। गोपियों को बारम्बार 'धन्य धन्य' कह कर राधा ने उनके सौन्दर्य-बोध के प्रति आश्चर्य प्रकट किया है। वह सौन्दर्य अपरम्पार है। राधा कहती हैं कि आँखें जान कर भी अजान हो गयीं, कृष्ण को देख कर भी ऐसी हो गईं मानो देखा ही नहीं। एक ही अंग को देखती रह गईं, और कहीं न जा सकीं। उस एक अंग के ही देखने में ऐसी बेसुध हो गईं कि सौन्दर्य की राशि को न समेट सकीं। एक अंग को नाना प्रकार से देखते हुए समय बीत गया, सौन्दर्य का एक कण भी हाथ न लगा। सब-कुछ वैसे ही छूट गया जैसे चोर रात भर सामान को उलटते-पलटते भोर कर देता है और

आपुन अँग अंग बिध्यौ, मोकों बिसराई।
बार बार कहत यहै, तू क्यौं नहिं आई॥
कबहूँ लै जात साथ, बाँह गहि बुलाई।
सूर स्याम छबि अगाध, निरखत भरमाई॥ —सूरसागर, पद सं० २४५१

१. एक अंग सोभा अवलोकत, लोचन जल भरि आवे।
सूर स्याम के अंग-अंग प्रति, कोटि काम-छवि छावे॥ —वही, पद सं० २०२०

२. तुम देखे मैं नहीं पत्यानी।
मैं जानति मेरी गति सबही, यहै साँच अपनैं मन आनी॥
जो तुम अंग अंग अवलोक्यौ, धन्य धन्य मुख अस्तुति गानी।
मैं तो एक अंग अवलोकति, दोऊ नैन गए भर पानी॥
कुंडलझलक कपोलनि आभा, मैं तो इतनेहि माँझ बिकानी।
इकटक रही नैन दोउ रूँधे, सूर स्याम कौं नहिं पहिचानी॥ —सू० सा०, पद सं० २४००

जाते समय कुछ नहीं ले जा पाता। जान कर भी चोर अजान बन जाता है। सौन्दर्य देख कर भी आँखें अनदेखी-सी रहीं।[१]

दो नेत्र गोपियों के हैं और दो ही राधा के भी, किन्तु जहाँ गोपियों ने कृष्ण के प्रत्येक अंग का अवलोकन कर लिया वहाँ राधा एक अंग को निहार कर ही मग्न हो गयीं, अवलोकन करना तो दूर। जहाँ गोपियाँ कृष्ण के रूप में तन्मय हो गयीं वहाँ राधा तनिक-सा नैकट्य भी न प्राप्त कर सकीं। इसे गोपियों की महत्ता कहा जाय या लघुता, उनका भाग्य कहा जाय या दुर्भाग्य? वस्तुतः कृष्ण का रूपसिन्धु दुर्वगाह है। क्या उसे कोई लघु और सामान्य दृष्टि के डोंगे से पार कर सकता है? मानवीय दृष्टि उस अगाध रूप को देखने में सर्वथा अक्षम है, इस दृष्टि की अपनी सीमाएँ हैं। उस चरम सौन्दर्य का सम्यक् दर्शन हो सके—इसके लिए एक साधन अपरिहार्य है: भगवत्कृपा। उस कृपा के अभाव में परम-सौन्दर्य का साक्षात्कार असंभव है। कृपारूपी जहाज पर बैठ कर ही रूपसिन्धु में उतरा जा सकता है, और कोई उपाय नहीं है। उस विपुल सौन्दर्य को देखने के लिए कृपाप्रेरित दृष्टि चाहिए।[२]

रूपश्री की इति—भागवत सौन्दर्य रूपश्री की इति है। उस सौन्दर्य को देख कर सौन्दर्य भी अपनी गति भूल जाता है—'सौंदर्यता तहाँ गति भूली'।[३] यावत प्राणी उस सौन्दर्य को देख आत्मविस्मृत हो रहते हैं। राधा की अप्रतिम रूपश्री को देख कर यक्ष, किन्नर, नाग, देव—सभी की स्त्रियाँ रीझ कर पृथ्वी पर लीक खींचने लगती हैं। उस परमाद्भुत सौन्दर्य को देख कर वे परस्पर कहती हैं कि इस सौन्दर्य को चित्रित करो, इस सौन्दर्य को चित्रित करो! उनकी यही कामना है कि किसी भी प्रकार इस रूप को वे देख पायें।[४]

वह सौन्दर्य, जहाँ सौन्दर्य की अपनी गति भूल जाती है, त्रिलोक की सुन्दरता परास्त हो जाती है, वह 'सुन्दरता की सीमा' नहीं होगा तो क्या होगा? उसके आगे सौन्दर्य का चरण नहीं बढ़ पाता, वहीं उसे अपनी सीमा मिल जाती है। उस निरुपम सौन्दर्य को देख कर ब्रज की नव तरुणियाँ अर्धग्रीव हो जाती हैं, सिर झुका

---

१. अँखियाँ जानि अजान भईं।
एक अंग अवलोकत हरि कौ, और न कहूँ गईं।।
यों भूली ज्यों चोर भरैं घर, निधि नहिं जाइ लईं।
फेरत पलटत भोर भयौ, कछु लई न छाँड़ि दईं।।
पहिलैं रति करिके आरति करि, ताही रँग रँगईं।
सूर सु कत हठि दोष लगावति, पल पल पीर नईं। —सूरसागर, पद सं० २४०१

२. द्वै लोचन तुम्हरैं द्वै मेरैं।
तुम प्रति अंग बिलोकन कीन्हौं, मैं भई मगन एक अँग हेरैं।।
अपनौ अपनौ भाग्य सखी री, तुम तनमय मैं कहूँ न नेरैं।
जो बुनियै सोई पुनि लुनियै, और नहीं त्रिभुवन-भट मेरैं।।
स्यामरूप अवगाह सिंधु तैं, पार होत चढ़ि डोंगनि केरैं।
'सूरदास' तैसें ये लोचन, कृपा जहाज बिना क्यों पेरैं।। —सूरसागर, पद सं० २४०३

३. स्वामी हरिदास: केलिमाल पद सं० ५७।

४, भूलीं सब सखीं देखि देखि!
जच्छ किन्नर नाग लोक देव स्त्री रीझि रहीं भुवि लेखि लेखि।
कहत परस्पर नारि नारि सों, यह सौंदर्यता अब रेखि रेखि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा ये कैसेहूँ, चितवैयै परेखि परेखि।। वही, पद सं० ४२

लेती हैं। हित हरिवंश उस सौन्दर्य से विभोर होकर यहाँ तक कह देते हैं कि यदि कोई कोटि कल्प तक जीवित रहे, और कोटि रसना भी पावे तो भी उस रुचिर वदनारविंद की शोभा का वर्णन न कर पायेगा, वह शाश्वत सौन्दर्य वाणी से परे ही रहेगा। देवलोक, भूलोक, पाताल-लोक के कवियों से डरना क्या? राधा के अंग-अंग की सहज माधुरी की उपमा किससे दी जा सकती है? उस रूप के भ्रू-विलास पर रस-सागर श्याम भी पशु की भाँति विथकित हैं, विवश हैं।[1] वह निस्सीम छवि समाहित नहीं रह पाती, छलक-छलक पड़ती है, छवि के इस अतिरेक का रूपांकन कैसे हो सकता है?[2] वह अवतरित सौन्दर्य नंद-भवन में भरपूर समा नहीं पाता, उमड़ कर ब्रजवीथियों में बह चलता है।[3] भूतल में समाये भी कैसे त्रिभुवन की शोभा? त्रिभुवन की शोभा रूप धर कर वृषभानु के घर अवतरित है।[4]

वही त्रिभुवन का सौन्दर्य कृष्ण का विग्रह लेकर यशोदा की गोद में शायित है। सौन्दर्य के अवतार से सौन्दर्य की सीमायें नहीं बँध जातीं, केवल सौन्दर्य को आकार और वाणी मिल जाती है,—अरूप को अद्भुत मूर्त अभिव्यक्ति।

नवोन्मेषशालिता—यदि कोई उस असीम सौन्दर्य को 'परिमित' करके सँजोना भी चाहे तो नहीं सँजो सकता। एक निमेष के झपते ही उस सौन्दर्य में कुछ और ही विशेषता आ जाती है। इस नवोन्मेषशालिनी शोभा के कारण उस सुभग सुषमा पर कोटि कामदेव न्योछावर किये जा सकते हैं। उसकी अतिसीम छवि से गिरा की गति तो पंगु हो ही जाती है, मति की गति भी भंग हो जाती है। जिस सौन्दर्य में अनुक्षण और ही छवि झलकने लगती है उस सौन्दर्य के बारे में कुछ कहते ही नहीं बनता।[5]

---

१. देखौ माई सुन्दरता की सीवाँ।
ब्रज नवतरुनि कदम्ब नागरी, निरखि करत अवग्रीवाँ॥
जो कोऊ कोटि कलप लगि जीवै, रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर बदनारविंद की शोभा कहत न आवै॥
देव लोक, भू लोक, रसातल सुनि कवि कुल मत डरिये।
सहज माधुरी अंग अंग की, कहि कासौं पटतरिये॥
जैश्री हित हरिवंश प्रताप, रूप, गुण, वय बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रू-विलास बस, पशुरिव दिन विथकित रस सागर। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ५२

२. छबि की छलक मानो उछरि उछरि परै।
ऐसे, रूप आली कहो कैसे कहे जात हैं॥ —ध्रुवदास (भजन दुतिय शृंखला) बयालीसलीला, पृ० ९६

३. सोभा-सिन्धु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
—सूरसागर, पद सं० ६४७

४. प्रगट भई सोभा त्रिभुवन की, भानु गोप कै आइ।
अद्भुत रूप देखि ब्रजबनिता, रीझीं लेत बलाइ॥
नहिं कमला, नहिं सची, नहीं रति, उपमा हू न समाइ।
जा हित प्रगट भये ब्रजभूषण, धन्य पिता धनि माइ॥ —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ४

५. सखी री सुन्दरता कौ रंग।
छिन-छिन माहिं परति छबि औरै, कमल-नैन कैं अंग॥
परिमिति करि राख्यौ चाहति हैं, लागी डोलति संग।

वह सौन्दर्य केवल अपनी अगाधता के कारण ही सीमाहीन नहीं है, अपनी छवितरंगों के अगणित विस्तार के कारण भी निस्सीम है। परम-सौन्दर्य अपने स्थिर रूप में नागर मन को जितना परास्त करने वाला है, अपने गतिशील रूप में उतना ही उसे छकाने वाला भी है। कृष्ण का सौन्दर्य निस्तरंग सौन्दर्य नहीं है, क्रीड़ाशील सौन्दर्य है जो क्षण-क्षण नवीन शोभा धारण करता हुआ मन की पकड़ से परे बना रहता है। 'छिन छिन मांहिं परत छवि औरै' से गिरा की गति ही नहीं, मन की गति भी पंगु हो जाती है। वाणी ही नहीं, सौन्दर्यपायी मन भी परास्त हो जाता है। उसके रूप-परिवर्तन की असीम क्षमता के आगे मन की ग्राहिका शक्ति हार मान जाती है। सौ बार देखने पर भी वह अपरूप अपरिचित ही बना रहता है। उसे देख सकने की कला कौन सीख सकता है? वह लीलानट का सौन्दर्य है जिसकी क्षिप्र गति मन की क्षिप्रता से भी अधिक वेगवती है। गोपिका उस मूर्ति के नख-शिख को निहारना चाहती है, इतनी मन-भावन जो ठहरी! पतंग की डोरी की भाँति उसके पीछे लगी रहती है। लेकिन वह बेचारी क्या करे, हरि की रूपरेखा को वह भलीभाँति नहीं समझ पाती, क्योंकि न जाने कहाँ से कृष्ण के अंग-अंग में अपूर्व छवि आ समाती है।[१]

और तब ऐसा लगने लगता है कि श्याम से पहचान ही क्या? निमिष-निमिष न वह रूप रहता है, न वह छवि। मन, बुद्धि, चित्त से एकाग्र होकर, नित्य निरन्तर एकटक देखा जाय तब भी एक पल की शोभा इतनी असीम होती है कि उसे हृदय में धारण नहीं किया जा सकता। यदि एक पल की शोभा अपरम्पार है तो पल-पल की शोभाओं के बदलते संभार को कौन पकड़ सकता है? अस्तु, उस अपरिमित सौन्दर्य से हमारा परिचय ही कितना प्रगाढ़ हो सकता है? ऐसा लगता है जैसे उससे कोई जान-पहचान ही नहीं हो पायी।[२] तब यह आकुलता उत्पन्न हो जाती है कि आखिर उस असीम सौन्दर्य को किस तरह पहचाना जाय? वह जो सदैव मायामय (illusory) सा बना रहता है, इकट्ठा उस सौन्दर्य को तो कोई ग्रहण ही नहीं कर सकता, क्रम-क्रम करके एक-एक अंग को अच्छी तरह देख कर समेटने का प्रयास अवश्य किया जा सकता है। किन्तु यह प्रयास भी कितना खोखला है! बहुत गौर से देखने के बाद एक निमिष के पहले की छवि को यदि मन के दर्पण में कोई उतारना चाहे भी तो कैसे उतारे? वह चपल सौन्दर्य क्या हमारी पकड़ में आने वाला है? नहीं। वह एक पल तक भी वैसा नहीं बना रहता, पल-पल अपना भाव बदलता रहता है। कोई अन्य ही भाव, कोई और ही शोभा धारण करके फिर नये रूप में खड़ा हो जाता है। आखिर कैसे उसे लघु हृदय में

चलत निमेष विसेष जानियत, भूलि भई मति-भंग।।
स्याम सुभग कैं ऊपर वारौं, आली कोटि अनंग।
सूरदास कछु कहत न आवै, भई गिरा-गति पंग।। —सूरसागर, पद सं० १२५८

१. कहा करौं नीकैं करि हरि कौं, रूप रेख नहिं पावति।
संगहिं संग फिरति निसि बासर, नैन निमेष न लावति।।
बंधी दृष्टि ज्यौं गुड़ी डोर बस, पाछैं लागी धावति।
निकट भएँ मेरीयै छाया, मोकौं दुख उपजावति।।
नख सिख निरखि निहार्‌यौ चाहति, मन मूरति अति भावति।
जानति नहीं कहाँ तैं निज छबि, अंग अंग मैं आवति।। —सूरसागर, पद सं० २४७१

२. स्याम सौं काहे की पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप न, वह छवि, रति कीजै जिय जानि।।
इकटक रहति निरंतर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि।
एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकति न उर महँ आनि।। —वही, पद सं० २४७०

बन्दी किया जाय? हम उस सौन्दर्य की महिमा से अभिभूत हो जाते हैं जो क्षण-क्षण न केवल एक दूसरा रूप धारण कर लेता है, वरन् क्षण-क्षण अंग-अंग में अगणित छवियों का मायाजाल बुन लेता है। उसे फिर-फिर देखा जाय, हठ ठान कर देखा जाय, तो भी क्या? क्या वह ससीम की पकड़ में आ जायगा? बिल्कुल नहीं। इसीलिए तो बेचैनी होती है कि उस अद्भुत सौंदर्य-निधि श्याम को किस तरह पकड़ा जाय?[1] समझ में नहीं आता कि बात क्या है जो राधा का रूप कभी कुछ, अभी कुछ, और कभी कुछ और ही हो जाता है। अन्य नारियों के सौन्दर्य में तो यह चमत्कार नहीं पाया जाता। और का और हो जाने वाले रूप की अद्भुत गति के विषय में कहते-सुनते नहीं बनता।[2] यह विशेषता तो केवल सच्चिदानन्द के रूप में ही है। रूप-परिवर्तन की इस अद्भुत क्षमता के कारण ही वह सौन्दर्य नित्य-नूतन लगता है। वह कभी पुराना नहीं पड़ता, जब-जब वह मुख कमल देखा जाता है तब-तब नया-नया लगता है। इतना अधिक नूतन हो जाता है कि व्यक्ति को भ्रम होने लगता है कि जैसे कभी उसे देखा ही न हो! कोटि चंद्र उस सुषमा के पीछे-पीछे छिपे रहते हैं और नये-नये राग में पगे सामने आते जाते हैं।[3] उस अमित छवि का नित्य-नवीन वैचित्र्य रसिक-शिरोमणि को भी चित्रवत् बना देता है, उन्हें जड़ और स्तब्ध कर डालता है।[4]

मादन—इस सौन्दर्य को भक्त कवियों ने 'मदन-मोहनि हारु' कहा है। वह मदन को विथकित कर देता है। व्यक्ति को हतचेष्ट कर देता है। उस अप्रतिम सौन्दर्य के आगे सारी कल्पना थम जाती है, सारा बुद्धिकौशल परास्त हो जाता है। वस्तुतः वह सौंदर्य कल्पना से परे का है। वह सौन्दर्य का आदि-रूप है, अजस्र सौन्दर्यरूपों का आदि-स्रोत। उससे परे और कोई सौंदर्य है ही नहीं—'पाछि न सुनी ऐसी, कबहूँ आगे हूँ न ह्वै है'। इसलिये उसे देखकर कल्पना के सहारे आगे बढ़ने का मार्ग नहीं मिलता—वह तो कल्पना का विश्रान्तिस्थल है, सारी कल्पनाओं के सन्धान की उपलब्धि! जिसकी एक पल की छवि का अनुमान नहीं लग पाता, उसको लेकर कल्पना

---

१. स्यामहिं मैं कैसैं पहिचानौं।
क्रम क्रम करि इक अंग निहारति, पलक ओट ताकौं नहिं जानौं॥
पुनि लोचन ठहराइ निहारति, निमिष मेटि वह छवि अनुमानौं।
औरै भाव, और कछु सोभा, कहौ सखी, कैसैं उर आनौं॥
छिनु छिनु अंग अंग छवि अगिनित, पुनि देखौं, फिर कै हठ ठानौं।
'सूरदास' स्वामी की महिमा, कैसैं रसना एक बखानौं॥
—सूरसागर, पद सं० २४६९

२. यह कौन बात जु अबहिं और अबहिं और अबहिं औरै।
देवनारि नाग नारि औरौ नारि, तें न होंहि और की औरै।
पाछें न सुनी ऐसी अबहूँ आगेहूँ न ह्वै है, यह गति रूप की अद्भुत और की औरै।
—स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० ५४

३. प्यारीजू जब जब देखौं तैरौ मुख तब तब नयौ नयौ लागति।
ऐसौ भ्रम होत मैं कबहूँ देखी न री, दुति कौं दुति लेखब कागति॥
कोटि चंद ते कहाँ दुरायेरी नये नये रागति।
—केलिमाल, पद सं० ३४

४. कुंवरि छबीली अमित छबि, छिन छिक औरै और।
रहि गये चितवत चित्र से, परम रसिक शिरमौर॥
—ध्रुवदास बयालीस लीला, (भजन श्रृंगार सत लीला) पृ० ८९

क्या खड़ा कर सकती है ? यही तो वह रूप है जहाँ मनुष्य की चिरचंचल कल्पना स्थिर हो जाती है, उसमें समर्पित हो आत्मसमर्पण, आत्मस्थित हो जाती है। उस रूप का यही परम रहस्य है। वह ससीम का रूप नहीं है जो अपने अन्दर से असीम के रूप की भावव्यंजना करे, वह रूप ही स्वयं असीम है—अनंत भाव-व्यंजनाओं से समृद्ध ! यह अनंत भाव-व्यंजना ही मनुष्य की मानसिक वृत्तियों को हतचेष्ट करके शिथिल कर देती है, उसकी सारी चेष्टाओं को व्यर्थ कर डालती है, मोहित कर लेती है। वह रूपातीत रूप धर कर 'मोहन' बनता है। "यह रूप अन्य रूपों की भाँति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं। कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ जाकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं।"[१]

वह सुन्दरता का ऐसा सागर है जिसका पार बुद्धि तथा विवेक नहीं पा सकते। नागर मन 'निमग्न' होकर रह जाता है, बार-बार विचार करने पर भी उस शोभा का छोर पाना असंभव है। सारा सोच-विचार व्यर्थ हो जाता है, उसे समझने की सारी चेष्टाएँ असफल हो जाती हैं।[२] और मन 'मगन' हो भी क्यों न ! वह सौंदर्या-तिरेक अबोध होता हुआ भी कुछ टोना जानता है, मोहिनी शक्ति से भरा है।[३] अन्त में यह अन्तर करना मुश्किल हो जाता है कि कृष्ण का मुख है या मोहिनी ? उनकी वाणी का प्रभाव मंत्र-सा पड़ता है।[४] गति मति भूल जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं।

(२) भावक पर चरम सौंदर्य का प्रभाव

जिस प्रकार आराध्य के रूप-वर्णन में भक्त कवियों ने असीम-सौंदर्य की व्यंजना की है उसी प्रकार (गोपियों आदि के माध्यम से) भावक में होने वाली उस सौन्दर्य की विचित्र प्रतिक्रियाओं का अनूठा चित्रण भी उन्होंने किया है। वह सौन्दर्य आधार की दृष्टि से तो अनुपम है ही, भावक के सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से भी उसका निजी सूक्ष्म गहन मनोविज्ञान है। इस दूसरे पक्ष के विश्लेषण के बिना सौन्दर्य-बोध की पूर्णता हाथ नहीं लग पाती। उस रूप से जाग्रत असाधारण संवेदनाएँ राधा-कृष्ण के सौन्दर्यबोध को ऐसे धरातल पर प्रति-ष्ठित कर देती हैं जहाँ से उनकी अलौकिकता तथा अनूठेपन का भाव सहज ही लक्षित हो जाता है। रूपातीत रूप-सौष्ठव में अवतरित होने पर भी सामान्य रूप का अतिक्रमण किये रहता है, इसलिए उस असमोर्द्ध सौंदर्य के बोध एवं दर्शन से भावक पर जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे भी लोकातीत तथा अतिमानवीय भावों को जाग्रत करती हैं। कृष्णभक्त का सौन्दर्यबोध और सामान्य सौन्दर्यप्रेमी का सौन्दर्य-बोध अलग-अलग है। दोनों की भिन्न-भिन्न कोटियाँ हैं, चाहे बाह्य वर्णन में अपाततः कितना ही साम्य क्यों न आभासित हो।

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १९४।

२. देखो भाई सुन्दरता को सागर।
बुधि-बिबेक-बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर॥
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं बिचारि-विचारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रहीं प्रेम पचि हारि॥　—सूरसागर, पद सं० १२४६

३. अति सुंदर नँद महर-ढुटौना।
निरखि-निरखि ब्रजनारि कहति सब यह जानत कछु टौना॥　—वही, पद सं० १२१९

४. हरि मुख किधौं मोहिनी माई।
बोलत बचन मंत्र सौ लागत, गति मति जाति भुलाई॥　—वही, पद सं० २४३५

चकित, थकित—उस अपरूप, असाधारण सौंदर्य की सामान्य मानव-चेतना पर जो प्रथम प्रतिक्रिया होती है वह आश्चर्य की होती है। चूंकि वह सौंदर्य हमारी चिर-परिचित सौंदर्य की रूप-रेखाओं से कुछ अधिक विशिष्ट ही नहीं वरन् नितान्त विशिष्ट है, अत्यन्त अद्भुत है, इसलिए हमारे अन्दर आश्चर्य का भावोद्रेक करता है। जो वस्तु हमारी परिचित सीमाओं का जितना ही अतिक्रमण कर जाती है, किसी लोकोत्तर रहस्य को उद्घाटित करती है वह उतना ही आश्चर्य-विधान करती है। कृष्ण किंवा राधा का सौंदर्य इस लोक की ही नहीं, त्रिभुवन की सुषमा को परास्त करने वाला है, अतः उसे देख कर भावक आश्चर्यचकित ही नहीं, उससे भी आगे 'चकित', हो जाता है। चकित होने पर मनुष्य एकदम हतप्रभ हो जाता है। कृष्ण या राधा का रूप-संदर्शन इसी हत प्रभुता को उत्पन्न कर सकने में समर्थ है। उस रूप का अतिरेक या उसकी अद्भुत छटा मनुष्य को 'चकित' करके हतप्रभ कर डालती है। उस नागर 'छवि-राशि' को जानने वाले ही जान पाते हैं, सब नहीं, और जो जान पाता है वह 'चकित' होकर देह से विगत हो जाता है।[1] श्याम मुख को देखकर आँखें अपने को भी भूल जाती हैं। उस अदभुत शोभा का कोई भी अंग झलक जाय, वह मनुष्य को 'चकित' किये विना नहीं रहता। और कुछ नहीं, मात्र मृदुल हँसी की चमक ही मनुष्य को हर्षित करने के साथ-साथ 'चकित' भी कर देती है।[2] मनुष्य की क्या सत्ता, स्वयं मन्मथ अपना धनुष बाण छोड़कर उस सौन्दर्य की अभ्यर्थना करने लगता है। वह रूप कामदेव तक को, जिसके रूप की दुन्दुभि चारों दिशाओं में बजती रहती हैं, 'चकित' कर देता है।[3] आश्चर्य-विधान की यह निगूढ़ विशेषता ही अवतार के सौन्दर्य को, उसके मानवीय आकार को रहस्यलोक की आभा प्रदान करती है, अन्यथा उसका अतिमानवीय सौंदर्य श्रेष्ठतम मानव-सौंदर्य का पर्याय बन कर रह जाय। वह चकित कर देने वाला सौंदर्य किसी अज्ञात लोक से उतर कर आता है जिसे देखकर भावक को और कुछ नहीं सुहाता, वह बावला-सा डोलता फिरता है। उस मोहक रूप के प्रभाव से वह कभी बैठता है और कभी गिर-गिर पड़ता है। इन असाधारण संवेदनाओं का जनक चकित कर देने वाला वह अतिसीम सौन्दर्य है, कोई मानव-सौन्दर्य नहीं। इस मनोदशा को प्राप्त करने पर कुछ कहते ही नहीं बनता। इस अवस्था से उबारने के लिए श्याम-वैद्य के आने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। एकमात्र कृष्ण ही इस रोग के कारण हैं, और वही इसके निदान।[4]

फिर, यदि कोई 'चकित' होकर भी सम्हला रहता है तो वह 'थकित' हो जाता है। उसकी सारी इन्द्रियाँ शोभा-संभार से शिथिल हो जाती हैं, हतचेष्ट हो रहती हैं। रति-पति की शोभा का भी हरण करने वाले कृष्ण के रूप को देख कर ब्रज के लोग थककर रह जाते हैं।[5] सौंदर्य की यह परिसीमा नेत्र की रूप तृष्णा

---

१. चकित भई तिय निरखि सोभा देहगति बिसराइ।
'सूर' प्रभु छबिरासि नागर, जानि जाननिराइ।। —सूरसागर, पद सं० २४३८

२. अँखियाँ निरखि स्याम मुख भूलीं।
चकित भई मृदु हँसनि चमक पर, इन्दु कुमुद ज्यों फूलीं।। —वही, पद सं० ३०१९

३. लोचन हरत अम्बुज मान।
चकित मनमथ सरन चाहत, धनुष तजि निज बान।। —सूरसागर, पद सं० २८३८

४. मन मोहियो इन साँवरैं ही, चकित सी डोलति फिरौं।
और कछु न सुहाइ तन मन, बैठि उठि गिरि गिरि परौं।।
मदनबान सुमार लागे, जाइ परि न कछू कहीं।
और कछू उपाय नाहीं, स्याम बैद बुलावहीं।। —वही, पद सं० २४१२

५. करतैं धर्‌यौ गिरिवर धरनि।
देखि ब्रज-जन छबि रहे थकि, रूप रति-पति हरनि।। —वही, पद सं० १५७७

को अपने में आसक्त करके उसकी चंचलता का अपहरण कर लेती है। रूपाकर्षण में मोहन, मादन एवं उच्चाटन की क्षमताओं का होना आवश्यक है,। कृष्ण के रूप में 'विथकित' कर डालने की यह क्षमता उसके मादन-भाव का सूचक है किन्तु यह मादकता जो मनुष्य की वृत्तियों को शिथिल बना देती है अमः प्राकृतिक नहीं है। इस अलौकिक मादन-भाव की यह विशेषता है कि इसे प्राप्त कर इंद्रियाँ फिर कहीं नहीं भटकतीं। शुद्ध सत्व की रूपायित छवि में डूब कर तम, रज, सत्व सभी शिथिल हो जाते हैं। कृष्ण के तन की शोभा का अवलोकन करते हुए नेत्र इतने थक जाते हैं कि वे टलते ही नहीं, न इधर न उधर—कहीं नहीं, उसी से बिंध कर नितान्त शिथिल हो जाते हैं।[1] फिर इनकी वहीं गति हो जाती है जो भरे घर के चोर की; छवि देखने में ही भोर हो जाती है और इनसे कुछ लेते नहीं बनता। उस सौन्दर्य की राशि को कौन समेट सकता है? उसे देख-देख कर व्यक्ति की शिथिलता बढ़ती जाती है। यही उस असीम रूप की सार्थकता है,—ससीम की सारी चेष्टाओं को अपने में शिथिल करके व्यर्थ कर डालना।

मोहित—यहीं जा कर उस सौंदर्य का प्रभाव नहीं रुकता। यह तो उसका निषेधात्मक पक्ष है, वृत्तियों को निःशेष कर डालना। उसका दूसरा भी पक्ष है,—मोहन भाव का। उस सौन्दर्य में वशीकरण का जादू है, मोहिनी शक्ति है जो व्यक्ति को ठग लेती है। जिसने भी उस सौन्दर्य का दर्शन किया है वह अपने अधिकार में नहीं रहता, उसे ठगौरी-सी लग जाती है। गोपिका किसी सखी से कहती है कि 'मैं दूध दुहाने खरिक न जाऊँगी वह नंद का साँवला मेरा मन मोह लेता है उसके रूप को देख कर ऐसी ठगौरी-सी लग जाती है कि मैं एकदम बावली-सी हो रहती हूँ।'[2] वह आकर्षण ऐसा सहज है जैसे गीली दीवार पर कंकड़ी का चिपट जाना। फिर उस छवि से मन को उखाड़ते नहीं बनता।[3] कृष्ण के रूप की चाहे जितनी ही चर्चा की जाय, सब अपर्याप्त है क्योंकि कहने से उस रूप के बारे में कौन अनुमान लगा सकता है? जिसने उसे देखा है वही उसके विषय में जान सकता है। और, जिसने भी देखा है उसे, तभी से, उस रूप की 'ठगौरी' लग चुकी है।[4] उस मोहन मुख की ठगौरी भी कैसी है,—जैसे काले भुजंग ने डस लिया हो! उस श्याम भुजंग से व्यक्ति ऐसा डस लिया जाता है कि फिर उस रूप का जादू सर पर चढ़ कर बोलता है, उसके आगे न मंत्र चल पाता है, न यंत्र। रूपदंश से प्रीति का विष मर्म में पैठ जाता है, फिर तो निर्विष हो सकना असम्भव है।[5] साधारण सर्प का विष हो तो शायद उतर भी जाय किन्तु वह

---

१. 'सूरदास' प्रभु तनु अवलोकत, नैन थके इत उत न टरत॥ —सूरसागर, पद सं० २८३९

२. हौं न जैहौं री खिरक दुहावन कौ, मेरौ मन मोहेरी नंद कौ सांवरो।
देखत रूप ठगौरी सी, कछु बौरी-सी ह्वै रही—ये तन मन री आवै तापरौ॥
—सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० २१

३. ज्यों दिवाल गीली पर काँकर डारत ही जु गड़े रे।
सूर लटकि लागे अंग छबि पर, निठुर न जात उखेरे॥
—सूरसागर, पद सं० २८४१

४. सूरसागर, पद सं० १४३८।

५. डसी री स्याम भुअंगम कारे।
मोहन-मुख-मुसुक्यानि मनहुँ, विष जात मैर सौं मारे॥
फुरै न मंत्र, जंत्र, गद नाहीं, चले गुनी गुन डारे।
प्रेम प्रीति विष हिरदै लाग्यौ, डारत है तनु जारे॥
निर्विष होत नहीं कैसेहूँ, बहुत गुनी पचि हारे।
सूर स्याम गारुड़ी बिना को, जो सिर गाढ़ उतारे?॥
—सूरसागर, पद सं० १३६५

तो भुजंग का है, निरे विष से काले का। कोई भी युक्ति इस रूप के प्रभाव से मुक्त नहीं कर सकती, योग की भी नहीं। इसे उतारने के लिए गोपियों ने लोकलज्जा का लेप चढ़ाया, लोगों की सीख का मंत्र सुना। उतारने की शपथ ले लेकर ब्रज के गारुड़ी थक गए। परन्तु उस काले विषधर का रूप-विष न उतरा। उस दुरन्त विष को नादान उद्धव योग का भस्म लगाकर उतारना चाहते हैं, पर कहीं राख से विष उतरता है![1] अन्य किसी छोटे मोटे देवी देवता के रूप का वह प्रभाव नहीं पड़ेगा जो परब्रह्म श्रीकृष्ण के रूप का पड़ेगा। वे सौंदर्य के परम अधिष्ठान हैं। चरम आकर्षण कृष्ण के सौंदर्य का प्राण है, इसीलिए वह मोहन हैं,—अपने प्रभाव में अचूक। कृष्ण की मोहिनी शक्ति के प्रभाव का जितना चुटीला अंकन रसखान ने किया है, उतना कदाचित् कोई अन्य कवि नहीं कर सका। कथा के प्रसंग में रूप-प्रभाव का उल्लेख न करके उन्होंने मार्मिक और स्वतंत्र उक्तियों द्वारा उस अचूक मोहकता को व्यंजित किया है। एक गोपी बड़े ही भोलेपन से दूसरी से पूछती है : 'हे सखी! वह सलोना लाल किसका है जिसकी बड़ी-बड़ी अनियारी आँखें हैं और जो वक्र अवलोकन के विशाल बाणों से सब को तीक्ष्ण रूप से बेध देता है। उस अनियारे नयन-वाण की चोट तो सम्हाले नहीं सम्हलती चाहे कितना ही उपाय करो। उसका प्रहार अचूक है। अन्त में बिचारी गोपिका यह कह कर अपनी विवशता प्रकट करती है कि भाग्य में तो विधाता ने प्रीति का बन्धन लिख दिया, उस बंधन को खोल सके ऐसा हितकारी कौन है? ग्वालिन टेर कर, चुनौती देकर सुनाती है कि कल चाहे कोई कितना ही समझायेगा उसे, वह सम्हल न सकेगी, क्योंकि कृष्ण के मुख की मुस्कान में मोहिनी है जो सम्हाली न जा सकेगी, न जा सकेगी, न जा सकेगी।[2] उस रूप को देख भी ले और सम्हल भी सके ऐसी कौन चतुरा है? भौंह-कमान से विद्ध कर देता है वह नंद का निरीह 'छौना'।[3] उसकी दृष्टि हृदय को बेध देती है, अंगों की सम्हाल नहीं रहती, घायल होकर गोपियां गिर पड़ती हैं। उस पर भी मुस्कान की दुन्दुभि बजने लगे तो अबला-आत्माएँ कहाँ जायें?[4] चाहे कुंज की छाँहों में वह सौन्दर्य दिख जाय, चाहे यमुना के किनारे, प्रभाव एक ही होता है,—वही मोहिनी मंत्र-सा; वही मर्म का भिदना, हृदय का सालना, मन का अपहरण हो जाना

---

१. लाज को लेप चढ़ाइ कैं अंग पची सब सीख को मंत्र सुनाइकै।
गाड़रू ह्वै ब्रजलोग थक्यौ करि औषद वेसक सौंह दिवाइकै॥
ऊधौ सो को रसखानि कहै जिन चित्त धरौ तुम एते उपायकै।
कारे बिसारे कों चाहै उतार्‌यौ अरे विष बावरे राख लगाइ कै॥

—सुजान रसखान (रसखान और घनानन्द), पद सं० ९५

२. टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥

—रसखान और घनानन्द : सुजान रसखान, पद सं० ५६

३. रसखान निहारि सकै जु सम्हारि कै को तिय है वह रूप सुठौनो।
भौंह कमान सौं जोहन कों सब बेधत प्रानिन नंद को छौनो।

—वही, पद सं० १३

४. आजु सखी नंद नंदन री तकि ठाढ़ो है कुंजन की परछाहीं।
नैन विसाल की जोहन को सर बेधि गयो हियरा जिय माहीं॥
घाइल घूमि सुमार गिरी रसखानि सम्हारत अंगन नाहीं।
ता पर वा मुसकानि की डौंड़ी बजी ब्रज में अबला कित जाहीं॥

—वही, पद सं० ३७

और फिर एकदम विवश हो जाना।[१] यह रूप-ठगौरी किसी 'ठगमूल' खाने से कम नहीं है, इसके रसास्वाद से व्यक्ति अंतश्चेतना की गहराइयों में डूब जाता है। अपनी बहिर्चेतना में लाये जाने पर उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो चौंक कर स्वप्न से जगा हो।[२]

विदेह-भाव (आत्म विस्मरण)

इस प्रकार कृष्ण-रूप का मोहक प्रभाव किसी स्वप्न लोक में पहुँचा देता है, ऐसी स्वप्नावस्था में जहाँ देह का मान मिट जाता है। भावक विगत-मन तो हुआ ही रहता है, विगत-देह भी हो जाता है। रूप की साधना तब तक अपरिपक्व कही जायगी जब तक कि वह भावक को देह-चेतना से मुक्त न कर दे। एक गोपी दूसरी गोपी से बारम्बार समझाती है कि तू अपनी सुधबुध सम्हाल, यह कैसी ठगौरी लगा लाई। इस पर वह कहती है कि 'मैं तेरी-सी बुद्धि कहाँ से पाऊँ जो इस रूप की ठगौरी में भी अपने को सम्हाले रह सकूं। जब से मैंने कुँवर कन्हाई को देखा है तब से मेरा मन हर गया। अब तो उस रूप के जाल में मेरा उर उलझ गया है, सुलझता ही नहीं। हे सखी ! मैं क्या करूँ, तभी से मैं दीवानी हो गई हूँ। श्याम ने मेरी ऐसी गति कर दी, उन्होंने मेरी देह-दशा को भुलवा दिया।[३] कृष्ण के रूप में जो आकर्षण है वह दीवाना बना देता है, इस दीवानगी में अपने तन की सुधि किसे बनी रह सकती है ? दीवाना भी हो जाय व्यक्ति और अपने देह के प्रति सचेत भी बना रहे, ये दो विरोधी बातें किस तरह संभव है ? दीवानगी और आत्मसुधि एक साथ किस तरह निभ सकती है ? उस साँवरे रूप का मोहन ही ऐसा है कि ब्रज की गली में जब किसी गोपी ने उसे देखा तब उसकी देह गति इतनी शिथिल हो गयी कि वह चल भी नहीं पाई। कौन उसे लिवा लाया, जिसने उसके चरणों को गति दी, किसने बाँह पकड़ी,—अपने विषय में वह बिल्कुल अचेत है। वह कौन है यही वह भूली बैठी। श्यामसुन्दर को देख कर सुध-बुध नहीं रही,

---

१. री हौं स्याम मोहिनी घाली।
अबहिं गई जल भरन अकेली, हरि-चितवनि उर साली।।
कहा कहौं कछु कहत न आवे, लगी मरम की भाली।
सूरदास प्रभु मन हरि लीन्हौ, बिबस भई हौं आली।।

—सूरसागर, पद सं० २०२६

२. काहू तोहिं ठगौरी लाई।
बूझति सखी सुनति नहिं नैंकहुँ, तुहीं किधौं ठग मूरी खाई।।
चौंकी परी सपनैं जनु जागी, तब बानी कहि सखिनि सुनाई।
स्याम बरन इक मिल्यौ ढुटौना, तिहिं मौकौं मोहिनी लगाई।।

—सूरसागर, पद सं० २०२९

३. मन हरि लीन्हौ कुँवर कन्हाई।
तबहीं तैं मैं भई दीवानी, कहा करौं री माई।।
कुटिल-अलक-भीतर अरुझानौ, अब निरुवारि न जाई।
नैंन कटाच्छ चारु अवलोकनि, सो तन गए बसाई।।
निलज भई कुलकानि गँवाई, कहा ठगौरी लाई।
बारंबार कहति मैं तोकौं, तेरे हियें न आई।।
अपनी-सी बुधि मेरी जानति, मैं उतनी कहँ पाई।
'सूर' स्याम ऐसी गति कीन्ही, देह दसा बिसराई।।

—सूरसागर, पद सं० २५१७

वह विदेह हो गयी।[१] उस रूप का सम्मोहन व्यक्ति को विदेह बना देता है। देहभान से विगत हुए बिना परमतत्व की सम्पूर्ण उपलब्धि संभव नहीं है। जिस विदेह भाव की प्राप्ति के लिए ज्ञानी और कर्मयोगी न जाने कितनी साधनायें करते हैं, वह भक्त को सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसके लिये उसे अलग से कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, रूप के गुरुत्वाकर्षण के कारण देहाध्यास से उसे स्वतः मुक्ति मिल जाती है। ठगौरी डाल देना कृष्ण-सौन्दर्य का सहज स्वभाव ही है। इस ठगौरी से शीश कट जाता है और तन का भान मिट जाता है।[२] जिस तरह आक के फूटने पर रुई उड़ी-उड़ी फिरती है उसी तरह उस रूप का भावक विगत-देह होकर जहाँ तहाँ व्याकुल डोलता फिरता है। अपनी ही देह के लिए वह पराया-सा हो जाता है।[३] हरि का लुब्धक रूप तन की गति को पंगु कर देता है।[४] जब तक तन की वृत्तियाँ शिथिल नहीं हो जातीं, तब तक सौंदर्यपान अधूरा और छिछला ही बना रहता है। किसी अतीन्द्रिय लोक का द्वार खोल कर वह अलौकिक सौन्दर्य देह की सामान्य गतियों को रुद्ध कर देने में समर्थ होता है। उस रूप से भारी मूर्च्छा आ जाती है, मूर्च्छा में तो देह का भाव स्वतः जाता रहेगा।[५] रसिक-शिरोमणि परम-नागर कृष्ण के देह की सुधि भी राधा के मोहक रूप को देख कर जाती रहती है[६]। रूपोत्कर्ष का यही प्रभाव होता है। जब स्वयं नारायण कृष्ण उसके वशीभूत हो जाते हैं तो नर की क्या शक्ति?

कृष्ण का अंग-प्रत्यंग आत्म-विस्मरण का भाव उत्पन्न करने में सक्षम है। श्याम के अंग को देखते ही गोपियाँ अपने को भूलने लगती हैं। कोई कुंडल की आभा निरख पाती है तो इतने में ही बिक जाती हैं। कोई ललित कपोल को देख कर पानी की तरह शिथिल हो जाती हैं। कोई ललित नासिका देखती है और उसी में डूब जाती है, तो अधरों की शोभा देख कर किसी गोपी के मुख से वचन ही नहीं फूटता। कोई दशन चमक पर चकित हो जाती हैं, कोई चारु चिबुक की द्युति देखती हुई बिलला जाती है। तरुनियाँ बेहाल हो जाती हैं, उन्हें अपने देह-गेह की सुधि नहीं रहती।[७] वे सब कुछ भूल बैठती हैं।

---

१. ब्रज की खोरिहिं ठाढ़ौ साँवरो, तिन हौं मोही री मोही री।
जब तैं देखे स्याम सुंदर सखि, चलि नहिं सकति काम द्रोही री॥
को ल्याई, किन चरन चलाई, बहियाँ गहीं सुधौं को ही री।
'सूरदास' प्रभु देखि न सुध बुधि, भई बिदेह बूझति तोही री॥ —सूरसागर, पद सं० २५३६

२. सहज सुभाई ठगौरी डारी, सीस फिरत अरगानो।
'सूरदास' प्रभु-रस-बस गोपी, बिसरि गयो तनु मानौ॥ —वही, पद सं० २८४०

३. व्याकुल फिरति भवन बन जहँ तहँ, तूल आक उघराई।
देह नहीं अपनी सी लागति, यह है मनौ पराई॥
... ...
'सूर' स्याम लोचन बस कीन्हे, रूप ठगौरी लाई॥ —वही, पद सं० २८४७

४. नैना हरि अंग रूप लुब्धे री माई।
... ...
तनु की गति पंगु किये, सोचति ब्रजनारी। —वही, पद सं० २८५५

५. बिबस भई तन की सुधि नाहीं, बिरह फाँस गये डारि।
लगन गाँठि बैठी नहिं छूटति, मगन मूरछा भारि॥ —वही, पद सं० २९०९

६. बेंदी लाल नथ सोहै बन्यो मोती मन मोहै, बस भये पिय सुधि देह की बिसारी है।
गहे द्रुम डारी एक रहि गये ताकी टेक, ऐसे वेस जब ते किशोरी जू निहारी है॥
—ध्रुवदासः बैयालीस लीला (भजन श्रृंगार सत लीला), पृ० ७९

७. स्याम-अँग जुवती निरखि भुलानीं।

आत्मसमर्पण

उस मदन-मोहन रूप को देख कर आत्मविस्मृत होकर विदेह हो जाना ही रूपोपासक की अंतिम सिद्धि नहीं है। विदेह हो कर ज्ञानी की साधना समाप्त हो जाती है। भक्त इससे आगे भी बढ़ता है, वह उस सौन्दर्य के प्रति अपना सर्वात्म-समर्पण कर देता है। भक्त उस सुन्दर मुख पर बलि-बलि जाता है, लावण्य की निधि और शोभा की निधि के एक इंगित पर वह बिना मोल बिक जाता है। सौंदर्यप्रेमी कवि और सौन्दर्य-द्रष्टा भक्त-कवि में यही अन्तर है। "कवि और साधक वैष्णव यहीं आकर अलग हो जाते हैं। कवि इस रूपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर अपने कविस्वभाव के औचित्य की सीमा तक लाकर रुक जाता है। साधक आगे बढ़ता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल।"[१] साधक-कवि श्याम की मुख-छवि के एक एक रूप पर न्यौछावर हो जाता है। वह उसके बिथुरे हुए कुटिल कच पर बलिहारी जाता है, भृकुटी पर, ललाट पर बलि जाता है, चारु अवलोकन, कुंडल, ललित नासिका, अरुण अधर, दशन-चमक, ललित ठोढ़ी—सभी पर बलि-बलि जाता है। उस छवि को देख कर वह तन-मन को न्यौछावर कर देता है।[२] वह रूप आराधक का तन-मन, धन-प्राण सर्वस्व हर लेता है—'तन मन धन प्राण सरबस हर लेत है।'[३] श्याम के शोभा-सिन्धु का कोई संतरण नहीं कर सकता। उनके अंग-अंग को देखकर ब्रज-नारियाँ तन मन वार डालती हैं।[४] आँखें कृष्ण के हाथ बिक जाती हैं। उनकी मृदु मुस्कान इन्हें मोल ले लेती है, अब वे गोपियों के वश में कैसे रह सकती हैं—बिक जो गईं! बल्कि अब उनसे मिलने में उन्हें लाज आती है। यदि मिलती भी हैं तो सपने में मिलने की भांति—न आना मालूम पड़ता है, न जाना। वे ढल कर नंदनंदन से मिल जाती हैं, हरि की पंक्ति में मिल कर कुछ और ही भांति हो जाती हैं। केवल हरि का विश्वास रह जाता

शेष— कोउ निरखति कुंडल की आभा, इतनेहिं माँझ बिकानी।
ललित कपोल निरखि कोउ अटकी, सिथिल भई ज्यों पानी।
देह-गेह की सुधि नहिं काहूँ, हरषति कोउ पछितानी।।
कोउ निरखति रही ललित नासिका, यह काहू नहिं जानी।
कोउ निरखति अधरनि की सोभा, फुरति नहीं मुख बानी।।
कोउ चक्रित भई दसन-चमक पर, चकचौंधी अकुलानी।
कोउ निरखति दुति चिबुक चारु की, सूर तरुनि बिततानी।। —सूर सागर, पद सं० १२६२

१. मध्यकालीन धर्मसाधना : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १९०।

२. मैं बलि जाऊँ स्याम-मुख-छबि पर।
बलि-बलि जाउँ कुटिल कच बिथुरे, बलि भृकुटी लिलाट पर।।
बलि बलि जाऊँ चारु अवलोकनि, बलि बलि कुंडल-रबि की।
बलि बलि जाउँ नासिका सुललित बलिहारी वा छवि की।।
बलि बलि जाउँ अरुन अधरनि की, बिद्रुम-बिंब लजावन।
मैं बलि जाउँ दसन चमकनि की, बारौं तड़ितनि सावन।।
मैं बलि जाउँ ललित ठोड़ी पर, बलि मोतिनि की माल।
सूर निरखि तन-मन बलिहारौं, बलि बलि जसुमति-लाल।। —सूरसागर, पद सं० १२८२

३. वही, पद सं० २०५३।

४. तन मन नारि डारति वारि।
स्याम सोभासिन्धु जान्यौं, अंग अंग निहारि।। —वही, पद सं० २४३८

है उन्हें, किसी और का नहीं। अन्य सभी वस्तुओं में आँखें अपना विश्वास खो देती हैं।[१] यह जो रूप में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है—(यहाँ तक कि स्वयं अपने पर विश्वास खो देना तथा एकमात्र उसी सौन्दर्य के हाथ बिक जाना) यह कृष्ण-भक्ति-साधना की अपनी विशेषता है। यह सौन्दर्य की आराधना की अनिवार्य वृत्ति है। आँखें ढल कर नंदनंदन से ही जा मिलती हैं, अन्यत्र उनकी प्रतीति नष्ट हो जाती है।

लोक-परित्याग, (मर्यादा का अतिक्रमण), तद्गत-भाव

परिणामस्वरूप लोक और इसकी मान्यताएँ रूपाराधक के लिए नष्ट हो जाती हैं। जब और कहीं विश्वास ही नहीं रह जाता तो कोई संसार में कैसे टिक सकता है। भक्ति की रंजक साधना को देखते हुए साधारणतया उसके प्रवृत्यात्मक पक्ष पर ही हमारी दृष्टि निबद्ध रहती है, उसकी प्रपंचातीत वृत्ति, अनासक्ति-मूलक विरक्ति के भाव की ओर हम कम ही दृष्टिपात कर पाते हैं। जिस वैराग्य को साधने में ज्ञानी, बैरागी साधारण असाधारण युक्तियों, तरह-तरह की प्रतारणाओं, आत्मप्रबोधन के नाना उपायों और उपदेशों में अपनी सारी शक्ति चुका देते हैं, वह वैराग्य परमरूप के आराधक को साधना के मार्ग में सहज ही हस्तामलक हो जाता है। संसार से विरक्ति होने के लिए, उससे अपने मन को हटाने के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, कृष्ण का रूपाभिमुख मन संसार से स्वतः विमुख हो जाता है। वैराग्य की यह सहज सफल साधना सौंदर्य-साधक के लिए कितनी सुलभ है! जब से मीराँबाई की दृष्टि में वह रूप आ पड़ा, तब से उन्हें लोक-परलोक कुछ भी अच्छा नहीं लगता।[२] नंदनंदन के रूप के आगे लोक ही नहीं, परलोक भी तुच्छ हो जाता है। उस सलोने का महावर चिर-परिचित मार्ग से मन को मोड़ लेता है, गृहकार्य, कुल की लज्जा, समाज—सभी के बंधन को सुन्दर श्याम-शिरोमणि तोड़ डालते हैं।[३] वह जो गोकुल के गाँव में एक साँवला-सा लड़का है, वह आँख के रास्ते से हृदय के रास्ते में आ पड़ता है। आ कर वहाँ तन-मन-धन प्राण सर्वस्व हर लेता है। फिर क्या? एक क्षण के लिए चैन नहीं पड़ता, हाय-हाय करते समय कटता है। घर बन के समान हो जाता है, आँगन में रहा नहीं जाता, भवन अच्छा नहीं लगता। साँवला न जाने कैसा हाल कर देता है?[४] कोई करे भी क्या, उस मोहक सौन्दर्य के बिना मन नहीं रह पाता, चाहे उसे कितना ही

---

१. अँखियाँ हरि कैं हाथ बिकानीं।
मृदु मुसकानि मोल इनि लीन्हीं, यह सुनि सुनि पछितानीं॥
कैसें रहति रहीं मेरैं बस, अब कछु औरै भाँति।
अब वे लाज मरतिं मोहिं देखत, बैठीं मिलि हरि पाँति॥
सपने की सी मिलनि करति हैं, कब आवतिं कब जातिं।
सूर मिलीं ढरि नंदनँदन कौं, अनत नहीं पतियातिं॥ —सू० सा०, पद सं० ३०२०

२. जब से मोहिं नंदनंदन, दृष्टि पड़्यौ भाई।
तब से परलोक लोक, कछू न सोहाई।— —मीराँबाई की पदावली, पद सं० ९

३. सुंदर स्याम सिरोमनि मोहन जोहन में चित चोरत हैं।
बाँके बिलोकनि की अवलोकनि नोकनि के दृग जोरत हैं॥
रसखानि महावर रूप सलोने को मारग तें मन मोरत हैं।
गृहकाज समाज सबै कुल लाज लला ब्रजराज को तोरत हैं॥ —सुजान रसखान, पद सं० ४०

४. गोकुल के ग्वैंड़ें एक साँवरो सौ ढोटा माई, आँखिनि कैं पैंडें पैठि जी के पैंडै पर्‌यो है।
कल न परत छन, गृह भयौ बन-सम, तन-मन-धन-प्राण सरबस हर्‌यौ है॥
भवन न भावै माई, आँगन न रह्यौ जाइ, करैं हाय हाय, देखौ जैसे हाल कर्‌यौ है।
—सूरसागर, पद सं० २०५३

समझाया जाय उसे कोई बात नहीं जँचती। वह ऐसी मोहिनी डाल देता है कि फिर उसकी मूर्ति हृदय से टलती ही नहीं। उस त्रिभंगी, नवरंगी मूर्ति के बिना रहा नहीं जाता। लोक-लाज का क्या काम, ये सब बातें मन में आती ही नहीं।[१] जिस प्रकार लुब्धक के हाथ मछली चराई जाती है उसी प्रकार कृष्ण के रूप-सौन्दर्य में मन रम जाता है : ऐसा कि फिर वह किसी भी भाँति उसके आकर्षण से अपने को मुक्त नहीं कर पाता, शिथिल हो आत्मदान कर देता है। तब स्वजनों का संकोच नहीं रह पाता। माता-पिता, पति, बंधु सब का संकोच तज कर व्यक्ति उसी आनन्द-कंद के रूप में मग्न हो जाता है। रात दिन उस आनन्द के चन्द्रमुख को देखने की अमल पड़ जाती है।[२] मोहाभिभूत व्यक्ति का भाव सुपरिचित है। किन्तु यह मोह, जिसके कारण गोपी अपनी 'जाति' तज देती है, उस स्वामी के कारण है जो अमूल्य मणि है, काँच नहीं। यह मोह मणि के भ्रम से काँच के प्रति नहीं है। स्वयं मणि की रूप-ज्योति गोपी को चकित और मोहित कर लेती है, इसीलिए गोपाल के सिवाय उसका और कोई 'धनी' नहीं हो पाता, मन बचन कर्म को और कुछ भी नहीं भाता। अमृत की एक बूंद से पूर्ण परितृप्ति मिल जाती है, उसके आगे विष का सुमेरु कुछ काम नहीं आता, निरर्थक और सारहीन हो जाता है।[३] साँवरा जब मोह लेता है तब गोपी बिना मोल बिक जाती हैं। उस माधुरी मूर्ति में सारा ध्यान बँध जाता है, तब न घर में कोई आकर्षण रह जाता है, न बाहर। उस मूर्ति के मन में बस जाने पर लोकापवाद का प्रभाव नहीं पड़ता।[४] उसे देख लेने के बाद, मीराँबाई कहती हैं कि हरि ही जीवन और प्राण के आधार बन जाते हैं। त्रिलोक में केवल उन्हीं का सहारा रहता है। सारा संसार उन्होंने देख लिया, कृष्ण के बिना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता[५], उस परम-सुन्दर के सम्मुख सारा संसार फीका लगने लगे तो आश्चर्य क्या? मीरां करे भी क्या, कृष्ण को देखने की उनकी आदत जो पड़ गयी! वह छवि केवल लुब्ध ही नहीं कर रही है उन्हें, उनके चित्त में चढ़ गई है। केवल इतना ही नहीं, हृदय के बीचोबीच अड़ गई है। जब मन और मस्तिष्क दोनों ही उसमें डूब गये तब फिर व्यक्ति को अन्यत्र कहीं ले ही कैसे जाया जा सकता है। वही मूर्ति प्राण हो जाती है। वही जीवन का मूलाधार—औषधि, जड़ी के समान जीवन का अनिवार्य निदान। तब यह कहने का क्या अर्थ होता है कि मीरां 'बिगड़' गईं। संसार से अलग तो वे

---

१. मोहन बिन मन न रहै, कहा करौं माई (री)
कोटि भाँति करि रही नहीं, मानै समुझाई (री)
लोक-लाज कौन काज मन मैं नहिं आई (री)
हिरदै तैं टरत नाहिं, ऐसी मोहनि लाई (री)
सुन्दर वर त्रिभंगी नवरंगी सुखदाई (री)
सूरदास प्रभु बिनु रह्यौ, मोपै नहिं जाई (री)। —सूरसागर, पद सं० २०६२

२. वही, पद सं० २०७२।

३. मेरे जिय ऐसी आनि बनी।
बिनु गोपाल और नहिं जानौं, सुनि मोसौं सजनी॥
कहा काँच के संग्रह कीन्हैं, डारि अमोल मनी।
विष-सुमेरु कछु काज न आवै, अमृत एक कनी॥
मन-बच-क्रम मोहिं और न भावै, मेरे स्याम धनी।
सूरदास-स्वामी कैं कारण, तजी जाति अपनी॥ —वही, पद सं० २०७६

४. वही, पद सं० २०७५।

५. मीराँबाई की पदावली, पद सं० ४।

हो ही जायेंगी, बिक जो गईं। किसके हाथ ? उस 'माधुरी-मूरत' गिरिधर के हाथ।[1] लोग चाहे कहते भी रहें कि मीराँ बिगड़ गईं, संसार की चिरपरिचित मान्यताओं को अमान्य कर रही हैं, पर उनके कहने से क्या ? वह पुकार कर कहती हैं कि वह बड़भागी है जो ऐसे रूप पर रीझती है। उस मूर्ति पर तन मन समर्पित कर के उसे हृदय में रख ही लेना चाहिए। केवल स्वयं 'बिगड़' कर ही सन्तुष्ट नहीं हैं वे, औरों को भी इस मार्ग में बुलाती हैं। सखियों को उस रूप के रसपान के लिये आमंत्रित करती हैं और कहती हैं कि जिस-जिस विधि से हरि रीझे, उसी विधि को अपनाना चाहिए। उस सुन्दर सुहावने श्याम का मुख देखते हुए ही जीवित रहा जा सकता है, जीवन के अन्य आधार की आवश्यकता नहीं। इतना आकर्षण, इतनी संजीवनी है उसमें ![2] कोई अपने प्रियतम में अनुरक्त होकर उसके प्रति सच्चा रहे तो लज्जा की क्या बात ? इस बात की प्रकट घोषणा करने में क्या अपराध है ?[3] सूरदास की गोपी भी इसी अभिनव पातिव्रत को रखने में अपना गौरव समझती है। वह जोर देकर कहती है कि मैं तो यही करूँगी, और सब तज दूंगी, ऐसी मेरी आन है। इसके आगे कुल-मर्यादा कैसी ? लोक लज्जा तो काँच की किरिच है और स्याम कंचन की खान, अब अन्य लोग समझ कर कहें किसे लिया जाय, किसे तजा जाय ? सौंदर्य के उस मोहक इंगित—'मृदु मुस्कान'—के बिना उसे और कुछ नहीं सूझता। यह आदत तो उसने दृढ़ कर पकड़ ली है।[4] यदि उसे ठीक तरह से देखना ही है, उस सौंदर्य का सम्पूर्ण बोध उतारना है तो कुलमर्यादा ढह न जाय

---

१. आली रे मेरे नैणाँ बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिनि राखूं, जीवन मूर जड़ी।
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥ —मीराबाई की पदावली, पद सं० ११

२. असा पिया जाण न दीजै हो।
तन मन धन करि वारणै, हिरदे धरि लीज, हो।
आव सखी मिलि देखिये, नैणाँ रस पीजै, हो।
जिह जिह विधि रीझै हरी, सोई विधि कीजै हो।
सुंदर स्याम सुहावना, मुख देख्या जीजै, हो।
मीराँ के प्रभु रामजी, बड़ भागण रीझै, हो। —वही, पद सं० १३

३. मैं अपणो सैंया सँग साँची॥
अब काहे की लाज सजनी, परगट ह्वै नाची। —वही, पद सं० २२

४. दृढ़ करि धरी अब यह बानि।
कहा कीजै सो नफा, जिहिं होइ जिय की हानि॥
लोक-लज्जा काँच किरचैं, स्याम-कंचन-खानि।
कौन लीजै, कौन तजियै, सखि तुमहिं कहौ जानि॥
मोहिं तो नहिं और सूझत बिना मृदु मुसुक्यानि।
रंग कापै होत न्यारौ, हरद चूनौ सानि॥
इहै करिहौं और तजिहौं, परी ऐसी आनि।
सूर प्रभु पतिवर्त्त राखौं, मेटिकैं कुलकानि॥

—सूरसागर, पद सं० २०७७

हानि क्या है? यह तो बड़े भाग्य की बात होगी कि वह सर्वज्ञ 'सुन्दर' रूप में हमारे चित्त के प्रांगण में आये।[१] जिसकी दृष्टि में नंद-नंदन पड़ गया हो, उसकी दशा को क्या कहा-सुना जाय। वह तो पतंग की तरह हो जाता है—कृष्ण-रूप की डोर के इंगित पर नाचने वाली पतंग। जिस रूप को देखकर सारा ज्ञान-विज्ञान भू-लुंठित हो जाता है, निगम की वाणी 'भोली' बन जाती है, वह यदि कुल और लोक की सीमा का उल्लंघन करवा दे तो अति क्या है? वह रूप ही ऐसा है कि नवल किशोरी, जिसके नवोन्मेषशाली दृष्टिपथ पर संसार का सारा आकर्षण बिछा रहता है, साधु की तरह जंगल-जंगल डोलती फिरे।[२] फिर तो नेत्र भृंग हो जाते हैं जिन्हें केवल श्याम का रूप-रस ही लुब्ध कर पाता है, और कुछ नहीं। लोक लाज की घनी वेली को छोड़ कर कृष्ण के रूप-कमल के रस से वे लुब्ध रहते हैं। कृष्ण के सौंदर्य-पराग में लिपट जाते हैं, उस कली के लोभ में पड़ जाते हैं। उनकी हंसी के प्रकाश को देख कर बाहर आते हैं, फिर उसी में बन्द हो जाते हैं। वे श्यामांग पर ही जहाँ तहाँ उड़-उड़ कर बैठते हैं।[३] जो कमल-कोषों के रस में पग जायगा, मुक्ति रूपी पराग का रस चख लेगा। वह विरक्ति होकर क्या भव-सुख के फूलों को नहीं छोड़ देगा?[४] उस रूप के अंग-रंग को देख कर भक्त कृष्ण के सालोक्य की कामना में नंद गाँव का रास्ता पूछने लगता है।[५] फिर तो कृष्ण को देखे बिना नेत्र 'करमराते' हैं। छबीले गिरिधर को देखने के लिए बहुत चक्कर लगाते हैं। वदनचंद्र के तृषित वे नेत्र अनेक कष्ट सहते हैं पर चातक और चकोर की तरह सतत उसी श्याम घन-तन की ओर निहारते रहते हैं।[६] 'कान्ह' के बिना नेत्र तपने लगते हैं। ललित और नटवर वेष वाले श्यामवर्ण के किसी नवलकिशोर की मोहिनी जब लग जाती है तो यही लगता है कि किसी प्रकार उसका सामीप्य पा लिया जाय! जी करता है गोप वेष धारण कर उसी के साथ डोलता फिरे! बिना देखे चैन नहीं पड़ता। अशन, वसन, शयन, भवन—कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मन यशोमती के पुत्र के सुंदर तन को देख कर लुब्ध हो जाता है, उसी के दर्शन की अमल पड़ जाती है उसे। उन अनुपम रूप-राशि को देखने पर ही बात बन पाती है, अन्यथा नहीं।[७] जिस ब्रज के वन बाग तड़ाग को अपनी आँख से देखने के लिये रसखान तरसते रहे, जिन करील के कुंज पर 'कलधौत के धाम' लुटाने को तैयार थे, उस ब्रज के नायक (कुंजों में विहार और रमण करने वाली मूर्ति) के लिए भक्तकवि

---

१. भाग दसा आँगनहीं आए, सुंदर सर्व सुजानि।
नीकैं करि देखनहुँ न पाए, बहिं न जाइ कुल कानि॥　　—सूरसागर, पद सं० २५०१

२. जाकी दृष्टि परे नँदनंदन, फिरति सु मोहन डोरीडोरी।
लोकलाज, कुलकानि मेटि कै, बन बन डोलति नवल किसोरी॥　　—वही, पद सं० २५०९

३. वही, पद सं० २८९६।

४. लोचन भृंग कोस रस पागे। स्याम कमल-पद सौं अनुरागे॥
सकुच कानि बन बेली त्यागी। चले उड़ाइ सुरति-रति-लागी॥
मुकुति पराग-रसहिं इनि चाख्यौ। भव-सुख-फूल रसहिं इनि नाख्यौ॥　　—वही, पद सं० २८९६

५. अब मोहिं नंद गाँउ की राधे जू! गैल बताइ।
रूप रसिक अंग रंग देखि कै मो मन रह्यौ है लुभाइ॥　　—छीतस्वामी : पद संग्रह, पद संख्या १०१

६. लोचन करमरात हैं मेरे।
देखन को गिरिधरन छबीलो करत रहत बहु फेरे॥
स्याम घन तन, वदन चंद के तृषावंत ताप सहत घनेरे।
सादर ज्यों चातक चकोर 'कुम्भनदास' ए न रहत घेरे॥
—कुंभनदास पद संग्रह, पद सं० २१८

७. सूरसागर, पद सं० २५०५।

के मन में कितनी तृष्णा हो सकती है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। उस रूप के आगे स्वर्ग-अपवर्ग की सारी निधि तुच्छ और निस्सार लगती है। बेशुमार धन संपति में काया, या अंग में भस्म रमाकर योगी ही बन जाने में क्या रखा है ? तपस्या करके पंचानल साधना करने या जलशायी होने में भी क्या, अथवा सिन्धु के आर पार के राज्य को भी जीत लाने में क्या ? बारम्बार जप, तप, संयम, वायु-साधना और हजार तीर्थ करके क्या होगा ? इन सब के करने वाले को रसखान 'लबार' ही मानते हैं। जिसके चित्त ने नंद के कुमार को 'निहारना' नहीं चाहा, उसने किया क्या[1]? कुछ नहीं।

---

१. कहा रसखानि सुख संपति सुमार कहा
कहा तन जोगी ह्वै लगाए अंग छार को।
कहा साधे पंचानल कहा सोए बीच जल
कहा जीत लाए राजसिंधु आर पार को।
जप बार बार तप संजम बयार व्रत
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
कीन्हों नहीं प्यार नहीं सेयो दरबार चित
चाह्यो न निहारो जो पै नंद के कुमार को।

—सुजान रसखान, पद सं० १०४

पंचम परिच्छेद

सौन्दर्य-चित्रण

(क) मानव सौन्दर्य : नैसर्गिक एवं प्रसाधनजनित

कृष्णभक्ति काव्य में रूपांकन

अचिन्त्य रूपातीत का भी एक रूप है। यद्यपि वह शोभा की असीमता एवं रेखाओं की नमनशील विविधता के कारण हमारे सीमित रूप-ग्रहण में समाहित नहीं हो पाता, तथापि उसका एक सुनिश्चित आकार है, रूपरेखा है, आकृति है और है अतीन्द्रिय अंतःचेतना का गहरा रंग। निर्गुण होकर भी वह सगुण बन जाता है, निराकार होता हुआ भी वह भक्तवत्सलता के वशीभूत हो, लीलारस के लिए साकार बन जाता है। उसके साकार एवं सगुण रूपों में सबसे श्रेष्ठ रूप है उसका मानव-रूप। मनुजाकार होकर ही वह हमारी प्रियता का पात्र बनता है। नरवपु धारण कर के वह ससीम आकार में ही असीम सौंदर्य का अवतरण कर लेता है। वह असीम जब मानव बन कर कृष्ण में रूपान्वित होता है तब सौंदर्य के आदि-रूप की ही जगत में अभिव्यक्ति होती है। श्रीकृष्ण के सौंदर्य में रूप की वे मूल स्थितियां हैं जिनका उत्स किसी लोकोत्तर चेतना में है, आदि-सौंदर्य लोक में है। तभी तो पुरुषोत्तम परमानंद और वृन्दावन के यशोदानन्दन में कोई अन्तर नहीं आता। ससीम और असीम का व्यवधान सिमट जाता है, परब्रह्म के मानवीय रूपायन में दोनों एकाकार हो जाते हैं।

यह रूपायन मानव-रूप की जानी पहचानी रेखाओं और भंगिमाओं में होता है अन्यथा असीम हमारे रूप-संविदा की पकड़ में कैसे आ सकता है? अतिमानवीय सौन्दर्य के मानवीय रूपविधान के कारण निराकार पंथी साधक नाक-भौं सिकोड़ते रहे हैं, और मानवीयता को ही सब कुछ समझ लेने वाले बुद्धिजीवी उसे छद्म-अध्यात्म (Pseudo-spirituality) कह कर ही न प्रमाणित करके आश्वस्त हो गए। किन्तु जरा-सी गहराई में उतरने पर उसकी सत्यता का उद्घाटन हो जाता है। रूपातीत का रूप न तो उसको मानवीय अक्षमताओं में आबद्ध कर लेता है, और न उसका मानवीय-आकार उसकी असीमता का रुद्ध-द्वार बन जाता है। रूपायित होने पर भी वह असीम अपने लालित्य में सर्व-समर्थ बना रहता है और मानवीय बन जाने पर वह इन्द्रियातीत न भी रह जाय पर अतीन्द्रिय अवश्य बना रहता है। यहीं उस रूप का रहस्य विदित होता है। और इसी रहस्य में तन्मय होकर आराधक भक्तकवि उसके रूप को बारम्बार मानवीय आकारों में अंकित कर दुहराते हुए नहीं थके, प्रत्युत अखंड अजस्र आनंद का अनुभव करते रहे। तब भी उसकी सीमा वे नहीं पा सके। इसीलिए उस अद्भुत मानवताकृति की रूपमाधुरी से वे ऊब कर विरत न हो सके, निरन्तर उस अगाध छवि में डूबते ही चले गए। परमज्ञानी उद्धव भी निराकार के पक्ष में सब कुछ कह सुन कर हार गये, भक्त कवि की यही टेक रही—'बारक एक आनि दिखरावहु, दुहि पय पियत पतूखी।'

साकार का कृष्ण-रूप लालित्य से तरल है। कृष्ण के त्रिभंगी नटवर रूप का आकर्षण भक्त-कवियों ने सबसे अधिक अनुभव किया है। जिस मुद्रा में उनके अंग-प्रत्यंग का सौष्ठव उभर कर ललित-रस में डूबा हुआ प्रदर्शित होता है वह त्रिभंगी मुद्रा ही है। मुरलीवादन की तन्मयता से उनकी यह गति अत्यन्त भाव-मदिर हो उठती है। इसीलिए सौंदर्य और प्रेम के अवतार श्रीकृष्ण के ध्यान में त्रिभंगी मुद्रा विशेष रूप से उत्कीर्ण है। जिस प्रकार समभंग

मुद्रा बुद्ध के लिए रूढ़-सी हो गई उसी प्रकार त्रिभंग कृष्ण के लिए रूढ़ हो गई। किन्तु रूप वर्णन करते हुए कृष्णभक्त-कवियों ने उनके जो अगणित चित्र प्रस्तुत किए हैं उनमें मुद्रा विशेष पर बल न देकर रूप की अजस्र माधुरी को ही निरूपित किया है। मानव-सुलभ रूप की अमित छवि को लेकर कृष्ण अवतीर्ण हुए हैं, इसीलिए उसमें ध्यान की वह कष्ट-कल्पना नहीं प्रविष्ट हो पाती जो किसी अन्य देवता के रूप-स्मरण में स्वभावतः आ जाती है। प्रत्युत, उनके अंग-प्रत्यंग की अपार शोभा को सुन्दर एवं बहुत-कुछ परिचित (जिसे हम रूढ़ भी कह सकते हैं) उपमानों की सहायता से जो बोधगम्य चित्र बनाया गया है उसमें से यदि हम क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई छवियों के मायाजाल को भूल जायं और श्यामवर्ण की परात्पर चेतना को छोड़ दें तो कल्पना के मापदंड पर खरा उतरने वाला, सौंदर्य की परिपूर्णता लिए हुए किसी आदर्श मानव का रूप उतर आये तो आश्चर्य नहीं। कविगण श्याम के इस मानव-सुलभ रूप के वर्णन में इतने विभोर हो गये हैं कि वे उस परम लालित्य के निगूढ़ धरातल का जगह-जगह स्मरण कराते नहीं चलते, यह बात दूसरी है कि उस पूर्णतम रूप का चैतन्य कहीं-कहीं अनायास ही छलक उठता है।

अतः भक्तिविभोर रूपवर्णन में भी हमें सुष्ठु मानव-सौंदर्य का निरूपण मिल जाता है। उसमें चित्रविचित्र बिम्बों का आश्रय नहीं लिया गया है, परंपरा से प्राप्त उपमानों को ही कृष्ण और राधा के रूपांकन में सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। कदाचित् इसलिये कि भगवद्दर्शन के बाद भक्त-कवियों को कल्पना की रंजक क्रीड़ा में कोई आकर्षण नहीं रह गया। वे उस मूर्ति का सौंदर्य अवतरित कर रहे थे जो सौंदर्य का आदिरूप है, और इस आदिरूप के सर्जन में कल्पना की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी उसके निजी रूप-विधान के ग्रहण की। यह परिग्रहण किन्हीं निश्चित साम्यों द्वारा ही सम्भव हो पाता है। इसीलिए, इस बात की चिन्ता न कर के कि उपमानों में नवीनता का चमत्कार है या नहीं, कृष्ण-रूपासक्त कवि रूढ़ बिम्बों द्वारा ही चरम-सौंदर्य का निरूपण करके कृतकार्य थे। वे उस अनादि रूप से मोहित थे जो क्षण-क्षण अपनी सौंदर्यश्री का इंद्रजाल तो विस्तरित करता रहता है किन्तु अपनी रेखाओं एवं गठन में सनातन है। कृष्ण के रूप में सनातन पुरुष और राधा के रूप में सनातन प्रकृति—इन दोनों के सम्मिलित रूप में शिव-शक्ति का युग्म मुखर हो उठा है।

नैसर्गिक-सौन्दर्य : राधा का नैसर्गिक-रूप

राधा के बाल-रूप का वर्णन कृष्णभक्ति-काव्य में इतना कम हुआ है कि उससे केवल एक अनिन्द्य रूपमयी बालिका की छवि का ही बोध हो पाता है। वास्तव में राधा का रूप-चित्रण उनकी शृंगार लीलाओं के प्रसंग में, उनके कैशोर और यौवन की अवस्थाओं में ही हुआ है। इसीलिए वे भक्ति में एकमात्र शृंगार रस की अधिष्ठातृ देवी के रूप में स्मरण की जाने लगीं। देवी ललिता किंवा त्रिपुर-सुन्दरी की अर्चना राधा-वल्लभ-सम्प्रदाय की आराध्या राधा के रूप में अनुवर्तित हुई-सी देखी जा सकती है, किन्तु केवल सौंदर्य-रूप में। शक्ति और ज्ञान इसी उन्मादक रूप में जड़ीभूत हो गए हैं। सौंदर्य की आहलादिनी शक्ति में ज्ञान की स्वर्ण-दीप्ति कोमल हो कर कनक-कमल बन गई और वैराग्य उस स्वर्णाभा की मूर्तिकला में तिरोहित हो गया। जहां वे आराधिका के रूप में स्मरण की गई हैं वहां मानवी रंग की प्रगाढ़ता है, किन्तु जहां उन्हें अपने रूप में, आराध्या सच्चिदानन्द के रूप में स्मरण किया गया है वहां गौरवर्णी नित्यकिशोरी की दैवी आभा अकुंठ है। वे शक्ति होते हुए भी स्त्री हैं, देवी होते हुए भी मानवी हैं। इसलिए राधा-रूप के चित्रण में नैसिर्गिक सौंदर्य का स्वच्छंद विलास है, और यह विलास स्वर्ण-ज्योति से मंडित है।

यों तो परिस्थिति एवं गति भेद से राधा के असंख्य चित्र उतारे गये हैं, किन्तु नायिका-वर्णन की भांति उनके रूप के नखशिख से कृष्ण-भक्ति काव्य के पद भरे पड़े हैं। कुछ अंशों तक यह भी कहा जा सकता है कि राधा का नख शिख कृष्ण के नखशिख से अधिक पूर्ण है, अंगोपांग सहित चित्रित है। यों सर्वांग नखशिख के बंधे चित्र अपेक्षाकृत कम हैं, अंग-प्रत्यंग के रूपांकन में कवियों की वृत्ति अधिक रमी है। कुल मिलाकर जो छवि पाठक के मन एवं मस्तिष्क

में उतरती है वह अत्यन्त सुगठित एवं सुषमामण्डित है, नैसर्गिक किंतु विदग्ध है, सहज किंतु गूढ़ है, चारु किंतु गुरु है। अंगों का रूपायन कुछ विशिष्ट उपमानों द्वारा ही दिया गया है, किन्तु वे रूपश्री को अभिव्यंजित करने में पूर्णतया समर्थ हैं।

(१) मुखमण्डल

सौंदर्य का सार मुखमण्डल होता है। वही सौंदर्य का सूचना-पट किंवा अनुक्रमणिका-सा होता है। राधा के मुखमण्डल की श्री और शोभा के द्वारा उनके सौंदर्य का निकष तो कवियों ने प्रस्तुत किया ही है, उस रूप की दिव्यता का स्पष्ट आभास भी दे दिया है—'प्रवितताનन्दच्छवि श्रीमुखे।'[१] मुख के लावण्य और कांति, सुकुमारता तथा दीप्ति का एक साथ द्योतन कराने वाले उपमानों का प्रयोग अधिक किया गया है।

(क) चन्द्र—चन्द्र की उपमा कांति के अतिरिक्त राधा की प्रेमरूपता के कारण भी दी गई है। उनके उस मुखचन्द्र का स्मरण किया गया है जो प्रेम से उल्लसित रस-विलास का विकास-कन्द है : वह रसोल्लास जो गोविन्द के अतृप्त लोचन-चकोरों के लिए प्रेम-स्वरूप है। श्री राधा का मुखचन्द्र रसामृतरूपी चन्द्रिका की अद्भुत धाराओं का सिंचनकारी है।[२]

रस-रूपा राधा का मुखमण्डल सामान्य चन्द्र का रस निःसृत नहीं करता, उनके श्रीमुख की ज्योत्स्ना से शरत्कालीन अनन्त चन्द्रमाओं का संप्लावन होता है।[३] उस चन्द्रिका के सम्मुख चन्द्र भी असत् हो जाता है। वह मुख पद-पद पर स्फुरित होने वाली माधुरी की श्रेष्ठतम नवकिरणों की जलधि से आपूर है, मधुर-रस-समुद्र का उत्कर्ष है अतएव हरि के अतृप्त लोचन-चकोरों का पेय है।[४] रसाम्बुधि होने के कारण राधामुख की तुलना चन्द्रामृत से की गई है। हितहरिवंश जी तो यहां तक कहते हैं कि यदि अनेकानेक विचित्र राका-शशि उदित होकर अपनी प्रेमामृत-ज्योतिमयी बीचियों से अगणित कोटि ब्रह्माण्ड को परिपूरित कर दें, किन्तु वृन्दावन की निकुंज सीमा में श्री राधा उनके आभास मात्र को भावपूर्ण दृष्टि से देखें, तो क्या उनकी तुलना राधा के श्रीमुख से किसी भी प्रकार की जा सकेगी?[५] नहीं। मुख के इस रूपोत्कर्ष के द्वारा राधा का परात्पर सौन्दर्य ही व्यंजित है। उस निरतिशय शोभा से शरच्चन्द्र श्रीहत हो जाय तो अत्युक्ति क्या है?

---

१. हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक ९८।

२. प्रेमोल्लसद्रसविलासविकासकन्दं
गोविन्दलोचनवितृप्तचकोरपेयम्।
सिंचन्तमद्भुतरसामृतचन्द्रकौघैः
श्री राधिकावदनचन्द्रमहं स्मरामि॥ —राधासुधानिधि, श्लोक ४१

३. ....संप्लावयन्ती शर-
राकाचन्द्रमनन्तमेव वदनं ज्योत्स्नाभिरातन्वती। —वही, श्लोक ६१

४. सुधाकरसुधाकरं प्रतिपदस्फुरन्माधुरी।
धुरीणनवचन्द्रिकाजलधितुन्दिलं राधिके॥
अतृप्तहरि-लोचन-द्वयचकोर-पेयं कदा।
रसाम्बुधिसमुन्नतं वदन-चन्द्रमीक्षे तव॥ —वही, श्लोक १६१

५. राकानेकविचित्रचन्द्र उदितः प्रेमामृत-ज्योतिषां।
वीचीभिः परिपूरयेदगणितब्रह्माण्डकोटिं यदि॥
वृन्दारण्य-निकुंज-सीमनि तदाभासः परं लक्ष्यसे।
भावेनैव यदा तदैव तुलये राधे तव श्रीमुखम्॥ —वही, श्लोक १२५

उनके गौर मुख में चन्द्रमा का रूपक देखते हुए व्यास जी दशन-द्युति में किरण-कान्ति, गंडकोष के श्रमजल में ओसकण और अधरों में सुधा तथा हास-कला में शरद का सुहावनापन लक्षित करते हैं। राधा के चन्द्रवदन की ज्योत्स्ना में शीतलता के अतिरिक्त मोदकारिता तथा मादकता से पूर्ण ये गुण भी हैं।[१]

विशेष प्रसंगों में मुखछवि का सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है। जब कृष्ण गाय दुहते हुए राधा के मुख पर दूध की छींटें छहरा देते हैं तब उन ललित छींटों से मंडित आनन की शोभा पर तृण ही तोड़ते बनता है, ऐसा प्रतीत होता है मानो निष्कलंक चन्द्र क्षीरसागर के बीच से निकल रहा हो।[२] इस प्रकार मुख पर दूध की धार को देख कर ऐसा लगता है मानों चन्द्र अपना कलंक धो रहा है, और जहां तहां सुधा की बूंदें बिखरी हुई हैं।[३] दूध से सिक्त हो कर राधा के गौर मुख की लुनाई और भी निखर आई है। स्वामिनी के निष्कलंक चन्द्रमुख का चित्र सूरदास ने ऐसा ही खींचा है। विरह में इस चन्द्रमुख की श्री अपहृत हो जाती है। रास में कृष्ण के अन्तर्ध्यान हो जाने पर राधा का मुख ऐसा हो जाता है जैसे सुधा के बिना चन्द्र।[४]

कमल-स्वर्ण-कमल

अमृतोपम मुख की सुकुमारता का बोध कराने के लिए राधा के मुखमण्डल की उपमा कमल से दी गई है। कमल से न केवल सुकुमारता की ही व्यंजना होती है, वरन् पवित्रता की भी, साथ ही उस सुकुमार पवित्रता से प्राप्त होने वाले आनन्द की भी। उनका मुख-मण्डल रससिन्धु का विवर्द्धन करने वाले पूर्णेन्दु होने के साथ ही पवित्र प्रेम-राशि के सरोवर का विकसित-सरोज है। घुंघराली अलकों का भृंग-समूह उसके चारों ओर मंडरा रहा है।[५] उस सुकुमारता

---

१. गौर मुख चंद्रमाँ की भाँति।
सदा उदित वृंदावन प्रमुदित, कुमुदिनि-वल्लभ जाँति॥
नील निचोल गगन में सोभित, हार तारिका-पाँति।
झलकति अलक, दसनि-दुति दमकति, मनहुँ किरनि-कुल-काँति॥
गंडकोष पर स्रम-जल-ओस जु, अधरनि सुधा चुचाति।
मोहन की रसना सु चकोरी पीवति रस न अघाति॥
हास कलाकुल सरद सुहाई, तन-छवि चाँदिनि राति।
... ...
देखत पाप न रहति, व्यास तन दासिनि ताप बुझाति॥ —भक्तकवि व्यासजी, वाणी, पद सं० ३४९

२. मोहनि-कर तैं दोहनि लीन्हीं, गोपद बछरा जोरे।
हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन, छीर छींटि छल छोरे॥
आनन रही ललित पय छींटें, छाजति छवि तृन तोरे।
मनौ निकसे निकलंक कला-निधि, दुग्ध सिन्धु मधि बोरे॥ —सूरसागर, पद सं० १३५०

३. दूध-धार मुख पर छवि लागति, सो उपमा अति भारी।
मानौं चंद कलंकिहिँ धोवत, जहँ-तहँ बूंद सुधा री॥ —वही, पद सं० १३५१

४. निरखि वदन वृषभानु-कुँवरि कौ, मनौ सुधा-बिनु चंद।
राधा विरह देखि विरहानी, यह गति बिनु नँद नंद॥ —वही, पद सं० १७२७

५. सत्प्रेम राशि सरसो विकसत्सरोजं
स्वानन्दसीधुरससिंधुविवर्द्धनेन्दुम्।
तच्छ्रीमुखंकुटिलकुन्तलभृंगजुष्टं
श्रीराधिके तव कदा नु विलोकयिष्ये॥ —राधासुधानिधि, श्लोक २४।

की दीप्ति का भान कराने के लिए राधा के गौर मुख को विकसित स्वर्णकमल भी कहा गया है। विकसित स्वर्ण कमल विकास सौंदर्य का व्यंजक है।[१] कहीं-कहीं पर उनकी मुखछवि में स्वर्ण-कमल की शोभा चन्द्रकिरणों से गूंथ कर प्रस्तुत की गयी है। उस विहंसित मुखमण्डल का वर्णन करते हुए हितहरिवंश जी कहतेहैं कि यदि कोई स्वर्णकमल करोड़ों चन्द्रमाओं की किरणों से पूर्ण हो और जिससे नवीन-नवीन मकरन्द झरता ही रहता हो, वह कमल (सौंदर्य का तो मानो धाम ही है) जिसमें दो खंजन खेल रहे हों, श्रीप्रिया जी के मुख-कमल के मधुर हास के दास्य को प्राप्त नहीं करता।[२]

प्रस्तुत उपमानों द्वारा मुख-सौंदर्य के गुणों का बोध होता है। उसकी उत्फुल्लता, मादनता, शीतलता, पवित्रता, निर्मलता आदि गुणों का अनुभावन होता है।[३] कमल के द्वारा मुखमण्डल के सौष्ठव का बोध भी संभव है। किन्तु इन उपमानों द्वारा मुखाकृति का कोई विशेष बोध नहीं हो पाता। कमल हो या चंद्र—इनसे अधिक-से-अधिक वर्तुलाकार मुखमण्डल का ही रूप उभरता है। भारतीय सौंदर्यशास्त्र में पीपल के पत्ते के आकार के विविध रूपांकन द्वारा मुखाकृति का बोध कराया गया है। अन्त में सिमट कर गोल मुखाकृति ही सुन्दरता की दृष्टि से सर्वोत्तम ठहराई गई। कमल और चन्द्र के द्वारा मुख-सुषमा के प्रभाव एवं छवि का भावन ही किया गया है, आकार का सौंदर्य-दिग्दर्शन कम।

(२) केश

(**क**) **कुंचित, दीर्घ**—राधा के मुक्त केश का वर्णन अत्यल्प है, अधिकतर वेणी का सौंदर्य ही चित्रित करते हुए प्रकारान्तर से उनके केशों का सौंदर्य ध्वनित कर दिया गया है। केवल एकाध स्थल पर उनके केश का सौंदर्य वर्णित है। हितहरिवंश उन्हें 'स्निग्ध कुंचित नीलकेशि'[४] कह कर स्मरण करते हैं। इससे राधा के केशों का नील होना, कुंचित होना एवं स्निग्ध अथवा सचिक्कन होना घोषित है। लटपटे कुंचित बालों की शोभा का वर्णन करते हुए स्वामी हरिदास कहते हैं कि मुख रूपी कमल-दल पर मानों भौंरों के यूथ परस्पर लड़ रहे हैं।[५] भ्रमर-यूथ के परस्पर लड़ने से खुले घने केशों की घुंघराली लटों के संगुम्फन का अच्छा चित्र प्रस्तुत हुआ है। केशों का दीर्घ होना भी भारतीय दृष्टि से उसके सौंदर्य की अनिवार्य शर्त है। राधा के केशों का दीर्घ होना उनकी वेणी से अभिव्यंजित होता ही है,[६] स्नानोपरान्त खुले हुए केशों से तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। उनके बड़े बड़े बाल, जिसे श्याम अपने अंचल में लेकर पोंछते हैं, एड़ी का स्पर्श करते रहते हैं।[७]

(**ख**) **सर्प**—सर्प से केश के चिकनेपन एवं कालेपन का बोध कराया गया है, साथ ही उसकी टेढ़ी-मेढ़ी गति का भी।

---

१. मुखं सुरतरंगिणि त्वयि विकासि हेमाम्बुजं, —राधा सुधानिधि, श्लोक ९०

२. यदि कनक-सरोजं कोटि-चन्द्रांशु-पूर्णं
नव - नवमकरन्दस्यन्दिसौन्दर्य - धाम।
भवति लसितचंचत्खंजनद्वन्द्वमास्यं
तदपि मधुरहास्यं दत्तदास्यं न तस्याः॥ वही, श्लोक १६०।

३. वदनमण्डलं निर्मलम्॥ —वही, श्लोक १८४।

४. वही, श्लोक १००।

५. वार लटपटे मानों भँवर यूथ लरत, परस्पर कमल दलन पर खंजरीट सोभा न्यारे। केलिमाल, पद सं० ८६

६. बेनी सुमन नितंबनि डोलति, मंद गामिनी नारी। —सूरसागर, पद सं० १६७२।

७. बड़े-बड़े बार जु ऐंड़ीन परसत, स्याम पौंछे अपने अँचलमें लिये।
—सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ७०।

स्नान के समय राधा के केशों का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए सूरदास मदनमोहन कहते हैं कि सुगंधित केश भीगे वस्त्रों के बीच इस प्रकार सिलबिल कर रहे हैं मानों सर्प का कुल कनक-खंभ से लिपटा हुआ है।[१]

सर्प की उपमा अधिकतर वेणी से ही दी गई है, वेणी की लट से डर कर भुजंग पाताल भाग जाता है।[२] झूला झूलती हुई राधा के शीश से लटकता हुआ सिलबिलाता वेणी-नाल ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रिय-मुकुट के मोरनी होने के भ्रम से व्याली विकल और बेहाल हो।[३] यहाँ पर व्याल के साथ कमल-नाल की उपमा भी गूंथ दी गई है।

(ग) अंधकार—कहीं पर कवि की भावुकता राधा के केशों की घनता एवं श्यामलता के समवेत रूप को अत्यन्त अमूर्त रूप देकर प्रस्तुत करती है, कुचों के बीच कच को देख कर ऐसा लगता है मानों कंचन गिरि के बीच अंधकार हो।[४]

(घ) मेघ—मेघ के द्वारा केशों की श्यामलता तो निरूपित है ही, उसकी रसमयता भी अभिप्रेत है।[५] राधा के केश-निश्चय यशकारी रुचिर घन के समान हैं और कुन्तल अलि के सदृश।[६] यों सूरदास ने राधा के केश को स्पष्ट ही 'अति सुदेस मृदु चिकुरै हरत चित' कह कर उसकी मृदुता तथा रसमयता का गुणगान किया है।[७]

केश की अभिरामता और वर्ण का बोध उपर्युक्त उपमानों द्वारा हो जाता है। दीर्घ-केशों का चल-सौंदर्य चित्रित करना रसज्ञ कवि सूरदास नहीं भूले हैं। प्रथम दर्शन में 'दिन-थोरी' राधा की जो छवि कृष्ण को हतप्रभ कर देती है, उसमें लापरवाही से झकझोरे खाती हुई वेणी का रुलना भी है।[८]

(३) ललाट

राधा के ललाट के सौंदर्य का वर्णन कविगण नखशिख के प्रसंग में ही करते रहे हैं। कदाचित् इसलिए कि स्त्री-सौंदर्य में इसकी उतनी महत्ता नहीं है जितनी पुरुष-सौंदर्य में। जिन कवियों की वृत्ति राधा के नखशिख का बारम्बार वर्णन करते नहीं थकती, वे भी ललाट की शोभा पर केवल इतनी ही दृष्टि डालते हैं—'गोरे

---

१. मंजन करि केस सोंधे सज-बगे भीजि
बसन बिच सिलसिलानी मानौं अहि-कुल
कचराने छवि कनक खंभ लपटान की।

—सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ६९

२. बैनी लट पटतरहिं डरानौं, भुजगनि गह्यौ पतारु।।

—भक्त कवि व्यासजी, वाणी, पद सं० ३६६

३. सिलसिलाति अति पिया सीसतैं लटकति बेनी नाल।
जनु पिय मुकुट बरहि भ्रम बस तहँ व्याली विकल बिहाल।।

—गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ७८

४. कुचनि बिच कच परम सोभा, निरखि हँसत गुपाल।
सूर कंचन-गिरि बिचनि मनु, रह्यौ है अँधकाल।।

—सूरसागर, पद सं० १७०१

५. स्यामल रसमय चिकुरनि के डर, मेघन पर्‍यो बिडारु।

—भक्तकवि व्यासजी, वाणी, पद सं० ३६६

६. केस निचय घन रुचि जसकारी, कुंतल अलि वलि जानि। —वही, पद सं० ३६५

७. सूरसागर, पद सं० १६७३।

८. नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी —वही, पद सं० १२९०

ललाट सोहै सेंदुर को बिन्द'[१] अथवा 'गौर ललाट पाट पर सोभित'।[२] ललाट को अलग से गोरा कहकर उसके सुदीप्त, कांतिपूर्ण सौंदर्य पर दृष्टिपात किया गया है अथवा उसकी प्रशस्त विशालता को उसके सौंदर्य का व्यंजक मान कर नखशिख के अन्तर्गत विशाल भाल की चर्चा की गयी है।[३]

(४) भृकुटि

गोरे विशाल भाल का चित्रहीन सौंदर्य भृकुटि की काली रेखाओं से उभर आता है। और वह रेखा सीधी न हो कर कुटिल हो तो उससे वंकिम सौंदर्य की सृष्टि हो जाती है। राधा की भौंहें सीधी नहीं है, 'कुटिल' हैं।[४]

(ख) धनुष—(मैन-धनु) उनकी इस कुटिलता (साथ ही वक्रता में रति की भावप्रेषणीयता जो है) के कारण राधा के भ्रू को धनुष से उपमित किया गया है। रसिक शिरोमणि हितहरिवंशजी उसे मानस-मृग को बेधने वाला धनुष कहते हैं।[५] इन धनुषों से कस कर छूटने पर नयन-बाण इन्द्र के बाण का मुक़ाबला करने लगते हैं।[६]

अतः ये धनुष साधारण धनुष नहीं कहे जा सकते। इनकी कुटिलता में विशेष सौंदर्य है, कामदेव ने जो पकड़ रखा है इन्हें—'भृकुटि कुटिल ज्यों धनुष धृत मैन।[७] इतना ही नहीं, इनकी सहज वक्रता के साथ जब भ्रू-भंग जुड़ जाता है, तब तो कामदेव के एक नहीं सैकड़ों कोदंड खंडित हो हो कर गिर जाते हैं।[८] भ्रू की भंगिमाओं के सम्मुख कामदेव भी पराजित हो जाता है—'भृकुटि निर्जित मदन'।[९] राधा का भ्रू-विलास मकरकेतु को नचा डालता है,[१०] हाव-भाव युक्त भृकुटि-तरंग की माधुरी मार को मथ डालती है।[११] इस प्रकार, भृकुटि में न केवल रेखाओं की विशिष्ट वक्रता है वरन् भाव-वक्रता भी है। भाव-वक्रता उसके सौंदर्य को अतिशय मोहक बना देती है।

(ग) सर्प (चंचल)—भृकुटि यदि खिंचे रहने पर धनुष का सौंदर्य अपहृत कर लेती है तो अलसित होकर सर्प की मोहक गति का अनुसरण करने लगती है। कालेपन और चमक के कारण भृकुटि साधारण सर्प नहीं भुजंग की समता करती है।[१२] सर्प से तुलना करने का एक कारण भ्रूभंग का चापल्य भी हो सकता है। नव प्रेमानुभाव के प्रकाशन के कारण राधा की भ्रू-भंगिमा चंचल हो जाती है।[१३]

---

१. सूरसागर, —पद सं० १६९४
२. वही, —पद सं० १८२४।
३. भाल बिसाल, कपोल अधिक छबि। —वही, पद सं० १८१५
४. भ्रकुटी कुटिल सुदेश सोभित अति, मनहुँ मदन-धनु धारी। —वही, पद सं० १८१५
५. मानस मृग बल बेधत भृकुटि धनुष दृग चापि। —हितचौरासी, पद सं० ५७
६. प्यारी तेरी आंखिन बान सुमार
लागैं भौंहें ज्यौं धनुष।
एक ही बार यों छूटति हैं जैसे
बादर बरसत इन्द्र अनष। —स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० ३७
७. हितहरिवंश : स्फुट वाणी, —पद सं० १०
८. कोटि काम-कोदंडनि खंडन, भ्रूभंगन की बानि। —भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३६५
९. हितचौरासी, —पद सं० ६७।
१०. भ्रू विलासनि मकर केतनि नचावैं। —वही, पद सं० ८१
११. हाव-भाव भृकुटि भंग, माधुरी तरंग मथत कोटि मार री। —वही, पद सं० ७६
१२. भौंह तरंग भुजंगनि कारी। —भक्त कवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३६८
१३. वृन्दारण्यनिकुंजसीमनि नव प्रेमानुभावभ्रम-
द्भ्रूभंगीलवमोहितव्रजमणिर्भक्तैकचिन्तामणिः। —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक. ७०

धनुष और सर्प के एक ही आधार में समाहित हो जाने से भृकुटि का सौंदर्य एक साथ दर्पयुक्त और चपल हो उठता है। उनके सुदृढ़ सौंदर्य का लालित्य सर्पोपमा के अभाव में व्यंजित नहीं हो पाता।

(५) नेत्र

सारा अंग सौंदर्य-पूरित होने पर भी नेत्रों में सौंदर्य की जो विशेष प्रभा उद्‌भासित होती है उसकी ओर रूपासक्त भक्त-कवियों का ध्यान बार-बार गया है। सुषमा की भंडार राधिका के नेत्रों के भावपेशल रूप, आकार तथा गति-सौंदर्य का जितना रस कर और विपुल चित्रण किया गया है उतना अन्य अंगों का नहीं। ध्रुवदास जी अपनी आराध्या के सम्बन्ध में घोषित करते हैं कि यों तो अंग-अंग सुख-सारमय है, किन्तु मन का हरण करने वाले दो बांके नैन ही हैं।[1] इसका कारण यही नहीं है कि वे अति-विशाल हैं और सुरंग हैं, वरन् वे सहज रूप से रसीले भी हैं। प्रेम की लज्जा का आव है उनमें और उसी से ढल कर आनत हैं।[2] राधा की सुन्दर कजरारी आँखों में क्या नहीं है—क्षण में उत्तंगता अति सलज्जता, लोनापन, कान तक लम्बाई, चपलता। सभी कुछ एक स्थान पर एकत्र है—वे रूप लावण्य व रस के आकर हैं।[3]

(क) **विशालता**—राधा की रूपगत विशेषताओं में सर्वप्रमुख है नेत्रों की विशालता। कृष्ण जब राधिका के आँखों को मींचने के लिए हाथ आरोपित करते हैं तब वे आँखें उनके हाथों की सीमा में नहीं समा पातीं। विशालाक्षी राधा के नेत्र विशाल ही नहीं, 'अति विशाल' हैं[4] इसके पूर्व भी, जब कृष्ण ब्रजखोरी में खेलते हुए निकलते हैं तब वे विशाल नेत्रों वाली राधा को देख कर अचकचा जाते हैं।[5] 'बाँके और अनियारे' नेत्रों का सौंदर्य तब और भी प्रभावोत्पादक होता है जब उनमें विशालता भी हो।[6] राधा के नेत्र इतने विशाल हैं कि उनकी कोर कानों को छू लेती है। पर नेत्रों की यह अतिदीर्घता भावविहीन नहीं हैं, दीर्घ लोचनों से रंग और रसता रिसता है।[7] इनकी विशालता में चपलता और बांकपन भी है इसीलिए श्रवण तक के विशाल नेत्र घूंघट पट में समा नहीं पाते। उनमें रूपका इतना अतिरेक है कि जिधर वे देख देते हैं उधर छवि की वर्षा हो जाती है।[8]

(ख) **बांकेपन**—अतएव विशालता के गठबन्धन में राधा के नेत्रों का बांका और पैना होना भी वर्णित है। जिन नेत्रों को कृष्ण अपनी हथेली से बंद नहीं कर पाते, वे न केवल विशाल हैं, 'अनियारे' भी हैं। उनके छवि–आकर

---

१. हितध्रुव अंग अंग सबै सुखसार मई, मन के हरनहार बांके दोऊ नैन हैं।

—ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृष्ठ ८३

२. अति विशाल लोइन सुरंग, सहज रसीले आहि।
प्रेम लाज जलसौं भरे रहे अवनि तन चाहि॥

—वही पृ० २६०४

३. पल उत्तंग उज्वल अरुन, अति सलज्ज रस ऐन।
करनाइत लोने चपल, कजरारे कल नैन॥ —वही, पृ० १२१ (हित श्रृँगार लीला)

४. ठाढ़ी कुँअरि राधिका लोचन मीचत तहँ हरि आए।
अति विसाल चंचल अनियारे हरि-हाथनि न समाए॥ —सू० सा०, पद सं० १२९३

५. औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी। —वहीं, पद सं० १२९०

६. लोचन विशाल बांके अनियारे कजरारे।
प्रीतम के प्रान हरैं हेरनि सुभाव की ॥—ध्रुवदास—बयालीस लीला, पृ० ७८ (भजन श्रृंगार सत लीला)

७. कानन लौं नन कोर रंगहीं चुचात है। —वही, पृ० ९६ (भजन दुतिय श्रृंखला लीला)

८. श्रवनाइत बांके चपल, घूंघट पट न समात।
अवलोकत जेहि ओर कौ, छवि बरषा ह्वै जात॥ ६५॥ वही, पृ० १७७ (प्रेमावली लीला)

होने का एक महत्वपूर्ण कारण 'अनियारा' या पैना होना भी है ।[१] राधा के कजरारे विशाल बांके नेत्र बाँके और अनियारे होने के कारण अपनी चितवन से प्रियतम का प्राण हर लेते हैं।[२] इसी पैने शर से बिंध कर कृष्ण चकित, विथकित और बलहीन हो जाते हैं।[३]

(ग) **वर्ण : श्याम, श्वेत व अरुण**—यों तो राधा के नेत्र अंजन-रेखांकित रहते हैं किन्तु उसके अभाव में भी वे 'कजरारे' हैं। आँखों का काला होना भारतीय सौंदर्य की अनिवार्य मांग है, भूरी या नीली आँखों की प्रियता यहां नहीं पाई जाती। राधा के नेत्र स्वाभाविक रूप से ही काले हैं। राधा की पुतली काजल से भी काली है, जैसे दो भौंरे बराबरी से उड़ रहे हों। वे इतने अधिक काले हैं कि भौंरा की समता करते हैं।[४] इनकी श्यामलता का एक अंतरंग कारण भी भक्त-कवि की दृष्टि में स्पष्ट होने लगता है, वह यह कि श्याम के रूप को पीते-पीते इनमें सरस श्यामलता सिक्त हो गयी है।[५]

श्यामता के साथ-साथ सौंदर्य के अभिवर्द्धक दो रंग इनमें अन्य भी हैं—श्वेत और लाल। राधा की आँखों में यदि श्यामलता के कारण सरसता आती है तो श्वेताभ के कारण शुभ्रता। उनकी आँखों में शुभ्र कान्ति है, उसकी उज्ज्वलता के आगे मोती की आब भी फीकी पड़ जाती है।[६] इस सरस शुभ्रता में रक्तिमाभा होने के कारण नेत्र-सौंदर्य में मादकता आ जाती है। राधा के नेत्र कजरारे और सरस तो हैं ही, वे सुरंग भी हैं। उनकी शोभा लाल वर्ण के कारण और भी बढ़ जाती है। यह अरुणिमा कोमल और मादक है—लाल कमल की भाँति। राधा के नेत्रों में कंज की-सी अरुणाई है।[७]

इस प्रकार उज्ज्वल, श्याम एवं अरुण वर्णों के संगम से राधा की लाज भरी आँखें शोभा से आप्यायित रहती हैं।[८]

(घ) **कमल, मृग, मीन, खंजन**—केवल रंगों के द्वारा नेत्रों का सौंदर्य ग्रहीत नहीं हो पाता, उसका बोध अधूरा रहता है। भावमूलक आकृतियों के साम्य से उनके सौंदर्य का प्रभाव अत्यन्त क्षिप्र और मूर्त हो उठता है। राधा के नेत्रों का सौंदर्य अधिकतर श्रृंगार-रस के प्रसंग में ही अंकित किया गया है, उसमें चपलता और चंचलता सूचक उपमान ही अधिक देखे गए हैं। यों वे कमल-नयनी भी हैं—नेत्र-फलक कमल की भांति स्निग्ध और शीतल हैं, पावन और रससिक्त हैं। कमल उनके नेत्रों के आगे विनिन्दित हो जाता है।[९]

विशाल नेत्रों की सरसता और श्यामलता के कारण तो राधा को मृगनैनी कहा ही गया है, आकार-साम्य के अतिरिक्त दृष्टिसाम्य भी उनके नेत्रों को मृगवत् बना देता है। उनकी मृगवत् चितवन कृष्ण को मोहित कर लेती है।

---

१. अति सलज्ज अनुराग भरे, अनियारे छवि ऐंन।
अरुन विशद सित सोहने, काजर भीने नैंन ।।६४।। —वही पृ० १७७

२. लोचन विशाल बांके अनियारे कजरारे।
प्रीतम के प्रान हरैं हेरनि सुभाव की ।। —वही (भजन श्रृंगार सत लीला), पृ० ७८

३. अनियारे नैंन सर वेध्यो मन प्रीतम को, बिथकित चकित रहत बल हीनैं हैं। —वही, पृ० ८४

४. प्यारी तेरी पुतरी काजर हू ते कारी।
मानौ द्वै भँवर उडेरी बराबरि।। —स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० ७१

५. स्याम रूप के पिवत पिवत नित सरस श्यामता लागीरी। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३९

६. उजराई मोतिन की पानिप लजात है।—ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८३ (भजन श्रृंगार सत लीला)

७. चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की। —वही।

८. उज्वल स्याम सुरंग सुहावनी लाज भरी अंखियां अति सोहै।
—वही, पृ० १०४ (भजन तृतीय श्रृंखला लीला)

९. नैना तेरे जलज-जीत हैं......। —सूरसागर, पद सं० १३३६

मृगनैनी के दृग-पात से धेनु दुहते हुए कृष्ण के हाथों से कभी दोहनी गिर पड़ती है, कभी वे नोई भूल जाते हैं, कभी गाय छोड़ कर वृषभ दुहने बैठ जाते हैं। न जाने मोहन को क्या क्या हो जाता है।[१] वे नेत्र इतने शोभावान और मोहक हैं कि मृगछौनों का मद भी मिटने लगता है।[२] राधा के नेत्रों का सौंदर्य भोला है, वे मृगनैनी ही नहीं, 'बालक-मृग-लोचनि' हैं।[३] चकित और चारु नेत्रांचल के कारण भी कदाचित् उन्हें 'बालकमृगलोचनि' कहा गया है।[४] कभी कभी वे नेत्र बिडरे कुरंग से लगते हैं।

राधा के नेत्रों में चकित सौंदर्य तो है ही, मुग्ध सौंदर्य भी है। नेत्र विशाल हैं अवश्य, किन्तु वे चंचल भी कम नहीं हैं। मुग्धता और चंचलता के साथ-साथ आकार-सादृश्य में वे मीन की समानता करते हैं।[५] समानता क्या, मछली हार जाती है, पानी में डूब कर शरण लेती है।[६] वे विमल सरोवर में खेलती हुई मछलियां बन जाते हैं।[७] उनका गतिशील सौंदर्य अपनी चंचलता में मछलियों को परास्त कर देता है। विभिन्न प्रकार की मत्स्याकृति उनके नेत्रों की चंचल गति में देखी जा सकती है। और यदि उनकी चपलता चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है तब वे खंजन सदृश दीखते हैं। वे नेत्र इतने अधिक चंचल हो जाते हैं कि खंजन की तरह पकड़ में नहीं आते। चंचलता के कारण अंचल में समाते ही नहीं।[८] राधा के सुरंग, रसमाते खंजन-नैन अतिशय सुन्दर हैं और इतने अधिक चपल हैं कि वे पलकों के पिंजड़े में नहीं समाते।[९] उनके क्रीड़ायित चपल सौंदर्य के साम्य में खंजन से अधिक उपयुक्त उपमान और क्या हो सकता है? एक तो वे चपल हैं, दूसरे बंक और तिस पर हैं निःशंक; खंजन के अतिरिक्त ऐसा और कौन हो सकता है?[१०]

(ङ) **चकोर**—राधा के नेत्रों का सौंदर्य बिडरे, चकित, मुग्ध, चंचल-चपल, निःशंक रूप से क्रीड़ायित होने में ही अधिकतर आँका गया है। पर कहीं-कहीं उसमें आतुरता का सौंदर्य भी झलक उठता। उनके तृषित नेत्रों का सौंदर्य चकोरी की समानता करने लगता है। रास के समय नृत्य करती हुई राधा जब कृष्ण के वदनचन्द्र की ओर निहारती रहती हैं तब उनके नेत्रों की गति तृषित चकोरी के समान हो रहती है।[११]

---

१. मृग-नैनी हरि कौ मन मोहति, जब तू देखि दुहावै।
कबहुँक कर तैं गिरति दोहनी, कबहुँक बिसरति नोई।
कबहुँक वृषभ दुहत है मोहन, ना जानौं का होई॥ —सूरसागर, पद सं० १३३९

२. खंजन, मीन, मृगज मद मेंटत कहा कहौं नैनन की बातैं। —हित चौरासी, पद सं० ७३

३. काहेकों मान बढ़ावत है बालक मृग लोचनि। —वही पद सं० ७४

४. चकित चारु नेत्रांचलं......। —हितहरिवंश : राधा सुधानिधि, श्लोक १८४

५. वही, श्लोक १७२।

६. अंजन छवि खंजन-मद-गंजन, मीन पानि बुड़ि हारे। —भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३४६

७. गोलक बिमल सरोदक खेलत, मीन मनहुँ भ्रुवभंग। —वही, पद सं० ३४८

८. चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की, उजराई मोतिन की पानिप लजात है।
सरस सलज्ज नये रहत हैं प्रेम भरे, चंचल न अंचल में कैसेहूँ समात हैं।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (भजन श्रृंगार सत लीला), पृ० ८३

९. खंजन नैन सुरँग रसमाते।
अतिशय चारु बिमल, चंचल ये, पलपिंजरा न समाते॥ —सूरसागर, पद सं० ३२८५

१०. नैन बने खंजन से खेलत।
चपल पलक तारे अति कारे, बंक निसंक ठगौरी मेलत॥ —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३४१

११. थेई-थेई कहत चहत प्रीतम दिशि वदनचन्द्र मनों तृषित चकोरी। —हितचौरासी, पद सं० ७८

आकारगत सौंदर्य से भी बढ़ कर राधा के नेत्रों का भाव-सौंदर्य है, अथवा यों कहा जाय कि उनमें रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य मणि-कांचन-योग की भांति उपस्थित है। तनिक से कटाक्ष से ही चित्त का हरण कर लेने वाली चितवन निपट अजान, अबोध बनी रहती है।[१] लज्जा उसका विशेष गुण है। राधा के विशाल सुरंग सुनैन 'सुलज्ज' भी हैं।[२] उनमें अनुराग भरा हुआ है इसलिए सरस, सलज्ज और नमित से रहते हैं।[३] बड़ी आँखों के सजीले सौंदर्य को देख कर कवि को अमृत-सरोवर का स्मरण हो आना स्वाभाविक है।[४]

नेत्रों के सौंदर्य का इतने विस्तार से वर्णन करते हुए भी कविगण बरुनियों के सौंदर्य के विषय में चुप-से रहे हैं। कवियों की दृष्टि दृग्पात की ओर भी प्रायः नहीं जा सकी। केवल गोस्वामी हितहरिवंश ने एक बार उनकी मृदुता, मधु के समान मादकता का ज़िक्र किया है।[५] नेत्रों का सौंदर्य आकार और रंगत से जितना बढ़ता है उतना ही पलकों के सौंदर्य से, किन्तु आश्चर्य है कि नेत्रों के सौंदर्य-निरूपण में भक्त-कवि इसका सौंदर्य आँकना भूल गये।

(६) नासिका

(क) **कीर**—परम्परा से नासिका के लिए शुक रूढ़ हो गया है। राधा की नासिका की उपमा सब से अधिक कीर से दी गई है।

(अ) कमल, कीर, केहरि...... दुख पाइ।[६]
(आ) नासा परम अनुपम सोभित, लज्जित कीर विहंग।[७]

(ख) **तिल-पुष्प**—नासिका के लिए दूसरा उपमान तिल का फूल चुना गया है।

(अ) नासा परम अनूपम सोभित......।
मनु विधि अपनैं कर बनाइ किये, तिल प्रसून के अंग।।[८]
(आ) बेसरि बनी सुभग नासा पर, मुक्ता परम सुढार।
मनु तिल फूल,...............।।[९]

(ग) **चंपकली**—राधा की नासिका अमल और अदोष है, वह चंपकली-सी सुशोभित हो रही है—'चंपकली-सी नासिका राजत अमल अदोस।'[१०]

---

१. नेक कटाक्ष हरत चितवत ही, चितवन निपट अजान की।। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ६
२. सुलज्ज सुरंग सुनैन बिशालनि सोभित अंजन रेख अनियारी।।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (भजन श्रृंगार सत लीला), पृ० ८५
३. सरस सलज्ज नये रहत हैं प्रेम भरे......। —वही, पृ० ८३
४. बड़री अँखियाँ अमिय सरोवर,
राजत अवनी ओर।
मानहुँ ज्यों-ज्यों पवन लगत, त्यों-त्यों—
उठत तरंग, ऐसी ढरनि ढोर।। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ६०
५. डरत न हरत परायौ सर्वसु मृदु मधु मिव मादिक दृग पातें। —हित चौरासी, पद सं० ७३
६. सूरसागर, पद सं० ३०५३
७. वही, पद सं० ३२३०
८. वही, पद सं० ३२३०
९. वही, पद सं० ३२२८
१०. वही, पद सं० ३२३१

(७) अधर

राधा के अधरों को अमृतोपम कहा गया है। उनका वर्ण लाल है। यह लालिमा कभी कोमल और मसृण पल्लव की भाँति तरल रहती है, कभी मणि-छटा सी उद्भासित होती है। उनके वदन-कमल में अधर रस-भरे और सुरंग हैं।[१]

(क) **अरुण** : राधा के लाल-लाल ओठों से सौंदर्य-राशि निकल कर चारों ओर फैल रही है।[२] उनके शोणाधर ने सौन्दर्य की नव सुधा-माधुरी के सार-सिन्धु को धारण कर रखा है।[३] रूपनिधान राधिका के दीर्घ नेत्रों के साथ छविमान अरुण अधर भी उजागर हैं। उनके अरुणता की समता बिंब फल भी नहीं कर पाता।[४]

(ख) **बिंबफल** : अधर-अरुणिमा की समता में यद्यपि बिंबफल लज्जित हो जाता है, तथापि यदि कोई उसकी समता कभी पा लेता है तो वही। नंदकुमार की प्रिया के अधर 'बिम्बाधर' हैं।[५] बिम्ब लज्जित होकर उन पर बेसर के मुक्तारूपी फूलों की सहर्ष वर्षा करने लगते हैं। उदाहरणार्थ—

मुक्ता आयु विकाई के, उर मैं छिद्र कराइ।

. . . .

अधरनि की छबि कह कहौं, सदा स्याम अनुकूल।
बिंब पँवारे लाजहीं, हरषत बरखत फूल॥[६]

(ग) **पल्लव, मणिच्छटा** : अधरों की अरुणिमा कभी-कभी मनोज्ञ पल्लव सी होती है, कभी मणिच्छटा-सी दीपित हो उठती है।[७] पल्लव से उसकी कोमलता और रसमयता का आभास मिलता है तथा मणिच्छटा से उसकी कांतिमान स्फूर्ति का। मणि में विद्रुम को अधिक स्मरण किया गया है।

(८) दन्त

राधा की दन्तपंक्ति की प्रमुख विशेषता है उसका अत्यन्त उज्ज्वल और सुगढ़ होना। उज्ज्वलता के लिए घनसार से लेकर दामिनी और वज्रकणी तक की उपमायें खोजी गई हैं, और सुगढ़ता के लिए अधिकतर दाड़िम।

(क) **कुंदकली** : कुंद-कली की शुभ्रता राधा के दशन में समाहित है।[८] उन्हें अपना सत्-सार देकर कुंद मंद पड़ गए हैं।[९]

(ख) **मुक्ता** : उज्ज्वलता और कांति दोनों का संगम मोती में मिलता है, इसीलिए वे राधा के दशन-सौंदर्य की तुला में तोले गए हैं।

---

१. बदन कमल सुठि सोहनो, रस भरे अधर सुरंग॥३२॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (रति मंजरी लीला), पृ० १९३

२. शोणाधर प्रसमरच्छवि-मंजरीकाम्। —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक २८

३. यस्याः शोणाधर श्रीविधृत नव-सुधा-माधुरी-सार-सिन्धुः। —राधासुधानिधि, श्लोक १२४

४. दीरघ नैन नासिका बेसरि, अरुन अधर छबिवान।
खंजन, सुक न बिंब समता कों, लज्जित भए अजान॥ —सूरसागर, पद सं० ३०६४

५. सूरसागर, पद सं० ३२२८।

६. वही, पद सं० ३२३१।

७. (अ) मनोज्ञ नव पल्लवाधर-मणिच्छटा, सुन्दरम्। —राधासुधानिधि, श्लोक १८४
(आ) अधर अरुन पल्लव मनु सोभित, बिहँसनि कुसुमनि बाम।—भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद ३७९

८. यो भावयेद्दशन कुन्दवतीं स धन्यः। —राधासुधानिधि, श्लोक २८

९. . . . कुंदमंद भये, दसननि द सतुसारु। —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६६

१०

यथा—मुक्ता-पंक्ति प्रतिमदशना चारुबिम्बाधरोष्ठी।[१]

(ग) **दामिनी** : दामिनी की कौंध भी असाधारण रूप से उज्ज्वल होती है। राधा की दन्तपंक्ति में दामिनी की कल्पना कई कवियों ने की है।

(अ) दामिनी दसन छली।[२] (सूर)

(आ)...दामिनिघन, दुति रदन दुराई।[३] (सूर)

(इ) हित ध्रुव मुसकनि हेरत बिकाइ रहे, दामिनी की दुति अरु हीरन की हरी है[४] (ध्रुवदास)

(ई) दसननि देख दुरी दामिनि[५]... (व्यासजी)

(घ) **बज्रकनी** : विद्युत् से भी अधिक शुभ्र वज्र की कणी होती है। अतः एक कदम आगे बढ़ कर, दामिनी को पीछे छोड़ कर, राधा के दांतों की वज्रकण से समता की गई है। यथा,

(अ) दाड़िम, बज्रपंक्ति, पंकजदल, दामिनिघन दुति रदन दुराई।[६]

(आ) बिद्रुम, हेम, बज्र के कनुका, नाहिँन हमहिँ सुनावति।[७]

(ङ) **हीरा** : प्रकाशवान हीरा की विभा का राधा की दशनावलि की तुलना में स्मरण किया गया है—

(अ) कंचन तन, हीरा दसनावलि.... ॥[८] (व्यासजी)

(आ) दामिनी की दुति अरु हीरन की हरी है।[९] (ध्रुवदास)

(च) **घनसार** : कभी कवि की दृष्टि राधा के दन्त की चकाचौंधमयी द्युति से हटकर उसकी विमल आभा पर भी जा पड़ी है। शीतल शुभ्रता में राधा के दशन घनसार से लगते हैं। अरुण अधरों में बिखरती राधा की हँसी ऐसी प्रतीत होती है मानो मृदु पल्लव पर घनसार बिखर गया हो।[१०]

(छ) **दाडिम** : आकृतिमूलक साम्य में दाड़िम का उपयोग सर्वाधिक किया गया है। वे दाड़िम जैसे चुने हुए से, तरतीबवार सजे हुए हैं—

(अ) दाडिम बज्रपंक्ति......दुति रदन दुराई।[११] (सूर)

(आ) लसत दाडिम दसन......[१२]। (सूर)

(ज) **मणि** : कहीं-कहीं पर मणि से भी दन्त-रचना और उसकी विभा का द्योतन कराया गया है। यथा,

---

१. राधासुधानिधि : श्लोक ९९।
२. सूरसागर, पद सं० ३२३७।
३. वही, पद सं० ३०५४।
४. बयालीस-लीला, पृष्ठ ८१ (भजन सत लीला)।
५. भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६५।
६. सूरसागर, पद सं० ३०५४।
७. वही, पद सं० २१६७।
८. भक्त कवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ५७३।
९. ध्रुवदास : बयालीस लीला, (भजन सत लीला) पृष्ठ ८१।
१०. हसन लसन अधरन अरुनाई अति छबि बढ़ी अपार री॥
मनहुं रसाल मृदुल पल्लव पर बगरायो घनसार री॥ —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३९
११. सूरसागर, पद सं० ३०५४।
१२. वही, पद सं० ३०६८।

अधर-सिंधु-सर राधा-मोहन, विहँसत दसननि मनि उजियारी।[1]

इस प्रकार, कुंदकली, मुक्तापंक्ति, दामिनी, वज्रकण, हीरा, घनसार, दाडिम[2] तथा मणि राधा की दंत-रचना तथा उसकी द्युति को पूर्णतया अभिव्यक्त कर देते हैं।

(९) कपोल

कपोल की उपमा के लिए कोई उपमान नहीं जुटाए गए हैं। उसकी सौंदर्यगत विशेषताओं का कुछ कवियों ने उल्लेख किया है। केवल एकाध बार उसकी उपमा कनक-सम्पुट से दी गयी है। ताम्बूल भरे हुए राधा के कपोल ऐसे विदित होते हैं, जैसे सिन्दूर से भरे कंचन-संपुट[2]।

राधा के कपोल सुन्दर और सुघर हैं।[3] वे अत्यन्त चिकने हैं। कपोलों की चिकनाई की झलक से आँखें उसमें रपट कर गिर पड़ती हैं।[4] नायिका के रूप-वर्णन के प्रसंग में नंददास रूपमंजरी के कपोल की मृदु छवि का वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाने लगते हैं।[5]

सारांश यह है कि राधा के कपोल सुन्दर, सुघर, चिकने और मृदु हैं।

(१०) चिबुक

चिबुक के मध्य में गड्ढ का होना राधा के सौंदर्य में विशेष आकर्षण उत्पन्न कर देता है। इस कूपको ध्रुवदास ने रूप-कूप कहा है। चिबुक पर पड़े हुए सहज बिन्दु को देख कर कृष्ण का मन रूप के कूप में गिर पड़ता है।[6] राधा का रूप वर्णन तो नन्ददास ने नहीं किया है, हां रूपमंजरी के चिबुक-कूप की महिमाका गान करते हुए वे कहते हैं कि जो उस कूप की छवि में उझके, वह फिर जगत-कूप में नहीं गिर सकता।[7] राधा की ठोढ़ी सुन्दरता का-सार है अत्यन्त सुष्ठु और सुठान है, उसके बिन्दु के सौंदर्यातिरेक को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानों सुधारस टपकते-टपकते बिन्दु के बीच ही रह गया हो[8]।

(११) ग्रीवा

(क) **कपोत** : राधा की ग्रीवा कपोत-ग्रीवा है। एक से अधिक स्थलों पर उनकी ग्रीवा की तुलना कपोत की ग्रीवा से की गई है।

---

१ भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३७०

२ सुंदर सुघर कपोल हो, रहे तमोर भरि पूर।
कंचन-संपुट-द्वैपला, मानहुँ भरे सिंदूर॥ —सूरसागर, पद सं० ३२३१

३ वही।

४ झलक कपोलन की चिकनाई, अंखियाँ रपटि गिरत तहाँ माई॥४०॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (नेह मंजरी लीला), पृ० १९८

५ मृदु कपोल छबि बरनि न जाहीं, झलके अलक खुभी जिन माहीं।
—नन्ददास : प्रथम भाग, (रूपमंजरी) पृ० ६

६ फब्यो चिवुक पर सहज ही, बिंदुका अतिहि अनूप।
पिय सावल को मन मनो, पर्‌यो रूप के कूप॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (हित शृंगार लीला), पृ० १२१

७ चिबुक-कूप छबि उझकै जोई, जगत-कूप पुनि परै न सोई। —नंददास : प्रथम भाग, (रूपमंजरी) पृ० ७

८. सुठि सुठान ठोढ़ी अति सुंदर, सुंदरता कौ सार।
चुवतहि चुवत सुधारस मानौ, रहि गई बूंद मँझार॥ —सूरसागर, पद सं० ३२२८

(अ) कमल, कीर, केहरि, कपोत, गज, कनक, कदलि दुख पाइ।[१] (सूर)
(आ) कंबु कपोत कंठ......।[२] (सूर)
(इ) ......ग्रीव कपोत बिसारी।[३] (सूर)

(ख) **कंबु** : कपोत के अतिरिक्त शंख से भी कवियों ने राधा-कंठ की समता देखी है
(अ) कंबु कपोत कंठ......।[४] (सूर)
(आ) कंबु कंठ, ताटंक गंड पर, मंडित बदन सरोज।[५] (सूर)

(१२) भुजा

बल्लि, मृणाल : राधा की बाहें कोमल हैं, इसलिए उनका सादृश्य प्रकृति की कोमल लताओं में देखा गया है। यों साधारण रूप से उनकी बाहों को बाहुवल्लि या बाहुलता[६] कह कर वर्णित किया गया है, किन्तु उनकी सुडौलता को और अधिक स्पष्ट करते हुए मृणाल से भी उपमित किया गया है।[७] सूरदास ने उन्हें कंजलता कह कर स्मरण किया है।[८]

(१३) कर

(ख) कमल : बाहु मृणाल में हथेलियां लाल कमल सी प्रतीत होती हैं। 'रूपमंजरी' में नन्ददास ने नायिका के रंगभीने करों का वर्णन करते हुए कहा है कि ऐसा लगता है जैसे एक कमल को दो कर दिया गया हो।[९] करों का वर्णन कमल के रूप में प्रायः सभी कवियों ने किया है।

(ख) **पल्लव** : कहीं-कहीं उसकी सुकुमारता और लोहित वर्ण का साम्य पल्लव में भी देखा गया है। यथा—
(अ) ......करे सत्पल्लवैकच्छवि।[१०]
(आ) कबहुँ कर पल्लव सों केस निरवारत।[११]

(१४) उरोज

राधा के नेत्रों के पश्चात् यदि किसी अन्य अंग में कवियों ने अपनी कल्पना-पटुता का परिचय दिया है तो उरोज में। जिस प्रकार उनके नेत्रों के लिए भांति-भांति के उपमान एक साथ लाए गए हैं उसी प्रकार उनके उरोज वर्णन के

---

१. वही, पद सं० ३०५३।
२. वही, पद सं० ३०५४।
३. वही, पद सं० १८१५।
४. वही, पद सं० ३०५४।
५. वही, पद सं० ३२३०।
६. (अ) राधे श्रीभुजवल्लि चारु वलये स्वं रूपमाविष्कुरु। —राधा सुधानिधि, श्लोक १००
(आ) लसद्भुजलता.........। —वही, श्लोक १७८
७. बाहु-मृनाल नाहु के अंसनि......। —भक्त कवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३७०
८. ...बाहु बली करि कंजलताई॥ —सूरसागर, पद सं० ३०५४
९. सुंदर कर राजत रँग भीने, एक कमल के जनु विचि कीने। —नंददास : प्रथम भाग (रूपमंजरी), पृ० ७
१०. राधासुधानिधि (हितहरिवंश) श्लोक ९८।
११. सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ४१।

प्रसंग में भी कई उपमान एकत्रित किए गए हैं। वे सघन हैं, और उन्नत हैं।[1] वे चारु, चर्तुल और मुकुलित हैं।[2] आकारगत सौंदर्य के साथ-साथ वे घनीभूत रसाश्चर्य से परिपूर्ण हैं।[3] उनकी पीनता का उल्लेख अनेक कवियों ने किया है। आकृतिगत साम्य में निम्नलिखित उपमान उपमा में ठहराये गए हैं—

(क) कमल, कमलकली :

जहां पर वक्षोज का सात्विक सौंदर्य निरखा गया है वहां सरोज या कनक-पंकज-कली का सादृश्य वर्णित है। वे प्रेम सरोवर में उपजे मुखचन्द्र के प्रकाश से मुकुलित एक सरोज के द्विधा रूप हैं—

(अ) सान्द्रानुरागरससारसरःसरोजं
किं वा द्विधा मुकुलितं मुखचन्द्रभासा।
तन्नूतनस्तनयुगं वृषभानुजायाः[4] (हित हरिवंश)

(आ) हेमाम्भोरुहकुड्मलच्छविकुच-द्वन्द्वेऽरविन्देक्षणं।[5] (हितहरिवंश)

(इ) क्रीड़ासरः कनक पंकज कुड्मलाय।[6] (हितहरिवंश)

(ख) चक्रवाक :

कहीं-कहीं चक्रवाक पक्षी का रूप आंका गया है—

(अ) कुच चक्रवाक बिलोकि बदन-बिधु, बिछुरि रहे अनबोल।[7] (सूर)

(आ) पीन पयोधर सघन उनत अति, तातर रोमावली लसी री।
चक्रवाक खग चंचुपुटी तें, मनु सैवल मंजरी खसी री॥[8] (सूर)

(इ) कुच कठोर चकवनि पर कंचुकि......।[9] (व्यास जी)

(ग) **स्तवक** : राधा के वक्षोज का एक स्थल पर हितहरिवंश जी ने स्तबक के रूप में स्मरण कर के अपनी रमणीक कल्पना का परिचय दिया है।[10]

(घ) **कलश** : कुंभ या स्वर्ण-कलश की उपमा भी कवियों को काफ़ी प्रिय लगी है। राधा के उरोज श्री के हेमकलश का गर्व निर्वासित करते हैं—

---

१. पीनपयोधरसघनउनत अति...। —सूरसागर, पद सं० ३०६५
२. श्रीराधिके तव नवोद्गम चारुवृत्त।
वक्षोजमेव मुकुलद्वय लोभनीयम्॥ —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक ४४
३. ......सच रसघनाश्चर्य्य वक्षोज कुम्भः। —वही, श्लोक ८४
४. वही, श्लोक ३४।
५. वही, श्लोक ९८।
६. वही, श्लोक ३५।
७. सूरसागर, पद सं० १६६७।
८. सूरसागर, पद सं० ३०६५।
९. भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३७३।
१०. वक्षोजस्तवका लसद्भुजलता...। —राधासुधानिधि, श्लोक १७८

(अ) सर्वस्वसम्पुटमिव स्तनशातकुम्भ
कुम्भद्वयं स्मर मनो वृषभानुपुत्र्याः ॥[१] (हितहरिवंश)

(आ) वक्षोजद्वितयेन हेम-कलशश्रीगर्व-निर्वासिनी ।[२] (हितहरिवंश)

नन्ददास ने रूपमंजरी के मंडलाकार स्तन-वर्णन में कलश को भी तिरस्कृत कर दिया है—

(इ) मंडल दै जु उठे कुच दोऊ, आवै न उपमा आँखि तर कोऊ।
श्रीफल, कुंभ, संभु सम माने, सरस कबिन तेउ नहिं परमाने ॥[३]

(ई) बाम कपोल बिलोल कुटिल लट, उरज रही अरुझाइ।
स्याम भुजंगिनि मनहु सुधा-घट, पीवत हू न अघाइ ॥[४] (व्यासजी)

इन कलशों को कवियों ने सुधा-पूरित कहा है।

(ङ) **श्रीफल**

रूप शोभा के बन में राधिका के स्तनयुग्म को कनकलता का फल या रस-कल्पतरु-फल[५] कहा गया है। किन्तु फल के विशिष्ट रूप में श्रीफल से ही उसकी उपमा अधिक दी गई है।

(अ) श्रीफल-कुच काँपि सु कल फूलें, लाजत मौरे आम।[६] (व्यासजी)

(आ) उरज-करज गजकुंभ-हेमघट, श्रीफल-छबि की हानि।[७] (व्यासजी)

(इ) सुभग श्रीफल उरज पानि परसत, हुँकरि, रोषि।[८] (सूर)

(ई) ये सब उचित नवल मोहन कों श्रीफल कुच[९]...... । (हितहरिवंश)

(च) **हेमगिरि** : पीनता और उत्तुंगता की दृष्टि से हेमगिरि का उपमान सब से खरा उतरता है,

कुच उँचनि हेम-गिरि अतिहिँ लाजे[१०] (सूर)

हितहरिवंश जी का एक परिहासपूर्ण कथन है कि गोपेन्द्र कुमार ने तो एक ही गोवर्द्धन पर्वत प्रयत्नपूर्वक धारण किया था, किन्तु राधा ने दो हेम-शैल धारण कर रखे हैं।[११]

(छ) **शंभु** : रेखांकित स्तनों की समता चन्द्रशेखर शंभु से की गई है। यथा,

कुच युग पर नख रेख प्रगट मानौं शंकर शिर शशि टोल।[१२] (हितहरिवंश)

---

१. राधासुधानिधि, श्लोक ३३।
२. वही, श्लोक १८२।
३. नंददास : प्रथम भाग (रूपमंजरी), पृ० ७।
४. भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ४०३।
५. स्वानन्दपूर्ण रसकल्पतरोः फलाय। —राधासुधानिधि, श्लोक ३५
६. भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३७९।
७. वही, पद सं० ३६५।
८. सूरसागर, पद सं० १८०९।
९. हितचौरासी, पद सं० ४४।
१०. सूरसागर, पद सं० १६६०।
११. श्री गोवर्द्धन एक एव भवता पाणौ प्रयत्नाद्धृतो।
राधावर्ष्मणि हेम-शैल युगले दृष्टेऽपि ते स्याद्भयम् ॥ —राधासुधानिधि, श्लोक २२३
१२. हितचौरासी, पद सं० २३।

(१५) रोमावली

(क) **यमुना** : रोमावली का सौंदर्य वर्णसाम्य के कारण नीली यमुना-सी देखा गया है।

(अ) रोम राजि मनु जमुन मिली अघ...... ।[१] (सूर)

(आ) मानहु सैल सिंधु तें निकसी नील यमुन जल धार री।[२] (गदाधर भट्ट)

(ख) **शुंड** : शुंड से भी उसका साम्य देखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो नाभि रूपी अमृत-कुंड में मदन का मतंग अपनी शुंड से धँस रहा है।

(अ) पीन उरोज कुंभ रोमावलि, राजति ता अति सुंड री।[३] (गदाधर भट्ट)

(आ) कुच जुग कुंभ, सुंडि रोमावलि[४]...... । (सूर)

(ग) **शेवाल** : एकाध स्थल पर उसे शैवाल-मंजरी के रूप में स्मरण किया गया है। पीन-पयोधर के नीचे रोमावली ऐसी प्रतीत होती है जैसे चक्रवाक की चंचुपुटी से शैवाल मंजरी गिर रही हो। उदाहरणार्थ —

पीन पयोधर सघन उनत अति, तातर रोमावली लसीरी।
चक्रवाक खग चंचुपुटी तें, मनु सैवल मंजरी खसीरी।।[५] (सूर)

'रूपमंजरी' में नंददास ने रोमावली को कई रूप में देखा है। कभी ऐसा लगता है कि उधर से वेणी की परछांई आ रही है, कभी ऐसा कि नीलमणि किंकिनी की ज्योति की छाया हो, अथवा लटी-सी कटि देख कर कर्तार ने उसे रोमधार का आधार पकड़ा दिया हो।[६]

(१६) नाभि

गंभीर नाभि के लिए सुहृद की उपमा रूढ़ रही है। कभी-कभी उस सुहृद में अमृत के अवस्थान हेतु उसे अमृतकुंड कहा गया है। यथा,

(अ) ......नाभि सुहृद आकार।[७] (सूर)

(आ) मानहुँ मदन मतंग धस्यौ है नाभि अमृत के कुंडरी।[८] (गदाधर भट्ट)

(इ) नाभि गंभीर मीन मोहन मन खेलत कौं हृदनी।[९] (हितहरिवंश)

(१७) कटि

केहरी लंक : सुकुमारी राधा की कटि अति कृश है। उरोभार की शोभा क्षीण कटि की तुलना में परखी गई है। अपनी क्षीणता में वह केहरि के लंक-सी प्रतीत होती है।

---

१. सूरसागर, पद सं० ३०७२।
२. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३९।
३. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३९।
४. सूरसागर, पद सं० ३२२७।
५. वही, पद स० ३०६४।
६. नंददास : प्रथम भाग (रूपमंजरी), पृ० ७।
७. सूरसागर, पद स० ३२२७।
८. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३९।
९. हितचौरासी, पद सं० २९।

(अ) गौर तन सकुँवार स्यामा सुघर केहरि लंक।[१] (गोविन्दस्वामी)।

(आ) कटि के भय मृगराज डर्‍यौ।[२] (सूर)

हितहरिवंश जी ने राधा की कटि को क्षीण और 'थोड़ी' कहा है।[३]

कटि के सौंदर्य में कवियों की दृष्टि इतनी रम गई है कि उदर का सौंदर्य ओझल हो गया है। उसे प्रायः कटि से एकाकार कर के देखा गया है। राधा 'कृशोदरि' कह कर सम्बोधित की गयी हैं।[४]

(१८) अधोदेश : (नितम्ब, जंघा, जानु)

जंघे कदली-खंभ के सदृश हैं, कहीं उन्हें जलचर के सदृश भी कहा गया है। कृश कटि की तुलना में जघन और नितंब भारी हैं। राधा पृथुल नितंबवती हैं।

(अ) कृश कटि, पृथु नितम्ब किंकिणि व्रत, कदलि खंभ जवनी।[५] (हितहरिवंश)

(आ) कृशकटि, उदर गँभीर नाभिपुट, जघन नितम्बनि भारी।[६] (हितहरिवंश)

(इ) .....कदलि जंघ जलचर गति चोरी।[७] (हितहरिवंश)

(ई) ......राजति, जंघ जुगल रंभा री।[८] (सूर)

(उ) पृथु नितब, कटि छीन, हंस गति, जवन सघन कदली।[९] (सूर)

(१९) चरण : चरणों में कवियों की दृष्टि बहुत रमी है। वे उसकी मृदुलता और सौंदर्य-श्री पर न्योछावर हुए हैं। राधा के चरण छविपुंज हैं। छवि उनके चरणों से लगी डोलती है—। छवि डोलै चरननि सौ लागी'[१०]

उनके पद-विन्यास से पृथ्वी स्थल-कमल (गुलाब) की तरह प्रफुल्लित हो जाती है।[११] छवि में कंज, प्रकाश में चंद्र और पल्लव-प्रभा को धारण किए हैं वे। यथा,

(अ) अद्‌भुत पद-पल्लव प्रभा, मृदु सुरंग छबि ऐन।[१२] (ध्रुवदास)

(आ) नख मनि प्रभा प्रतिबिंब झलमले कंज चंदनि के यूथ मानो पायन परत है।[१३] (ध्रुवदास)

(इ) पद अम्बुज जावक जुत, भूषन प्रीतम उर अबनी।[१४] (हितहरिवंश)

---

१. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ५१६।
२. सूरसागर, पद सं० ३३९४।
३. ...पट नील, कटि थोरी। हितचौरासी, पद सं० ६७।
४. वही, पद सं० ४०।
५. वही, पद सं० २९।
६. वही, पद सं० ४५।
७. वही, पद्र सं० ४३।
८. सूरसागर, पद सं० १८१५।
९. वही, पद सं० ३२३६।
१०. ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० १९८ (नेह मंजरी लीला)।
११. उत्फुल्लस्थल पंकजामिव भुवं रास पदन्यासतः। —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक ८९
१२. ध्रुवदास : बयालीस लीला, (भजन श्रृंगार सत लीला) पृ० ८१।
१३. वही।
१४. हितचौरासी, पद सं० २९।

गुल्फों के सौंदर्य पर भी कभी-कभी किसी कवि की दृष्टि जा पहुँची है। वे गुलाब के प्रसून से विदित होते हैं—'गुलफ गुलाब प्रसून निरखि अलि पिय गति भूली।'[1] पदतल अरुण और अत्यन्त मृदु हैं। चरणतल में दिव्य चिह्न जगमगा रहे हैं। उदाहरणार्थ—

जावक रंग सुरंग अरुण महमृदु पिय पदतल।
पिय हिय को अनुराग लग्यो जनु प्रणवत पल पल ॥६५॥
अरुण-चरण-तलचिन्ह चारु जगमगत विराजें।
मो मनके अभिलाष लगे जनु पदरज काजें[2] ॥६६।

(२०) **गमन** : राधा के गमन की गति कभी हरिणी-सी मतवाली, कभी हँसी, मोरी, मृगी-सी क्रीड़ामय होती है—

(क) **करिणी** (अ) चलति गज चालिनि।[3] (गोविन्दस्वामी)
(आ) मदनमद मत्त गजगामिनी।[4] (हितहरिवंश)

(ख) **हंसी, मोरनी, मृगी** : देखैं हंसी मोरी मृगी तेई तहां मोहिं रही[5] (ध्रुवदास)

कृष्ण : नैसर्गिक रूप :

कृष्ण के अंग-प्रत्यंग का रूपांकन भी परम्परागत उपमानों द्वारा किया गया है। राधा के लिए जो उपमान प्रयुक्त हैं वे ही कृष्ण के लिए भी। रूप के बोध का जो साधन स्त्रीरूप के अंकन में अपनाया गया है वही पुरुष-रूप में भी। महत्वपूर्ण केवल इतना है कि स्त्री-सौंदर्य के नखशिख की नैसर्गिक छवि जहां नायिका-भेद की परंपरा के कारण चर्चा का विषय अधिक बनी हुई रहती है वहां कृष्ण-रूप के नख-शिख का उतनी ही मात्रा में, उसी प्रकार रम कर चित्रण करना भक्त-कवियों की आराध्य के प्रति भक्ति का निदर्शन करता है। राधा आराध्या हों अथवा कृष्ण आराध्य, इष्टदेव होने के कारण एक के रूप का महत्व दूसरे से कम नहीं है। रूप-चित्रण में दोनों समान भाव से समादृत हैं। अतएव यहां पर कृष्ण के नख से शिख तक का सौंदर्य प्रस्तुत करना, यद्यपि रूप-बोध की पुनरावृत्ति-सी होगी किन्तु सांप्रदायिक महत्व को ध्यान में रखते हुए निरर्थक न होगा। जिसके रूपाकर्षण के सूत्र को थाम कर ब्रज में अनन्त लीलायें घटित हुआ करती हैं, वृन्दावन के उस अप्राकृत मदन की रूप-चर्चा लोभनीय है। कृष्ण की मुरली में चराचर को मुग्ध करने की जो एक दिव्य शक्ति है, वही दिव्य शक्ति नूतन जलधर सदृश कोमल और रस-घन देहधारी घनश्याम की अंगमाधुरी में भी है। कृष्ण चराचर को प्रीतियुक्त और मोहित करने की क्षमता से संपन्न हैं। वे सौंदर्य के चरमनिधान हैं, उनमें सौन्दर्य का आदि-रूप अभिव्यक्त है। यद्यपि उस आदि-रूप की प्रस्थापना उन रूढ़ियों द्वारा ही हो पाती है जो द्रष्टाओं को मान्य है, तथापि वे ऐसी अद्भुत छवि और अतुल आकर्षण से भर कर अवतार-कृष्ण में साकार होती हैं कि उनकी सौंदर्य-सम्पन्नता के प्रति सन्देह नहीं रह जाता। वे रूढ़ियां सजीव होकर हमारे चित्त और भाव को जिस अलौकिक उन्माद से आह्लादित करती हैं उससे उनके पिटे-पिटाये होने और बासीपन की भ्रान्ति जाती रहती है। हमारी सौंदर्य-चेतना को जाग्रत करने और उसके द्वारा एक सूक्ष्म भावलोक का निर्माण करने में सौंदर्य की ये रूढ़ियां जितनी सक्षम हैं

१. निम्बार्क माधुरी : (गोविन्ददेव जी), पृ० १७२।
२. वही, पृ० १७२।
३. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४१।
४. हितचौरासी, पद सं० ७१।
५. ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८३।

उतनी मात्र कल्पना की चमत्कारिक सूझ-बूझ नहीं। इन्हीं के माध्यम से चेतना का वह निगूढ़ स्तर उद्‌घाटित होता है जिसमें सौंदर्य को पूर्णतम अभिव्यक्ति मिलती है, उसका परम रूप (Absolute Foam) प्रकाशित होता है। कृष्ण के नेत्र से लेकर पदांगुलि तक में उसी नित्य रूप-तत्व का उद्‌घाटन है।

(१) केश

कृष्ण के केशों में ही उनके आकर्षण का मंत्र बोलना शुरू कर देता है। उनके सुन्दर केशों में सभी गुण हैं, वे स्निग्ध हैं, स्निग्ध ही नहीं, निविड़ हैं; यह स्निग्ध निविड़ता कुंचित है और काली हैं। स्निग्धता और कालापन पन्नग से और कुंचित कालापन भौंरा या अंधकार से साम्य रखता है। कुटिलता के लिए लंगर या उसकी मोहिनी शक्ति के लिए मन्मथ का फंदा जैसे साधर्म्यमूलक उपमान खोजे गये हैं।

(क) स्निग्ध, निविड़, कोमल, काले : चंपकली द्वारा कृष्ण के केशों के श्रृंगार में उनकी स्निग्धता को कवि ने अलग करके परखा है।[१] वे केवल स्निग्ध ही नहीं, साथ ही घने भी हैं। विरल केशों से सौंदर्य का ह्रास हो जाता है। कृष्ण के स्निग्ध और निविड़ केशों की अपनी ही छवि है, यद्यपि उसमें चंपकली को बीच-बीच में पिरोया गया है।[२] कोमलता उस स्निग्धता और निविड़ता में विशेष उर्मिल आकर्षण उत्पन्न कर देती है। इस कोमल सौंदर्य की व्यंजना के लिए ही कवि ने 'चिकुर' शब्द का प्रयोग किया है।[३]

चिकने काले केशों में विशेष सौंदर्य रहता है। उस चमकीले कालेपन को द्योतित करने के लिए भौंरा जितना उपयुक्त उपमान है उतना कदाचित् और कोई नहीं, यद्यपि भौंरे से केशों की कुटिलता का भाव ही अधिक प्रस्तुत किया गया है। कालेपन के लिए अंधकार की उपमा प्रिय रही है।[४]

(ख) कुंचित : उनमें चरम आकर्षण का गुण कुंचित होने के कारण आता है। वे कोमल हैं किन्तु कुटिल हैं।[५] काले घुंघराले बालों के गुच्छे कमल पर मंडराते भौंरों के समूह से लगते हैं।[६] बल्कि वे इतने अधिक कुंचित हैं कि उन पर भौंरों को भी न्योछावर होना पड़ता है।[७] केशों के कुंचन की अतिशयता का बोध कुटिल शब्द से कराया गया है। और वर्तुलाकार कुटिलता का साम्य लंगर अथवा मन्मथ के फन्दे से ठहराया गया है। केशों की कुटिलता का विषयीगत सौंदर्य-बोध मन्मथ के फन्दे के द्वारा व्यंजित हैं। स्वाभाविक रूप से कुटिल अलकें जब भ्रुवों पर आ जाती हैं तब ऐसा विदित होता है मानो कामदेव फन्दे फांद कर दो मछलियां (नेत्र) तट पर खींच लाया हो।[८] निरपेक्ष होकर कवि जब इनके सौंदर्य का अंकन करता है तो उसकी कल्पना अत्यन्त सुन्दर चित्र बना डालती है, मुरली पर आनत नेत्रों को रथ से विडरते हुए मृग समझ कर शंकित शशि ने केशरूपी मनोहर और भारी लंगर डाल रखा है। यह उपमा सचमुच

---

१. स्निग्ध अलक बिच बिच राखी चंपकली अरुझाई। —गोविन्दस्वामी : पद सं ह, सं० ३६४

२. स्निग्ध निबिड़ अलकावलि अति छवि बिच बिच चंपकली पोहनी। —वही, पद सं० ४२७

३. चिकुर कोमल कुटिल राजत। —सूरसागर, पद सं० २८३८

४. अलक पर वारति अँध्यारी। —वही, पद सं० २४५३

५. सूरसागर, पद सं० २८३८।

६. बदन सरोज ऊपर मधुपावली मानों फिरि आई हो।
कुंचित कच बीच बीच चंपकली अरुझाई हो॥
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० २६९

७. कुटिल कच पर भौंर वारौं। —सूरसागर, पद सं० २४५५

८. कुटिल अलक सुभाई हरि कैं, भ्रुवनि पर रहे आइ।
मनौ मन्मथ फाँदें फंदनि, मीन बिबि तट ल्याइ॥ —वही, पद सं० २४४५

ही अनुपम है।[१] यों सामान्यतया वे आकुंचित लहर अथवा तरंग का-सा रूप धारण किए रहते हैं। किन्तु यह तरंगायित शोभा मानो प्रेम की है।[२]

यह घुंघरालापन जब गुच्छों में मुख पर नहीं बिखरता, उसका अग्रभाग किंचित् अधिक अलग-अलग होकर कमल-दल-सी पलकों पर छा जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो सर्पिणियां गगन से उतर कर दल पर फन फैलाए हुए हैं।[३]

केश-सौंदर्य के गुण एवं प्रभाव का कथन इन्हीं उपमानों द्वारा किया गया है।

(२) भृकुटि

(क) कटीली : कृष्ण की भृकुटि के सौन्दर्य का प्रथम गुण है उसका कटीलापन। वह स्निग्ध और सरल नहीं है। कांटे का कटीलापन है उसमें, इसी चुभते सौंदर्य से वह गोपियों को बिना मोल खरीद लेती है।[४] इस कटीलेपन में जब चपलता मिल जाती है तब उसे देख कर कवि को शरत्कालीन चंचल मछली का स्मरण हो जाता है।[५] भ्रुवों के इसी सौंदर्य को लक्षित करते हुए मीरांबाई ने नन्दनन्दन का वर्णन किया है: 'कुटिल भृकुटि तिलक भाल।'[६] यह कुटिलता कृष्ण-सौंदर्य का अनिवार्य गुण है।

(ख) बंक, विकट : इस रुचिर भृकुटि का दूसरा गुण है उसका टेढ़ा होना।[७] जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तब विरहातुर गोपियां उनकी बंक भृकुटि की सैन को फिर से एक बार देख लेना चाहती हैं।[८] किन्तु कृष्ण की भृकुटि का यह टेढ़ापन कोई साधारण टेढ़ापन नहीं है। वे भौंहें अत्यन्त विकट हैं। उसकी विकट छवि को निहारते हुए गोपियां कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करतीं।[९] विकटता का मूल कारण है उनमें निहित खिंचाव या तनाव की-सी स्थिति। इस विकट रूप से खिंचे होने के कारण वे या तो धनुष की भाँति प्रतीत होती हैं अथवा अत्यधिक तनाव के कारण बाण की भाँति। विकट भृकुटि को देख कर ऐसा लगता है मानो मन्मथ अपना चाप भेंट में अर्पित करके बैठ गया है।[१०] इस विकट धनुष को देख कर खंजनरूपी चंचल नेत्र डर जाते हैं, उड़ नहीं सकते पर उड़ने को अकुलाते-से लगते हैं।[११] किन्तु जब विकटता कुछ और खरी हो जाती है तब भृकुटि न केवल धनुष-सी प्रतीत होती है बल्कि मन्मथ के बाण का रूप धारण कर लेती है। उसके 'ओर-कोर' के आगे मन्मथ भी अपने बाण रख देता[१२] है।

---

१. उपमा एक अनूपम उपजति, कुंचित अलक मनोहर भारे।
विडरत विझुकि जानि रथ तें मृग, जनु ससंकि ससि लंगर सारे॥ —सूरसागर, पद सं० २४१५

२. बिथुरि अलकैं परीं मानहुँ, प्रेम-लहरि-तरंग। —वही, पद सं० २४३३

३. इक इक अलक लटकि लोचन पर, यह उपमा इक आवति।
मनहुँ पन्नगिनि उतरि गगन तें, दल पर फन परसावति॥ —वही, पद सं० २४२७

४. भौंहें काँट कटीलियाँ (मोहिँ) मोल लियौ बिनु मोल। —वही, पद सं० २०७५

५. भ्रकुटि इमि नव कंज पर जनु, सरत् चंचल मीन। —वही, पद सं० १९९८

६. मीरांबाई की पदावली, पद सं० ९।

७. टेढ़ी भाँति रुचिर भृकुटी पर देखत कोटिक काम गए दबि। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १८९

८. वही, पद सं० २२७।

९. भृकुटी विकट कमल दल लोचन छबि निरखत न अघाऊँ। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४३३

१०. भृकुटि मानों चाप धरि भेंट बियक्यो मेनु। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २१८

११. भ्रकुटी बिकट नैन अति चंचल इहिँ छबि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत, उड़ि न सकत उडिबैं अकुलावत। —सूर सागर, पद सं० १९८६

१२. बिकट भृकुटि की ओर कोर तैं, मन्मथ-बान धर्‌यौरी। —वही, पद सं० २०६४

कुल मिलाकर कृष्ण की भृकुटियों का सौंदर्य कामदेव के धनुष को मात दे देता है। वे भुवन-मोहकारी भौंहें मन्मथ के चाप-सी शोभित रहती हैं।[१] उनके विलास को देख कर कोटि मन्मथ आत्मविस्मृत हो रहते हैं।[२]

इसी धनु साम्य के समानान्तर रथ के जुवा से भी उनका साम्य खोजा गया है। उनके नेत्र रूपी मृग भौंहों के रथ-जुवा में जुते रहते हैं।[३]

(३) नेत्र

कृष्ण के नेत्रों का सौंदर्य उनकी विशालता, गहनता, चंचलता और प्रेमासक्ति में आंका गया है। उनके रूपगत सौन्दर्य को भावपेशलता सहित उपस्थित करके नेत्रों के विशिष्ट एवं अद्भुत प्रभाव की ओर कवियों ने ध्यान आकर्षित किया है। हाव-भाव, कटाक्ष में उनकी जितनी शोभा है, नैसर्गिक रूप में उससे कम शोभा नहीं है।

(क) विशालता : नेत्रों के सौंदर्य का सर्वप्रथम कारण है उनका विशाल होना। कृष्ण के विशाल लोचनों की चितवन में इतना आकर्षण है कि वह कोटि कामदेवों को लज्जित कर देती है।[४] ब्रजदेवियों को जो अंग सब से अधिक मुग्ध करता है वह है कृष्ण का विशाल नेत्र, उसे देखते ही वे प्रेम में बंध जाती हैं।[५] वे नेत्र अति विकसित हैं, कदाचित् कृपा के आवेश से।[६] उनके सुन्दर नेत्रों की अति विशालता अपनी आकर्षक चितवन से मन का न्योछावर (ओल) मांगती हुई प्रतीत होती है।[७] कमल-दल से नेत्रों की विशालता का अपना सौंदर्य तो है ही, उस पर से उसमें चारु चितवन के गूढ़ भाव-सूचन का सौंदर्य जुड़ जाता है।[८] इस विशालता में समुद्र का भाव है।[९] अर्थात् यह विशालता गम्भीरता और गहनता से समन्वित है।

(ख) रंग : नेत्र की पुतली एवं पलक के दोनों ओर श्यामता, भीतर की शुभ्रता तथा नेत्रान्तों किंवा नेत्र के डोरों की अरुणिमा के संगम से जिस सौंदर्य की सृष्टि होती है वह नेत्र-सौंदर्य के रूप-वैचित्र्य में भाव-वैचित्र्य का योग कर देती है। विशिष्ट वर्ण प्रकृति के विशिष्ट भावों के प्रकाशक होते हैं। कृष्ण के नेत्रों की शुभ्रता श्यामता और अरुणता क्रमशः सात्विक, स्वप्निल और प्रखर सौंदर्य की किरणें विकीर्ण करते हैं। उनके नेत्रों में प्रकृति का सत्व, रज और तम जैसे दिव्य हो उठा है। इसीलिए कृष्ण के नेत्रों में अपनी अलग द्युति है, उनमें वर्णों का आत्यंतिक और शुद्धतम विकास

---

१. भौंह मनमथ चाँप भुवन मोहें। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६७

२. भृकुटि बिलास देखत कोटिक मनमथ रहे भूले। —वही, पद सं० ४००

३. बदनप्रभामय चंचल लोचन, आनंद उर न समात।
मानहुँ भौंह-जुवा-रथ जोते, ससि नचवत मृग मात।। —सूरसागर, पद सं० २४२३

४. चितवनि लोचन बिसाल कोटि-काम लजावै। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २८७

५. सब सुंदरि घर घर तें आईं निरखति नैन बिसाल।
'गोविन्द' प्रभु ~~मिल~~ चित चोर्यो तब बँधी है प्रेम की पाल।
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ६६

६. अति मद तरुन विघूर्नित लोचन अति विकसित रस कृपा अवेस। —वही, पद सं० ३६६

७. बने बिसाल अति लोचन लोल।
चितै-चितै हरि चारु बिलोकनि, मानों माँगत हैं मन ओल। —सूरसागर, पद सं० १२४८

८. बने बिसाल कमल दल नैन।
ताहू में अति चारु बिलोकनि, गूढ़ भाव सूचति सखि सैन।। —वही, पद सं० २३९४

९. नैन बिसाल समुद्र से......। —वही, पद सं० २९४१

पाया जाता है। उनके श्वेत श्याम और अरुण रंगों में गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम प्रतीत होता है।[१] अन्य स्थल पर, श्वेत, रक्ताभ और नील कमलों से उनकी समता देखने में कवि नेत्रों के स्निग्ध सरस और पवित्र विकास की सूचना देता है। कृष्ण के आँखों का विकास शुभ्र शरद ऋतु के कमल-सा है, नितान्त विमल और कोमलोज्वल।[२] वे अपनी कान्ति से शरद-कमल को भी अपहृत कर लेते हैं। कमल के सब प्रकारों को—इन्दीवर, राजीव, कुशेशय—नेत्र की त्रिवर्णी छवि ने जीत रक्खा है।[३] इन्होंने कमल की न केवल सब जातियों को वरन् उनके गुण को भी पराजित कर दिया है।

इन तीन रंगों में भी कविगण नेत्रों के रक्तिम भाव से सबसे अधिक मुग्ध हुए हैं। कृष्ण के नेत्र रतनारे हैं और कमल के समान फूले हुए हैं।[४] यह रक्तिमता मात्र वर्ण की प्रकाशक नहीं है, गुणों की भी है। कभी तो कृष्ण के नेत्र अतिमद से विघूर्णित होने के कारण लाल हो जाते हैं, कभी कृपा-रस के आवेश के कारण। उनकी इन दो अवस्थाओं का गोविन्दस्वामी ने कई स्थलों पर निर्देश किया है।

(अ) अति बिसाल आकर्ष अरुन अति नैन कमल मद घूरना।[५]
(आ) अति मद तरुन विघूर्नित लोचन।[६]
(इ) गोरज छुरित कपोल अलक जु कृपारस नैन सुरंग।[७]
(ई) नैन छबीले तरुन मद माते।
.. ..
भक्त कृपा रस सदाई प्रफुलित मानों कमल दल राते।[८]

नेत्रों के इस वर्णात्मक सौंदर्य के साथ-साथ उनके भावात्मक रूप-विधान की सुन्दर कल्पनायें दर्शनीय हैं।

(ग) **कमल** : अपने आकार में वे नेत्र कमल के समान लगते हैं। उस रूप में वैसी ही कोमलता, वैसी ही पवित्रता विराजमान रहती है। कृष्ण को, अधिकतर, 'कमल-नयन' कह कर संबोधित किया गया है।[९] उनके नेत्रों में सरस सरोवर के सरोज की सुधा भरी हुई है।[१०] 'जलजात' और 'अम्बुज' शब्दों से उसकी स्निग्ध सरसता का द्योतन होता है। यह रस कभी-कभी कृपा का रस होता है; कृपा-रस से उनके नयन-कमल फूलते हैं।[११]

कहीं-कहीं पर साक्षात् कमल से उनकी उपमा न देकर कमल के दल से दी गयी है, जैसे—

---

१. अरुन, स्वेत, सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुति, गंगा, जमुना मिलि, आस्रम कीन्हौं आइ।। —सूरसागर, पद सं० २४३१
२. नैन सरद सरोज. . . । —वही, पद सं० १९९६
३. मनोहर है नैननि की भाँति।
मानहुँ दूरि करत बल अपनैं, सरद-कमल की काँति।।
इन्दीवर राजीव कुसेसय, जीते सब गुन जाति। —वही, पद सं० २४२९
४. अब मोचन लोचन रतनारे, फूले ज्यौं जलजात। —वही, पद सं० १८२४
५. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३०४।
६. वही, पद सं० ३६६।
७. वही, पद सं० ३८५।
८. वही, पद सं० ४४५।
९. छाँडि देहु यह बानि प्यारे कमल नयन मनमोहना। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २६
१०. सरस सर सरोज सुधा नैननि भरि पाई। —वही, पद सं० १८४
११. कृपारस नैन कमल फूले। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४००

(अ) भृकुटी विकट कमल दल लोचन छवि निरखत न आघाऊँ।[१] (गोविन्दस्वामी)

(आ) गोकुल-राइ-कुमार कमल दल लोचना।[२] (चतुर्भुजदास)

ऐसे स्थलों पर 'लोचन' शब्द का प्रयोग सार्थक है। उससे न केवल नेत्रों की मृदुलता का बोध होता है वरन् उसकी विरल कोमलता, जो कमल की सघन कोमलता में चरितार्थ नहीं होती, कमल-दल में अभिव्यंजित हो जाती है। पंखुड़ी के सौंदर्य में नेत्रों और पलकों का सौंदर्य देखा जा सकता है।

(घ) मृग : यदि रस और कोमलता में कृष्ण के नेत्र कमल की समता करते हैं तो उन विशाल आँखों का शील और पानी मृग की समता करता है। मृग के नेत्रों में विशालता का, कजरारेपन का सौंदर्य तो है ही, सबसे आकर्षक है उनकी आब। कृष्ण-नेत्रों के इस अनुपम सौंदर्य के आगे मृगछौनों की आँखें भी आत्महारा हो उठती हैं।[३] उन्हें देख कर मृग बन में छिप रहता है।[४] युवतियों का मन ये कुरंगरूपी अरुण दृग ही हरण करते फिरते हैं।[५]

नेत्रों का तरल सौंदर्य मृग के नेत्रों से आंका गया है, पर कहीं कवि की कल्पना ने उनकी कठिन चितवनको मृग के विषाण से उपमित किया है।[६] वाण को छोड़कर मृग के विषाण की कल्पना करने में कवि की दृष्टिकी सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता।

(ङ) खंजन, मीन : कृष्ण के नेत्रों ने सरलता व तरलता मृग-नेत्रों से लिया है तो चंचलता और चपलता मीन तथा खंजन से ले लिया है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जब कृष्णके नेत्र चंचल हो उठतेहैं तब वे मछलीसे प्रतीत होते हैं और जब अत्यन्त चपल तो खंजन से। उनके नेत्रों की चपलताको देख कर प्रतीत होता है कि खंजरीट व्यर्थ ही चपल हुए, और मछलियां तो पानी के नीचे दब जाती हैं।[७] उनकी चंचल और चपल चारु चितवन को देख कर कवि के चित्त में खंजन और मीन की उपमायें भी नहीं समा पातीं। उन्हें देख कर उपमाओं के लिए आकुलता होने लगती है, किन्तु वे मिलती नहीं।[८] चपलता के अतिरिक्त क्रीड़ामय स्वभाव के कारण भी कृष्ण के नेत्रों को खंजन कहा गया है : वे अपने रंग में क्रीड़ित रहते हैं।[९]

(च) चकोर : खंजन के अतिरिक्त चकोर पक्षी से भी कृष्ण के कज्जल नेत्रों की उपमा दी गई है, भाव साम्य के कारण ही। वे राधा के बदन-इन्दु के किरणपान के लिए तृषित चकोर से है।[१०] राधा के सुधामय मुख-चन्द्र के दर्शन के लिए वे चकोर-स्वरूप हैं।

---

१. गोविन्द : स्वामी, पद संग्रह ४३३।

२. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ८०।

३. खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृगछौना। —मीराँबाई की पदावली, पद सं० ९

४. देखि हरि जू कै नैननि की छबि।
...गए बन मृग जल मीन रहै दबि। —सूरसागर, पद सं० १८२३

५. जुवतिन मन हरत फिरत अरुन द्रग कुरंगे। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ५५

६. चितवत कठिन कठोर कठिन, मृग विषान से जानि। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १३०

७. खंजरीट अति बृथा चपल भए, गए बन मृग जल मीन रहे दबि। —सूरसागर, पद सं० १८२३

८. खंजरीट मृग मीन विचारति उपमा कौ अकुलाति।
चंचल चारु चपल अवलोकनि, चितहिं न एक समाति। —वही, पद सं० २४२९

९. ...नयन जुग खंजन क्रीडत अपने रंग। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २१९

१०. तृषित लोचनि चकोर मेरे तुव बदन इंदु किरनिपान दे री। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४७

कृष्ण के नेत्रों का भावना-मूलक सौंदर्य राधा के सौंदर्यपान के लिए तृषित रूप में ही अधिक हुआ है। यों तो खण्डिता प्रकरण में या प्रातःकाल उनके मदघूर्णित अलसित नेत्रों ने अनेक कवियों को आकर्षित किया है, विशेष-कर वल्लभ-संप्रदाय के कवियों को, पर प्रसंगविशेष से स्वतन्त्र उनका भावमूलक सौंदर्य राधा की रूपासक्ति में ही देखा जा सकता है। राधावल्लभ-संप्रदाय में इस पक्ष पर बहुत बल दिया गया है। वे प्रिया के वदनाम्बुज रस में अटके अन्यत्र नहीं जाते। वे राधा के सर्वांग में बिंध जाते हैं।[१] प्रियतम के युगल खंजन-नयनों को राधा की विविध निबंधन-डोरियों ने बांध रखा है।[२]

कृष्ण के नेत्रों की प्रियाधीनता का स्वामी हरिदास ने भी अत्यन्त मार्मिक रूप प्रस्तुत किया है। राधा के वदन-अमृत के पंक में कृष्ण के दोनों नेत्र फंस जाते हैं। जब उन्हें निकालने के लिए चित्त आगे बढ़ता है तब वह सम्पुट हो कर रह जाता है।[३] और वह इसी स्थिति में रहने में सन्तुष्ट है।

नेत्र की बरुनियों का अलग चित्रण नहीं है, मछली की उपमा में उनके कटीलेपन और उनकी चपलता को देखा जा सकता है।

(४) नासिका

कृष्ण की नासिका के लिए चाहे जो भी उपमायें दी गयी हों, वह सभी स्थिति में अत्यन्त ललित है। लालित्य उसका विशेष गुण है।[४]

मीरांबाई को मोहित करने वाली नन्दनन्दन की नासिका सुभग है।[५] अपनी सुभगता और लालित्य में वह भिन्न-भिन्न आकार की लगती हैं। उसके आकार का साम्य निम्नलिखित उपमानों से खोजा गया है—

(क) **चंपनेली** : कृष्ण की नासिका चम्पक की ललित कली-सी प्रतीत होती है। किन्तु यह कली सौवर्ण न होकर श्याम है। इस प्रसंग में सूरदास के वर्णन-चातुरी की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। आकार-साम्य से वह चम्पकली कह तो जाते हैं किन्तु यदि उसकी श्यामलता न घोषित हो तो क्या राधा की नासिका का भ्रम नहीं हो सकता ? इसीलिए सूर ने कृष्ण की नासिका के लिए कहा है—'चंपकली सी नासिका रंग स्यामहि लीन्हे।'[६]

(ख) **तिलप्रसून** : लालित्य में वह तिल-प्रसून सी भी लगती है। तिल-प्रसून से न केवल उसके आकार का बोध होता है, वरन् सौकुमार्य का भी। कृष्ण की नासिका की सुभगता को देख कर तिल-प्रसूनों को मानो पाला मार जाता है।[७]

(ग) **शुक** : किन्तु सब से अधिक उपमा शुक से दी गयी है। कृष्ण की ललित नासिका कीर-सी लगती है, कदाचित् शुक-चंचुवत् नहीं वरन् स्वयं शुक के छन्दोमय आकार सी। किन्तु यहां भी उस कीर का वर्ण श्याम हो गया है, नासिका श्यामल कीर सी विदित होती है।[८] अन्य कवियों ने नासिका की उपमा शुक से देकर प्रसंग को समाप्त

---

१. हितचौरासी, पद सं० ६०।

२. प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बाँधे विविध निबंधन डोरी। —वही, पद सं० ८२

३. प्यारी तेरौ वदन अमृत की पंक तामें बींधे नैन द्वै।
चित चल्यो काढ़नकों विकच सन्धि सम्पुट रह्यौ भ्वै। —केलिमाल, पद सं० ७

४. नासिका ललित बेसरि... । —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३७८

५. मीरांबाई की पदावली, पद सं० ९।

६. सूरसागर, पद सं० २९४१।

७. तिल प्रसून सत कोटि मधुप सत कोटि हीन पारे मानु मारी। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १८२

८. द्रग खंजन श्याम बरन नासिका कीर। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० २४५

कर दिया है किन्तु सूरदास की कल्पना उस कीर की स्थिति व छवि का अनेक कोणों से अंकन करती है। सामने की ओर उसकी नमित स्थिति के बोध के लिए वे कल्पना करते हैं कि शुक ने अधर के बिंबफल को चखने के लिए चोंच चलाई है।[१] किन्तु यह चोंच चली मात्र है, पहुँची नहीं। अर्थात् नासिका अधरों की ओर किंचित झुकी हुई है। इसी अग्रभाग का वर्णन करते हुए सूर कहते हैं कि दाड़िम रूपी दशन को चखने के लिए शुक ने चोंच चलायी किन्तु वह खा नहीं पाया। पीछे से भृकुटि का धनुष लिए हुए कामदेव है जिसे देख कर शुक डर गया, इसलिए चोंच चला कर ही रह गया।[२] इस चित्र से नासिका एवं अधरों के बीच के स्थान का कियत् दूरस्थ होना संकेतित है। यहीं बात अधरों को बिम्ब फल मान कर भी कही गई है।[३]

एक अन्य चारु कल्पना भी सूर ने की है। युगल लोचन के बीच नासिका इस प्रकार लगती है जैसे दो खंजनों के बीच शुक; तीनों एक ही पंक्ति में बैठे हैं।[४]

(५) कपोल

विमल मृदुल कपोल कृष्ण के अन्य अंगों की भाँति ही सुभग हैं। वे रुचिर हैं, साथ ही विमल भी। उनकी इस विशेषता को अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किया गया है।[५] सूरदास इस रुचिर विमलता की उपमा के लिए सुगन्धित नील नलिन को उपयुक्त समझते हैं। कृष्ण के कपोलों में नीले कमल का विमल सौन्दर्य जैसे सुगन्ध के साथ साकार हो गया हो।[६]

विमलता के साथ-साथ उनमें मृदुलता भी है।[७] स्निग्धता और मृदुलता तो कृष्ण के सर्वांग में है, फिर कपोल तो उसका विशेष स्थल है।

(क) कांति : मृदुल विमल कपोल पारदर्शी-से हैं। उनमें अत्यन्त उज्ज्वल कांति है, ऐसी कांति जिसमें झलक उठती रहती है। उनके कपोल की झलक पर गोविन्दस्वामी कोटि मन्मथ न्योछावर कर डालते हैं।[८]

इसी पारदर्शी कांति के कारण उनके कपोल में जब कानों के मकर-कुंडल की प्रतिच्छवि पड़ती है तो वह ऐसी स्पष्ट और सजीव लगती है जैसे सरोवर में मकर क्रीड़ा कर रहा हो।

कपोल के इस पारदर्शी सौंदर्य को देख कर कवि-शिरोमणि सूरदास एक और अद्भुत उपमा का अन्वेषण करते हैं—इन्द्र नीलमणि-दर्पण की। गान भरते हुए जब कृष्ण मुरली बजाते हैं तब उनके हिलते हुए कुंडल

---

१ अधरबिंब, नासा ऊपर, मनु सुक चाखन कौं चोंच चलाई। —सूरसागर, पद सं० १२५७

२. दाड़िम-दसन-निकट नासासुक चोंच चलाइ न खात,
मनु रतिनाथ हाथ भृकुटीधनु, तिहिं अवलोकि डरात। —सूरसागर, पद सं० २४२३

३. वही, पद सं० २४३७।

४. सुभग मुख पर चारु लोचन, नासिका इहिं भाँति।
मनौ खंजन बीच सुक मिलि, बैठे हैं इक पाँति॥ —वही, २४३७।

५. (अ) विमल कपोल कुंडल की सोभा। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३२६
(आ) रुचिर बिमल कपोल। —सूरसागर, पद सं० २८३८

६. नील-नलिन-सुगन्ध ज्यौं,। —वही, पद सं० २८३८

७. भ्राजत कुंडल मृदुल कपोल। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६१

८. कपोल झलक पर मनमथ कोटि वारों. . . । —वही, पद सं० ४३७

तथा चलती हुई अंगुलियों का प्रतिबिम्ब उस कपोल पर पड़ता है जो इन्द्रनील मणि से तराशे हुए शीशे की भाँति है।[१] कृष्ण के कपोलों की द्युति नील आभा लिए हुए उज्ज्वल है।

(ख) **मोहिनी शक्ति :** कृष्ण के अन्य अंगों की भाँति पोल भी मोहिनी शक्ति से युक्त हैं। वे भी मोहन हैं।[२] जब से गोपियों ने उन चारु कपोलों को देखा है तब से लोक-लाजकी सुधि भूल कर मन को कृष्ण के हाथ समर्पित कर दिया है।[३] कृष्ण के कपोल में अद्भुत आकर्षण है।

(६) कर्ण

यद्यपि कपोलों के आकारगत सौंदर्य पर कवियों का विशेष ध्यान नहीं गया है, तथापि उसके अन्य सौंदर्य-परक गुणों का वर्णन भक्त-कवियों ने किया है। परन्तु कर्ण या श्रुति की छवि मात्र मकर-कुंडल से मंडित ही आँकी गई है। उसके निजी सौंदर्य पर कवियों ने प्रायः दृष्टिपात नहीं किया।

एकाध स्थल पर कृष्ण के श्रवण का तो नहीं, हाँ कर्णिका की चर्चा है। वे लम्बी कही गयी हैं।[४] यह भारतीय सौन्दर्य के अनुरूप ही है। यों कर्ण के सहज सौन्दर्य को कविगण अनदेखा कर गये हैं।

(७) अधर

(क) **कोमल :** कृष्ण के अधर ललित हैं। अन्य अंगों की ही भाँति यह लालित्य उनके आकार वर्ण, एवं प्रभाव तीनों रूपों में अभिव्यंजित है। पल्लव से उपमा बाँधकर कवि ने उसकी सद्य कोमलता को व्यंजित किया है।[५] उसकी सुकुमार कोमलता को और अधिक सजीव करने के लिए लाल कमल का रूपक बाँधा गया है, वैसी ही कोमल लालिमा से वे युक्त हैं।[६] पल्लव और रक्ताम्बुज जिस नवल रस से अभिसिंचित रहते हैं उसका संकेत भी इन रूपकों में है। कृष्ण के अधर न केवल लालित्य से मंथर और कोमलता से मृदुल हैं, वे पल्लव और अम्बुज के समान किसी सूक्ष्म नवल रस धारा से रसभीने भी हैं।

(ख) **सिंदूरारुण :** पल्लव एवं लाल अम्बुज की अरुणिमा उन में कभी-कभी ही प्रकाशित होती है। अपनी प्रगाढ़तम अवस्था में वे सिंदूर सदृश अरुण रहते हैं। उनकी यह अरुणिमा सुधारस से पोषित है।[७] अरुणिमा के प्रकाशन के लिए बिम्बफल, बन्धूक पुष्प और विद्रुम मणि के उपमान एकत्र किये गये हैं।

---

१. मुरली मधुर बजावत गावत, चलत करज अरु कुंडल लोल।
सब छवि मिलि प्रतिबिम्ब बिराजत, इन्द्रनील-मनि मुकुर कपोल ॥ —सू० सा०, पद सं० २४११

२. अंग अंग मोहन मन कौ री मोहन।
और मोहन कपोल अवतंस सोहन ॥ —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३३८

३. जब तैं निरखे चारु कपोल।
तब तैं लोक-लाज-सुधि बिसरी दै राखे मन ओल ॥ —सू० सा०, पद सं० २४१०

४. स्रवन गुंजा पुंज कर्णिका लम्बिता —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६७

५. अधर पल्लव कुनित मुरलि अभिरामिनी ॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३२

६. अधर अम्बुज लाल....। —सूरसागर, पद सं० २४५३

७. सिन्दूरारुण अधर सुधारस...। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४२०

(ग) **बिम्बफल** : अधरों की रक्तिमाभ अरुणिमा के लिए बिम्बफल की उपमा कवियों ने प्रस्तुत की है जैसे—

(अ) अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।[१] (मीराँबाई)
(आ) अधर दसन अधर बिम्ब...।[२] (गोविन्दस्वामी)
(इ) बिम्ब सत कोटि त्याग करि जिय में बिचारी।[३] (चतुर्भुजदास)
(ई) अधर-बिम्ब तैं अरुन मनोहर मोहन मुरली-राग।[४] (सूरदास)

(घ) **बन्धूक पुष्प** : बिम्ब फल एवं बन्धूक पुष्प दोनों का रंग चटख लाल होता है। वर्णसाम्य के कारण उपमा चाहे बिम्ब फल से दी जाय चाहे बन्धूक पुष्प से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु यदि सौन्दर्य की कोटि की अभिव्यंजना देखी जाय तो जहाँ बिम्बफल में रसभरित मादक सौन्दर्य व्यंजित है वहाँ बन्धूक पुष्प में सरस रागरंजित सौन्दर्य है। बिम्बफल से बन्धूक पुष्प में कोमलता का भाव भी अधिक द्योतित होता है। इसी-लिए बन्धूक पुष्प की उपमा भक्त कवियों को प्रिय रही है। अधर के सौन्दर्य की उपमा के लिए अनेक कवियों ने बन्धूक पुष्प का स्मरण किया है। यथा,

(अ) विद्रुम अरु बंधूक बिंब सत[५]...।—(चतुर्भुजदास)
(आ) अधर...बिद्रुम अरु बंधूक लजाहीं॥[६]—(सूर)।

(ङ) **विद्रुम** : इन्हीं उपमाओं में विद्रुम भी गुंथा हुआ है। विद्रुम बन्धूक से ईषत् भिन्न अरुणिमा से युक्त होता है। वस्तुतः अधरों की अरुणाभा भिन्न भिन्न रंगच्छायाओं (shudes) को धारण करती है। इस-लिए कवियों ने विद्रुम से भी उसका साम्य पाया है। यथा,

(अ) विद्रुम अधर दसन दाडिम द्युति...[७] (गोविन्द स्वामी)।
(आ) बलि-बलि जाउँ अरुन अधारनि की बिद्रुम-बिम्ब लजावन।[८] (सूर)।
(इ) किधौं बज्र-कन, लाल नगनि खँचि, तापर बिद्रुम पाँति।[९] (सूर)

अंतिम उदाहरण में लाल नग मसूढ़ों के लिए कहा गया है और विद्रुम अधर के लिए। लाल नग में जिस झलकते सौंदर्य की व्यंजना है वह विद्रुम में नहीं है, उसमें कांति का अभाव है। वह रस-मन्थर गाढ़-सौन्दर्य का द्योतक है।

इस प्रकार पल्लव से कोमल, लाल कमल से गन्धभीने, बन्धूक और विद्रुम से चटक अरुण, बिम्ब से सुपक्व कृष्ण के अधर अपने सौन्दर्य में अद्वितीय होकर यदि कामदेव को निर्जित कर दें तो आश्चर्य क्या?

---

१. मीराँबाई की पदावली, पद सं० ९।
२. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३४५।
३. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १८२।
४. सूरसागर, पद सं० २३९५।
५. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १८२।
६. सूरसागर, पद सं० १४१७।
७. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३९१।
८. सूरसागर, पद सं० १२८२।
९. सूरसागर, पद सं० २४५०।

(८) दन्त

विन्यास, शुभ्रता और दीप्ति की दृष्टि से कृष्ण के दाँत राधा की ही भाँति बेजोड़ हैं। द्युति एवं रचना में दाडिम, शुभ्रता में कुंद, वज्रकण आदि तथा चमक में मुक्ता दामिनी आदि से समता करने वाले दाँतों का सौन्दर्य अप्रतिम ही ठहरेगा।

(क) दाडिम: सुगढ़ एवं सानुपातिक रूप से सुसज्जित कृष्ण के झलमलाते दाँतों को देख कर दाडिम के दानों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। एक नहीं, अनेक कवियों ने उनके दाँतों के झलमलाते विन्यास की तुलना दाडिम से की है:—

यथा— (अ) दसन दमक दाडिम द्युति,[१]—(मीरां)।

(आ) विद्रुम अधर दसन दाडिम द्युति[२]।—(गोविन्दस्वामी)

(इ) अरुन अधर दसनावलि की द्रुति, दाडिमकन तनु लाजत[३]। (सूर)

(ई) दाड़िम दसन मंदगति मुसुकनि मोहत सुर नर नाग।[४] (सूर)

(ख) मुक्ता, कुंद, वज्र: द्युति में वे दाड़िम के कण के उतने निकट नहीं हैं जितने मुक्ता के। जब कृष्ण हँसते हैं तो दन्त ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मरकतमणि के पुट के बीच मुक्ताफल हों।[५]

शुभ्रता में वे कुंद या कुंदकली के सदृश हैं:

(अ) दार्‌यो दामिनि कुंद कोटि सत दूरि किये रुचि गर्व टारी।[६] (चतुर्भुजदास)

(आ) दशननि कुंद कली छवि लज्जित।[७]—(हितहरिवंश)

वज्र के कण में कुंदकली से भी अधिक धवलता होती है, दसलिए, कुंदकली को भी पीछे छोड़कर, कृष्ण के दाँतों की अत्यन्त शुभ्र उज्ज्वलता के लिए वज्र या वज्र-कण की पंक्ति की उपमा उचित ठहराई गई है। उनकी चमक के लिये ये उपमान ही ठीक तरह से सार्थक जान पड़ते हैं—

(अ) अरुन अधर, द्रुज कोटि बज्रद्रुति[८]—(सूर)

(आ) हँसत दसननि चमकताई, बज्र-कन रची पाँति।[९] (सूर)

(ग) दामिनी: चमक की यह अति कृष्ण की दन्तावलि में इतनी कौंध उत्पन्न कर देती है कि उनकी दीप्ति को किसी भी तरह नहीं देखा जाता।[१०] मीराँबाई कृष्ण के अंग-अंग पर इसीलिए बलि जाती है कि उनमें असाधारणत्व है, कृष्ण के दाडिम के समान दशन चपला की भाँति चमकते हैं।[११] और इसी चमक पर चतुर्भुजदास

---

१. मीराँबाई की पदावली, पद सं० ९।
२. गोविन्दस्वामी: पद संग्रह, पद सं० ३९१।
३. सूरसागर, पद सं० २३९३।
४. वही, पद सं० २३९५।
५. हँसत लसति दसनावलि पंगति, ब्रज बनिता मन मोहत।
मरकत मनि पुट बिच मुक्ताहल, बंदन भरे मनु सोहत॥ वही, पद सं० २४२६।
६. चतुर्भुजदास: पद संग्रह, पद सं० १८२।
७. हितचौरासी, पद सं० ६४।
८. सूरसागर, पद सं० २४१६।
९. वही, पद सं० २४३७।
१०. अधर दसन दीपति की छवि, क्यों हू न जात लखी॥ —हितहरिवंश: स्फुटवाणी, पद सं० २२
११. दसन दमक दाड़िम द्युति, चमके चपलासी। —मीराँबाई की पदावली: पद सं० ९

कुंद के साथ उन पर कोटिशत दामिनी वार डालते हैं।[१] कृष्ण के मुख में दशन इतने अधिक चमकते हैं कि उसमें छिपकर चमकती दामिनी की द्युति का भ्रम हो जाता है।[२] सूरदास उनकी चमक पर सावन की तड़ित न्योछावर कर देते हैं।[३] दशन में प्रभा का अतिरेक है। कृष्ण के दंत क्या हैं, चपला की चकाचौंध उत्पन्न कर देते हैं।[४]

(घ) **चाँदनी**: किन्तु दीप्ति की यह चकाचौंध कभी-कभी स्निग्ध चाँदनी भी बन जाती है।[५] कृष्ण के दसन की द्युति में कभी कवि को शशि का आभास भी मिलता है : कृष्ण के मुखरूपी घन में वे शशि के समान समाये रहते हैं।[६] कभी तो उनकी द्युति तड़ित के समान रहती है, कभी नव-शशि के समान।[७] उनमें शीतल ज्योति-सुधा का अभाव नहीं है। उनके स्निग्ध सौन्दर्य के अंकन के लिए एक स्थल पर सूरदास ने जल-कण की उपमा का भी संयोजन किया है। कृष्ण के अरुण अधरों के नीचे दशन ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे बन्धूक कुसुम के नीचे जल-कण झलक रहे हों।[८]

(९) चिबुक

चिबुक के सौंदर्य का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। उसकी दो एक विशेषताओं पर कवि की दृष्टि उठी है। कृष्ण के अन्य अंगों की भाँति उसे भी मोहक कह कर चलते ढंग से वर्णित कर दिया गया है। श्याम की मुख-छवि पर बलि जाने लायक उनकी 'ललित ठोडी' भी है।[९] कृष्ण के कपोलों की भाँति उसकी भी मरकत-मणि-सी द्युति है।[१०]

कृष्ण की चिबुक को 'गाढ़' कह कर उसके बीच के गड्ढे के सौन्दर्य की ओर संकेत दे दिया गया है।[११] यों, कृष्ण की चिबुक सहजरूप से ललित और सुन्दर है।

(१०) ग्रीवा

कंबु, कपोत : कृष्ण के कंठ को कंबु-कंठ कहा गया है।[१२] रूपसाम्य तो है ही, उनकी सुन्दर ग्रीवा में तीन रेखाएँ भी पड़ती हैं।[१३]

---

१. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १८२।
२. बिकसत बदन दसन अति चमकत, दामिनि-दुति दुरि देति दिखाई॥ —सू० सा०, पद सं० १२५७
३. मैं बलि जाउँ दसन चमकनि की, बारों तड़ितनि सावन। —वही, पद सं० १२८२
४. अरुन अधर, दुज चमकहीं, चपला चकचौंधनि। —वही, पद सं० २९४१
५. हँसत लालन मुख दसन जुन्हाई, यह छबि कह कहों। —गोविन्दस्वामी, पद संग्रह, पद सं० २६८
६. दुज कोटि बज्रदुति, ससि घन रूप समाने। —सू० सा०, पद सं० २४१६
७. दसन की दुति तड़ित, नव ससि —वही, पद सं० २४४०
८. किधौं सुभग बन्धूक-कुसुम-तर झलकत जल-कन-काँति। —वही, पद सं० २४५०
९. मैं बलि जाउँ स्याम-मुख-छबि पर।
मैं बलि जाउँ ललित ठोड़ी पर, बलि मोतिनि की माल। —वही, पद सं० १२८२
१०. चिबुक चारु मरकत मनि-दुति। —वही, पद सं० १८२२
११. अघर बिंब चिबुक गाढ़। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३४५
१२. कंबु-कंठ, भुज नैन बिसाला। —सू० सा०, पद सं० १२४३
१३. सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा। —मीराँबाई की पदावली, पद सं० ९

कृष्ण के कंठ-प्रदेश में मांसल-कोमलता और मृदुलता है इसीलिए उनकी ग्रीवा पर कपोत की छवि को चुराने का अभियोग है।[१] कपोत-ग्रीवा में एक विशेष प्रकार का चल सौन्दर्य होता है जो अन्य सभी पक्षियों की ग्रीवा से उसे विशेष सुन्दरता प्रदान कर देता है।

(११) भुजा

(क) विशाल : कृष्ण की भुजायें सुविशाल हैं। विशालता उनके देवोपम सौंदर्य का अनिवार्य लक्षण है। एक से अधिक स्थलों पर बाहुओं की इस विशेषता पर प्रकाश डाला गया है। जैसे—

(अ) भुज बिसाल चंदन सौं चरचित...।[२] (सूर)
(आ) स्याम बाहु बिसाल केसरि खौरि।[३] (सूर)

(ख) दंड : ये विशाल बाहुएँ सुगठित, सुडौल और ओजमयी हैं। उनके पीन अंश से युक्त ये विशाल अभयद भुजाएँ दण्ड के समान हैं।[४] वे प्रियतमा के स्कन्ध पर अपना पुलकित भुजदण्ड स्थापित करके मदोन्मत्त करीन्द्र की अद्भुत गति से वृन्दावन में विचरण करते हैं।[५]

(ग) सर्प : किन्तु वे सुगठित भुजाएँ सर्प-सी कोमल और लहराती हुई-सी हैं। इनके गठन में सिल-बिलाता सौन्दर्य है और है एक विशेष लययुक्त शोभा। सर्प या भुजंग से उपमा देकर इनके इसी लहराते कोमल सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। वह दण्ड भुजंग या सर्प बन कर गतिमान हो उठता है। जानु पर्यन्त विशाल भुजाओं को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो गगन से उतरता हुआ भुजंग अधोमुख होकर झूल रहा हो। अंगु-लियाँ उसके फन-सी प्रतीत होती हैं।[६]

हथेली का सौन्दर्य 'कर-पल्लव' में व्यंजित है : मृदुल और अरुणाभ। उँगलियाँ मृदुल-दल-सी हैं।

(१२) वक्ष

विशाल, विशद, उन्नत :

कृष्ण के स्कन्ध का चित्र अत्यन्त दुर्लभ है। उनके अंग को पीन कह कर वर्णन समाप्त कर दिया गया है। किन्तु उनके वक्षस्थल के सौन्दर्य पर कवियों की दृष्टि कुछ देर के लिए टिकी है, यद्यपि उतनी गहराई से नहीं जितनी राधा के वक्षोज वर्णन में। फिर भी कृष्ण का वक्षस्थल देवोपम गरिमा से युक्त, विशाल है। वक्ष

---

१. नासा कीर, कपोत ग्रीव छबि, दाड़िम दसन चुराई। —सू० सा०, पद सं० १२४४
२. वही पद सं० १८२२।
३. वही, पद सं० २४५६।
४. अभयद भुजदण्ड मूल, पीन अंश सानुकूल। —हितहरिवंश : स्फुटवाणी, पद सं० २२
५. प्रियांसे निक्षिप्तोत्पुलक भुज-दण्डः क्वचिदपि,
भ्रमन्वृन्दारण्ये मद-कल करीन्द्राद्भुत-गतिः। —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक २३४
६. बड़े बिसाल जानु लौं परसत, इक उपमा मन आई।
मनौ भुजंग गगन तैं उतरत, अधमुख रह्यौ झुलाई॥
रत्नजटित पहुँची कर राजति, अँगुरी सुन्दर भारी।
सूर मनौ फनि-सिर मनि सोभित, फन-फन की छबि न्यारी॥ —सूरसागर, पद सं० १२५९

की विशालता क्षीण कटि की तुलना में विशेष रूप से लक्षित हो जाती है।[1] विशालता में विशदता समाहित है, साथ ही वे उन्मत्त भी हैं।[2]

किन्तु वक्ष की यह पुरुषोचित् विशद विशालता परुष नहीं है, अत्यन्त कोमल है। उसकी कोमलता वक्ष-प्रदेश की 'लुनाई' में व्यंजित है। वह मृदु मरकत-मणि-सा है।[3]

इस प्रकार, कृष्ण का उन्नत, विशाल, विशद और लावण्य से युक्त वक्षस्थल मरकत-मणि की दीप्ति से दीपित है।

(१३) रोमावली

(क) **अलिपंक्ति** : कृष्ण का उर यदि सुधा-दह है तो रोमावली उस दह से प्रवाहित होने वाली धारा के सदृश है।[4]

नाभि-हृद पर उतरती रोमावली कभी-कभी भ्रमर की माला-सी प्रतीत होती है।[5] उनके उदर-देश पर यह रोमावली एक-सी अलियों की पंक्ति जैसी लगती है।[6]

(ख) धूम्रधारा, यमुना : कभी-कभी रोमराजि की रेखा कृष्ण के तन पर ऐसी लगती है जैसे नीलघन के बीच सूक्ष्म धूम्र की धारा हो।[7]

और कभी वह यमुना की शोभा धारण कर लेती है। उर-कलिंद में धंस कर उदर के समतल पर प्रवाहित होती हुई उसकी धारा नीचे की ओर बहती है और नाभि-हृद में अवगाहन करती है।[8]

अन्य अंगों को व्रजवनितायें निरख लेती हैं, जब रोमावली पर उनकी दृष्टि पहुँचती है तब वे उसके सौंदर्य को परखती ही रह जाती हैं। किसी को वह काम की 'सरनी' सी प्रतीत होती है, किसी को जोग-टोना सी। किसी को एक ही स्थान पर एकत्रित बाल-भ्रमरों की पंक्ति लगती है। पर किसी-किसी को उसमें इतना भोला सौन्दर्य नहीं दिखाई

---

१. उर बिसाल छीन कटि। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३४५

२. उन्नत बिसद हृदय राजत है, तापर मुक्ताहार। —सूरसागर, पद सं० १८२२

३. कोउ रीझे श्रीवत्स-बच्छ, उर की लुनआई।
मृदु मरकत-मनि कोटि, नेंक जस दामिनि छाई॥ —नंददास : प्रथम भाग (रुक्मिणी मंगल), पृ० १५०

४. **स्याम उर सुधा दह मानौ।**
सुभग रोमावली की छबि, चली दसतैं धार। —सूरसागर, पद सं० २४५६

५. **नाभि पर हृद आपु वारत, रोम-अलि अलि-माल** —वही पद सं० २४५३

६. **रुचिर रोमावली ~~हरि कैं~~ चारु उदर सुदेस।**
मनौ अलि-स्रेनी बिराजति बनी एकहिं भेस॥ —वही, पद सं० १२५२

७. (अ) राजति रोम-राजी रेष।
नील घन मनु धूमधारा, रही सूच्छम सेष॥ —वही, पद सं० १२५३
(आ) सूच्छम बेष धूम की धारा, नव घन ऊपर भ्राजति। —वही, पद सं० १२५६

८. रोमावली अनूप बिराजति, जमुना की अनुहारि।
उर-कलिंद तैं धँसि जलधारा, उदर-धरनि-परवाह॥
जाति चली धारा ह्वै अध कौं, नाभी-हृद अवगाह। —वही, पद सं० १२५५

पड़ता, उन्हें वह कामदेव के द्वारा भेजा गया सर्प लगता है और वे चौकन्नी हो जाती हैं कि किसी को वह डस न ले। श्याम की रोमावली की छवि से निर्वाह नहीं है—'स्याम-रोमावली की छवि, सूर नाहिं निबाहु।'[1]

(१४) अधो देश : कटि, नाभि, नितम्ब, उरु, जानु

कृष्ण के अधोदेश का समग्र चित्र ही अधिकांशतः हमें देखने को मिलता है।

उनकी नाभि गम्भीर है। इसीलिए उसे ह्रद कहा गया है। वह गम्भीर सुधा-सरसी जैसी लगती है और त्रिवली उन सरसी की सीढ़ी-सी। कटिप्रदेश सुन्दर है, नितंब सघन। जंघों की शोभा को देख कर गजपति लज्जित हो जाता है। पिंडलियाँ पीन हैं, चरण अम्बुज के समान हैं, नख लाल हैं। इन सारी शोभाओं से युक्त मत्त गज की चाल से कृष्ण चलते हैं।[2]

अलग से कटि और जानु-जंघ का वर्णन भी किया गया है। कटि पर सिंह न्योछावर हो जाता है।[3] वह अत्यन्त कृश है। विशाल वक्षस्थल और क्षीण कटि का समन्वय कृष्ण के पुरुषोचित सौन्दर्य को पूर्णतया मुखरित कर देता है।

कृष्ण के जंघ-जानु नीलमणि के खम्भ से लगते हैं।[4] जानु तो करभा की सूंड़ के समान लगते हैं।[5] जानु-जंघ से करभा का सौंदर्य घट कर है।[6] इन्हें देखकर हाथी अपनी शुंड न्योछावर कर देता है।[7] इनके लयात्मक सौन्दर्य से शुंड परास्त हो जाती है।

करभा नहीं, सुचिक्कन, सुडौल, ढले हुए रंभा (केले का पेड़) भी उनकी शोभा की समता नहीं कर पाते।[8] जंघों के सौंदर्य के लिए रंभा को विशेष रूप से स्मरण किया गया है। दोनों जंघों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मरकत-मणि के रंभा को उलट कर संवारा गया हो।[9] पैरों की क्रमशः क्षीण होती हुई सुष्ठु मांसलता का रूप रंभा के सुडौल, चिकने, कांतिमान सौंदर्य में भलीभांति स्पष्ट हो जाता है; और करभा-कर में उस सौष्ठव की लय उभर आती है।

---

१. सूरसागर, पद सं० १२५४।

२. नाभि गँभीर सुधा-सरसी जनु, त्रिवली सीढी बनाई।
ब्रज-बधु-नैन मृगी आतुर ह्वै, अति प्यासी ढिग आई।।
कटि प्रदेस सुन्दर सुदेस सखि, ता पर किंकिनि राजै।
अति नितंब, जंघनि प्रति सोभा, देखत गजपति लाजै।।
पीन पिंडुरिया स्याम लसी री, चरनांबुज नख लाल।
मंद-मंद गति वै आवत हैं मत्त दुरद की चाल।। —सूरसागर, पद सं० १८२२

३. कटि निरखि तनु सिंह वारत. . . —वही, पद सं० २४५३

४. जानु जुगल जुग जंघ विराजत, को बरनै यह रूप।
मनहुँ नीलमनि-खंभ काम रचि, एक लपेटि सुधारे।। —वही, पद सं० १२५०

५. कबहुँ लकुट तैं जानु फेरि लै, अपने सहज चलावत।
सूरदास मानहु कर भा, कर बारंबार डुलावत।। —वही, पद सं० १२५०

६. जानु जंघ सुघटनि करभा. . .। —वही, पद सं० २३७३

७. जानु जंघ निहारि करभा, करनि डारत वारि। —वही, पद सं० २४५३

८. जानु जंघ सु घटनि करभा, नहीं रंभातूल। —वही, पद सं० २३७३

९. जुगल जंघ मरकत-मनि-रंभा, विपरित भाँति सँवारे। —वही, पद सं० २४०९

(१५) चरण

कृष्ण के चरणों की उपमा अनिवार्य रूप से कमल से दी गई है। वे नील कमल से सुकोमल और सुगन्धित हैं। उनका तल कंजारुण है। इन चरण-कमलों का सौंदर्य तो अप्रतिम है ही, महिमा भी अप्रतिम है। अंधे को दृष्टि, पंगु को लाघव-समर्थ्य, बधिर को श्रवणशक्ति प्रदान करने की उनकी दिव्य क्षमता पर रीझ कर सूरदास बार-बार उनकी वंदना करते हैं।

इन महिम चरणों के अरुण-कमल पर स्वयं सुषमा विहार करती है।[१] अरुण चरणतल में अंकुश, कुलिश, वज्र और ध्वज को प्रगट देख कर ब्रज-तरुणियों का मन भ्रमित होने लगता है।[२] उस रुचिर चरणारविन्द के मकरन्द में मन लुब्ध होकर समर्पित हो जाता है, वह उनमें अंकित चित्रकमल के संसार में समा जाता है, पुनः इस संसार की ओर लौट कर नहीं आता।[३]

चरणों के नख इंदु के समान हैं, शीतल प्रकाश से युक्त, वैसे ही सुन्दर।[४] चन्द्र की ही नहीं, कमल-पद के नखों में मणि की आभा भी है।[५]

(१६) गमन

चलने में समस्त देह का सौन्दर्य गतिशील हो उठता है। अधिकतर कृष्ण मत्त गजराज की-सी चाल चलते हैं जिसमें उनके सब अंगों का सौन्दर्य उभर आता है। भुजदण्ड हाथी के सूंड़ का अपहरण कर डालते हैं, और भाल पर लटकते हुए कुंचित कच महावत अनंग के अंकुश का। अवतंश-मंजरी चँवर, और श्रमजल मद के कण का जाल रच डालते हैं।[६] वे साक्षात् गयंदकुमार की चाल से चलते हुए प्रतीत होते हैं।[७] सुरभियों के बीच घूमते हुए कृष्ण गज की भाँति चलते हैं।[८]

मंदगति से चलने पर ब्रजराज का गमन-सौंदर्य अत्यन्त ललित और मधुर हो जाता है। वे मराल की गति का सौंदर्य अवतरित कर लेते हैं। पैरों में क्वणित पैंजनी मराल के नाद-सौन्दर्य को मुखरित कर देती है। यशोदा राजमराल-सी चाल चलने वाले अपने लाल को खोजती फिरती हैं।[९] जब वे झूमते हुए चलते हैं तब मत्त गजराज से लगते

---

१. सूरदास मनु अरुन कमल पर, सुषमा करति बिहार। —सूरसागर, पद सं० १२४९

२. अंकुस-कुलिस-बज्र-ध्वज परगट, तरुनी-मन भरमाए। —वही, पद सं० १२४

३. कोउ रुचिर चरनारविन्द-मकरंद लुभाये।
चित्रकमल-संसार निरखि, अलि बहुरि न आये॥ —नंददास : प्रथम भाग (रुक्मिणीमं०), पृ० १५०

४. (अ) कोऊ निरखि नख-इन्दु भूली कोउ चरन-जुग रंग। —सूरसागर, पद सं० १२५२
(आ) ध्रुव बज्रांकुस कमल बिराजत पद नख दुति कोटि चन्द नहीं तोल।
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६१

५. जुगल कमल पद नख मनि-आभा। —सूरसागर, पद सं० १२४३

६. मद गजराज कीसी चाल।
बार भुज दण्ड सुंड की सोभा हरि लीनी नन्दलाल॥
चूरन कच कुंचित अनंग अकुंस ले लटकत भाल।
चौंर चारु अवतंस मंजरी मद कन श्रम जल जाल॥ —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३२

७. भोर भवन तें निकसे मोहन चलनि गयंद-कुमार। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २६५

८. मद गज चाल चलत सुरभिन संग लाडिलौ कुँवर व्रजेस। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६६

९. पग पेंजनी कुनित कहुं देख्यो चाल सु राजमराले। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २६१

हैं, जब लटकते हुए तब मराल से।[१] एक में धीरे-धीरे चलने का आन्दोलित सौन्दर्य है, दूसरे में संतरण की-सी प्रवाह-युक्त गति।

इस प्रकार, प्रकृति के क्षेत्र से उपादानों को लेकर आदिरूप का सौन्दर्य मूर्तित किया गया है। यह रूप-विधान प्राकृतिक उपादानों के सहारे खड़ा हुआ है : मरकत-मणि की आभा में स्नात और उसके भीतर ही बिम्बित। आकाश (चंद्र) से लेकर सागर-तल (मुक्ता) की विशाल पटभूमि के उपकरण उसे प्राप्त हैं। पक्षियों, पुष्पों का सौन्दर्य कृष्ण के सौंदर्य ने अपहृत कर रखा है। यही नहीं, पशु का सौंदर्य भी उनमें समाहित होकर दिव्य हो उठा है—केहरि, गज उनकी शोभा के उपकरण बन कर धन्य हुए हैं। सृष्टि का कोई सुन्दर उपकरण नहीं बचा जो उनके शोभा-संसार में नहीं खप गया।

जिस प्रकार मधुराधिपति का रस-परिवेश मधुर-ही-मधुर है, उस प्रकार उनका रूप सुन्दर-ही-सुन्दर। जिस प्रकार बिल्वमंगल और वल्लभाचार्य कृष्ण की मधुरता का गान करते नहीं थकते, उस प्रकार सूरदास उनकी सुन्दरता का गान करते नहीं थकते। घनश्याम का क्या सुन्दर नहीं है[२] ? किन्तु वह सौंदर्य बहुत सुलभ नहीं है, बड़ी भाग्य दशा से 'सुन्दर सर्व सुजान' किसी के आंगन में आते हैं।[३] सौंदर्य का यह दर्शन उन्हीं की कृपा पर निर्भर है, जो प्रीति की वशवर्तिनी है।

नैसर्गिक सौन्दर्य के अन्य तत्व

(क) वर्ण—राधा गौरांगी हैं। उनका गौर वर्ण हेमाभ है।[४] वे 'मृदुल-कंचन' भी हैं।[५] राधा की छवि पीत और अरुणिमा मिश्रित स्वर्ण के समान है, आभा अनन्त विद्युत्माला के सदृश ।[६] राधा के वर्ण में दीप्ति है, इसीलिए हेमांगी राधा तड़ित-लता-सी विदित होती हैं। कृष्ण यदि घनश्याम हैं तो राधा दामिनी। राधा की सौवर्ण-दीप्ति इतनी चकाचौंध उत्पन्न कर देती है कि उसके आगे शत दामिनी निस्सार हो जाती है। किन्तु यह सुवर्ण दीप्तिमान ही नहीं है, वह नवीन केशर के समान भी है।[७] राधा का तन सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ करता है, इसलिए वह तड़ित में नवीन केशर को समाहित किए हुए है। उनका वर्ण एक साथ ही आभामय और कोमल है। राधा देवी हैं और राधा मानवी हैं। अस्तु, उनके अंगों के लिए अधिकतर स्वर्ण-कमल की उपमा खोजी गई है। उनकी देह उसी से निर्मित है।

---

१. बलि-बलि लटकनि मराल चाल नंदलाल प्यारे। —वही, पद सं० २१७

२. देखि सखी सुन्दर घनश्याम।
सुन्दर मुकुट, कुटिल कच सुंदर, सुन्दर भाल तिलक छबि धाम।।
सुंदर भुव, सुंदर अति लोचन, सुंदर अवलोकनि बिस्राम।
अति सुंदर कुंडल स्रवननि बर, सुन्दर झलकनि रीझत काम।।
सुंदर हास नासिका सुंदर, सुंदर मुरली अधर उपाम।
सुंदर दसन, चिबुक अति सुंदर, सुंदर हृदय बिराजति दाम।।
सुंदर भुजा, पीतपट सुंदर, सुन्दर कनक-मेखला-झाम।
सुंदर जंघ, जानु पद सुन्दर, सूर-उधारन सुन्दर नाम।। —सूरसागर, पद सं० २४४३

३. निसिदिन रहै दरस की आसा, मिले अचानक आनि।।
भागदसा आँगनहीं आए, सुन्दर सरब सुजानि। —वही, पद सं० २५०१

४. ...सात कुम्भ तनु गोरी......। —हितचौरासी, पद सं० ९

५. गौर श्यामल अंग...सरस मणि नील मनों मृदुल कंचन खची। —वही, पद सं० ५०

६. पीतारुणच्छविमनन्ततडिल्लताभां...। —राधासुधानिधि, श्लोक २९

७. ...काश्मीर गौरच्छवि...। —वही, श्लोक ६८

कृष्ण का रंग राधा के रंग से विरोध (Contrast) का है। वे 'श्याम' हैं, श्याम ही नहीं 'घनश्याम' हैं। उनका वर्ण गहरा श्यामल है, वे कृष्ण हैं। कृष्ण के वर्ण का अनुमान तमाल तरु के वर्ण से किया जा सकता है।[१] राधा यदि कंचन-वेली हैं तो कृष्ण तमाल-तरु। यह श्यामलता तरल है, मृदुल है। इसीलिए कृष्ण जलधर सदृश प्रतीत होते हैं। कृष्ण का रंग काला नहीं श्याम है, नीली आभा लिए हुए। वे नव-घन सदृश लगते हैं।[२] इस नीलाभा में मरकत-मणि की द्युति प्रच्छायित है। कृष्ण के वर्ण एवं द्युति की तुलना मरकत-मणि से की गयी है।[३] वे इन्द्रनीलमणि के समान हैं।[४] कृष्ण के नाम का रहस्य ही यह है : आकर्षण के कारण तो वे 'कृष्ण' हैं ही, श्यामलता के कारण भी 'कृष्ण' हैं। कृष्ण रंग का तात्विक दृष्टि से एक गहन अर्थ भी है। कृष्ण एक प्रकार से वर्णरहित हैं। वे परात्पर ब्रह्म हैं अतएव वर्ण से परे हैं। वही उनकी वास्तविकता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब जो श्यामता रात्रि का रूप धारण करती वही कृष्ण में मूर्तिमान होती है। सूर्य-प्रकाश एवं उससे उत्पन्न वर्णों में विश्वसत्ता की अभिव्यक्ति है, समाहिति अंधकार में है। कृष्ण उज्ज्वल अंधकार हैं। वे वर्णविहीन हैं किन्तु सारे वर्णों के उत्स हैं।

(ख) लावण्य, मधुरता, सुकुमारता, द्युति, कांति आदि

सौंदर्य के इन तत्वों का निरूपण स्त्री होने के कारण राधा किंवा अन्य कृष्ण-प्रियाओं में अधिक हुआ है, कृष्ण में कम। सूर ने अवश्य कृष्ण के सौंदर्य में इनका विपुल संकेत किया है। नंददास शास्त्रीय-दृष्टि-सम्पन्न कवि हैं, इसलिए उन्होंने सौंदर्य के इन विविध पार्श्वों का सांगोपांग रूप प्रस्तुत किया है। नायिका 'रूपमंजरी' के वर्णन में इनका विश्लेषण किया गया है। झलमलाहट को द्युति कहते हैं जैसे शरद-चन्द्र। कान्ति की प्रतिच्छाया लावण्य है जैसे मुक्ता-फल की परछाईं। रूप भूषण के अभाव में भी भूषित-सा प्रतीत होता है। जिसे देखते हुए तृप्ति का अनुभव नहीं होता वह माधुरी है। तन की ज्योति कांति है। देखने पर भी जो अनदेखा-सा लगता है वह रमणीयता कहलाता है। सारे अंगों का सुष्ठु गठन 'सुंदरता' की संज्ञा पाता है। स्पर्श में भी अस्पर्श्य रहने वाला तत्व 'मृदुता' है। अति कोमलता सुकुमारता कहलाती है।[५] सौन्दर्य के ये सारे तत्व कृष्ण-प्रेयसी रूपमंजरी में उत्कीर्ण हैं।

राधा के सौन्दर्य में इन समस्त तत्वों का उत्कर्ष पाया जाता है। उनकी मृदुता पर सुमन न्योछावर हो जाते हैं। उनके रूप से सारा वृन्दावन जगमगाता है। तन आरसी का भी आरसी प्रतीत होता है।[६] राधा की सुकुमारता के विषय में जो कहा जाय वही थोड़ा है। वे हार का भार भी नहीं सह पातीं, इसीलिए कृष्ण उन्हें उर-हार-सा किए रहते हैं।[७] हार तो दूर किशोरी राधा दृष्टि का भार भी नहीं सहन कर सकतीं, कृष्ण उन्हें भरपूर दृष्टि से देखने में संकोच

---

१. तन घनस्याम तमाल लाडिले. . . । —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० २७७
२. नव-घन-नी[illegible]-बरन. . . । —सूरसागर, पद सं० २४१८
३. स्याम मरकत-मनि-महानग. . . । —वही, पद सं० २४३६
४. . . . इन्द्रनील-मनि-मुकुर कपोल. . . । —वही, पद सं० २४११
५. नंददास : प्रथम भाग (रूपमंजरी, पंक्तिक्रम १५५, १६०, १६५), पृ० ८।
६. सोने तें सुरंग गोरी सोंधे सों सुवास अति, मृदुताई पर वारौं जेतिक सुमनरी।
रूपही को रूप जगमगत सकल बन, आरसी को आरसी लसत ऐसो तनरी॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (भजन, शृंगार सत लीला), पृ० ८५
७. हारनि के भार भारी ऐसी सुकुमारी प्यारी, रसिक रँगीले लाल कीन्हीं उर हारसी। —वही, पृ० ८५

करते हैं।[1] रसिक कृष्ण सुकुमारी प्रियतमा को छूते नहीं, मन के करों द्वारा छूने से भी डरते हैं। उन पर प्राणों की छाया किए रहते हैं। रीझ रीझ कर दूर ही से पैरों पड़ते हैं।[2] सुकुमार राधा के तन में क्षण-क्षण उपजती हुई माधुरी की तरंगें रोम-रोम को शोभा प्रदान करती हैं।[3] शोभा और माधुर्य ही नहीं है उनमें, रोम-रोम से ऐसी कांति जगमगाती है कि मोहन पर भी मोहनी छा जाती है।[4] और दीप्ति, उसके कारण कुंज में राधा फ़ानूस-सी दिखाई पड़ती हैं।[5] राधा के अंगों से रूप तत्व की निरन्तर वर्षा होती रहती है। अहर्निशि उनका अद्भुत रूप-जल एकरस बरसता रहता है, फिर भी तृषित प्रियतम पपीहा बने रहते हैं, उन्हें तृप्ति नहीं मिलती; वे प्रिया-मुख की ओर देखते ही रहते हैं।[6] आराध्या राधिका में सौंदर्य के सारे तत्व मूर्तिमान हैं।

कृष्ण की मुग्ध कमनीय किशोर मूर्ति में भी सौंदर्य की यह सारी छटा पाई जाती है। वे जलधर के समान सुकुमार हैं, नील कमल सदृश मृदु। माधुर्य और रमणीयता के तो वे अवतार ही हैं। इसलिए उन्हें देख कर कभी तृप्ति का अनुभव नहीं होता। उनका माधुर्य अभिभूत कर लेता है। कृष्ण का आनन माधुर्य में मग्न है।[7] वे माधुर्य के वारिधि हैं जिसमें मद की तरंगें उठ रही हैं।[8] मद के साथ-साथ उनमें लावण्य की अमृतवीथियां भी हिलोरें ले रही हैं।[9] कृष्ण की द्युति ने इन्द्र-नीलमणि की आभा को धारण कर रखा है। और कांति !—उसी के कारण कपोल नील-दर्पण से प्रतीत होते हैं। सौंदर्य के सारे उपकरणों को अपने में समाहित करने के कारण ही परब्रह्म 'कृष्ण' हुए, आकर्षक बने।

(ii) प्रसाधनजनित सौन्दर्य

राधा और कृष्ण के नैसर्गिक रूप पर भक्त कवियों की दृष्टि जैसे मुग्ध हो उठी है, उनके अभिमंडित सौंदर्य पर वैसे चकित। सौंदर्य की नैसर्गिक छटा को विभिन्न प्रसाधनों से अलंकृत करके भक्त कवियों ने प्रस्तुत किया है। प्रसाधन के सभी उपकरणों पर उनकी स्वाभाविक अनुरक्ति है। कवियों की शृंगार-प्रियता सौन्दर्य की नयी-नयी सज्जा में रुचि लेती प्रतीत होती है। वे मात्र राधाकृष्ण की मूर्ति नहीं आंकना चाहते, उनके विशालतर सत्य को जीवन के सूत्रों में उतारना चाहते हैं। राधाकृष्ण का दिव्य विग्रह सौन्दर्य के सभी प्रसाधन को धारण करके लीला के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। अंजन हो या चन्दन, वस्त्र हो या आभूषण, सभी कुछ उनके दिव्य शरीर पर चढ़ कर अपनी

---

१. डीठि हू को भार जानि देखत न डीठि भरि, ऐसी सुकुमारी नैन प्रानहू ते प्यारी है।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (भजन, शृंगार सत लीला), पृ० ८८

२. छुवत न रसिक रँगीलो लाल प्यारी जू को मनहूँ के करनि सों छुवत डरत है।
प्रेम की नौलासी प्यारी सहज ही सुकुमारी, प्रानन की छाया तिन ऊपर करत है।।
....
अति ही आसक्त ताकी हित ध्रुव यहै गति, रीझि रीझि दूरिही तें पाइन परत है। —वही, पृ० ९९

३. माधुरी तरंग रंग उपजत छिन छिन, रोम रोम प्रति शोभा रही है लुभाइ के।
—वही, (भजन, तृतीय शृंखला लीला), पृ० १०६

४. रोम रोम रूप कांति पानिप जगमगाति, मोहनी के देखै आवै मोहन को मोहनी।
—वही, (हित शृंगार लीला), पृ० १२२

५. रूप की दीपत तें ध्रुव कुंज फनूस सी ह्वै रही यों उर आई। —वही, (भजन,-द्वितीय शृंखला लीला) पृ० ९२

६. बरषत अद्भुत रूप जल, एकहि रस निशि भोर।
तृषित पपीहा तऊ पिय, चितवत मुख की ओर।। —वही, (हितशृंगार लीला), पृ० १२२

७ ...माधुर्यमग्नाननं, —कृष्णकर्णामृत, श्लोक ४

८. माधुर्य-वारिधिमदाम्बु-तरंगभंगी। —वही, श्लोक १४

९. लावण्यामृत-वीचि—लोलित—दृशं...। —वही, श्लोक ३।

सार्थकता पा लेता है। जहाँ निराकार की साधना ने सृष्टि के सारे प्रिय पदार्थों से अपनी आँखें बन्द कर रखी थीं, वहाँ साकार की रूपासक्ति ने सारे प्रिय प्रियकर तत्वों में अपनी गहरी अनुरक्ति प्रकट की। इस आसक्ति में भक्त-कवियों को बहक जाने का अंदेशा भी नहीं था, क्योंकि वे उस परम मनःचेतना में अंतर्लीन थे जिसे लीला या रस कहते हैं, और लीला में सुन्दरता का कोई भी उपादान अग्राह्य नहीं है।

अस्तु, भक्तिकाल के कृष्णकाव्य में हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण की रूपसज्जा में विविध सौन्दर्य-उपकरणों का उपयोग किया गया है, जैसे, आलेपन, मंडन (काजल, बिन्दी, तिलक आदि) आभूषण और वस्त्र।

आलेपन

शरीर को आकर्षक एवं सुगंधित करने के लिए नाना प्रकार के द्रव्यों का आलेप किया जाता रहा है। जिन सुगन्धित द्रव्यों से कृष्ण एवं गोपियों की देह चर्चित होती है उन द्रव्यों में प्रमुख हैं—चन्दन, कस्तूरी, कुंकुम, कर्पूर, सुगन्धित तैल व इत्र।

(१) **चन्दन**—देह को सुरभित करने में पवित्र और शीतल चन्दन सबसे अधिक सहायक हुआ है। चन्दन के साथ घुलमिल कर अन्य द्रव्य प्रायः नहीं आए हैं, वह अकेला ही राधाकृष्ण की दिव्य देह की पवित्रता को प्रसरित करने में समर्थ है। यह सभी कवियों का प्रिय आलेपन रहा है। कृष्ण की विशाल भुजाएँ चन्दन से चर्चित हैं।[१] भुजायें ही नहीं, उनका समग्र तन चन्दन से चर्चित है। नव-घन-नील-वर्ण के ऊपर इसी का खौर है।[२] वे अंग पर मात्र चन्दन ही लगाये रहते हैं।[३] यह चन्दन अत्यन्त मोहक सुगन्ध से भरा हुआ होगा क्योंकि वह नया है।[४]

चन्दन नीलवर्ण को वैपरीत्य (Contrast) की छवि प्रदान करता है पर कनकवर्णी राधा के तन से मिल कर जैसे उसी में समाहित हो जाता है। कनक की छवि पर मलयज का आलेपन देखते ही बनता है,[५] सोने में सुगन्धि की कहावत चरितार्थ हो जाती है।

मानव क्या, अवसर पर गायों को भी चन्दन से मण्डित किया गया है।[६]

(२) **कस्तूरी**—कृष्ण के तन पर चन्दन चढ़ कर सार्थक हुआ है तो राधा के तन पर कस्तूरी। स्त्री के आलेपन में कस्तूरी को विशेष रूप से स्थान मिला है। राधा की सखियों की यह कातर अभीप्सा है कि कब वे राधा की कुच-तटी-चर्चित कस्तूरी से पंकिल यमुना के जल में नहा-नहा करके अपने कुदेह जनित मल को त्याग कर निर्मल होंगी?[७] कस्तूरी का आलेपन अधिकतर कुच को ही मण्डित करने के लिए प्रस्तुत हुआ है। कृष्ण के नेत्र राधा के कानों में कंज, नेत्रों में अंजन तथा कुच के मध्य मृगमद होकर भी नहीं समा पाते।[८]

(३) **कुंकुम**—कस्तूरी के साथ ही केशर भी कृष्ण-प्रिया की देह को अनंग रंग से भर देती है। श्याम के अंग पर चंदन की आभा रहती है और राधा के अंग पर केशर की। अस्तु, मलयज और कुंकुम मिल कर यमुना में एक रंग

---

१. भुजबिसाल चन्दन सों चरचित। —सूरसागर, पद सं० १८२२
२. नवघन नील बरन, ता ऊपर खौरि कियो तनु चंदन। —वही, पद सं० २४१८
३. ...बैजंती माल अंग चन्दन ही दीने। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३८३
४. मृगमद तिलक रुचिर बनमाला तनु चरचित नव चंदनु —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १०६
५. कनक-छबि तन मलय-लेपन, निरखि भामिनि-अंग। —सूरसागर, पद सं० १६९९
६. चंदन सकल धेनुतन मंडित...। —हितहरिवंश : स्फुट वाणी, पद सं० ११
७. कालिन्दी सलिले च तत्कुच तटी कस्तूरिका पंकिले।
स्नायं स्नायमहो कुदेहजमलं जहयां कदा निर्मलः॥ —राधासुधानिधि (हितहरिवंश) श्लोक ५९
८. श्रुति पर कंज, दृगंजन, कुच बिच मृग मद ह्वै न समात। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ६०

हो जाते हैं।[1] श्रीराधा के कुच कुंकुम से रंजित रहते हैं।[2] प्रिया की ही नहीं कृष्ण की उदार देह भी कुंकुम से चर्चित रहती है।[3]

(४) **कर्पूर**—चन्दन और कस्तूरी की प्रधानता होते हुए भी कपूर की शीतल सुगन्ध को कवियों ने राधा-कृष्ण के आलेपन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। चंदन के साथ कृष्ण की देह कपूर से भी चर्चित रहती है।[4] पान में चर्वित कपूर की शीतलता के कारण यदि राधा के कपोलों पर पुलक उत्पन्न हो सकता है, तो समग्र आलेपन से कितना पुलक उत्पन्न नहीं होगा।[5] कभी-कभी राधा और कृष्ण के अंग पर चंदन के साथ-साथ घनसार चर्चित किया जाता है।[6]

कपूर का उपयोग न केवल शरीर पर है, वरन् मुख को सुवासित करने के लिए भी किया गया है, कभी वह ताम्बूल में डाला जाता है, कभी आचमन के जल में।

ग्रीष्म ऋतु में अरगजा का आलेपन भी राधा-कृष्ण की देह पर लगाया जाता है।[7]

इन सब आलेपनों की कीच-सी मची रहती है।[8] मचे भी क्यों नहीं, वृन्दावन में सहज वसन्त जो रहता है! ये सुगन्धित सामग्रियाँ वहाँ बहुलता से नित्य पाई जाती हैं।[9] ब्रज की सृष्टि ही सौरभ से मादक है।

(५) **सुगन्धित तैल, इत्र**—चन्दन आदि स्वाभाविक सुगन्धियों के अतिरिक्त कुछ कवियों ने राधा-कृष्ण के श्रृंगार में सुगन्धित तेल और फुलेल को भी स्थान दिया है। रंगभीने कृष्ण जब बन्ना बनाये जाते हैं तब उन्हें तेल और फुलेल भी लगाया जाता है।[10]

वसन्त के खेल में कुंकुम, गुलाल भुरका जाता है और चोवा लिपटाया जाता है; कृष्ण के दोनों गालों पल चन्दन लगाया जाता है।[11] ये सारी सुगन्धियाँ उन पर बरसा दी जाती हैं। केशर की छींटें तथा बन्दन-रज

---

१. स्याम अंग चंदन की आभा, नागरि केसरि अंग।
मलयज-पंकज कुंकुमा मिलकै, जल जमुना इक रंग॥ —सूरसागर, पद सं० १७८०

२. कुच कुंकुम रंजित मालावलि सुरत नाथ श्रीश्याम धाम धर। —हितचौरासी, पद सं० ५

३. विहरत विपिन विहार, उदार, नवल नँद-नंदन।
नव कुंकुम, घनसार, चारु चर्चित तन चंदन। —नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६५

४. नन्ददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६५।

५. राधासुधानिधि, श्लोक १५५।

६. घसि चंदन घनसार सुहृदनी करि अरचन चरचे पिय प्यारी।
—हरिव्यास देवाचार्य : महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० ६०

७. अरगजा अंग लगाइ कपूर जल अँचाए। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १६४

८. मृगज, कपूर, कुमकुमा, कुंकुम-कीच, अगर, दिस धूप —भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३७६

९. सहज, मृगज, मलयज, कुंकुम, कर्पूर, सुगंध, लवंग।
'व्यास' सहज विधु सरद बसंत, बिपिन ब्रज बारि विहंग —वही, पद सं० ३८३

१०. 'रंगभीने को बना बनावौरी, सब मंगल मोद बढ़ावौरी।
सुख तेल फुलेल लगावौ री; बहु बाजे विविध बजावै री।
उबटना अंग उबटावौ री; केसरि के नीर न्हवावौ री —महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० १४१

११. कुंकुम भरि भरि भुरकत गुलाल।
लै लपटावत चोवा रसाल॥
चंदन चरचत दुहूँ गाल।
रही पाग ढरकि अरध भाल॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७५।

श्यामल तन पर सुशोभित हो जाती हैं, बीच-बीच चोवा लिपटा रहता है, आलेपन की इस विचित्र चित्रमयता के लिये कवि को कोई उपमा नहीं सूझती।[१]

मंडन

सुगन्धित द्रव्यों से तन को चर्चित करके सौन्दर्य के विग्रह को सूक्ष्म धरातल पर उठा दिया गया है, तथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं से मंडित करके उस सौन्दर्य-दृश्य को चित्रात्मक बना दिया गया है। भूषण और वस्त्र के अतिरिक्त अन्य रम्य प्रसाधन भी चुने गये हैं जो कृष्ण और राधा की कमनीय छवि को और अधिक चित्ताकर्षक बना देते हैं। विरह में मंडन के अभाव में गोपियों का सौन्दर्य तापसी लगता है, और मिलन की स्वाभाविक प्रफुल्लता में मंडन चार चाँद लगा देता है। कृष्ण का पुरुषोत्तम सौन्दर्य भी अभिमंडित करके वैचित्र्य-संपन्न और कांत बनाया गया है।

श्रीकृष्ण का मंडन

कृष्ण के मंडन में मोर-चन्द्रिका, पुष्प, धातुचित्र और मालाओं का उपयोग किया गया है।

(१) मोर चन्द्रिका

ब्रजवासी कृष्ण के शीर्ष-स्थान पर मोरचन्द्रिका विराजित है। यह उनके लावण्यमय सौन्दर्य के ऊपर फहरा रही है। मयूर जैसे सुन्दरतम पक्षी के पंख को अपने शीश पर मूर्धन्य स्थान देकर कृष्ण ने सौन्दर्य की विजय-पताका फहरा रखी है। मोर-चन्द्रिका का यह सुकुमार मुकुट ही उनके द्वारिकावासी, मथुरावासी रूप से पृथक् वृन्दावनवासी रूप की स्वच्छन्द और उन्मुक्त जीवनलीला का संदेश वहन करता है।

यह चन्द्रिका नये पंखों की बनी है। वे इसी का मुकुट लगा कर सुरभियों के संग बन से पुनरागमन करते हैं।[२] इसकी कोमल, रोमिल पाँखें उनके शीश पर फहराती रहती हैं।[३] मोरचन्द्रिका में चित्रविचित्र रंगों का मेल रहता है, भक्त-कवि उस पर न जाने कितने इन्द्र-धनुषों को न्योछावर कर डालने के लिए उत्सुक हो जाता है।[४] उसके नयनानुरंजनकारी वर्ण-वैचित्र्य से ब्रजनारियाँ हर्षोन्मत्त हो थकित हो जाती हैं। जब वे नागरी नारियाँ कृष्ण के रूप को निरखती हैं तब उस मोर-मुकुट पर उनका मन लटक जाता है, सुलझ नहीं पाता। वे बार-बार उसको देखती हैं, और देखते-देखते थक जाती हैं, पर नेत्र उसके सौंदर्य पर ठहर ही नहीं पाते। किसी को ऐसा लगता है मानो मरकत-मणि के पर्वत-शिखर पर जलधर देखकर मोर आनन्दमय नृत्य करने लगा हो, और किसी को ऐसा प्रतीत होता है मानों गगन से सुरचाप प्रकाशित हो उठा हो।[५]

---

१. केसरि छीट रुचिर बंदन-रज स्याम सुभग तन सोहै।
बीच-बीच चोवा लपटानो उपमा को ह्याँ को है॥ —वही, पद सं० ६९।

२. नंदनंद सुरभी संग आवत बने।
केकी नवचन्द्रिका मुकुट सिर पर धर्यो। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३७८

३. सीस टिपारो फरहरात बरुहा चंद्र। —वही, पद सं० ४३४

४. मकुट सीस सिखंड सोहै, निरखि रहीं ब्रज-नारि।
कोटि सुर-कोदंड-आभा, झिरकि डारैं वारि॥ —सूरसागर, पद स० २४३७

५. निरखत रूप नागरि नारि।
मुकुट पर मन अटकि लटक्यौ, जात नहिं निरुवारि॥

(२) केश-पुष्प

कृष्ण-काव्य में राधा की वेणी का जिस प्रकार फूलों से श्रृंगार किया गया है उसी प्रकार कृष्ण के कुंचित केशों का भी पुष्प-श्रृंगार किया गया है।

उनकी अलकावलि में कुसुम ग्रथित है, जिन पर लटकते हुए मधुप अवतंस पर मंडरा रहे हैं।[१] कभी चंपककली, तो कभी कुंदकली से केशों की शोभा बढ़ाई जाती है। यों तो कृष्ण की स्निग्ध और निविड़ अलकावली की अपनी ही अति शोभा है, पर बीच-बीच उसमें चम्पककली पिरो कर कुंतल-छवि को और भी बढ़ा दिया गया है।[२] चम्पककली पिरोई ही नहीं जाती, उलझा भी दी जाती है। उसकी इस उलझी शोभा का अपना अलग आकर्षण है।[३] यों, सामान्यतया पुष्पों के संग्रथन से ही सुन्दर केशों का सौंदर्य निखारा गया है, कुन्दकली को अच्छी तरह गूंथ कर।[४] कभी-कभी तो यह ग्रंथन उनके अलकों पर कुसुम-स्तवक उपस्थित कर देता है।[५]

केशों में ही पुष्पों को नहीं गूंथा गया है, पाग के चारों तोर नाना वर्ण के सुमन मंडलाकार छाए गये हैं। उस अपूर्व शोभा को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं कामदेव अपने पुष्प-धन्वा को लेकर बन, बाग में फूलों की वर्षा कर रहा हो।[६]

(३) भाल-तिलक

तिलक से कृष्ण के भाल की शोभा निखर उठती है। उनके सुदीप्त भाल पर तिलक अंकित किया जाता है, कभी केशर से, कभी मृगमद किंवा कस्तूरी से। कस्तूरी का तिलक उनके ललित मस्तक को अत्यन्त 'रसाल' बना देता है।[७] केशर का तिलक भी उनके भाल पर उतनी ही शोभा देता है।[८] बल्कि मीरांबाई तो यहां तक कहती हैं कि कृष्ण के भाल पर केशर का तिलक तीनों लोक को मोहित कर लेता है।[९] कभी-कभी कस्तूरी और चन्दन को मिलाकर रुचिर तिलक बनाया जाता है।[१०] तिलक चाहे जिससे बना हो, वह हरि के विशाल

शेष— स्याम तन की झलक, आभा चन्द्रिका झलकाइ।
बार बार बिलोकि थकि रहीं, नैन नहिं ठहराइ।।
स्याम मरकत-मनि-महानग सिखा निरतत मोर।
देखि जलधर हरष उर मैं, नहीं आनँद थोर।
कोउ कहति सुरचाप मानौ, गगन भयौ प्रकास।
थकित ब्रजललना जहाँ तहँ, हरष कबहुँ उदास।। —वही, पद सं० २४३६

१. ग्रथित कुसुम अलकावलि धुनत मधुप अवतंसनि लटकत। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४३५

२. स्निग्ध निविड़ अलकावलि अति छवि बिच-बिच चंपकली पोहनी। —वही, पद सं० ४२७

३. स्निग्ध अलक बिच बिच राखी चंपकली अरुझाई।। —वही, पद सं० ३६४

४. सुन्दर कर केसन बिच राखी सुग्रथित कुंद करी। —वही, पद सं० ३९०

५. छुरित गोरज अलक ग्रथित कुसुम स्तवक . . . । —वही, पदसं० ४३६

६. कुंचित केस मयूर चन्द्रिका मंडल सुमन सुपाग।
मानहु मदन धनुष सर लीन्हे बरषत है बन बाग। —सूरसागर, पद सं० २३९५

७. (अ) तिलक मृगमद-ललित भाल राजें। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह पद स० ४३६

(आ) मकर कुंडल, तिलक भाल, कस्तूरी अति रसाल . . . ।—चतुर्भुजदास : पद संग्रह पद सं० २८७

८. केसरि तिलक ललन सिर राजे। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह पद सं० ४३७

९. केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहैं। —मीरांबाई की पदावली, पद सं० ९

१० रुचिर कस्तूरि चन्दन तिलक भाल को। —हितहरिवंश : स्फुटवाणी, पद सं० १३

भाल-पट्ट पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार राधिका के भाल पर रोली।[१]

तिलक से उन्नत, विशाल भाल की गरिमा प्रस्फुटित हो उठती है। उसमें लालित्य और रुचिरता आ जाती है।

(४) धातुचित्र

कृष्ण की देह पर चन्दन या कस्तूरी की खौर के अतिरिक्त बनज धातुओं के चित्र भी अंकित रहते हैं। उनका 'तन् धातु-बिचित्रत' रहता है।[२] उनके श्याम अंग पर बनज धातुयें अति विचित्र शोभा उत्कीर्ण करती हैं।[३]

जिस प्रकार चंदनादि से शरीर पर चित्र अंकित किये जाते हैं उसी प्रकार बन की कुछ धातुओं से भी चित्र बनाये जाते हैं। कदाचित् कुछ विशेष रंगीन द्रव इसके हेतु संकलित किए जाते रहे हों।

(५) मालायें

कृष्ण के वक्षस्थल पर मोतियों की मालायें तो विराजित रहती ही हैं, उनके अतिरिक्त भांति-भांति के पुष्पों की कोमल मालायें भी उनके कोमल तन को मंडित किए रहती हैं। मालाओं में सबसे विशिष्ट है 'वैजयन्ती माल'। कृष्ण के चन्दनयुक्त देह पर वैजयन्ती माला विराजमान है।[४] यह पंचरंगी पुष्पों की जानु पर्यन्त माला होती है। उनकी अन्य मालाओं में यह सबसे विशिष्ट है। इसीलिए मीरांबाई उस नन्दलाल को अपने नयनों में बसाना चाहती हैं जिसके अधरों पर मुरली राज करती है, और उर पर वैजयन्ती माल।[५]

गुंजा की माला भी कृष्ण के कलेवर को सुशोभित करने वाली मालाओं में से एक है।[६]

इनके अतिरिक्त कमलों की माला उनके उर पर सुशोभित होती है। नील तन पर श्वेत कमलों की माला को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानों नव-घन के बीच बगपंक्ति हो।[७] कभी-कभी मंदार का हार भी विराजमान रहता है।[८]

सबसे लम्बी माला बन के नाना फूलों से बनी होती है जिसे 'बनमाला' कहा गया है। कृष्ण के विशाल हृदय पर पीली, हरी, श्वेत अरुण पुष्पों से गूंथी गई रंगबिरंगी बनमाला ऐसे विराजित होती है जैसे नभ-मंडल में इन्द्रधनुष प्रकट हो उठा हो।[९] यह बनमाला कृष्ण के चरणों तक पहुंची रहती है। चित्र विचित्र फूलों की इतनी लम्बी छटा

---

१. भाल विशाल तिलक हरि, कामिन चिकुर चन्द्र बिच रोरी। —हितचौरासी, पद सं० ९

२. हितहरिवंश : हित चौरासी पद सं० ६३।

३. बनज धातु अति विचित्र सोहें स्याम अंग। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३२८

४. बैजन्ती माल अंग चंदन ही दीने। —वही पद सं० ३८३

५. बसो मेरे नैनन में नँदलाल।

....

अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल। —मीरांबाई की पदावली, पद सं० ३

६. कहि न सकत शृंगार हार के अरु गुंजा बनमाल की। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १०४

७. मोर मुकुट, स्रवननि मनि कुंडल, जलज माल उर भ्राजत।
सुन्दर सुभग स्याम तन नव घन बिच बगपाँति बिराजत॥ —सूरसागर, पद सं० २३७२

८. उर पर मंदार हार, मुक्ता लर वर सुढार। —हितहरिवंश : स्फुटवाणी, पद सं० २२

९. पीत, हरित, सित, अरुन, मालबन, राजति, हृदय बिसाल (री)।
मानहुँ इन्द्रधनुष नभमंडल, प्रगट भयौं तिहिं काल (री)॥ —सूरसागर, पद सं० २४४२

को देख कर कभी-कभी ऐसा लगने लगता है जैसे तमाल के वृक्ष पर पुष्प-संभार से लदी कोई लता प्रफुल्लित होकर चढ़ गई हो।[१]

इन थोड़े से उपकरणों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के मंडन में अन्य वस्तुओं का नाम प्रायः नहीं लिया गया है। मण्डन की विपुलता स्त्री-प्रसाधन के सन्दर्भ में पाई जाती है। गोपियों और राधा को भक्त-कवियों ने जी भरकर सजाया है। स्त्रियों के सौंदर्य-वर्द्धन में सहायक किसी भी सामग्री को भुलाया नहीं गया, सारी सामग्री उनके मंडन में नियोजित की गई है।

श्रीराधा (गोपियां) का मंडन

स्त्री होने के कारण राधा किंवा गोपियों का आपादमस्तक अभिमंडित सौंदर्याङ्कन किया गया है। केश से लेकर चरण तक विविध श्रृंगार से वे अनुरंजित हैं। वेणी, सीमंत, भाल, नेत्र, अधर, कपोल, उरोज, हाथ, पैर—सारे स्थलों में मंडन की विविध सामग्रियों का उपयोग किया गया है।

राधा का उबटन अत्यन्त सुगंधित द्रव्यों से बनाया जाता है। वे सौरभ से सुकुमार तन को उबटती हैं।[२] तदनन्तर स्नान करके जब वे स्वयं अथवा उनकी सखियां उनका श्रृंगार करती हैं तब मंडन की सारी सामग्री कृतकार्य होती है।

(१) केश—सुगन्धि, पुष्प

राधा के केशों को भी चंपकली से गुम्फित किया जाता है, और डोरी से वेणी बांधी जाती है।[३] केशसज्जा में चम्पकली को विशेष स्थान प्राप्त है।

श्रीकृष्ण स्वयं अपने मृदुल करों से राधा का वेणी-ग्रन्थन करते हैं। उनके घने चिकुर की वेणी में वे नाना रंग के कुसुम गुम्फित करते हैं : सुगन्धित चंपक, बकुल, गुलाब और निवारी उसमें शामिल हैं।[४]

विविध पुष्प अपना सौरभ और रंग की छटा लेकर कबरी-ग्रन्थन से उपस्थित होते हैं। किन्तु मुक्तकेशों की अपनी अलग शोभा होती है, वे फुलेल से सिक्त सौरभ का मादक वातावरण बिखरते हैं।[५] छूटे हुए, खुले हुए राधा के सुगन्धित केश कृष्ण का मन हर लेते हैं।

राधा के घने काले कुन्तल किसी भी दशा में हों—निर्बन्ध या ग्रथित—पुष्पों के सौरभ और महकते तैल की सुगन्धि से सदा सुवासित रहते हैं।

(२) सीमंत—सिन्दूर

राधा के केशों की शोभा सीमंत पर विराजित सिन्दूर-रेखा से द्विगुणित हो जाती है। सिन्दूर से उनकी मांग संवारी गई है।[६] वह कवि को सरस पनाले की तरह प्रवाहित होता प्रतीत होता है।[७] सौभाग्य का सूचक और

---

१. चरनकमल अवलंबित राजति बनमाल।
प्रफुलित ह्वै लता मनौं चढ़ी तरु तमाल। —सूरसागर, पद सं० २४४२

२. सौरभ सौं तन उबटि कै, मंजन कियौ सुकुवारि।।२।। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० २१६

३. चिकुरनि चंपकली गुहि बैंनी, डोरी रोरी माँग सँवारी। —भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३६८

४. घन चय चिकुर कुसुम नाना रँग, ग्रथित मृदुल कर चंपक बकुल निवारी।
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३९९

५. सग बगे केश फुलेल में, छुटैं अधिक छबि देत —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० १२१

६. गूंथित अलक, तिलक कृत सुन्दर, सेंदुर मांग सँवारी। —हितचौरासी, पद सं० ४५

७. चिकुरनि चंपकलिन की रचना, सैंदुर सरस पनारी। —भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३७०

अनुराग का प्रकाशक होने के कारण भारतीय नारी के श्रृंगार में सिन्दूर द्वारा मांग मण्डित करने की विशेष प्रथा रही है। उसे 'सरस पनारी' कह कर भक्तकवि व्यास जी ने उसकी इसी विशेषता को इंगित किया है।

(३) भाल—तिलक-बिन्दु

पुरुषों के भाल पर लम्बा तिलक अंकित करने की प्रथा रही है और स्त्रियों के भाल पर बिन्दु। राधा के मस्तक पर तिलक-बिन्दु की रचना कई वस्तुओं से की जाती है—जैसे रोरी, कुंकुम, मृगमद, चन्दन आदि। चंदन या मृगमद का तिलक-बिन्दु राधा के ललाट पर इन्दु की भांति सुशोभित होता है।[१] यों सिन्दूर अथवा रोली का बिन्दु उनके भाल की विशेष शोभा है।[२]

लाल बिन्दी का महत्व अनुरागमूलक है, उसे देख कर कृष्ण द्रुम-डाल टेके हुए ठिठक जाते हैं।[३] उसकी छवि को देख कर मति की गति भी मूक हो जाती है। राधा के गोरे ललाट पर लाल टटके बिन्दु को देख कर ऐसा लगता है जैसे सखियों ने बन्धूक के पुष्प से विधु की पूजा की हो।[४]

गोरे ललाट की शोभा लाल बिन्दु से निखर उठती है, पर श्याम बिन्दु से उसका एक दूसरे ही तरह का भाव हो जाता है। गौर भाल पर श्याम बिन्दी से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो सुधाकर पर स्वयं श्रृंगार प्रकट हो गया हो।[५]

मृगमद या चन्दन की आभा हेमांगी राधा के स्वर्ण ललाट से मिल कर एकाकार हो जाती है किन्तु अपने भीने सौरभ से उत्कीर्ण रहती है। अरुण बिन्दु स्वर्णाभ की भूमिका में सुदीप्त हो जाता है, और श्याम विरोधाभास में शोभा पाता है।

(४) नेत्र—अंजन

कज्जल या अंजन से रंजित होकर नेत्रों की शोभा द्विगुणित हो जाती है। नेत्रों में अंजन की रेखा बहुत न्यारी लगती है।[६] राधा के नेत्र ही अंजनयुक्त-से हैं, मृगज के नेत्र के समान। अंजन की रुचिर रेखा उन नेत्रों को अधिक शोभावान कर देती है।[७] चंचल नैन-सरोज में भौंरों की श्यामता का अपहरण करने वाली अंजनरेखा मनोज

---

१. (अ) चंदन-बिन्दु ललाट इंदु सम, अलकनि किरनि प्रसारु॥३६६॥
(आ) मृगज बिन्दुजुत, तिलक इंदु छबि, झलक अलक, मनहु अलिनारी॥३६८॥
—भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६६-३६८

२. (क) कामिनि चिकुर चन्द्र बिच रोरी। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ९
(ख) सेंदुर तिलक तँबोल खुटिला बने बिसेख। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ८०

३. बेंदी लाल नथ सोहै बन्यो मोती मन मोहै,
बसभये पिय सुधि देह की बिसारी है।
गहे द्रुम डारी एक रहि गये ताकी टेक,
ऐसे वेस जब ते किशोरी जू निहारी है॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ७९

४. निरखि अरुन बेंदी, छबिहि, मति की गति भइ मूक।
मानो बिधु पूज्यो सखिन, आनि फूल बन्धूक॥ —वही, पृ० १११

५. बेंदी श्याम सुहावनी, शोभित गौर लिलार।
प्रग भयो, मनो रूप श्रृंगार॥ —वही, पृ० १२१

६. नैननि अंजन-रेख अन्यारी। —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६८

७. मृगज समान नैन अंजनजुत, रुचिर रेख अनुसारी। —हितचौरासी, पद सं० ४५

के बाणों की वर्षा करती है।[1] उस अनियारे काजर की रेखा के नैन-शर से कृष्ण विथकित, चकित और बलहीन हो जाते हैं, यहां तक कि वे तड़प कर गिर पड़ते हैं।[2] सलज्ज सुरंग विशाल नेत्रों में अंजन की रेखा बड़ी 'अनियारी' लगती है।[3] यह अंजन सुच्चिकन है।[4]

अंजन या कज्जल नेत्रों को श्यामल आभा से आपूर करके उन्हें मृगनयन का सौन्दर्य प्रदान करते हैं। इनसे रुचिर रेखा को अंकित करके उनकी चितवन को विलक्षणता प्रदान की जाती है।

(५) अधर—ताम्बूल

बन्धूक और विद्रुम के समान राधा के अधर ताम्बूल राग से भी रंजित किये जाते हैं। सुकुमारी राधा के मुख में भरी पान की पीक पर विचार करने में ध्रुवदास अपने को असमर्थ पाने लगते हैं।[5] मुख में ताम्बूल की अरुणाई सुहाग की सहज झलक है, ऐसा लगता है मानो राधा के मुखकमल के मध्य से अनुराग प्रकट हो गया हो।[6] इसलिए सहचरी की यह कामना रहती है कि राधा के लिए नव-कर्पूर और लवंगयुक्त ताम्बूल का सम्पुट वहन करे।[7]

(६) पत्रावली

कस्तूरी अथवा चन्दन से चर्चित देह के विशिष्ट अंगों—जैसे कुच, कपोल—पर पत्रावली की रचना राधा की रूपसज्जा को द्विगुणित कर देती है, वैसे ही जैसे वनधातु के चित्र कृष्ण की देह को। कपोल और वक्षोज पर पत्रावली की रचना करने की प्रबल कामना उनके सहचरी वर्ग में रहती है।[8] पत्रावली की रचना में अधिकतर कस्तूरी का उपयोग किया गया है। कृष्ण के प्रेमासक्त नेत्र प्रिया के कुचों के बीच मृगमद होकर भी नहीं समा पाते।[9]

(७) मेंहदी

करों को मेंहदी से रंजित करने की प्रथा अब तक पाई जाती है। राधा के शृंगार में इसका विशेष महत्व भुलाया नहीं गया। गोरी मृदु उंगलियों में मेंहदी का रंग फबता है। हाथ अत्यन्त सुरंग होकर

---

१. काम कमान-समान भौंह दोउ, चंचल नैन सरोज।
अलि-गंजन अंजन-रेखा दै, बरषत बान मनोज॥ —सूरसागर, पद सं० १६७३

२. अनियारे नैन सर वेध्यो मन प्रीतम को, बिथकित चकित रहत बल हीने हैं।
काजर की रेख जहां रही फवि निसिरैन तरफ गिरत सखी अंक भरि लीने हैं॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८४

३. सुलज्ज सुरंग सुनैन बिशालनि सोभित अंजन रेख अनियारी। —वही, पृ० ८५

४. लोइन बंक बिशाल सचिक्कन अंजनि की छबि प्रानन मोहै। —वही, पृ० ८८

५. काजर की रेख जहां पानन की पीक भारी, और सुकुमारताई कैसे कै विचारिये। —वही, पृ० ८४

६. मुख तंबोल की अरुनई, झलकनि सहज सुहाग।
मनौ कमल के मध्य तें, प्रगट भयो अनुराग॥ —वही, पृ० २१६

७. सद्‌गन्ध माल्य नवचन्द्र लवंग संग।
ताम्बूल सम्पुटमधीश्वरि मां वहन्तीम्॥ —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक ४३

८. पत्रावलीं रचयितुं कुचयोः कपोले
बद्धं विचित्र कबरी नव मल्लिकाभिः —वही, श्लोक ३६

९. श्रुति पर कंज, दृगंजन, कुच बिच मृगमद ह्‌वै न समात। —हितचौरासी, पद सं० ६०

कंजदलों को भी लज्जित कर देते हैं[१]। उंगलियों में अंगूठी के साथ-साथ मेंहदी की रंगत को कवियों ने परखा है।[२]

मेंहदी का मंडन केवल हाथ के ही लिए नहीं, पैरों के लिए भी है। राधा के कोमल चरण-कमलों में मेंहदी का रंग फबता है, उसके बीच नखमणि चन्द्र के समान झलकते हैं। शोभा के इस संगम में, जहाँ चन्द्र और कमल एक साथ मिल गए हैं, कृष्ण अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं।[३]

(८) चरण—जावक

किन्तु पैरों की अभिवृद्ध शोभा जावक किंवा महावर से मिलती है। राधा के पैर महावर से रंजित किए जाते हैं। कंचन के रंग के मृदु चरणों पर लाल जावक राधा के पद-पल्लव को अद्‌भुत प्रभा प्रदान करता है। कृष्ण उस छवि के निकेतन को बारंबार चूमते हैं और अपने हृदय तथा आँख से लगाते हैं।[४] राधा के जावक-युक्त पदाम्बुज प्रियतम के उर को ही अवनी बनाते हैं।[५] रास में जावक-युक्त चरणों की लालिमा के बीच नख-चन्द्रिका की आभा और पुंजीभूत होकर दिखाई पड़ती है।[६]

कवि की कान्त कल्पना राधा के चरणों के मंडन के लिए जावक के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का भी चयन करती है। नखों में महावर तो रहता ही है, राधा के तलवे कुंकुम से रंजित किए जाते हैं। और मृगमद का चूरा पदराग बनता है।[७]

इस प्रकार केश से लेकर तलवों तक राधा के मंडन में विविध सामग्री नियोजित होकर कृतकार्य होती है।

वस्त्र

शरीर को सुसज्जित करने के लिए वस्त्रों का जो स्थान रहा है वह कालचक्र में अन्यतम है। युग के अनुरूप वेश में परिवर्तन भले ही होता रहा, किन्तु देह के सौंदर्य को मण्डित करने में उसका विशेष हाथ रहा है।

राधा और कृष्ण की वेशभूषा आज की दृष्टि से प्राचीन कही जायगी, किन्तु है वह आकर्षक। एक बात जो स्त्री और पुरुष दोनों के वस्त्रों में द्रष्टव्य है वह है उनका चुनन, सपाट वस्त्रों की उस समय महत्ता न थी; चाहे नटवर कृष्ण का पीतांबर हो या राधा का लंहगा अथवा चुनरी। चुन्नट की रेखाओं और रेखाओं का विशिष्ट मोड़ वस्त्रों के सौंदर्य को प्रदर्शित करने के साथ-साथ देह के सौंदर्य को शोभा के आवर्त में लपेट लेता है। भारतीय पहनावे राधा और कृष्ण के वेश-विन्यास में अपनी अद्‌भुत आकर्षक छटा लेकर उपस्थित हुए हैं।

---

१. गोरी मृदु अँगुरिन मेंहदी को रंग फब्यो
अति ही सुरंग कंज दलनि लजावही। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८१

२. अगुरिनु मुंदरी फबि रही, अरु मिहिदी रंग सार।१०। —वही, पृ० २६६

३. मेंहदी को रंग फबि रह्यो, नख मणि झलक अपार।
मनो चंद कमलनि मिले, रही न और सँभार। —वही, पृ० ११४

४. कंचन के बरन चरन मृदु प्यारी जू के, जावक सुरंग रंगे मननि हरत है।
....
अद्‌भुत पद पल्लव प्रभा, मृदु सुरंग छबि ऐन।।
छिन छिन चूमत प्यार सों, रहत लाइ उर नैन।। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८१

५. पद अम्बुज जावक जुत, भूषन प्रीतम उरअवनी। —हितचौरासी, पद सं० २९

६. जावक जुत चरननि नखचंद्रिका घनी। —भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ४५८

७. तरुवनि कुमकुम, नखनि महावर, पद मृगमद चूरा चौधारी। —वही, पद सं० ३६९

कृष्ण के वस्त्र

कृष्ण के वस्त्रों में मुख्य हैं—पाग, कुलही, पिछौरा, दुकूल, बागा, इजार, पीतांबर।

(१) पाग

पगड़ी या पाग पुरुष का प्राचीन शिरोवस्त्र रही है। कृष्ण के वेश-विन्यास में पाग अपरिहार्य-सी है। उनकी पाग कुछ लटकी-सी बंधी रहती है। लाल कलंगी से युक्त श्वेत जरी की पाग उनके सिर पर लटक रही है।[१] जरी की पाग कृष्ण के सिर पर अधिक शोभा देती है।[२] यह पगड़ी लटपटी है।[३] कृष्ण की सुरंग रंगमगी पाग बायीं ओर लटक रही है।[४] इस टेढ़ी पाग में तीन पेंच डाले गए हैं।[५] इन पेंचो को संवार कर बांधने में ही उसकी सज्जा निखरती है।[६]

(२) कुलही

शिरोवस्त्र में पाग के साथ ही कुलही का भी महत्वपूर्ण स्थान है। कुलही एक प्रकार की टोपी होती है। कृष्ण के सिर पर कुलही का पुष्प-संभार युक्त सौंदर्य कम आकर्षक नहीं है, लटपटी पाग के साथ गुलाब के फूलों से भरी कुलही भी शोभित होती है।[७] कभी-कभी वह भौंहों का स्पर्श करती हुई विराजमान रहती है।[८] कुलही कृष्ण की बाललीला से अधिक छवि-सम्पन्न होती है, किन्तु किशोरावस्था के श्रृंगार में भी उसका अपना स्थान है, विशेषकर रंगविरंगे फूलों के गुच्छों से सजाई जाने पर।

(३) पिछौरी, उपरैना

पिछौरा या पिछौरी चादर को कहते हैं। उपरैना भी दुपट्टा या चादर है। कृष्ण के कटि पर तनसुख जैसे मृदु महीन वस्त्र का पिछौरा बंधा हुआ है, और उनका उपरैना पीत वर्ण का है।[९] कृष्ण का उपरैना अधिकतर पीला होता है।[१०] और पिछौरी भी प्रायः पीली ही होती है। पीला रंग कृष्ण को विशेष प्रिय है। यह उनके श्रृंगार को मोहक भी बना देता है। चंदन की खोर बनाये कृष्ण जब पीत पिछौरी ओढ़ लेते हैं तब गोपियों पर ठगौरी-सी पड़ जाती है। वे उन पर कोटि-कोटि मन्मथ पकड़ कर न्योछावर कर डालती हैं।[११] कभी यह पिछौरी अन्य रंग की

---

१. स्वेत जरी सिर पाग लटकि रही कलँगी तामें लाल। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३०

२. आजु गोपाल छबि अधिक बनी।
जरकसी पाग केसरिया वागो॥ —वही, पद सं० १९१

३. ललित लटपटी पगिया, तकि तकि तहँ तहँ मुरझे। —नंददास : प्रथम भाग (रुक्मिणी मंगल), पृ० १४९

४. रँग मँगि सिर सुरँग पाग, लटकि रही बाम भाग। —सूरदास, पद सं० २००२

५. तिपेची पाग टेढी सोहति स्याम धारी . . .। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १८८

६. मनमोहन पगिया आज की।
बाँधे पेंच सँवारे साँवरे अति सुंदर बड साज की। —वही, पद सं० १९४

७. पाग सोहे लटपटी गुलाब के फूल कुलह भरे। —वही, पद सं० १९०

८. कुलही रही भौंह परसि देखौ री गोपाल कें। —वही, पद सं० १०९

९. तनसुख कौ कटि बाँधे पिछौरा, ठाढ़े हैं कर कमल लियें।
रुचिर बनमाल पीत उपरैना नैन मैन सर से देखिये॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद नं० १०७

१०. कंठमाल पीरौ उपरैना . . . . . .। —वही, पद सं० १०८

११. मनमथ कोटि-कोटि गहि वारौं, ओढ़े पीत पिछौरी। —सूरसागर, पद सं० २०६४

भी होती है। होली के रंगीन अवसर पर कृष्ण ही नहीं कृष्ण-सखाओं की पिछौरी भी रंगबिरंगी रंगी रहती है। जिस प्रकार गोपियां रंगबिरंगी सारी और कंचुकी धारण करती हैं उसी प्रकार पुरुष नीली-पीली पिछौरी और रंगबिरंगी पाग धारण करते हैं।[1] यों पीतांबर की ही भांति पीली पिछौरी कृष्ण का प्रिय वस्त्र है। पिछौरी हो या उपरैना वह कंचन के समान पीतवर्ण का होकर ही उनके श्यामल अंग पर अधिक शोभा देता है।[2]

(४) दुकूल

कृष्ण की सुडौल सुदृढ़ देह-यष्टि पर दुकूल की शोभा दर्शनीय है। उनके भुजदण्ड पर घूमा, पुष्ट कंधों पर स्थित दामिनी को परास्त कर देने वाला पीला दुकूल विराजित है।[3] कृष्ण के उन्नत दृढ़ स्कन्ध पर अरुण और पीत नवदुकूल इस प्रकार शोभा देता है जैसे वह अनुपम अनुराग का मूल हो।[4] पीतिमा के साथ अरुणिमा का संयोग दुकूल को आकर्षक और अनुरागमूलक विशेष छवि प्रदान कर देता है।

(५) बागा, जामा

यों कृष्ण का कटि से कंठ तक का प्रदेश किसी सिले हुए वस्त्र से आवृत हुआ चित्रित नहीं किया गया है। कभी-कभी 'बागा' का उल्लेख है जो उत्तरांग का वस्त्र विशेष है। कृष्ण के देह पर तनसुख का बागा अत्यन्त शोभा देता है।[5] केसरिया बागे का भी महत्व है।[6] अक्षय तृतीया पर चन्दन का बागा कृष्ण धारण करते हैं।[7]

जामा का उल्लेख कृष्ण-विवाह से इतर प्रसंगों में भी मिल जाता है। जामा भी उनकी वेश-भूषा का एक अंग प्रतीत होता है। जिस गिरधारी को अपनी गलियों में आता देख मीरांबाई लाज के मारे छिप जाती हैं वह 'कुसुमल पाग और केसरिया जामा' पहने हुए प्रायः वर के वेश में है।[8] यों जामा और पटुके आदि का वर्णन कृष्ण के दूल्हा सजाए जाने के प्रसंग में अधिक किया गया है।

(६) सूथन, इजार

अधोवस्त्र में पीतांबर श्रीकृष्ण का परिचायक परिधान है। किन्तु, कदाचित् मध्यकाल के प्रभाव से कुछ कवियों ने उन्हें इजार या सूथने से भी सुसज्जित किया है। कृष्ण पंचरंगी इजार भी पहिनते हैं।[9] उन पर सुगंध-

---

१. उत रंग रँगी कंचुकी सारी, इतहि नील अरु पीत पिछौरी।
इत सब रँगी पाग सिर सोभित, उत कुसुमावलि अरु कच-डोरी॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ९१

२. कंचन बरन पीत उपरैना राजत स्यामल अंग रो। —सूरदास : मदनमोहन की वाणी, पद सं० १०२

३. असयद भुज दण्ड मूल, पीन अंश सानुकूल।
कनक निकष लसि दुकूल, दामिनी धरखी॥ —हितहरिवंश : स्फुट वाणी, पद सं० २२

४. अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल। —हितचौरासी, पद सं० ११

५. तनसुख कौ बागौ अति राजत कुंडल झलकें रसाल। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३०

६. जरकसी पाग केसरिया बागो उर राजत गिरिवर कें धनी। —वही, पद सं० १९१

७. बन्यो बागो बामना चंदन को। —परमानन्द सागर, पद सं० ७३५

८. आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
कुसुमल पाग केसरिया जामा, ऊपर फूल हजारी। —मीरांबाई की पदावली, पद सं० १७२

९. कंठ माल पीरो उपरैना बनी इजार पंचरंग —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १०८

भीगी तनी सहित लाल सूथना भी अपूर्व शोभा देता है।[1] इसलिए सहचरी यह कामना करती है कि वह रूप और गुण के द्वारा गूंथा गया सूथन बन कर कृष्ण के तन से लग जाये।[2]

(७) पीताम्बर

किन्तु सूथन की शोभा से पीताम्बर की काछनी युक्त शोभा अधिक होती है। कृष्ण के अधोवस्त्र में पीतपट का विशेष स्थान है। नटवर वेश में इसी पीताम्बर की सुन्दर काछनी काछ लेते हैं वे।

कनक के समान पीतपट से कृष्ण सुसज्जित रहते हैं।[3] रुक्मिणीहरण के लिए जब कृष्ण आगमन करते हैं तब पुर के लोग उनकी छवि निहारने दौड़ पड़ते हैं। उनमें से कुछ को रुचिर पीतांबर की छवि से चकाचौंध लगने लगती है। ऐसा लगता है मानो सुन्दर घन पर छबीली विद्युत्-छटा थकित हो गयी हो।[4] कृष्ण के तरुण और सुकुमार घनश्याम तन पर पीतपट बहुत ही फबता है।[5] इस पीतांबर के छोर से गोपी के मन का इस प्रकार गठबन्धन हो जाता है कि उसे यह भी नहीं पता चल पाता कि गुरुजन का शोर कहाँ मच रहा है।[6]

इस पीताम्बर का विशेष सौंदर्य उस समय दृष्टिगत होता है जब कृष्ण उसे नटवर वेष के अनुरूप काछनी सहित पहिनते हैं।[7] कटि तट पर काछनी विशेष सुन्दर लगती है।[8] रंभा के समान जानुजंघ पर पीली काछनी कमल के केशर की भांति झूलती है।[9]

यों तो कृष्ण सदैव ही पीताम्बर से सुसज्जित रहते हैं किन्तु वसंत में जब वे होली खेलने निकलते हैं तब सखाओं के रंग-में-रंग मिलाते हुए अन्य रंगीन पट भी धारण कर लेते हैं। होली के समय पुरुषों की रंगबिरंगी धोतियां उत्सव के उल्लास को मुखर करती हैं। ब्रज की पौरियों में डोलते हुए कृष्ण एवं कृष्ण-सखा अनेक रंग के

---

१. सूथन लाल छपैरी सोहै अरु सोंधे सों भीजी तनी।
   'चतुर्भुज' लाल गिरिधर को कवि पै छवि जात गनी।। —वही, पद सं० १९१

२. रूप गुनन गूंथन की सूथन ह्वै कै तन लगि जाऊं जू।
   —हरिव्यास देवाचार्य : महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० १४७

३. ......सज्जित कनक समान पीतपट। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ६४

४. कोउ जु रहे चकचौंधि, रुचिर पीतांबर-छवि पर।
   मनौं छबीली छटा रही थकि, सुन्दर घन पर।। —नन्ददास : प्रथम भाग (रुक्मिणी मंगल) पृ० १५०

५. सखी नंदनंदन आजु अति बिराजें।
   तरुन घनस्याम सुकुमार तन पीतपट अधर कर मुरलिका मंद गाजें।।
   —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४३६

६. को जानै कित होत है, घर गुरुजन कौ सोर।
   मेरो जिय गाँठि बँध्यौ, पीतांबर कौं छोर।। —सूरसागर, पद सं० २०६१

७. मदनमोहन आजु नट भेष किएँ।
   काछीं कांछ पीतपट बाँधे उर गज मोतिनि हार हिएँ।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १९३

८. ...कटि तट पीत काछें काछनी। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६०

९. नटवर वेष काछे स्याम।
   जानु जंघ सुघटनि करभा, नहीं रंभातूल।।
   पीत पट काछनी मानहुं, जलजकेसर झूल।। —सूरसागर, पद सं० २३७३

भी होती है। होली के रंगीन अवसर पर कृष्ण ही नहीं कृष्ण-सखाओं की पिछौरी भी रंगविरंगी रहती है। जिस प्रकार गोपियां रंगविरंगी सारी और कंचुकी धारण करती हैं उसी प्रकार पुरुष नीली-पीली पिछौरी और रंगविरंगी पाग धारण करते हैं।[१] यों पीतांबर की ही भांति पीली पिछौरी कृष्ण का प्रिय वस्त्र है। पिछौरी हो या उपरैना वह कंचन के समान पीतवर्ण का होकर ही उनके श्यामल अंग पर अधिक शोभा देता है।[२]

(४) दुकूल

कृष्ण की सुडौल सुदृढ़ देह-यष्टि पर दुकूल की शोभा दर्शनीय है। उनके भुजदण्ड पर घूमा, पुष्ट कंधों पर स्थित दामिनी को परास्त कर देने वाला पीला दुकूल विराजित है।[३] कृष्ण के उन्नत दृढ़ स्कन्ध पर अरुण और पीत नवदुकूल इस प्रकार शोभा देता है जैसे वह अनुपम अनुराग का मूल हो।[४] पीतिमा के साथ अरुणिमा का संयोग दुकूल को आकर्षक और अनुरागमूलक विशेष छवि प्रदान कर देता है।

(५) बागा, जामा

यों कृष्ण का कटि से कंठ तक का प्रदेश किसी सिले हुए वस्त्र से आवृत हुआ चित्रित नहीं किया गया है। कभी-कभी 'बागा' का उल्लेख है जो उत्तरांग का वस्त्र विशेष है। कृष्ण के देह पर तनसुख का बागा अत्यन्त शोभा देता है।[५] केसरिया बागे का भी महत्व है।[६] अक्षय तृतीया पर चन्दन का बागा कृष्ण धारण करते हैं।[७]

जामा का उल्लेख कृष्ण-विवाह से इतर प्रसंगों में भी मिल जाता है। जामा भी उनकी वेश-भूषा का एक अंग प्रतीत होता है। जिस गिरधारी को अपनी गलियों में आता देख मीरांबाई लाज के मारे छिप जाती हैं वह 'कुसुमल पाग और केसरिया जामा' पहने हुए प्रायः वर के वेश में है।[८] यों जामा और पटुके आदि का वर्णन कृष्ण के दूल्हा सजाए जाने के प्रसंग में अधिक किया गया है।

(६) सूथन, इजार

अधोवस्त्र में पीतांबर श्रीकृष्ण का परिचायक परिधान है। किन्तु, कदाचित् मध्यकाल के प्रभाव से कुछ कवियों ने उन्हें इजार या सूथने से भी सुसज्जित किया है। कृष्ण पंचरंगी इजार भी पहिनते हैं।[९] उन पर सुगंध-

---

१. उत रंग रँगी कंचुकी सारी, इतहि नील अरु पीत पिछौरी।
इत सब रँगी पाग सिर सोभित, उत कुसुमावलि अरु कच-डोरी ॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ९१

२. कंचन बरन पीत उपरैना राजत स्यामल अंग री। —सूरदास : मदनमोहन की वाणी, पद सं० १०२

३. असयद भुज दण्ड मूल, पीन अंश सानुकूल।
कनक निकष लसि दुकूल, दामिनी धरखी ॥ —हितहरिवंश : स्फुट वाणी, पद सं० २२

४. अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल। —हितचौरासी, पद सं० ११

५. तनसुख कौ बागौ अति राजत कुंडल झलकें रसाल। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३०

६. जरकसी पाग केसरिया बागो उर राजत गिरिधर कें मनी। —वही, पद सं० १९१

७. बन्यो बागो बामना चंदन को। —परमानन्द सागर, पद सं० ७३५

८. आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
कुसुमल पाग केसरिया जामा, ऊपर फूल हजारी। —मीरांबाई की पदावली, पद सं० १७२

९. कंठ माल पीरो उपरैना बनो इजार पंचरंग —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १०८

भीगी तनी सहित लाल सूथना भी अपूर्व शोभा देता है।[1] इसलिए सहचरी यह कामना करती है कि वह रूप और गुण के द्वारा गूँथा गया सूथन बन कर कृष्ण के तन से लग जावे।[2]

(७) पीताम्बर

किन्तु सूथन की शोभा से पीताम्बर की काछनी युक्त शोभा अधिक होती है। कृष्ण के अधोवस्त्र में पीतपट का विशेष स्थान है। नटवर वेश में इसी पीताम्बर की सुन्दर काछनी काछ लेते हैं वे।

कनक के समान पीतपट से कृष्ण सुसज्जित रहते हैं।[3] रुक्मिणीहरण के लिए जब कृष्ण आगमन करते हैं तब पुर के लोग उनकी छवि निहारने दौड़ पड़ते हैं। उनमें से कुछ को रुचिर पीतांबर की छवि से चकाचौंध लगने लगती है। ऐसा लगता है मानो सुन्दर घन पर छबीली विद्युत्-छटा थकित हो गयी हो।[4] कृष्ण के तरुण और सुकुमार घनश्याम तन पर पीतपट बहुत ही फबता है।[5] इस पीतांबर के छोर से गोपी के मन का इस प्रकार गठबन्धन हो जाता है कि उसे यह भी नहीं पता चल पाता कि गुरुजन का शोर कहाँ मच रहा है।[6]

इस पीताम्बर का विशेष सौंदर्य उस समय दृष्टिगत होता है जब कृष्ण उसे नटवर वेष के अनुरूप काछनी सहित पहिनते हैं।[7] कटि तट पर काछनी विशेष सुन्दर लगती है।[8] रंभा के समान जानुजंघ पर पीली काछनी कमल के केशर की भांति झूलती है।[9]

यों तो कृष्ण सदैव ही पीताम्बर से सुसज्जित रहते हैं किन्तु वसंत में जब वे होली खेलने निकलते हैं तब सखाओं के रंग-में-रंग मिलाते हुए अन्य रंगीन पट भी धारण कर लेते हैं। होली के समय पुरुषों की रंगबिरंगी धोतियां उत्सव के उल्लास को मुखर करती हैं। ब्रज की पौरियों में डोलते हुए कृष्ण एवं कृष्ण-सखा अनेक रंग के

---

१. सूथन लाल छपैरी सोहै अरु सोंधे सों भीजी तनी।
   'चतुर्भुज' लाल गिरिधर की कवि पै छवि जात गनी॥ —वही, पद सं० १९१

२. रूप गुनन गूंथन की सूथन ह्वै कै तन लगि जाऊं जू।
   —हरिव्यास देवाचार्य : महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० १४७

३. ......सज्जित कनक समान पीतपट। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ६४

४. कोउ जु रहे चकचौंधि, रुचिर पीतांबर-छवि पर।
   मनौं छवीली छटा रही थकि, सुन्दर घन पर॥ —नन्ददास : प्रथम भाग (रुक्मिणी मंगल) पृ० १५०

५. सखी नंदनंदन आजु अति विराजें।
   तरुन घनस्याम सुकुमार तन पीतपट अधर कर मुरलिका मंद गाजें॥
   —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४३६

६. को जानै कित होत है, घर गुरुजन कौ सोर।
   मेरो जिय गाँठी बँध्यौ, पीतांबर कौ छोर॥ —सूरसागर, पद सं० २०६१

७. मदनमोहन आजु नट भेष किएँ।
   काछी काँछ पीतपट बाँधे उर गज मोतिनि हार हिएँ॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १९३

८. ...कटि तट पीत काछें काछनी। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६०

९. नटवर वेष काछे स्याम।
   जानु जंघ सुघटनि करभा, नहीं रंभातूल॥
   पीत पट काछनी मानहुँ, जलजकेसर झूल॥ —सूरसागर, पद सं० २३७३

वस्त्र पहने रहते हैं। वे नीले, पीले, श्वेत, लाल वस्त्रों की फेंट में गुलाल, अबीर भर कर महारस से मत्त फिरते हैं।[१] नाना वर्ण के नीले, अरुण, पीले, श्वेत वस्त्र पहने हुए सखाओं को संग लेकर कृष्ण गीत गाते, वाद्य बजाते ब्रज की वीथियों में डोलते हैं।[२] वसन्तोत्सव पर पुरुष के वस्त्रों की यह चित्र-विचित्र छटा मोहक होती है।

राधा के वस्त्र

राधा किंवा गोपियों का एक विशेष पहनावा है—या तो लंहगा-ओढ़नी-कंचुकी या सारी-कंचुकी। चित्र-विचित्र सारियां तथा कंचुकी की छटा से राधा तथा गोपियों का सौंदर्य फूट पड़ता है।

(१) **सारी-कंचुकी**—तनसुख की सारी की विशेष चर्चा की गयी है। राधा लाल कंचुकी के साथ तनसुख की सारी पहिन कर सखियों के झुंड में होली खेलती हैं।[३] हेमांगी राधिका की कंचुकी का रंग लाल चुनकर कवि ने शोख वेश-विन्यास का परिचय दिया है, कदाचित् होली का अवसर होने के कारण। कुसुम्भी सारी भी गोपियों के कंचन तन पर बहुत अच्छी लगती है।[४] केवल सारी ही नहीं, राधा के कनकवर्ण पर नीले रंग की सारी के साथ कुसुम्भी कंचुकी विशेष शोभा देती है।[५]

वर्ण-योजना को दृष्टि में रखते हुए कंचुकी-सारी के पारस्परिक रंग की ओर कविगण विशेष सतर्क रहे हैं। काली सारी और लाल कंचुकी से कवि को उदधि से निकलते उदीयमान सूर्य का स्मरण हो आता है।[६] इसके ठीक विपरीत जब राधा काले या नीले रंग की सारी न पहनकर श्वेत सारी पहिन लेती हैं तब गौरांगी वृषभानु-दुलारी की समता में कोई ठहर नहीं पाता। श्वेतवसना राधिका के आगे उजाला भी फीका लगने लगता है।[७] और जब वे सुरंग कंचुकी के साथ विविध रंगों से रंगी सारी पहन लेती हैं तब उनका कामिनी रूप दर्शनीय होता है।[८] वर्षाऋतु में जब ब्रजनारियां रंगबिरंगी सारियां पहन कर झूला झूलती हैं तो लगता है कि अनंग ने फुलवारी बो रखी है।[९]

---

१. पहिरे बसन अनेक तन।
नील पीत सेत राते जू॥
सुरंग गुलाल अबीर फेंट भरि।
फिरत महा रस माते जू॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ९२

२. ताल मृदंग बीन डफ बाँसुरि, बाजत गावत गीत।
पहिरे बसन अनेक बरन तन, नील अरुन सित पीत॥ —सूरसागर, पद सं० ३४८८

३. तन तनसुख की सारी पहिरें लाल कंचुकी गात। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ११५

४. सुभग कंचन तन पहिरें कसूंभी सारी...। —वही, पद सं० २०५

५. प्रथम उबटि, मज्जन करि सज्जित नील-बरन तन सारी।
श्रीफल उरज, कसूंभी कंचुकी कसि, ऊपर हार छवि न्यारी॥ —हितचौरासी, पद सं० ४५

६. चौंकि चमक कंचुकी सारी कारी रातें रंगरी।
अरुन किरनि रही छाइ उदधितें निकसत प्रात पतंगरी॥ —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३९

७. तन सोहे संतसारी, फीकी लागे।
उजियारी, तोसी तुही वृषभानु दुलारी॥ —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ५९

८. कंचुकि सुरँग, विविध रँग सारी, नख जुग ऊन बनें तेरे तन। —हितचौरासी, पद सं० ४४

९. झूलत हिंडोरैं ऐसी सोभा भई।
बरन-बरन सारी पहिरैं ब्रज की नारी,
मनौं अनंग फुलवारी बई॥ —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० १००

होली में रंगबिरंगी कंचुकियां और सारियों से सजी चंपकवर्णी पिक-वचनी गोपिकायें कामदेव की फुलवारी को और भी सजीव कर देती हैं।[१]

दक्षिण चीर की विशिष्ट शोभा को भी राधा के वेश-विन्यास में नहीं भुलाया गया है।[२] सारी के रंग पर कवियों ने जितना ध्यान केन्द्रित किया है उतना ही कंचुकी के बनाव पर। अंगिया प्रगाढ़ रूप से कसी हुई है।[३] कसी होने के साथ ही वह कटाव की अंगियां है।[४] नवरंग की गाढ़ी कंचुकी पर नवरंग की सुरंग चूनरी ओढ़ कर गोपी चन्द्रवधू-सी लगती है।[५] दान मांगते हुए कृष्ण गोपी की उस कंचुकी को देख कर रीझ जाते हैं जिस पर ऐसा सुन्दर कसीदा कढ़ा हुआ है जिसे उन्होंने न कभी लेखा था, न जाना था।[६]

भांति-भांति की सारियों का ध्रुवदास ने रुचिपूर्वक वर्णन किया है। राधा के तन पर जरी की सारी कभी उनकी छवि को छलका देती है, कभी काकरेजी सारी उनकी छवि को न्यारी बना देती है।[७] राधा की मृदु केसरी सारी स्वच्छ सुगन्ध में सनी और फुलेल से भीगी है।[८] उनकी सारी अत्यन्त झीनी और सुगन्ध से भीनी रहती है। कृष्ण उसे चुन कर प्राण के समान रखते हैं।[९] कोलपत्र की सारी को देख कर कृष्ण चित्रलिखित से रह जाते हैं।[१०]

किन्तु सबसे अधिक रुचिकर और विशिष्ट शोभाशाली है राधा का नीलाम्बर। वही उनका प्रिय वस्त्र है, जैसे पीताम्बर कृष्ण का। उनकी विद्युल्लेखा-सी देह पर नीलांबर दामिनी को आवृत्त किए हुए घन-सा लगता है। राधा के तन पर नीलाम्बर की शोभा इसलिए और भी आकर्षक बन जाती है क्योंकि वह सूक्ष्म मधुर प्रेम का प्रतीक बन जाता है। तब ऐसा लगता है मानो सुकुमारता ने श्रृंगार के सार को ओढ़ लिया हो।[११] राधा के श्रृंगार में नीली कंचुकी को भी स्थान प्राप्त है।[१२] नीला रंग राधा का प्रिय रंग है, क्योंकि वह कृष्ण की देहद्युति के सदृश है।

राधा की सहचरियां, जो विभिन्न भाव से उनकी सेवा में संलग्न रहती हैं, नाना प्रकार के अद्भुत वसन धारण किए रहती हैं। वर्ण का अंतश्चेतना की विभिन्न अनुभूतियों से संबंध है। सखियों की सारी की अन्य विचित्रताओं में भी सूक्ष्म लाक्षणिक अर्थद्योतन है। षोडशदल सरोज के मध्य राधाकृष्ण विराजमान हैं, और प्रत्येक दल पर सहचरियां।

---

१. पिक वचनी तन चंपक बरनी। उपमा कौं नहिं मनसिज घरनी॥
बरन-बरन कँचुकि अरु सारी। माँनहुँ काम रची फुलवारी॥ —वही, पद सं० ८२

२. पहिरि दच्छिन चीर साजे तन आभरन॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३१८

३. (क) सोहै उर अंगिया कसनि उर गाढ़ी। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८०
(ख) तामे लाल अँगिया सुदेश कसनी कसी। —वही, पृ० ७९

४. ......उर अँगिया कटाव की। —वही, पृ० ७८

५. नव रंग कंचुकी तन गाढ़ी।
नव रंग सुरंग चूनरी ओढ़े चंद्र वधू सी ठाढ़ी॥ —परमानन्दसागर, पद सं० ३६८

६. कंचुकी सोभित कसीदा सुन्दर आजु लों देख न जान्यो। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४२

७. ध्रुवदास : बयालीस लीला। (श्रृंगार सत लीला), पृ० ७९।

८. वही, पृ० ७९।

९. सारी सुरंग सुही अति झीनी सुगन्ध सों भीनी महा सुखदाई।
रची चुनि प्रान समान सुजान ने फूलनि मोद हू ते मृदु माई॥ —वही, पृ० ८०

१०. कोलपत्र सारी बनी सोंधेही के मोद सनी, चितै रहै स्याम धनी मानो चित्र ऐन हैं। —वही, पृ० ८३

११. नीलाम्बर छवि फबि रही, मन में रहत बिचार।
मानो सार श्रृंगार को, ओढ़े वर सुकुमार॥ —वही (मन श्रृंगार लीला), पृ० ११३

१२. नील कुंचुकी, लाल तरौटा, तनसुख की तन झूमक सारी।—भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६८

गोरोचन के समान प्रभामयी ललिता मयूरपिच्छ की भांति के वसन पहने रहती हैं।[1] शत दामिनी की द्युति-सी देहधारी सखी विशाखा तारामंडल से वसन धारण करती है।[2] चंपकवर्णी चंपकलता को राधा नीलाम्बर प्रदान करती हैं।[3] चित्रा सखी के कुंकुम से तन पर कनक के समान वस्त्र शोभा देता है।[4] इसी प्रकार अन्य सखियों के परिधान भी सांकेतिक-से हैं।

(२) **लहँगा** : सारी की जितनी अधिक चर्चा हुई है उतनी लहंगे की नहीं। किन्तु कंचुकी के साथ लहंगा स्त्रियों की शोभा को कितना द्विगुणित कर देता है इसे भी सौंदर्यप्रिय कवियों ने देखा है। रास के लिए मण्डल बनाती हुई लाल लंहगा पहिने हुए गोपियों की शोभा अपरम्पार है।[5] राधा सिलसिलाते लंहगे से सुसज्जित पूर्णिमा की किरणों-सी प्रतीत होती हैं।[6]

(३) **चूनरी** : लहंगे के साथ चूनरी की विशेष शोभा होती है। वर्षा की बूंदें कृष्ण को सुहावनी लगती हैं, वे राधा से कहते हैं कि कहीं उनकी चूनरी भीग न जाय, इसलिए वे उतार कर उन्हें दे दें।[7] कभी-कभी सांझी के लिए फूल लेने गयी हुई गोपी अपने चटख रंग की चूनरी को वर्षा से बचा लेने के लिए कृष्ण से प्रार्थी होती है।[8] चूनरी की शोभा चटख रंग के ही कारण होती है। नये नेह, नये रस में श्यामाश्याम नवल चूनरी और नव पीताम्बर पहने हुए भीगते रहते हैं।[9] चूनरी नवीन अनुराग की प्रतीक बन कर उपस्थित होती है। राधा की चूनरी 'अति सुरंग' और पंचरंगी है, जिसे देख कर रंगीले बिहारी होली खेलने निकल पड़ते हैं।[10] नये रंग की सुरंग चूनरी ओढ़े हुई गोपिका चंद्रबधू-सी लगती है।[11]

---

१. गोरोचन सम तन प्रभा, अद्‌भुत कही न जाइ।
मोरपिछकी भांति के, पहिरे बसन बनाइ।।
—ध्रुवदास : बयालीसलीला (रस मुक्तावलीलीला), पृ० १४८।

२. वही, पृ० १४९।

३. वही, पृ० १४९।

४. वही, पृ० १५०।

५. बनी ब्रज नारि-सोभा भारि।
पगनि जेहरि, लाल लँहगा, अंग पँच-रंग सारि।। —सूरसागर, पद सं० १६६१

६. तैसोई लँहगावन्यो सिलसिलौ पूरनमासी कीसी पूनरी। —स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० ४९

७. बूंदे सुहावनी लागत मति भीजे तेरी चूनरी।
मोहि दै उतारिधरि राखौं बगल में तू नरी।। —वही, पद सं० ९२

८. बरषत घन घोर मेह, तामें कछु सूझत नांहिं।
चुंदरी चटक रंग नीर तें बचाय लै।। —सूरसागर मदनमोहन की वाणी, पद सं० १२३

९. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल स्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीतांबर नवल चूनरी, नई-नई बूंदन भीजत गोरी।।
—हितचौरासी, पद सं० ५४

१०. स्याम रँगीली चूनरी रंग रँगी है रँगीले बिहारी हो।
अति सुरंग पचरंग बनी पहिरे श्रीराधा प्यारी हो।। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १३५

११. नव रंग कंचुकी तन गाढ़ी।
नवरंग सुरंग चूनरी ओढ़े चंद्रवधू-सी ठाढ़ी।। —परमानन्द सागर, पद सं० ३६८

स्त्रियों के वेश-विन्यास में कवियों को चटख रंग विशेष प्रिय रहे हैं। सारी और कंचुकी के वर्ण अधिकतर विरोधी रखे गए हैं।[१] कहीं-कहीं पर सामंजस्य भी है जैसे कुसुम्भी सारी के साथ कुसुम्भी चोली, या नीलाम्बर के साथ नीली चोली। कहीं-कहीं एक ही रंग की हल्की गाढ़ी छायाओं (शेड्स) से वस्त्रों का सौंदर्य निखारा गया है। कुल मिला कर वर्णयोजना भारतीय रुचि के नितान्त अनुकूल है। रंग चाहे जो हो, वस्त्र सुवासित रहते हैं।

आभूषण

परिधान में सौंदर्य का मुख्यतः वर्ण-प्रसाधन होता है और आभूषण में ज्योति-प्रसाधन। एक नैसर्गिक सौंदर्य को रंग की माया प्रदान करता है, जैसे संध्याकाश, तो दूसरा प्रकाश की झलमलाहट (चाहे वह विभिन्न रत्नों के कारण रंगीन झलमलाहट हो) से दीप्त छटा, जैसे तड़ित, या तारिकाओं से विजड़ित रात्रि का आकाश। दोनों का सौंदर्य मूल प्रकृत-सौंदर्य को स्फुरित कर देता है। यों तो राधाकृष्ण का प्रकृत-सौंदर्य स्वयं में अनुपम है, किन्तु फिर भी इन प्रसाधनों से वह मुखर तथा अधिक प्रकट हो जाता है।

आभूषण की बहुलता स्त्रियों के प्रसाधन में होती है, पुरुषों में कम। किन्तु प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से आभरण प्रेमी होते थे। इसीलिए राधा के श्रृंगार में जितना आभरणों का आयोजन है उतना ही, या उससे कुछ ही कम, कृष्ण के श्रृंगार में है।

श्रीकृष्ण के आभूषण

कृष्ण आपाद-मस्तक आभूषण से विभूषित हैं।

(१) मुकुट

उनके शीश पर मयूरपंख के मुकुट के अतिरिक्त रत्नजटित स्वर्ण का किरीट सुशोभित है।[२] मणि, लाल, हीरा से खचित मुकुट उनके सिर पर जगमग करता हुआ कोटि शशि के समान दिखाई देता है।[३] उनके गोरज मण्डित केश पर अमूल्य मणियों का मुकुट बहुत शोभा भी देता है।[४]

(२) कुण्डल

सबसे अधिक आकर्षक आभरण है कृष्ण का कुण्डल। यह मकर की आकृति का है। मकराकृति कुण्डल श्रेष्ठतम देवताओं का कुण्डल है। उनकी श्रेष्ठता का ज्ञापक होने के साथ-साथ यह मकरध्वज की पताका बन कर फहराता है। कृष्ण के चारु श्रवणों को ग्रसित कर लेता है यह। इसकी झलक जब कपोलों पर पड़ती है तब ऐसा लगता

---

१. सुरँग कसूँभी सारी पहिरे रँगीली प्यारी, आली अलबेली भांति रंग माँहि ठाढ़ी है।
केसरी सुरंग भीनी सोंधें सगबगी कीन्हीं, सोहै उर अँगिया कसनि अति गाढ़ी है।।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८०

२. (क) शीश किरीट श्रवण मणि कुण्डल।—हितचौरासी, पद सं० ६३
(ख) जटित क्रीट मकराकृत कुण्डल।—वही, पद सं० ६४।

३. मुकुट सिर दीपन मनि लाल हीरा खचित जगमगत जोति ससि कोटि सम छाजें।
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४३६

४. गोरज छुरित सुदेस केस अति मुकुट खचित मनिगन अमोल।।—वही, पद सं० ३६१

है मानो वदन-सुधा के सरोवर में रुप-जल को झकझोरता हुआ मकर क्रीड़ा कर रहा है,—कभी छिप जाता है कभी प्रकट हो जाता है।[1] जब गंड पर मकर-कुंडल झलकता है तो काम भी लज्जित हो जाता है।[2]

रत्नजटित कुण्डल भी कृष्ण धारण करते हैं। उन कुण्डलों में शशि और रवि की शोभा रहती है।[3] उनके श्यामल कपोल पर कुण्डल का प्रतिबिम्ब कालिंदी में सूर्य का पवन-प्रेरित प्रतिबिम्ब -सा प्रतीत होता है।[4] चलने पर मणिकुण्डल की छवि और भी बढ़ जाती है।[5]

(३) नासामुक्ता

कान की ही भांति कृष्ण की सुभग नासिका भी मंडित रहती है। नासिका में मुक्ता विराजमान रहती है। उसके झलमलाने से ऐसी छवि उत्पन्न होती है मानो घन में विमल शुक्र उदित हुआ हो।[6] इस मुक्ताप्रकाश के लिए कवि को यह उत्प्रेक्षा ठीक लगती है : मानो शुक्र आकर चन्द्रमा के अंक में बैठ गया हो।[7]

यदि कुण्डल की प्रभा रवि के समान है तो नासामुक्ता की शुक्र के समान।

(४) कौस्तुभमणि, मुक्ताहार (वक्ष के आभूषण) :

यद्यपि कौस्तुभमणि आभूषण नहीं है किन्तु फिर भी उसे आभूषण के अन्तर्गत ही गिनना उचित है। कृष्ण के हृदय पर विराजमान कौस्तुभमणि पोत से आवेष्टित है।[8]

गुंजामाल, बनमाल तथा वैजयन्ती माल के अतिरिक्त कृष्ण के उन्नत विशद वक्षस्थल पर मोती की मालायें भी सुशोभित हैं। कृष्ण का उन्नत उर श्यामल गिरि-सा प्रतीत होता है और मुक्ताहार द्विधारा होकर सरिता का उतरना।[9] अथवा घनश्याम के उर पर मुक्ताहार बकपंक्ति की तरह प्रतिभासित होती है।[10] ऐसा लगता है कि विपुल बकपंक्ति उड़ती हुई एक-ज्योति हो गयी है।[11]

---

१. देखि री देखि कुंडल लोल।
   चारु स्रवननि ग्रहन कीन्हें, झलक ललित कपोल।।
   बदन मंडल सुधा सरवर, निरखि मन भयौ भोर।
   मकर क्रीड़त गुप्त परगट, रूपजल झकझोर।—सूरसागर, पद सं० २४३३
२. मकरकुडल गंड झलमल, निरखि लज्जित काम।—वही, पद सं० २४४१
३. कुण्डल बिराजत गंड-मण्डल मनहुँ शोभा शशिरबी।—सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० १०१
४. मनिमय जटित मनोहर कुंडल राजत लोलकपोल री।
   कालिंदी में प्रतिबिम्बित रबि, चंचल पवन झकोर री।—वही, पद सं० १०२
५. चलत अधिक छबि फबत, श्रवन मनि-कुंडल झलकैं।—नन्ददास : प्रथम भाग, (रासपंचाध्यायी) पृ० १६१
६. सुभग नासिका मुक्ता सोभित, झलमलाति छबि होत।
   भृगु-सुत मानौ अमल बिमल सखि, घन मैं कियौ उदोत।।—सूरसागर, पद सं० १८२२
७. शुकुनासा मुक्ता प्रकाश उपमा मन मेरे।
   मनहु असुर गुरु आय अंक बैठ्यो बिधु केरे।।२७।।—गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० १
८. कौस्तुभ मनि राजति रुचि पोतिं।—सूरसागर, पद सं० १७९८
९. उर उन्नत बिशाल राजत सखि ता पर मुक्ता-हार री
   मानहुँ स्यामल गिरि तैं सरिता अध उतरति द्वै धार री।।—सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० १०२
१०. मुक्तावली मनहुँ बगपंगति, सुभग अंग चरचित छबि चंदन।—सूरसागर, पद सं० २३९८
११. मुक्तामाल बिपुल बगपंगति. उड़त एक भई जोति।—वही, पद सं० २४१८

(५) वलय, पहुंची, कंकण, मुद्रिका (हाथ के आभूषण)

कृष्ण के अंगद पर वलय है।[१] गज-शुंडाकृति से बाहुदण्ड पर केयूर है जिसके बीच में हीरा जड़ा है और न जाने कौन-कौन मणियाँ हैं—ऐसी मणियाँ जिनकी न गणना हो सकती है, न जिनका कथन।[२]

पहुँचों में पहुँची फब रही है।[३] नृत्य करते हुए जब कृष्ण भाव से भुजायें फिराते हैं तब पहुँची की शोभा निखर उठती है।[४] कर में कंकण भी वे धारण करते हैं।[५] हाथ की उंगलियों में जड़ाव की मुद्रिका है। कर-नख की ज्योति के आगे नक्षत्र की पंक्ति दब जाती है, फिर रत्नजटित मुद्रिका से मंडित करांगुलियों की शोभा का कहना ही क्या?[६] गोवर्द्धन-धारण के अवसर पर जब वे बायें हाथ में पर्वत उठाते हैं तब मणि की अंगूठी ऐसी प्रतीत होती है मानों इन्द्र के गर्व का भेदन करने के लिये वह चमक रही हो, 'गाज' रही हो।[७] नग-खचित मुद्रिका का वर्णन ही अधिक हुआ है, मात्र स्वर्ण निर्मित का प्रायः नहीं।[८]

(६) किंकिणी

कृष्ण के नाभि और कटि के चारों ओर कनक की छुद्रावली (किंकिणी) की पंक्तियों की भीड़ मची हुई है जैसे ह्रद के तीर रसाल हंसों की पंक्ति हो।[९] कटि-किंकिणी का कल शब्द स्त्रियों के चित्त को चुराने वाला है।[१०] वह कूजती हुई जान पड़ती है।[११] वास्तव में कृष्ण का कटि प्रदेश सुन्दर है, किंकिणी उसकी शोभा को और भी बढ़ा देती है।[१२] वह नितम्बों पर भी ढली रहती है। मणि किंकिणी का स्वर्णतार तड़ित की डोर-सा प्रतीत होता है।[१३]

किंकिणी कभी कूजती है, कभी क्वणित होती है।[१४] किन्तु कभी, जब घंटियाँ बड़ी होती हैं, तो वह सुखद

---

१. अंगद वलय कर मुद्रिका खचि नग। —गोविन्द स्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६०

२. गज सुंडाकृति बाहुदंड-केयूर रहे बनि।
मधि हीरा षट-कौन कौन मनि कहै और गनि॥३०॥ —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० १

३. पहोंचनि पहोंची वर जराय मुद्रिका रही फबि॥३१॥ —वही

४. लसति कर पहुँची उपाजै, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौं भुज फिरत जबहीं, तबहिं सोभा होति॥ —सूरसागर, पद सं० १६७४

५. करज मुद्रिका, कल कंकन छबि, —वही, पद सं० २८३७

६. पहोंचनि पहोंची वर जराय मुद्रिका रही फबि।
करपल्लव नख जोति जात नक्षत्र पंक्ति दबि॥३१॥ —गदाधरभट्ट की वाणी, पद सं० १

७. उन्नत वाम भाग बाहु कर पल्लव मनि मुद्रिका बिराजै।
जनु सुरराज गर्व भेदन कों चमकै गाजै॥ —वही, पद सं० ३६

८. अंगद वलय कर मुद्रिका खचि नग कटि तट पीत काछें काछनी।—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६०

९. कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि कैं भीर।
मनहुँ हंस-रसाल-पंगति, रहे हैं ह्रद तीर॥ —सूरसागर, पद सं० २३७३

१०. कटि किंकनी कल सब्द मनोहर सकल त्रियन चितचोर। —परमानन्दसागर, पद सं० ४४५

११. कनक किंकिनी नूपुर कूंजित। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६१

१२. कटि प्रदेस सुन्दर सुदेश सखी ता पर किंकनि राजै री। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० १०२

१३. मनि किंकिनि गुन तड़ित दामसम बनी नितंबन।३४। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० १

१४. चलत गति कटि कुनित किंकिनि। —सूरसागर, पद सं० १६७४

ताल में घनन-घनन बजती है।[1] चाहे वह कूजे, चाहे क्वणित हो, चाहे घनवनाये, उसकी वाणी हर स्थिति में मधुर और आकर्षक होती है।

(७) नूपुर

रास-नृत्य के समय कृष्ण घुंघरू धारण करते हैं। सामान्य रूप से नूपुर उनके चरणों का आभूषण है। किंकिणी की भाँति उनके चरणों में नूपुर भी कूजा करता है।[2] नूपुर की ध्वनि हंसध्वनि से मिलती-जुलती है। मिलती क्या है उसे भी परास्त कर देती है। जब वे खनन-खनन बजते हैं तब मराल भी लज्जित हो जाते हैं।[3] उसकी झनकार हंसकुल को शिष्ट बना देती है। वे बार-बार अध्यसित हो जाते हैं, उस ध्वनि की समता नहीं कर पाते।[4]

मुख्यतः ये ही कृष्ण-काव्य में वर्णित पुरुष के आभरण हैं।

राधा के आभूषण

आभूषणों की बहुलता राधा किंवा गोपियों के नखशिख वर्णन में मिलती है। स्त्रियों का आभूषण-प्रिय होना विख्यात है। इसीलिए राधा के अंग-प्रत्यंग को मंडित करने में भक्तकवियों ने शायद ही कोई आभूषण छोड़ा हो। एक-एक अंग के लिए भाँति-भाँति के आभूषणों की परिगणना की गयी है। नख से शिख तक भूषण झलक मार रहे हैं, अंग-अंग में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। भूषण क्या हैं मानो अनंग के झलमलाते दर्पण और दीप हैं।[5] निश्चय ही भूषणों से राधा की शोभा की वृद्धि हुई है, यद्यपि भक्तकवि ने राधा के रुचिर रूप, और अंग-प्रत्यंग की माधुरी को बिना भूषण के ही भूषित घोषित किया है।[6] वस्तुतः वे उस निष्कलंक माधुरी में चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं।

(१) शिरोभूषण :—माँग का मोती, शीशफूल, बेंदी, चन्द्रिका, बेना :

राधा की माँग मोतियों से सँवारी हुई है और सिर पर शीश-फूल सुशोभित है।[7] कभी-कभी वे मोतियाँ साधारण न होकर गजमुक्ता होती हैं।[8] जब मोती को छोड़ कर रंग भरे नगों से राधा की माँग सजाई जाती है तब उसकी शोभा अतुलनीय होती है,—उसके सन्मुख मुक्ता लज्जित हो जाती है और मणि गिरने लगते हैं।[9] शीश-फूल तो साक्षात् सुहाग का क्षत्र है जिसने (सिन्दूर से भरी माँग) अनुराग को साथ ले लिया है।[10]

---

१. घनन घनन घंटिका रटित कटि सुन्दर सुखद सुताल। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ३२

२. कनक किंकिनी नूपुर कूजित कल। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३६१

३. खनन खनन नूपुर श्रृंखल से बाजत लजत मराल। —गदाधरभट्ट की वाणी, पद सं० ३२

४. नूपुर रव जन झननकार गुरु शिष्य हंसकुल।
बार-बार अध्यास करत हारे न लही तुल॥३७॥ —वही, पद सं० १

५. नखसिख भूषन झलकि रहे, प्रतिबिंबित अंग अंग।
झलमलात अनगिनत मनौ, दर्पण दीप अनंग॥२१॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० २३७

६. रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी, बिनु भूषण भूषित ब्रजगोरी। —हितचौरासी, पद सं० ८२

७. प्यारी के सीस फूल सिर सोहे हो मोतिनि माँग सँवारी हो। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १३५

८. . . .सीस फूल गजमोती खचित मंग। —वही, पद सं० ३०९

९. रंगभरे नग माँग बिराजत, लाजत मुक्ता, मनिनि खसति। —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३३५

१०. शीश फूल रह्यो झलकि कै, तैसिये माँग सुरंग।
मानो छत्र सोहाग को, लिये अनुरागहि संग॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० १११

शीशफूल के अतिरिक्त शीश-चन्द्रिका भी राधा के मस्तक पर सुशोभित होती है। उसके चारों ओर चिकुर मँडराते हुए ऐसे लगते हैं जैसे चन्द्र पर शृंगार की घटा आकर घिर आई हो।[१]

चन्द्रिका की भाँति ही टीका है, जो जड़ाऊ है।[२] मोतियों की लड़ी के साथ-साथ वेना-वेनी और बेंदी से भी राधा सुसज्जित हैं।[३]

कृष्ण के जन्म पर यशोदा ढाढ़िन को नक-वेसर के साथ जड़ाऊ बेंदी भी देती हैं।[४]

(२) नासिका के भूषण: नासामुक्ता बेसर, नथ, लवंग

राधा की नासिका में मुक्ता और मणि का एक सामान्य आभूषण है।[५] किन्तु ललित नासिका पर बेसर की अधिक शोभा है, यह अधर तट को छूता हुआ भूषण है।[६] यह सोने में रत्न जड़ कर बनायी गई है।[७] बेसर में मुक्ता मन्द-मन्द हिलती रहती है, उस मोती की आब को देख कर आँखें ठिठक जाती हैं।[८]

बेसर नाक के बीचोबीच लटकता भूषण है तो नथ पार्श्व में। नथ में पड़ी मोती भी मन को मोहित कर लेती है।[९] आगे की बड़ी-बड़ी मोतियों की उपमा नहीं मिल पाती।[१०]

बेसर और नथ के अतिरिक्त एकाध स्थल पर नासा-लवंग का भी जिक्र है। ललित नासा पर जड़ाऊ लवंग की अपनी शोभा होती है।[११]

(३) कान के आभूषण:—तातंक, कुण्डल, खुटिला, खुभो, तर्यौना, कर्णफूल, झुमका

कान के आभूषणों में ताटंक की विशेष छटा है। षोडश शृंगार में ताटंक श्रवण को सुसज्जित करता है।[१२] ब्रजनारियों के गौर ललित कपोल पर पड़ती ताटंक की छवि देख कर कृष्ण वशीभूत हो जाते हैं।[१३] गंड पर झलकती उसकी द्युति कंज दलों पर पड़ती सूर्य की आभा के सदृश प्रतीत होती है।[१४]

---

१. चिकुर चन्द्रिका रचि रुचिर, रची मनोहर बानि।
मनो घटा शृंगार की, जुरी चन्द पर आनि। —वही, पृ० १११

२. ही को हर नीको फवै शिर टीको जटित जराय।२३। —महावाणी, (उत्साहसुख), पृ० ५९

३. वरबेंदी वेना अरु वेनी मनहरलेनी माँग सुहाई।
मोतिन-लर सोभा सुन्दर सखि! लखि लखि लोचन रहत लुभाई॥
—महावाणी, पृ० १२२ (उत्साहसुख पद सं० १६८)

४. दीनी नई नकबेसरि बेंदी जराउ की। —चतुर्भुजदास: पद संग्रह, पद सं० ७

५. ...नासा जलज मनी। —हितचौरासी: पद सं० २९

६. नासिका ललित बेसरि बनी अधर-तट। —सूरसागर, पद सं० १६५९

७. सुभग नकबेसरी, रतन हाटक जरी, अधर बंधूक।—हितचौरासी, पद सं० ८१।

८. पानिप अनूप पेखै भूली है निमेषै देखै, मन्द मन्द बेसर के मुक्ता की हाल री।
—ध्रुवदास: बयालीस लीला, पृ० ७९

९. बेंदी लाल नथ सोहै बन्यौ मोती मन मोहै, —वही, पृ० ७९

१०. हरनिहारी हीयकी बनी नथनिया मनमथनकी।
बड़रे मोती अग्रता के नाहि उपमा कथन की॥ —महावाणी (उत्साहसुख), पृ० ८१

११. जटित लवंग ललित नाशा पर,। —हितचौरासी, पद सं० ४५

१२. श्रवण ताटंक कै। —हितचौरासी, पद सं० ६७

१३. स्रवन बर ताटंक की छबि, गौर ललित कपोल। —सूरसागर, पद सं० १६६१

१४. श्रवननि छबि ताटंक दुति, रहि गंडनि झलकाइ।
मनो भान आभा परी, कंज दलनि पर आइ॥ —ध्रुवदास: बयालीस लीला, पृ० ११२

पहले, कानों में कुण्डल भी स्त्रियाँ धारण करती थीं। राधा के श्रवण का एक आभूषण कुण्डल भी है।[१] चंचल ताटंक के साथ ही कुण्डल कान पर ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे छवि के कमलों पर छवि के शशि और भानु दोनों आकर मिले हों।[२]

खुटिला और खुभी भी रवि की कांति को अपसरित कर देते हैं।[३] क्योंकि वे भी अन्य आभूषणों की भाँति जड़ाऊ हैं।[४] इसीलिए वे कानों में झलमलाहट पैदा कर देते हैं।[५] रुक्मिणी के कानों की खुभी सबके मन में चुभ जाती है क्योंकि वह काम-कलभ के उगते हुए नये दाँतों-सी लगती है।[६]

ताटंक, खुटिला और खुभी की प्रधानता है, किन्तु कान के अन्य आभूषणों से भी राधा का शृंगार किया गया है। कुंदन के रत्नों से खचित कान में तरयोना की आभा कम नहीं है।[७] कनक में जड़े नग के कर्णफूल भी राधा के कान में कभी-कभी शोभा पाते हैं।[८] रास के नृत्य में गतिमान अंचल के साथ ही चंचल झूमका से राधा का रूप अद्भुत हो जाता है।[९]

इस प्रकार कान के विविध आभूषण राधा के शृंगार में नियोजित किए गए हैं। उनमें से अधिकांश जड़ाऊ और जगमगाते हुए हैं।

(४) कंठ और हृदय-प्रदेश के आभूषण :: कंठश्री, हार, मालाएँ, चौकी, आदि

चिबुक के नीचे माला की मोतियाँ छविमयी हैं।[१०] कंठ में कंठश्री के अतिरिक्त दुलरी भी है।[११] दुलरी ही नहीं, तिलरी और अमरलरी भी भली प्रकार ढली हुई है।[१२] चंपाकली की अपनी अलग शोभा है।[१३] कंठी कंठ से लगी हुई कसी है।[१४]

---

१. श्रवन कुंडल, बदन चंद्रनि लजावै। —हितचौरासी, पद सं० ८१

२. कुण्डल कल ताटक चल, रहे अधिक झलकाइ।
मनौ छविके ससि भानु जुग, छवि कमलनि मिले आइ।।५।। —ध्रुवदास : बयाली लीला, पृ० २६५

३. खुटिला खुंभी रुचिर नक बेसरि।
दूरि करत रवि कांति जू।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ९२

४. कठुला खुंभी यजराय की। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १३५

५. स्रवननि खुटिला खुभी झलमली। —भक्त कवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६८

६. श्रवननि सुन्दर खुभी, चुभी सबके मन ऐसैं।
काम-कलभ की अब हीं उलही दँतिया जैसैं।। —नंददास : प्रथम भाग : (रुक्मिणीमंगल), पृ० १५२

७. कुंदन के रतननि खचे, बने तरौना कान।
मानौ छबि के कमल ढिग, झलकत छबि के भान।।२३।। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० २१८

८. सोहत कोमल कनकजरे नग करनफूल समतूल। —महावाणी (उत्साहसुख), पृ० ५९

९. चंचल चलत झूमका, अंचल, अद्भुत है वह रूप।। —सूरसागर, पद सं० १६७५

१०. चिबुक-तर कंठ श्रीमाल मोतिनि छबि। —वही, पद सं० १६६०

११. कंठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंद। —वही, पद सं० १६६१

१२. दुलरी अरु तिलरी माला मोहिनी; सुढरी अमरलरी कंठ श्री सोहनी।
—महावाणी (उत्साहसुख), पृ० ८०

१३. हार हीर हमेल चौसर चंद्रचौकी चँपकली। —वही, पृ० ८०

१४. कंठी कंठ कसिव कंचुकिपर वरमुक्ता मनि-माल सखी ! —वही, पृ० १२२

दुलरी, तिलरी, चौलरी आदि के अतिरिक्त कंठ में श्रेष्ठ मोतियाँ और पोत हैं।[१] कंठ में पोत की वैसी ही शोभा है जैसे उर पर हार की।[२] दो लर की मोतियों के आगे सारी छवि विनिन्दित हो उठती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो राधा के कंठ रूपी पूर्ण चन्द्र पर द्वितीया का इंदु प्रगट हो गया हो।[३]

मोतियों की लड़ियों के अतिरिक्त राधा के गले में मोतियों का हार भी विराजमान है। पोत और मुक्ता की मालाएं उरोज से लगी हुई हैं।[४] गोपियां मखतूल मोती की कण्ठश्री और उर पर गजमोती का हार धारण किए हैं।[५] हार ही नहीं उसका गजरा भी है।[६] दानलीला के अवसर पर श्रीकृष्ण गोपियों की कसीदा-शोभित कंचुकी के साथ ही गजमोती के अनमोल हार पर भी मोहित हो जाते हैं, न जाने किस देश का है वह।[७] होली के अवसर पर गोपियां गजमोतियों का हार धारण कर झूमक आदि गाती हुई नंदराय के दरबार में जा उपस्थित होती हैं।[८] मोती के अतिरिक्त मणिमाला भी राधा के कंठ में में शोभित होती है।[९] मोती के हार और हीरावली के बीच-बीच मणियां झलक मारती हैं, जैसे रूप के सरोवर में मैन की तरंग उठ रही हो।[१०]

इन सब उरोभूषणों के बीच चौकी की चमक अनुपम है। मोतियों की माला के बीच राधा के उर पर रत्नजटित नीलमणि की चौकी झलमल करती है।[११] जड़ाऊ चौकी रवि की कांति को भी दूर कर देती है।[१२] उसकी शोभा अपूर्व है—हेम की चौकी में चन्द्रमणि लगी हुई है और वह रत्नों से खचित है।[१३] इस प्रकार हृदय के बीचोंबीच चंद्र की शीतल आभा या सूर्य का वैदूर्य दीपित हो रहा है।

(५) हाथ के आभूषण: वलय, कंकण, बाजूबंद, चूड़ी, पहुँची, नवग्रही, मुंदरी, कर-पान आदि

वलय और कंकण को साथ-साथ स्मरण किया गया है। राधा का वलय, कंकण अत्यन्त सुन्दर है।[१४] वधू

---

१. चौकी चम्पकली चौलरी मोतिन पोतिन वररी जू। —महावाणी, (उत्साहसुख), पृ० ११५
२. कंठ पोति, उर-हार. . . । —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६८
३. द्वैलर मोतिन कंठ बनी, डारी सब छवि निंद।
मानो पूरण चन्द पर, प्रगट्यो दुतिया इंद॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ११२
४. . . .पोत मुक्ता दाम कुच लाग री। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४६२
५. कंठसिरी मखतूल मोति अरु, उर गज मोतिनि हार जू।
—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ९२
६. गजमोतिन के गजरा. . . । —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ३६८
७. गज मोतिन कौ हार है याकों कौन देस तैं आन्यौ।
कंचुकी सोभित कसीदा सुन्दर आजु लों देख न जान्यौ॥ —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४२
८. भूखन बसन जु साजियो और गजमोतिनि के हार हो।
झूमक चेतव गावहीं हो घोखराइ दरबार हो॥ —वही, पद सं० ११६
९. बेसरि ओट सुरंग बेन पिक कंठ सुधा मनिमाला। —वही, पद सं० २०४
१०. जलज हार हीरावली, बिच बिच मनि झलकाहिं।
मानौ मैन तरंग उठै, रूप सरोवर माहिं॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ११२
११. रतन जटित नीलमनि चौकी झलमलै, हित ध्रुव लसै उर मोतिन की मालरी। —वही, पृ० ७९
१२. चौकी बनी जराइ दूरि करत रवि-कांति। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ८०
१३. चौकी-हेम, चन्द्र-मनि-लागी, रतन जराइ खचाई। —सूरसागर, पद सं० १६७३
१४. वलय कंकन चूड़ी मुद्रिका अति रुड़ी। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४६२

राधा के षोडश श्रृंगार में वलय और कंकण की द्युति चमकती है।[१] रास-नृत्य में राधा के मरकत-मणि-वलय से रव उत्पन्न होता है।[२] रास में किंकिणी के साथ कंकण भी राधा की शोभा को बढ़ाता है।[३] राधा बाजूबन्द भी धारण करती हैं।[४]

कंकण के साथ चूड़ियां भी राधा की कलाई की शोभा बढ़ाती हैं।[५] रासमंडल में ब्रजनारियों का कंकण क्वणित होता है, तो चूड़ियां भी झनकार उत्पन्न करती रहती हैं।[६] राधा की चूड़ियां साधारण नहीं हैं, वे नीलमणि की हैं।[७] राधा के अन्य श्रृंगार के अनुरूप उनकी चूड़ियां भी नीली हैं, नीलम की बनी हैं। उनके हाथ में चार-चार चूड़ियां बहुत अच्छी लगती हैं।[८]

हाथ में श्याम चूड़ी और कंकण के अतिरिक्त पहुँची भी है।[९] कवि हाथों की चारु चूड़ियों और पहुंची पर अपने को न्योछावर कर देता है।[१०] वह रत्नों से गढ़ी हैं।[११] इन सब आभूषणों के साथ ही नवग्रही का जिक्र भी हुआ है।[१२]

राधा के कोमल पल्लव-पाणि में अंगूठियां शोभित हैं।[१३] मेंहदी से रंगी उंगलियों में अंगूठियां अत्यन्त फबती हैं।[१४] रत्नों की अंगूठियों के अतिरिक्त कर-पान भी धारण कर रखा है राधा ने।[१५]

इस प्रकार राधा की बाँह भुज से लेकर उंगली तक आभूषणों से भूषित है।

(६) कटि के आभूषण : किंकिणी, कांची

राधा की सुभग जघनस्थली पर किंकिणी क्वणित हो रही है।[१६] लहकते लहँगे के ऊपर कटि की किंकिणी सुसज्जित है।[१७] उनकी कनक-किंकिणी बाल मराल की तरह कूजती है।[१८] स्वर्ण-किंकिणी ही नहीं, पृथु नितम्ब के ऊपर मणिमय किंकिणी का जाल अत्यन्त शोभाकारी लगता है, जैसे छविदीपों की माल चारों ओर परिक्रमा

---

१. वलय कंकन दोति नखनि जावक जोति। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ६७
२. मरकतमनि बलय राव मुखर नूपुरनि सुभाव। —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ४५८
३. कंकन कर कटि सुदेस रुनित किंकिनी। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ६५
४. बाजूबंध चूरी कंकन गजरा. . . । —महावाणी, पृ० १२२ (उत्साहसुख), पद सं० १६८
५. कंकन, चुरी, किंकिनी, नूपुर . . . । —सूरसागर, पद सं० १६७६
६. किंकिनी कटि, कनित कंकन, कर चुरी झनकार। —सूरसागर, पद सं० १६६१
७. चूरी मखतूल नील मनिन की कर बनी । —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ७८
८. बनीरी तेरे चारि चारि चूरी करन। —स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० ५०
९. स्याम चुरी पहुंची कर सोभित, अंगुरनि रंग बढ़ावति। —भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ४४५
१०. गजमोतिन के गजरा, हाथनि चारु चुरी, पहुंचिन पर वारी। —वही, पद सं० ३६८
११. रतनागढ़ पहुँची बनी, वलया वलय सुढार।।१०।। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० २६६
१२. नोग्रही कर पोंहचिया हो खये बरा अति गोला हो। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १३५
१३. पल्लव पानि मुद्रिका सोभित . . . । —वही, पद सं० २०४
१४. अंगुरिनु मुंदरी फबि रही, अरु मिहिदी रंग सार।।१०।। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० २६६
१५. कर कर-पान साजैं सुंदरी, रतन बिवान सोहैं मूंदरी। —महावाणी, पृ० ८१
१६. सुभग जघनस्थली, कनित किंकिनि भली . . . । —हितचौरासी, पद सं० ६७
१७. कटि किंकिन लहँगा लहकारी . . . । —महावाणी : पृ० १२२ (उत्साहसुख), पद सं० १६८
१८. कनक-किंकिनी-नूपुर-कलरव, कूजत बाल मराल। —सूरसागर, पद सं० १६७३

कर रही हो।[१] मणिमय किंकिणी के जाल की छवि के विषय में जितना भी कहा जाय, कम है; वह चारों ओर रूप की दीपावली-सी झलमलाती रहती है।[२] राधा की कांची की पटी रत्नों की है, जिसमें रुचिर चुन्नी जड़ी है। विचित्रता से जड़ी चुन्नी में मोतियों का जाल जगमगा रहा है।[३]

(७) पद के आभूषण : पैंजनी, पायल, जेहरि, नूपुर, अनवट, बिछिया, पदपान

पदों के कई आभूषण हैं। रास नृत्य में पैंजनी की ध्वनि कंकण किंकिणी आदि की ध्वनि के साथ मिल कर अद्‌भुत वाद्य-वृन्द का निर्माण करती है।[४] पायल की मन्द-मन्द झनक हंस-शावक के आनंद-भरे बोल सी प्रतीत होती है।[५]

कृष्ण के जन्म पर ढाढ़िन कंचन की जेहरि पाती है।[६] राधा के चरणों की जेहरि मणिमय है।[७] जेहरि के साथ ही नूपुर का कलरव भी मनोहारी है। पायल की भांति उसमें भी मन्द-मन्द झनक होती है।[८] रुक्मिणी के चरणों में मणिमय नूपुर मनमथ के बीन से बजते हैं।[९] राधा की सहचरी की यह कामना रहती है कि कब वह उनके सुगुल्फों में मणि-मंजीर पहनाये ![१०]

कृष्ण राधा की सुरंग उंगलियों में छल्ले पहना कर अपने को सुखी अनुभव करते हैं। मेंहदी रंजित कंजदलों को लज्जित करने वाले पोर-पोर में कृष्ण बहुरंग मणि के हरे जंगाली छल्ले पहिनाते हैं और उनकी छवि से चमत्कृत हो उन्हें नेत्रों से छुआ-छुआ कर, चूम कर, माथे पर धर कर हृदय से लगाते हैं।[११] पैरों में जेहरि

---

१. पृथु नितम्ब ऊपर बनी, मणिमय किंकिनि जाल।
फिर आई चहूं ओर मनु, छबि दीपन की माल॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ११३

२. मनिमय किंकिन जाल छवि, कहौं जोइ सोइ थोर।
मनौ रूप दीपावली, झलमलात चहुं ओर॥ —वही, पृ० २६६

३. काँची कंचकी कटि सोहत सुघटी; पटी रतनन की रुचिर चुन्नी जटी।
जटी चुन्नी विचित्रतासों मुक्ताजाला जगमगे।
—महावाणी (उत्साहसुख, पद सं० ५०), पृ० ८१-८२

४. कंचन, चुरी, किंकिनी, नूपुर, पैंजनि, बिछिया सोहति।
अद्‌भुत धुनि उपजति इनि मिलि कैं, भ्रमि-भ्रमि इत-उत जोहति॥ —सूरसागर, पद सं० १६७६

५. पायल नूपुर की झनक, होति है मन्दहि मन्द।
मनु सावक कल हंस के, बोलत भरे अनन्द॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ११४

६. दीनी है कंचन, जेहरि पंकज पांउ की। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७

७. अति सुढार सुठि सुमिलि बनी, मणिमय जेहरि चारु।
चलन छबीली भांति पर, मत्त मरालनि वारु॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ११३

८. पायल नूपुर की झनक, होति है मन्दहि मन्द। —वही, पृ० ११४

९. मनिमय नूपुर साजैं, मनमथ बीन से बाजैं। —नन्ददास : प्रथम भाग, पृ० १५१

१०. सुगुल्फे न्यस्यन्ती क्वचन मणि मंजीर युगलं।
कदा स्यां श्रीराधे तव सुरिचारिण्यहमहो॥ —हितहरिवंश : राधासुधानिधि, श्लोक ५३

११. मनिन के बहुरंग हरित जँगाली छल्ले, जिहि पोरी जैसे बने पिय पहिरावही।
चितै छबि कर गहै नैनन को छुवाइ-छुवाइ चूंमि चूंमि माथे धरि आनि उर लावही॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० ८१

और पायल के साथ ही अनवट और बिछिया भी है।[१] बिछुओं का रव हंस के शावक की अति मृदु वाणी-सा है।[२] रास-नृत्य में नूपुर आदि की ध्वनि में बिछुआ भी अपनी ध्वनि-संगत करता है।[३]

रसिक सुजान कृष्ण अनवट और बिछुओं की छवि देखते ही रह जाते हैं। यही नहीं, राधा के चरण-पृष्ठ पर रत्नजटित पद-पान भी सुशोभित है।[४]

इन समस्त आभूषणों की सूची देखने से विदित हो जाता है कि राधा मांग से लेकर चरण की अंगुलियों तक आभूषणों से लदी हैं। एक-एक अंग में एक-से-अधिक आभूषण उन्हें पहिनाया गया है। ऊपर से नीचे तक वे स्वर्णाभरणों से देदीप्यमान हैं, रत्नजटित आभूषणों से झलमला रही हैं।

(ख) प्राकृतिक सौंदर्य

प्रकृति की विपुल सुषमा को भक्तकवियों ने निहारा है और मुक्त हृदय से उसमें रमण किया है। उनके लिए उसका नैसर्गिक सौंदर्य ही सब कुछ है, उसमें किसी रहस्यमयी सत्ता का संकेत खोजने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। छायावादी कवियों की भांति किसी सूक्ष्म प्रियतम की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के रूप में उसे नहीं देखा, वरन् उसके नितान्त वस्तुगत सौंदर्य को उन्होंने परमसौंदर्य की क्रीड़ास्थली के रूप में देखा है। वृन्दावन प्रकृति का विशाल प्रांगण है; किन्तु उसकी नदी में न जलपरियां हैं, न वृक्ष में तरु-अप्सर। उसमें जो कुछ भी है—जल, थल, नभ, स्थावर-जंगम—वह श्रीकृष्ण और राधा की सत्ता से स्पंदित और आह्लादित है। वृन्दावन चिद्घन है जड़ नहीं, उसने कृष्ण की ललित लीला के हेतु जड़ता धारण कर ली है। उसका मूर्तिमान सौंदर्य किसी अगोचर सौंदर्य की झलक नहीं देता, वरन् अपने असीम सौंदर्य के कारण राधा-कृष्ण का प्रिय क्रीड़ाक्षेत्र बनता है। रूप, रस, गंध, वर्ण की दिव्य मादकता के कारण लीला की पृष्ठभूमि बनने में वह सहायक है।

इसलिए, कृष्ण-भक्तिकाव्य में वृन्दावन तथा उसके विशेष शोभास्थल जैसे यमुना-पुलिन, निकुंज आदि की सुन्दर प्राकृतिक छटा दर्शनीय है। आनन्द के अवतार की लीलाभूमि होने के कारण आनन्द विधायिनी ऋतुओं विशेषकर वसन्त, वर्षा और शरद के अत्यन्त मनोहारी चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। यों, इन सबके प्रकृत सौंदर्य को चित्रित करने में ही भक्तकवियों की वृत्ति रमी है, पर कहीं-कहीं इनके संयोग-वियोग-सापेक्ष चित्रण भी हैं। प्रकृति स्वतंत्र होते हुए भी मानवीय भावों से तादात्म्य कर लेती है। ऐसा प्रकृति-चित्रण उन्हें काव्य-परम्परा से दाय में प्राप्त था। किन्तु कृष्ण-भक्ति-काव्य में उसकी प्रमुखता नहीं है। वृन्दावन प्राकृतिक शोभा का अक्षय भंडार है और इस भंडार को खोल कर भक्त कवियों ने पाठक के सम्मुख रख दिया है। यमुना हो या यमुना-पुलिन, वृक्ष वेलि हो या इनसे आवेष्ठित कुंज-निलय, पुष्पों का रंग-बिरंगा विकास हो या नभ का ज्योत्स्ना-मंडित विचित्र आनन, ऋतुओं की तरलता हो या उत्फुल्लता, वृन्दावन की प्रकृति के प्रांगण में घटित होने वाले नित्य भाव एवं परिवर्तनशील भावों को भक्त-कवियों ने उतनी ही तन्मयता से अपने चित्रपट पर आँका, है जितनी तन्मयता से मानव-मन में घटित होने वाले नित्य और अनित्य भावों (moods) को। कृष्णभक्तिकाव्य में प्रकृति महत्वपूर्ण है; उतनी ही महत्वपूर्ण, जितने राधा-कृष्ण। उसकी प्राकृतिक शोभा में भी श्रृंगार मूर्तिमान है।

---

१. जेहरि पाइल अति बनी, बिछिया अनवट नीक।१३। —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० २७४

२. बिछुवनि की छवि कहा कहौं, उपजत रव रुचि देन।
मनौ सावककल हंस के, बोलत अति मृदु बैन।। —वही, पृ० २६६

३. कंकन, चुरी, किंकिनी, नूपुर, पैंजनि, बिछिया सोहति।
अद्भुत धुनि उपजति इनि मिलि कै, भ्रमि-भ्रमि इत-उत जोहति।। —सूरसागर, पद सं० १६७६

४. जेहरि नूपुर चरन पृष्ठ पर रतनजटित पदपान।
अनवट बिछयन की छबि देखत मोहत रसिक सुजान।। —महावाणी, पृ० ५९

वृन्दावन

वृन्दावन का प्राकृतिक वैभव अतुलनीय है। वहाँ प्रकृति का कौन-सा रूप आकर्षक नहीं है? उसको घेरे हुए कालिन्दी नदी की मेखला है, जिसका निर्मल पानी शुभ्र नहीं नील है। इस नीलाभ जल के गम्भीर प्रवाह में आह्लादकारी तरंगें तो हैं ही, उसमें कमल-वन भी तैर रहा है। नदी के क्रोड़ में रक्ताभ, पीत, श्वेत, श्याम अंबुज का वन-सा बना है। इनके ऊपर मदविह्वल मधुलोभी भ्रमर के टोल भ्रमित हो रहे हैं। सारस और हंस की मधुर ध्वनियों का कोलाहल मचा है। इनके अतिरिक्त वहाँ न जाने कितने लाख पक्षी हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।[१]

यमुना की ही भाँति पवित्र उसका पुलिन है। वह असाधारण है, नाना मणि-मोतियों से रचित है। प्रकाशमय भी है, उसमें निशिवासर ऐसी ज्योति रहती है कि उसके आगे शशि और सूर्य भी लज्जित हो जाते हैं। ऐसा विदित होता है, जैसे कंचन को गलाकर स्वर्णाभ कूल बनाये गये हैं। नीली नदी के पास सौवर्ण भूमि है और उस पर भाँति भाँति के हरित वृक्ष हैं। नये पर्वतों की शोभा, भाँति-भाँति के नव पल्लव, पत्र, रंग-रंग के फूल—ये सब मिल कर पुलिन को ऐसा सौंदर्य प्रदान करते हैं, जैसे स्वयं विधि-निर्मित कोई चित्र हो। लताओं के कुंज में पराग का ऐसा पुंज है, जिसे पहिचानना कठिन हो जाता है, न जाने कितने कुसुम उस कुंज में बसे हैं। कहीं कपूर का पराग है, तो कहीं कुंकुम का पंक ! स्फटिक की भाँति विमल स्थल है, जैसे धरा पर स्वयं निष्कलंक मयंक उतर आया हो। वह धरती भी कितनी शीतल, पवित्र और सुगन्धित होगी; जहाँ पर कपूर की रज, कुंकुम का पंक तथा चन्द्र की द्युति हो।[२]

कहीं-कहीं अमृत-जल से भरे विपुल पद्माकर हैं। यह चिन्तामणि-सी भूमि षट-ऋतुओं से नित्य सेवित हैं। ऋतुओं का वैभव तो वृन्दावन में है ही, पक्षियों का कलरव तथा झरनों का अनादि संगीत भी गुंजरित है। इस वृन्दावन में मयूर-कुल नृत्य करता रहता है और कोकिला-कुल गान। भृंग और कपोत उपंग का शब्द उत्पन्न करते हैं। कीर रूपी भाट प्रशस्ति-गान करते हैं। निर्झर मृदंग की ध्वनि से झरते हैं। इस संगीत-रीति को सुन कर वृक्ष रीझ-रीझ कर सर धुनते हैं। अचल और चल सभी में उल्लास है। मंद पवन के स्पर्श से कुसुमांजलि की वर्षा होती रहती है।[३] पुष्प-वर्षा से अभिषिक्त, नील नदी से आवेष्टित संगीतमयी धरती पर यदि राधा-कृष्ण रीझ जायँ तो आश्चर्य क्या?

वृन्दावन सौरभ से विह्वल है। कौन ऐसे फूल हैं जो वहाँ नहीं हैं? चमेली, चंदन, चंपक, वकुल की सुगन्धि से वह महक रहा है।[४] गंध ही नहीं, वर्ण का नयनोत्सव भी उपस्थित है। अरुण, नील, श्वेत, कमल के सारे प्रकार बहुरंगों में पुष्पित हैं। ये पुष्प क्या हैं, मानो वृन्दावन ने तरह-तरह के वस्त्र धारण कर रखे हैं।[५] और, वृक्षों की अलग जमघट है—आम, कदंब, जामुन, नीबू, श्रीफल, कदली, कुरवक, कुब्ज, केतकी, केवड़ा, पारिजात-सब वृन्दावन की पवित्र भूमि में उपजे हुए हैं।[६] शरद और वसंत इस सुभग वृन्दाविपिन की नित्य सेवा में लगे हुये

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी; पद सं० १ (पृ० १)।
२. वही।
३. वही, पद सं० १, पृ० २।
४. महि महि चारु चंवेली चंदन चंपक वकुल वर्न वरवेष।
पियवासे अनुकूल वसंती सदासेवती सुमन सुदेश॥—महावाणी : (सिद्धान्त सुख, पद सं० ४), पृ० १७३
५. अरुन नील सित कमल कुल, रहे फूलि बहुरंग।
वृन्दावन पहिरै मनो, बहु बिधि बसन सुरंग॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला, पृ० १४
६. अंव कदंब जंबु नींवू श्रीफल चल दल कदली कमनीय।
कुरवक कुब्ज केतकी केवर पारिजात रोचक रमनीय॥ —महावाणी : (सिद्धान्त सुख), पद सं० ४

हैं। अतएव नाना रंग के जलज और थलज सहज रूप से विकसित हैं। लता-वेलि का शोभा-संभार दर्शनीय हैं, तमाल वृक्ष से हेमवेली लिपटी है, फूलों से लदी लतायें यमुना के जल में झूम रही हैं।[१] रंग-बिरंगे सुमनों के विलास से आपूर वृन्दावन में सुवासित कुंज बने हुए हैं।[२] जितनी दूर यमुना का विस्तार है, उतनी दूर तक कुंजों की पंक्ति बनी है।[३] वृन्दावन का बाग भाँति-भाँति से पुष्पित है, रति और श्री सोहनी लिये कुसुम पराग झाड़ रही हैं।[४] सौरभ, सुगंध और रस के सार से वृन्दाविपिन आप्यायित है, उसमें इन्हीं का उद्गार उठ रहा है।[५]

यह है वृन्दावन के प्राकृतिक सौंदर्य का लालित्य। रूप की उसमें वर्षा हो रही है और नव कपूर की धूलि धुंध बन कर आकाश तक छाई हुई है।[६] कीर, कपोती, भ्रमर, पिक सब आनन्द में भीगे नई-नई तानें ले रहे हैं, सारे पक्षियों के कलरव का शोर मचा हुआ है, कानों में और कुछ नहीं सुनाई पड़ता, इन्हीं के मधुर कोलाहल से वृन्दावन मंथित है।[७] पक्षी का ही नहीं, ऋतुओं का सूक्ष्म रव भी अनुभव की वस्तु है। पावस ने वृन्दावन में छाया की है, ऋतुराज पखावज बजा रहा है, शरद वीणा के स्वर पूरित कर रही है, तथा ग्रीष्म रसाल ताल दे रहा है।[८] यही है रूप, रस, सुगंध, संगीत से अनुरंजित वृन्दावन की प्रकृति, राधा-कृष्ण की रंगस्थली।

(१) पुलिन, निकुंज

इस रंगस्थली के दो मुख्य आकर्षण-केन्द्र हैं—यमुना का तट तथा कुंज। गोपियों तथा राधा के साथ कृष्ण का प्रेम-व्यापार इन्हीं दो स्थलों पर विशेष रूप से प्रस्फुटित होता है; क्योंकि इनका प्राकृतिक सौंदर्य वृन्दावन के अन्य रमणीय स्थलों से विशिष्ट है। पुलिन के निकट ही भाँति-भाँति के रम्य कुंज हैं। यमुना-पुलिन की बालुका उज्ज्वल है, मृदु है और है सरस; इस सुहावने तट को यमुना ने स्वयं अपने कर-तरंगों से बनाया और संवारा है।[९] इस सुभग तीर पर कोमल मलय-समीर बहती है।[१०] शीतल यमुना की रस-वीचियों का स्पर्श करके

---

१. ध्रुवदास : बयालीस लीला। (हित श्रृंगार लीला), पृ० ११९।

२. नव निकुंज मंजुल बनी, सनी सनेह सुवास।
सुमन सुरंग अनेक रँग छाई विविध बिलास॥ —वही, पृ० १२०

३. कुण्डल यमुना को जितो, तितो आहि बिस्तार।
पंकति कुंजनि की बनी, मंजु मंडलाकार॥ —ध्रुवदास : बयालीस लीला (सभामंडल लीला), पृ० १२८

४. विविध भाँति रह्यो फूलिकै, वृन्दावन निज बाग।
रति अरु श्री लिये सोहनी, झारत कुसुम पराग॥ —वही, पृ० १२९

५. सौरभताई जहाँ लगि, अरु सुगंध रससार।
तिनकरि वासित रहत दिन, उठत मोद उद्गार॥ —वही, पृ० १२९

६. वही, (वनविहार लीला), पृ० २०५।

७. कोलाहल सब द्विजनि कौ, तहाँ नाहिने थोर।
श्रवननि सुनियत नाहि कछु, ऐसो ह्वै रह्यौ सोर॥२०॥ —वही, पृ० २०६

८. रितुराज पखावज लिये कर, कीना शरद प्रवीन।
ग्रीषम ताल रसाल धरैं, पावस छाया कीन॥१७॥ —वही, पृ० २०६

९. उज्वल मृदु बालुका, पुलिन अति सरस सुहाई।
जमुना जू निज कर तरंग करि आप बनाई॥ —नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६६

१०. सुभग सरित के तीर, धीर बलवीर गये तहँ।
कोमल मलय समीर, छबिन की महा भीर जहँ। —वही, पृ० १६५

पवन सीकरों की मृदु वर्षा करता है।[1] यमुना के जल में तिरते कमलों का सेवन करते हुए भृंग पावन पुलिन पर मंडराते हैं।[2] जल में तो कमल हैं और स्थल में न जाने कितने सुगन्धित पुष्पों की भीड़ है। कमलों पर भौंरे मँडरा रहे हैं; चंपक, बकुल, मालती के मुकुलित होने पर पिक और कीर मत्त हो रहे हैं।[3] कहीं मालती महक रही है, तो कहीं चंपक चित्त को चुराये ले रहा है। उधर कहीं मंदार झकोरे ले रहा है, तो इधर लवंग-लता एलची के साथ रस झेल रही है। कहीं उधर कुरवक, केतकी, केवड़ा गंध के वश में हुए जा रहे हैं, तो इधर छवि-हुलसित तुलसी परिमल की लपटें छोड़ रही हैं, कमोद सुख बिखेर रहा है।[4] इतने सारे पुष्पों के पराग से यमुना के पुलिन की रज सिक्त है। मृदु पदन्यास से ही कुंकुम की रज उठने लगती है।[5] पुष्पसेवित यह सुन्दर पुलिन जितना राधा-कृष्ण के लिये सुखदायक है, उतना ही पशु-पक्षियों के लिये भी।

कुंकुम-रज से आपूर, सुगन्धि की लपटों से घिरा यमुना-पुलिन का तटवर्ती प्रदेश निकुंजों का मधुर आलय है। तरह-तरह की लतायें चारु नवनिकुंजों का निर्माण कर देती है। माधविका तथा केतकी की लता से कुंज में मदन का आगार निर्मित हो जाता है।[6] कहीं पर मुकुलित मल्लिका का निकुंज-भवन बन जाता है।[7] ये निकुंज अनेक दिशाओं में फैले हुए हैं। शीतल लवंगलता के कुंज के आस-पास मलयानिल बह रहा है और निर्झर झर रहा है।[8] ये कुंज सघन हैं, इसलिए मत्त मतंग से प्रतीत होते हैं और पवन के स्पर्श मात्र से तुरंग की तरह नर्तन करने लगते हैं।[9] कुसुम की धूलि इन्हें धुंधला बना देती है और पराग-लुब्ध भौंरें गूंजते क्या हैं, मानो बीन बजाते हैं।[10] परिमल के अतिरेक से वे विथकित-से हो जाते हैं। कुंज में कहीं भ्रमर का मंजु घोष हो रहा है, तो कहीं मोर और पिक अपने स्वर से मिला रहे हैं।[11] ये ही नहीं, अन्य विहग मधुर-मधुर गति और ताल से कूज रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है, मानो द्रुम पर चढ़ी रागनियाँ तान-तरंगें ले रही हों।[12] स्वर और सौरभ का माधुर्य है

---

१. शीतल हंससुता रस बीचिनि परस पवनसीकर मृदु बरषत । —हितचौरासी, पद सं० ७२
२. परम पावन पुलिन भृंग सेवत नलिन। —वही, पद सं० २६
३, चंपक बकुल मालती मुकुलित मत्त मुदित पिक कीर री सजनी। —वही, पद सं० २४
४. नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६५-६६।
५. मृदु पदन्यास उठत कुंकुम रज। —हितचौरासी, पद सं० ६२
६. देखन नवनिकुंज सुनि सजनी लागत है अति चारु।
माधविका केतुकी लता लै, रच्यौ मदन आगारु। —वही, पद सं० ३०
७. बैठे लाल निकुंज भवन। रजनी रुचिर मल्लिका मुकुलित, त्रिविध पवन । —वही, पद सं० ४०
८. सघन कुंज बहु दिसि फूले द्रुम कूजत विविध विहंग।
निर्झर झरित बहत मलयानिल सीतल लता लवंग।। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३३१
९. कुंज कुंज ऐसी बनी, मानो मत्त मतंग।
लागत ही जनो पवन के, निर्तत लगा तुरंग।। —ध्रुवदास : बयालीस लीला (वनबिहार लीला), पृ० २०५
१०- कुसुम-धूरि घूंधरी कुंज, छबि पुंजन छाई।
गुंजत मंजु अलिंद, बीन जनु बजत सुहाई।। —नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी) पृ० १६५
११. नव निकुंज भ्रमर गुंज, मंजु घोष प्रेम पुंज,
गान करत मोर पिकनि अपने सुर सों मेलि ।। —हितचौरासी, पद सं० १७
१२. मधुर मधुर गति तालसों, कूंजत विविध विहंग।
मनो द्रुमनि चढ़ि रागिनी, गावत तान तरंग।—ध्रुवदास : बयालीस लीला (सभा० लीला), पृ० १२९

न कुंजों में, इन्हें छूकर बहती हुई मंद सुगंधित समीर से सारे वृन्दावन में सुवास फैल जाती है। ये कुंज प्रकाशवान भी हैं, इनमें कोटि सूर्य का उजाला फैला है।[१]

यह है यमुना का कछार और निकुंज, जहाँ राधा-कृष्ण की केलि पल्लवित और पुष्पित होती है।

(२) ऋतु-सौंदर्य

ऋतु-सौंदर्य वृन्दावन में दर्शनीय है। वियोग के संदर्भ में चाहे उसका सौंदर्य अरुचिकर बन गया हो, वस्तुगत रूप में कवियों को उनमें पर्याप्त सौंदर्य का बोध हुआ है। यों तो ग्रीष्मादि ऋतुओं का भी वर्णन है, किन्तु भक्तकवियों की वृत्ति वसन्त, वर्षा और शरद ऋतुओं में विशेष रमी है।

वसन्त

वृन्दावन में नित्य वसन्त रहता है। इस ऋतु का अन्य ऋतुओं से इसलिये अधिक महत्व है कि इसमें प्रत्येक इन्द्रिय को सुख मिलता है। द्रुमवेलियाँ भाँति-भाँति से पुष्पित होकर वसंतागम की सूचना देती हैं। इनके नाना रंग को देखकर नेत्र हर्षित होते हैं। कोयल और भ्रमर की वाणी श्रवणों का पोषण करती है। नई सुगन्धें नासिका के लिए सुखदायी होती हैं और मधु-स्वादों में रसना का विनोद होता है। स्पर्श को पुलकित करने के लिए त्रिविध समीर है, उससे न केवल देह, हृदय भी शीतल होता है। इसीलिए वृन्दावन के वसंत-कानन में भी श्रीकृष्ण नित्य विलसते हैं।[२]

पल्लव और द्रुमों का रंग-बिरंगा विकास अत्यन्त मनोहारी होता है। भक्तकवि रंग और रस में व्यक्त ऋतु के उल्लास को अनुभव कर सके हैं। अनुराग का रंग फैल गया है। चारों ओर टेसू फूले हैं, वृन्दावन के द्वादश वन 'रतनारे' दिखायी पड़ रहे हैं। द्रुमवेली फूली हुई है; आम में मोर आ गई है, इनके परिमल में मधुकर भूले-भूले डोल रहे हैं।[३] कवि वसंत की रूपश्री पर मुग्ध है, उससे परे वह देखने की कोई चेष्टा नहीं करता। जो द्रुमपल्लव पहिले झुलसे हुए थे, वे दूने रूप से अंकुरित हो गये हैं, जैसे याचकों को कामदेव ने नाना रंग के वस्त्र दिये हों।[४] लताएँ नई लगती हैं, पुष्प नये लगते हैं। इस नवीनता के नये रस में नेत्र पग जाते हैं।

और पुष्पों का विकास, वह तो अपनी चरम सीमा पर है। जुही फूली है, मधुमाधवी ने भौंरों को विथकित कर रखा है। चंपक और वकुल के कुल तथा विविध कमल फूले हुए हैं। केतकी में धरती का मद संचित है, जिससे मनोज मुदित हो रहा है।[५] पक्षियों में उल्लास की सीमा नहीं है। कुरवक, वकुल, कदम्ब, आम, जम्बू में वे चहक रहे हैं। शुक, पिक, चातक, मोर, कोक-कोकी, कपोत, पारावतों की पंक्ति—सब मिल कर वसंत का

---

१. कुंज कुंज उजियार मनो, कोटिक भान प्रकास।
मंद सुगंध समीर बहै, सब बन भयो सुवास॥२३॥
—ध्रुवदास : बयालीस लील (वनबिहारलीला), पृ० २०६

२. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ८२।

३. द्वादस बन रतनारे देखियत, चहुँ दिसि टेसू फूले।
मौरे अँबुआ अरु द्रुम वेली मधुकर परिमल भूले॥ —सूरसागर, पद सं० ३४७३

४. ते दूने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहिले दव दागे।
मानहुँ रतिपति रीझि जाचकनि, बरन बरन दए बागे। —वहीं, पद सं० ३४६७

५. यूथिका युगल रूप मंजरी रसाल। विथकित अलि मधुमाधवी गुलाल।
चंपक बकुल कुल विविध सरोज। केतकी मेदिनी मद मुदित मनोज॥ —हितचौरासी, पद सं० २७

गुणगान कर रहे हैं। सरोवर और सरिता में सरोज-पुंज हैं, कुंज-कुंज छवि से परिपूरित है।[१] इन्हें देख कर कवि को बड़ी रोचक उपमाएँ सूझती हैं। द्रुमों के बीच पलाश की मंजरी अग्नि की भाँति उदित है, जैसे होली लग गयी हो! और केकी, कोक, कपोत तथा अन्य खगों का कोलाहल परस्पर नाम ले-लेकर गाली देने-सा प्रतीत हो रहा है। कुंज-कुंज में रसभरी कोकिलों का कूजना ऐसा लगता है, जैसे घर-घर कुलवधुएं निर्लज्ज हो गई हों और वे अटाओं पर चढ़ कर गाने लगी हों। जहाँ-तहाँ लताओं को प्रफुल्लित देखकर अलियों का जाना विट का गणिकाओं का स्पर्श करना प्रतीत होता है। पवन हाथ में पुष्पों का पराग लेकर चारों ओर दौड़ता हुआ खेल रहा है सब पर पराग छोड़ रहा है। भाँति-भाँति के सुमनों की रंग-बिरंगी छवि में जैसे कामदेव ने स्वयं अपने हाथ से रंग भरा हो।[२] पुष्पों का संभार ही इस ऋतु की सर्वोत्तम उपलब्धि है। तमाल वृक्ष मुकुलित है, जाती, जुही, चंपक भी। पारिजात, मंदार, मधुकरों के जाल को लिपटाये हैं। कुटज, कदंब, ताल—इन सबको देख कर कृष्ण रीझ जाते हैं। प्रवाल की अति कोमल नूतन लता में कोकिल का रसाल शब्द कूजित हो रहा है और ललित लवंग-लता का सुवास चतुर्दिक फैल रहा है। केतकी मानों तरुणी का हास हो। इस अपार प्रकृति-वैभव में श्रीकृष्ण युवतियों के यूथ के संग विहार कर रहे हैं।[३] गदाधर भट्ट ने वसंत को राधा के मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। नवल तारुण्य ही नव-वसंत में साकार हुआ है, जिसमें अनंत नये-नये विलास उपज रहे हैं। नये पल्लव उनके रसमय अरुण अधर हैं और विमल कमल के रूप में विशाल लोचन फूले हैं, मृगों की पंक्ति चल भृकुटि-भंग है, कुसुम मृदुहास। मौर अल्प रोमावलि का प्राकट्य है; मलय पवन का झकोर श्वास-सुरभि है। फल सुन्दर सुठान उरोज हैं, कोकिला का गान मधुर-वाणी।[४]

यह वसन्तवर्णन वस्तु-परिगणनात्मक रूप में नहीं किया गया है। उन वस्तुओं के सौंदर्य से कवि का मन हर्षित होकर खिल उठा है। कृष्ण-भक्ति-काव्य का ऋतु-सौंदर्य सूक्ष्म लाक्षणिक संकेतों से रहित है, किन्तु उसमें मांसल और अनुभवगम्य रूप का अत्यन्त प्रसन्न चित्र है। वसंत के स्थूल प्रकृति-वैभव तथा उसके उल्लास में कवि की वृत्ति पूर्णतया रम गई है, उससे परे जाने की उसे आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। दृश्य-जगत् की आश्चर्य-जनक सौंदर्यश्री ही मुग्ध करने के लिए पर्याप्त है। वृन्दावन में प्रकृति कृष्ण-चेतना से प्रेरित है—यही उसका अति-प्राकृतिक तत्व है। यों निसर्ग से प्राप्त सारे वरदान उसमें फल रहे हैं। वह ह्रास-शून्य है, इसीलिए नित्य है। नित्य वसंत में उसी अनादि और शाश्वत प्रकृति-सौंदर्य का रूपांकन है, जो सृष्टि के नश्वर वसंत में मुकुलित होकर झर जाता है, म्लान होकर जर्जर और नष्ट हो जाता है।

---

१. कुरवक वकुल कदम्ब अम्व जम्बू विद कोविद केलैं री!
शुक पिक चातिक केकि कोक कोका कारण्ड कपोतैं री!
पारावतन की पाँति-पाँति गुन गावत मिलि-मिलि गोतैं री!
सरवर सरित सरोज पुंज प्रति कुंज-कुंज छवि छाजें री!
—महावाणी (उत्साहसुख), पद १०, पृ० ५४

२. सूरसागर, पद सं० ३४७२

३. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, : पद सं० १०६

४. तेरी नवल तरुणता नव बसंत। नव नव विलास उपजत अनंत।।
नव अरुणाधर पल्लव रसाल। फूले बिमल कमल लोचन विशाल।।
चल भृकुटि भंग मृगनि की पांति। मृदुहसनि लसनि कुसुमनि की कांति।।
भई प्रकट अल्प रोमावलि मौर। स्वास सुरभि मलय पवन झकोर।।
फले फल उरोज सुन्दर सुठान। मधुर मधु बोलनि कोकिला गान।।
—गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ६०

वर्षा

वसन्त के बाद वर्षा-ऋतु को स्थान प्राप्त है। प्रकृति का प्रांगण हरा-भरा हो उठता है और संतप्त धरती चहक उठती है। फिर वृन्दावन (!)—उसमें नित्य वसन्त की ही भाँति वर्षा के वरदान नित्य हैं। वृन्दावन सहज रूप से सुहावना है।. उस देश का क्या कहना, जहाँ सदा हरियाली रहती हो। और वहाँ तो नित्य ही स्वाति की बूँदें बरसती रहती हैं, किसी नक्षत्र विशेष में नहीं, क्योंकि वृन्दावन में कृष्ण-राधा रूपी आनन्दघन नित्य छाया रहता है।[1]

काली घटा ने घुमड़ कर और चपला ने चमक कर वर्षागम का संदेश दिया है। धरती का रूप बिल्कुल परिवर्तित हो गया है। पवन के स्पर्श से लता लटक गयी है और यमुना तट की भूमि हरियाली हो गयी है। इस हरीतिमा में चपल चंद्रवधू 'चटकती' हुई चलने लगी है।[2] कुछ लतिकाएँ अपने रंग में लटक पड़ रही हैं और कुछ वेलियाँ लहलहा कर तमाल से लिपट रही हैं; वे प्रेम का जाल हैं और आनन्द से महक रही हैं। चारों ओर हरी भूमि छविमयी लगती है, और ह्रद अपने निर्मल नीर से हृदय को हर लेते हैं। इनके निर्मल जल में रंग-रंग के सरोज फूल रहे हैं और सारस तथा हंस गद्‌गद् होकर बोल रहे हैं। घटाओं के घुमड़ने और दामिनी के दमकने से मोरी-मोर मुखर हो रहे हैं, झींगुर झमकने लगे हैं, वकपंक्ति उड़ने लगी है।[3] यदि वसंत मदन-भाव से भरपूर है तो वर्षा रसात्मकता से। एक उल्लास को प्रज्वलित कर देता है, दूसरा रस से सिंचित। हरित अवनी दुःख का दमन कर देती है, उसे देखते ही नेत्र ढल पड़ते हैं उस पर। वन सघन और सुहावने हो गये हैं, उनमें झिल्ली की झनकार गूंजने लगी है, विपिन का वातावरण अकथनीय सुख उपजा रहा है। स्थान-स्थान पर सरोवर जल से भरे होने के कारण तथा रंगीन जलज से रंजित होने के कारण मन मोह रहे हैं। सुगन्धि से भरी शीतल मंद पवन देह का श्रम दूर कर रही है। नवेली लतायें तमाल से लिपट कर रतिरस झेल रही हैं। गहरे घन उमड़ कर मन को सरसा रहे हैं। अम्बर में वक की सुपंक्ति का उड़ता हुआ दृश्य अत्यन्त मादक है, उसे देख कर नेत्र शीतल हो रहे हैं और इन्द्र-धनुष की पँचरंगी आभा में जैसे अनंग ही उदित हो गया हो। नाना पक्षी बहु भाँति से बोलते हैं; किन्तु नित्य सुपक्षी मदमाते मोहन ही हैं।[4] श्रीकृष्ण स्वयं पावस हैं और नागरी राधिका दामिनी। गगन गरज रहा है और बिजली तड़प रही है, अशेष मधुर मेघ बरस रहा है, विह्वल श्याम-श्यामा झूल रहे हैं। दादुर, पपीहा बोल रहे हैं, कोकिल रंग में क्रीड़ा कर रही है, भ्रमर-चकोर आदि विहंग भी मुखरित हैं और मोर नृत्य कर रहे हैं।[5]

वर्षा में मानवीय भावों का आरोप भी किया गया है। दामिनी चित्त की रुचि बढ़ाती है। धरती का तृणांकुरित होना उसके पुलक का सूचक है। वियोगिनी वल्लरियां पति पहिचान कर द्रुमों से मिलती हैं। हंस, शुक, पिक, सारिका, भ्रमर नाना भाँति से गूंज रहे हैं; क्योंकि मुदित होकर मेघमंडल ने बरस कर उनका विषाद हर

---

१. वृन्दाबन सहज सुहावनो जहाँ सहज सदा हरियाली जू।
स्वाति बूंद नित बरषही जहाँ आनँदघन पिय प्यारी जू।
—महावाणी (उत्साहसुख), पद ३०, पृ० ६४

२. पावन परसि लटकत लता सुहावनी। जमुना तट हरियाली भूमि मनभावनी॥
चंद्रबधू चटकत चपला चपला घनी। कारी घटा घुंमड़े गगन आभा बनी॥
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १९६

३. महावाणी : (उत्साहसुख), पद सं० ९१, पृ० ९३।

४. वही, (पद सं० ९५), पृ० ९५।

५. सूरसागर, पद सं० ३४६१।

लिया है। कुटज, कुंद, कदंब, कर्णिकार, कंज, केतकी, करवीर, बेला—इनकी कलिकायें सघन दल से अलंकृत हैं, सुमन-सुवासित हैं; क्योंकि मन में मिलन की आशा है। वर्षा के रूप में कवि ने अपने विरहदग्ध हृदय के पुनरुज्जीवन की आशा व्यक्त की है।[1] वर्षा के उल्लास को कृष्ण के इंगित के रूप में भी देखा गया है। फूल डोल रहे हैं, मधुप डुला रहे हैं, मानों उत्कंठा से राधा का कृष्ण आवाहन कर रहे हैं। हरी भूमि में इन्द्रवधू काम के बीज-सी बोयी हुई है, वह राधा को सावन तीज में झूलने का संदेश दे रही है। जहाँ-तहाँ बन-जुही प्रफुल्लित है, मानों राधा ने पुष्प से अलकों को गुम्फित कर रक्खा है और पीले लाल रंगों के फूल मानों उनके अंग-दुकूल हैं।[2]

इस प्रकार, वर्षा के वातावरण को वस्तुपरक एवं भावपरक रूप में प्रस्तुत करने में कृष्ण-भक्तकवि दक्ष हैं। ऋतुओं के मानवीकरण में भी उन्हें रुचि रही है। वर्षा को कभी चपल नर के, तो कभी वधू के रूप में चित्रित किया गया है। वृन्दावन की रंगभरी अवनी पर पावस नट ने अखाड़ा डाल दिया है। गुण-राशि मयूर नर्तन कर रहा है, पपीहा शब्द उघट रहा है तथा कोकिला तान-तरंग गा रही है। जलधर मंद-मंद सुलप गतिभेद दिखा रहा है, उरपतिरप लेकर मधुर मृदंग बजा रहा है। गोवर्द्धन के सिंहासन पर बैठे ललित-त्रिभंगी कृष्ण पावस-नट पर रीझ रहे हैं।[3] पुनः, वर्षा वधू बन कर कृष्ण के सन्मुख उपस्थित होती है। कृष्ण के स्नेह में सनी वह अंग-अंग का शृंगार किये हुए है। सघन घटा के घूंघट में चपला उसका चपल कटाक्ष-विलास है, बादलों का ढलना अलकावलि का ढलकना और बक-पंक्ति वधू का मृदु हास है। जलकण की धार मोतियों का हार है, विपिन वस्त्र। स्थान-स्थान पर आभूषण सुरचाप की छवि से जगमगा रहे हैं। कदम्ब का कुसुम उसके देह की सुगन्धि है। चंद्र-वधू चरणों का रुचिर महावर है। दादुर, मोर, चातक, पिक का शोर भूषण-रव है। वर्षा के इस रूप से कृष्ण के मन में क्यों न मनसिज-रस और कांत-भाव उत्पन्न हो?[4] कभी यही वर्षा वधू का रूप छोड़ कर कृष्ण की आरती करने लग जाती है। तब कवि की भक्ति-भावना उसमें पूर्णतया आरोपित हो उठती है। मेघों के मंद गर्जन में कवि शंख-ध्वनि सुनता है और दादुर की वाणी में वेद-भारती। सुरधनु पचरंग-पाट की वर्तिका बनता है और दामिनी दीप-ज्योति। जलकण कुसुम-जाल बरसाते हैं, बक चंवर डुलाते हैं। पिक, चातक, केकी की ध्वनि घंटा, झांझ, झालर बनती है। इसी भक्तिभाव के कारण वर्षा कृष्ण के श्यामल अंग के समान हो गयी है।[5]

मधुर, रमणीय तथा उदात्त रूप के अतिरिक्त वर्षा का भीषण रूप चित्रित करना भी कवि नहीं भूले हैं। इन्द्रकोप से सात दिवस तक के घटाटोप अंधकार और अनवरत वर्षा का यथार्थ चित्र कवियों ने अंकित कर दिया है। उमड़-घुमड़ कर बरसते हुये बहुत-से बादल ब्रज पर चढ़ आये हैं—काले, धवल, धूम्र सारे वर्ण के बादल हैं और अतिशय जल धारण किए हुए हैं। चपला कौंध ही नहीं रही है, अत्यन्त चमचमा रही है। ब्रज के लोग नितान्त भयभीत हैं। प्रलयकाल की गर्जन-ध्वनि हो रही है, गोकुल में अंधकार हो गया है; ग्वाल-बाल चकित हैं, नभ में हलचल है। बोलते हुए शब्दों से कवि ने वर्षा की भीषणता को सजीव कर दिया है।[6] बलवर्त, बारि-

---

१. सूरसागर, पद सं० ३९३३।
२. सूरदास मदन मोहन की वाणी, पद सं० ९८।
३. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १८१।
४. गदाधरभट्ट की वाणी, पद सं० ७४।
५. वही, पद सं० ७३।
६. बादर बहु उमड़ि घुमड़ि, बरसत ब्रज आए चढ़ि कारे धौरे धूमरे, धारे अति ही जल।
चपला अति चमचमाति, ब्रज-जन सब अति डरात, टेरत सिसु पिता मातु, ब्रज में भयौ गलबल।।
गरजत धुनि प्रलय काल, गोकुल भयौ अंधकाल, चकित भए ग्वाल-बाल, घहरत नभ हलचल।
—सूरसागर, पद सं० १४७५

र्त, पवनवर्त, वज्र अग्निवर्त तथा जलद आदि मेघवर्तों का सूरदास ने ध्वन्यात्मक शब्दों से रूप ही उपस्थित कर दिया है।[१] अंध-धुंध छायी हुई है, ब्रज के लोग दिशा-विदिशा भूल गये हैं।[२]

इस प्रकार, वर्षा का विविध रूपों में चित्रण हुआ है। कहीं उसकी नयनाभिराम कांत छवि निहारी गई है, तो कहीं भीषण रूप भी देखा गया है। वर्षा के हर रूप ने कवियों को आकर्षित किया है।

शरद

वर्षा के बीतने पर शरद ऋतु आती है। धरती एवं आकाश की स्वच्छता एवं उज्ज्वलता इस ऋतु का विशेष सौंदर्य है।[३] सरोवर में सरोज विकसित होते हैं, नई नलिनी नई भांति से खिलती है। चन्द्र की चारु किरणें अंतर को अमृतमय बना देती हैं। अंधकार का हनन हो जाता है। काम की काई फट जाती है और संयम-सा स्वच्छ सलिल सरिता में भर जाता है।[४] रोम-रोम को सुख देने वाला शीतल, मंद, सुगंधित पवन बहता है।[५] सर्वत्र शीतलता और उज्ज्वलता परिव्याप्त हो जाती है।

शरदयामिनी के अनाघ्रात सौंदर्य ने भक्त कवियों को अत्यन्त मुग्ध किया है। शरद-रात्रि की प्रभा से प्रेरित हो स्वयं कृष्ण रास-नृत्य का आयोजन करते हैं। शरद-निशा में रमणीय वृन्दाबन की श्री द्विगुणित हो जाती है। सुन्दर फूल फूले रहते हैं, रात्रि परम उज्ज्वल हो कर धरती पर छिटक जाती है, तरुओं में सब फल लटके रहते हैं। यमुना का पुलिन परम रमणीक हो जाता है और त्रिविध पवन आनन्द को जगा देता है। ऐसी निशा को देख कर कृष्ण हर्षित हो उठते हैं और उनके मन में रास के लिए रुचि उत्पन्न हो जाती है।[६] शरद की रात्रि के सौंदर्यातिरेक को नंददास ने रास-पंचाध्यायी में व्यक्त किया है। यद्यपि वृन्दावन-विपिन की सहज माधुरी सदैव ही सुखदाई है, तथापि शरद-ऋतु में अत्यन्त छवि-सम्पन्न हो जाती है; वैसे ही जैसे सुन्दर जड़ाव में अमोल नग का जगमगाना और रूपवंत तथा गुणवंत व्यक्ति का भूषण से भूषित होना। चंद्र को देख कर मालती ऐसी प्रफुल्लित हो जाती है, जैसे नव यौवन से गुणवती बाला। पुष्पों के लावण्य में शरद की छबीली प्रभा विहंसती हुई अभिव्यक्त होती है। ऐसे वातावरण में रसोद्रेक के हेतु चंद्र उदित होता है, जैसे कुंकुम से मंडित प्रिया-वदन। वन में कोमल किरणों की अरुणिमा इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जैसे कामदेव ने फाग खेली हो और गुलाल घुमड़ कर फैल गया हो। कुछ क्षण के बाद किरणें लालिमा छोड़ कर स्फटिक-छटा सी धवल हो जाती हैं। कुंजरन्ध्रों के द्वार से किरणें जब प्रवेश करती हैं, तब प्रतीत होता है मानों वितान के रन्ध्रों से चंद्र उझक कर अंदर देख रहा हो।[७]

---

१. सुनि मेघवर्त सजि सैन आए।
बल बर्त, वारिवर्त, पौन वर्त, वज्र, अग्नि वर्तक, जलद संग ल्याए ।।
घहरात, गररात, दररात, हहरात, तररात, झहरात माथ नाए। —सूरसागर, पद सं० १४७१

२. कोउ लै रहत ओट बृच्छनि की, अंध-धुंध दिसि-बिदिसि भुलाने —वही, पद सं० १४७८

३. अमल अकास कास कुसुमित छिति, लच्छन स्वच्छ जनाए।
सर सरिता सागर जल उज्ज्वल, अति कुल कमल सुहाए।। —वही, पद सं० ३९६२

४. वही, पद सं० ३९६१।

५. सीतल मंद सुगंध पवन बहै, रोम-रोम सुखदाई।। —वही, पद सं० १७५६

६. सरद-निसि देखि हरि हरष पायौ।
बिपिन वृन्दा रमन, सुभग फूले सुमन, रास रुचि स्याम के मनहिं आयौ।।
परम उज्ज्वल रैनि, छिटकि रही भूमि पर, सद्य फल तरुनि प्रति लटकि लागे।
तैसोई परम रमनीक जमुना-पुलिन, त्रिविध बहै पवन आनंद जागे।। —सूरसागर, पद सं० १६०६

७. नंददास : प्रथम भाग (रास-पंचाध्यायी), पृ० १५९-१६०।

शरद की रात्रि का अपना नितान्त विशिष्ट सौंदर्य तो होता ही है. इस ऋतु में पुष्पित कुसुमों का भी अन्य ऋतुओं के पुष्पित कुसुमों से पृथक् सौंदर्य होता है। कुसुम की धूलि से कुंज धुंधला जाते हैं और भ्रमर बीन बजाने लगते हैं। कहीं मालती महकती है, कहीं चंपक; कहीं मदार, कहीं लवंग और एलाची; तो कहीं कुरवक, केवड़ा और केतकी गंध में अनुबन्धित रहते हैं। तुलसी और कमोद परिमल की लपटें छोड़ती हैं।[1] रास में अंतर्ध्यान हो जाने पर गोपियां प्रत्येक पुष्प और वृक्ष से कृष्ण का पता लगाती हैं, पर कोई नहीं बताता। मालती में वे कृष्ण के तन-चंदन को अनुभव करती हैं। कुंद, कदंब, बकुल, चंपक, कमल, वट, ताल, तमाल, कुमुदिनी, कदली, कुरवक (करवीर), तुलसी--सबसे वे कृष्ण के बारे में पूछती फिरती हैं।[2] जाती, जुही, सेवती, कर्णकार (कनियारी), वेला, चमेली, मालती, कूजा, मरुआ, कुंद से पूछती हुई बकुल, बहुली, वट या कदम्ब के निकट खड़ी हो जाती हैं।[3] अशोक, पनस और चंदन से भी वे पूछना नहीं भूलतीं।[4] शरद ऋतु में नाना रंग के सुमन फूले रहते हैं और जहां-तहां कोकिल का पुंज कूजता रहता है।[5]

सौरभ के इस वातावरण में रास-स्थली की धरती अपने कपूर-रज से और भी शीतल सुगन्ध प्रसरित कर देती है।[6] आकाश शुभ्र चंद्र किरणों से सिक्त है तो धरती कपूर के उच्छ्वास से तथा पुष्कर श्वेत कमलों से। सर्वत्र धवलता और पावनता का साम्राज्य है।

शोभा की दृष्टि से इन्हीं तीन ऋतुओं का विशेष महत्व है; ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर का नहीं; उनमें प्रकृति का वैभव नहीं रहता। अतः कृष्ण-काव्य में इन्हीं की विशद चर्चा है।

भ्रमर-गीत प्रसंग के अतिरिक्त प्रकृति के सौंदर्य में भक्त-कवियों ने अपनी भावना का आरोप प्रायः नहीं किया है। उन्होंने अनाविल दृष्टि से उसके सौंदर्य को निहारा है, एक-एक पुष्प को छुआ है, वृक्षों से अभिभूत हुए हैं, सरिता के प्रवाह को अनुभव किया है और ज्यों का त्यों चित्र खींच दिया है। इस चित्र की रेखायें अत्यन्त स्पष्ट और सजीव हैं। इसकी कला जनमानस के निकट है। न उसमें वर्ण-वैचित्र्य का सचेष्ट चमत्कार है, न छवियों के छाया-चित्र। पट अत्यन्त सुस्पष्ट और जाना-पहिचाना है, रंग नेत्रों के सुपरिचित लाल-पीले-नीले आदि। उनकी

---

१. इत महकति मालती, चारु चंपक चित चोरत।
उत घनसार-तुषार मिली मंदार झकोरत॥
इत लवंग नव रंग एलची झेलि रही रस।
उत कुरवक, केवरौ, केतकी गंध-बंध-बस॥
इत तुलसी, छबि-हुलसी, छाँड़ति परिमल लपटैं।
उत कमोद आमोद गोद भरि, सुख की दपटैं॥

—नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६५-६६

२. सूरसागर, पद सं० १७०९।

३. जाती, जुही, सेवती, करना, कनिआरी।
बेलि, चमेली, मालती, बूझति द्रुम-डारी॥
कूजा, मरुआ, कुन्द सौं कहैं गोद पसारी।
बकुल, बहुलि, बट, कदम पैं, ठाढ़ीं ब्रज नारी॥

—सूरसागर, पद सं० १७१३

४. नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६८।

५. प्रफुलित सुमन बिधि-रंग, जहँ-तहँ कूजत कोकिल-कुंज। —सूरसागर, पद सं० १७९९

६. धरनी-रज कपूरमय भारी। विविध सुमन-छबि न्यारी-न्यारी। —वही, पद सं० १६५७

छायाओं (Shades) की बारीकी में भक्तकवियों ने प्रवेश नहीं किया। नयनगोचर दृश्यावली में भक्तकवि पूर्णतया रम गए हैं और पुलकित होकर उन्होंने उसके विशाल वैभव को मूर्त कर दिया है।

(ग) कलात्मक सौंदर्य

प्राकृतिक सौंदर्य से ही कवि सन्तुष्ट नहीं हो गए हैं। उन्होंने नाना रूपों में कलात्मक सौंदर्य का सर्जन किया है। मानव की कला से उद्भूत सौंदर्य में उनकी उतनी ही रुचि है, जितनी प्रकृति की नैसर्गिक कला में। गृहसज्जा, नगर-सौंदर्य, पर्व आदि के कलात्मक सौंदर्य का सुखद बोध भी उन्हें रहा है।

नगर : नागरिक सौंदर्य की दृष्टि से वृन्दावन का महत्व नहीं है। वह अपनी ग्रामीण सुषमा में अतुलनीय है। नागरिक सौंदर्य मथुरा और द्वारिका में है। जन्मस्थान मथुरा के नगर-सौंदर्य से स्वयं कृष्ण आकर्षित हो जाते हैं। कंचन के कोट पर कंगूरों की छबि में मानों स्वयं कामदेव बैठा हो। पुर के चारों ओर जो उपवन हैं, वे कृष्ण को बहुत पसन्द आए।[१] मधुपुरी के महलों के छज्जे दर्शनीय हैं। भिन्न-भिन्न रंगों के इतने सुन्दर गृह बने हैं कि आँखें नहीं ठहरतीं।[२] महलों पर कंचन के कलश बने हुए हैं। स्फटिक तथा विद्रुम के पर्दों पर जालरन्ध्र बने हैं।[३] कंचन के आवास हैं, झरोखे पर बैठे हुए मोर बोल रहे हैं। मार्ग चन्दन से सिंचित है।[४]

द्वारिका श्रीनिवास कृष्ण का 'निजनिवास' है। यह पुरी परम सुन्दर है। इसके वन-उपवन के वृक्षों को देख कर भूख भाग जाती है। अमृत फलों से फले सुर-द्रुम सुशोभित हैं ललित लताओं की झूलती हुई पुष्पित छवि है और उन पर मधुर यंत्र-सा बजता अलि-रव। शुक, पिक, चातक ऐसी मीठी ध्वनि से रट लगाये हुए हैं, जैसे कामदेव के चटसार हों। अन्य विहंग रंग भरे बोल से हृदय हर लेते हैं, ये विहंग क्या बोलते हैं जैसे रस भरे तरुवर आपस में बातें कर रहे हों। मुनि-मन की तरह निर्मल सुगन्ध से भरे सरोवर हैं। महानगर में घटा से बातें करने वाली उज्ज्वल मणिमय अटायें हैं। अपनी जगमग-जगमग ज्योति में वे रवि-शशि से समता करती हैं। चपल पताकायें फहरा रही हैं, उनकी छांह के कारण धूप कभी स्पर्श नहीं कर पाती। जालरन्ध्रों से अगर-धूम्र उठ रहा है, जैसे जलधर का धुरवा हो, इन रन्ध्रों पर आनन्दमत्त मधुर मयूर नाच रहे हैं। कृष्ण के महल की सिंहपौरी को देख कर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सब कुछ मिल जाता है। यह है कृष्ण की भावती पुरी द्वारिका।[५] घर-घर से संगीत की ध्वनि आ रही है। वीणा, वेणु, मृदंग बज रहे हैं। गृहस्वामी प्रेम पुलकित होकर यदुपति का यशोगान कर रहे हैं।[६]

---

१. कंचन कोटि कँगूरनि की छबि, मानौ बैठे मैन।
उपवन बन्यौ चहूँधा पुर के, अतिहीं मोकौं भावत। —सूरसागर, पद सं० ३६३९

२. छज्जनि महलनि देखि कै, मन हरष बढ़ावत।
....
बरन बरन मंदिर बने, लोचन ठहरावत।। —वही, पद सं० ३६४०

३. वही, पद सं० ३६४१।

४. मथुरा देखिए नंदनंदन।
भले अबास रचे कंचन के कैसौ कंस निकन्दन।।
बैठे मोर झरोखा बोलत मारग सिंचित चंदन। —परमानन्दसागर, पद सं० ४९४

५. नंददास : प्रथम भाग (रुक्मिणी मंगल), पृ० १४४-४५।

६. धाम धाम संगीत सरस गति, बीना बेनु मृदंग बजावत।
अति आनंद प्रेम पुलकित तन, जहाँ तहाँ जदुपति जस गावत।।
—सूरसागर, पद सं० ४७८४

वृन्दावन की अपनी शोभा है और मथुरा-द्वारिका की अपनी। द्वारिका के अपार वैभव में केवल ऐश्वर्य की चकाचौंध नहीं है, उसमें निपुण सौंदर्य भी है। कंचन और मणि के भवन उपवन से आवृत हैं। द्वारिका नगरी में प्राकृतिक सौंदर्य की कमी नहीं है, यद्यपि प्रमुखता नागरिक सौंदर्य की ही है।

गृहसज्जा : एक ओर द्वारिका के जगमगाते महल हैं, दूसरी ओर वृन्दावन में मात्र फूलों से बनाये गए महल। लाल गुलाल के मनोहर खम्भे और छज्जे हैं। चंपक, बकुल, गुलाब, निवारी की चित्रसारी बनी है। कुन्दमाल की तिबारी बनी है और विविध पुष्पों की जाली। सुमनों के यूथ से कलश बनाये गये हैं और वंदनवार सजाया गया है, चारों ओर गेंदे के झुमके झूम रहे हैं।[1]

भूमि और मण्डप की कलात्मक सज्जा भी अद्वितीय है। वृषभानु के सदन में जब राधा के विवाहोपलक्ष में नन्दादिक भोजन के लिए आते हैं; तब चन्दन, मृगमद तथा केशर से भोजन की भूमि लिपाई जाती है। इस सुगन्धित स्वर्णाभ धरती पर उज्ज्वल कर्पूर के चूर से चौक की रचना की जाती है। कोमल कमल-दल का शीतल मण्डप छाया जाता है और उसके आस-पास फूलों के परदे बनाये जाते हैं पुष्प-मालाओं का जाल गुम्फित किया जाता है।[2] कृष्ण के जन्म पर हलदी, दूब, अक्षत, दधि, कुमकुम से द्वार को मण्डित करके विविध मुक्तामणि से चौक पूरी जाती है।[3] मोतियों का थाल भर-भर कर घर-घर से बधाई गाती हुई नारियां आती हैं। कंचन का कलश केशर से चर्चित किया जाता है और वंदनवार बांधे जाते हैं।[4] कुसुम की दाम से आगार सुशोभित हो जाता है। तोरण पर पूर्ण कुम्भ सुसज्जित रहते हैं, जिनके बीच पीपल की रुचिर डाल रहती है।[5] राधा-जन्म पर वृषभानु के द्वार का वन्दनवार साधारण नहीं होता, वह विविध पुष्पों और कोमल-दल किशलयों से सुसज्जित किया जाता है।[6]

पर्व : विशेष उत्सवों एवं पर्वों पर ब्रज का रुचिर कलात्मक-सौंदर्य दर्शनीय होता है। चंदन-शृंगार और फूल-डोल ऐसे विशिष्ट उत्सव हैं। फूलडोल में फूलों का वह भवन निर्मित किया जाता है जिसकी चर्चा की जा चुकी है और फूलों का ही परिधान पहिनाया जाता है। चंदन-शृंगार में सब कुछ चंदन का होता है। कृष्ण के लिए चंदन का बागा बनता है, वे चन्दन की खौर किए रहते हैं, चंदन की पाग और चंदन का फेंटा भी बांधते हैं। राधा की चोली तथा सारी भी चंदन की ही होती है। चंदन-चर्चित, चंदन-परिधान से लसित राधा-कृष्ण चंदन के वृक्ष

---

१. लाल गुलाल के खंभ मनोहर छज्जेन की छबि भारी।
चंपक बकुल गुलाब निबारी नीकी है चित्रसारी॥
कुन्दमाल की बनी तिवारी विविध पुहुप की जारी।
सुमन जूथ के कलसा सोहत ता पर बंदनवारी।
झूमि रहे चहुँ दिसा झूमका गेंदन की छबि न्यारी॥ —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह पद सं० १४५

२ चन्दन घसि मृगमद केसरिसौं भोजन भूमि लिपाईजू।
अति उज्ज्वल कर्पूर चूर करि रचना चौक पुराईजू॥
मंडप छयौ कमल कोमल दल सीतल छांह सुहाईजू।
आसपास परदा फूलनि के माला जाल गुहाईजू॥ —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ५६

३ हरद दूब अच्छित दधि कुंकुम मंडित करहु द्वार।
पुरहु चौक विविध मुगतामनि गावहु मङ्गलचार॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २

४. कञ्चन कलस चरचि केसरि के, बाँधति वंदनवार। —वही, पद सं० ३

५. चंदन सकल धेनु तन मंडित कुसुम दाम शोभित आगार।
पूरन कुम्भ बने तोरन पर बीच रुचिर पीपर की डार॥ —हितहरिवंश : स्फुट वाणी, पद सं० ११

६. विविध कुसुम, किशलय कोमल दल, शोभित वन्दनवार। —वही, पद सं० १६

के नीचे खड़े होते हैं। कभी वे चंदन के महल में बैठ कर सारंग-राग छेड़ते हैं, उस महल में जहां चन्दन के जल के ही फुहारे छूटते हैं। वे अपना रूप भी चंदन की आरसी में निहारते हैं।[१]

पर्वों में दीपावली का कलात्मक सौंदर्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। होली में उल्लास और रंग-सुगंध की प्रधानता होती है, कलात्मक सौंदर्य की उतनी नहीं। दीपावली के अवसर पर गोवर्द्धन-पूजा का आयोजन होता है। दीप-मालिका का दिव्य सौंदर्य कृष्ण-भक्ति-काव्य में झलमला उठा है। निशि-कालिमा दीपों के प्रकाश से मिट जाती है, दीपमालिका कोटि रवि के प्रकाश और कोटि चन्द्र की छवि को अपने में समाहित कर लेती है। सारा गोकुल विचित्र रूप से मणिमंडित हो जाता है, झाक और झब के झाले शोभित होते हैं। गजमोतियों की चौक पूरी जाती है, जिसके बीच-बीच लाल प्रवाल रहता है। कंचन की थाली में झलमलाते दीप सजाये, श्रेष्ठ श्रृंगार से सुसज्जित राधिका और ब्रज-बालायें चल पड़ती हैं।[२] सुंदरियों से इस सुन्दर पर्व की शोभा द्विगुणित हो जाती है।

रथ-यात्रा में रथ की सज्जा अत्यन्त आकर्षक होती है। कंचन का सारा साज बनाया जाता है, जिसके बीच-बीच माणिक जड़ दिये जाते हैं। कलश रत्नखचित होते हैं और रंग-बिरंगी मोतियों की लड़ियां लटकाई जाती हैं। परदे अरुण होते हैं और ऊपर ध्वजा फहराती रहती है। अश्वों का श्रृंगार भी अनुपम होता है।[३]

रथ की भांति पावस में हिंडोले को भी संवारा जाता है। विश्वकर्मा ने उस हिंडोले का निर्माण किया है, इसलिए उसकी शोभा का वर्णन करने में कविगण अपने को असमर्थ पाने लगते हैं। पटुली फ़िरोजा और लाल से तथा चौकी हीरा से जड़ी गई है।[४] कंचन के खम्भे अत्यन्त सुडौल हैं, बीच-बीच हीरा लगाकर बनाये गए हैं। नाना भांति के मनोहर कुसुमों और मोतियों का झूमक छाया गया है।[५] खंभ विद्रुम के हैं और पटुली नग-जटित है।[६] कंचन के खंभों में जड़ाऊ पेंच जगमगा रहे हैं। फ़िरोजा से अन्वित, पन्ने से खचित कनक-कलश जगमग

---

१. सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ८७।

२. मनहु कोटि रबि चन्द्र कोटि छबि मिटि जो गई निशि कालिका।।
गोकुल सकल विचित्र मणि-मंडित सोभित झाक झब झालिका।
गज-मोतिन के चौक पुराय बिच बिच लाल प्रबालिका।।
बर श्रृंगार बिरचि राधा जू चली सकल ब्रज बालिका।
झलमल दीप समीप सौंज भरि लेकर कंचन थालिका।। —सूरसागर, पद सं० १४२७

३. रथ की सोभा जात न बरनी।
कंचन के सब साज बनाए बिच बिच मानिक जरनी।।
रत्न खचित दोऊ कलस बिराजत मुक्ता लट बहु बरनी।
परदा के पट अरुन अधिक छबि तापर धुजा फहरनी।।
अस्व सिंगार, दुहूँ दिसि जा ते चरन चलत हैं धरनी।
प्यारी सों अति मोद बढ़ावत और देखत डरनी।। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १६८

४. द्वै खंभ डाँडी चारु विस्वकर्मा गढी।
पटुली पिरोजा लाल चौकी हीरा जड़ी।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १२६

५. कंचन खंभ सुढार बनाए बिच बिच हीरा लाए।
डाँडी चारि सुदेस सुहाई चौकी हेम जराए।
नाना बिधि के कुसुम मनोहर मोतिनि झूमक छाए ।। —वही, पद सं० ११९

६. विद्रुम खंभ जटित नग पटुली कनक-डांडी सोभा देत चहुँओरें।
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० २०९

करते हैं और डांड़ियां गजमोतियों से गूंथ दी गई हैं, चौकी की रंगमयी चमक अद्भुत है।[1] ऊपर चंद्रातप लगा है। पंचरंग पाट और झवा झूल रहे हैं, जैसे रंग-रंग के पंकज फूले हों। मोतियों की लटकन के आगे नक्षत्र लज्जित होकर छिप जाते हैं।[2] इस झालर के बीच मोती के झूमके तथा तरह-तरह के नीलम भी गुंफित हैं।[3] नाना रंग के रत्नों से जगमगाता सोने का झूला है, उसके इन्द्र-धनुषी सौंदर्य से वर्षा ऋतु में चमत्कार फैल जाता है।

इस प्रकार, कृष्णभक्तिकाव्य का कलात्मक-सौन्दर्य अत्यन्त वैभव-सम्पन्न है, चारु किंतु भव्य है।

●●

---

१. कंचन खंभ पेच जगमग जटित जराऊ सगरी।
पन्ना खचित पिरोजा बिच-बिच कनक कलश जगमगरि॥
गज-मोतिन सों डांडी गूंथी चौकी चमक सुरंगी।

—गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ८०

२. वही, पद सं० ८३।

३. मोतिनि झालरि झुमका राजत, बिच नीलम बहु भावतौ।

—सूरसागर, पद सं० ३४५१

द्वितीय खण्ड

रसानुभूति

षष्ठ परिच्छेद

रस के उपकरण

सौन्दर्य यदि देह है तो रस आत्मा। दोनों एक दूसरे से संगुम्फित हैं। पुरुषोत्तम का सौन्दर्य वह देह है जिसमें रस की आत्मा प्रतिबिम्बित है, तिरोहित नहीं। परम-चेतन के सौन्दर्य में जड़ की भाँति रूप और रस, देह और आत्मा का व्यवधान नहीं होता। इसीलिए श्रीकृष्ण या श्रीराधा में, जिनमें सौन्दर्य की चूड़ान्त अभिव्यक्ति मानी गयी है उनमें रस की चरम निष्पत्ति भी स्वीकार की गई है। उस परम-सौन्दर्य का बोध मानव के अन्तरंग एवं बहिरंग को आप्लावित करने वाली जिस प्रगाढ़तम अनुभूति को जन्म देता है वह मात्र भावानुभूति की एकांगिता तक सीमित नहीं रहती, वह अनिवार्यतः रसानुभूति तक पहुँचती है। यह रसदशा काव्य की रसानुभूति भले ही न हो, किन्तु अपनी चरम निगूढ़ चित्तस्थिति के कारण मात्र भाव-दशा को न जाने कितने पीछे छोड़ आती है। प्रेम-भक्ति से प्राप्त रसानुभूति भी रस ही है, सौन्दर्योन्मेषित आत्मा का रस। उसकी एक अपनी एक अलग कोटि है। काव्य-रस की ही भाँति व्यापक, यद्यपि यह रस उतना सुलभ नहीं है जितना काव्यरस।

(१) रसरूप या राधा कृष्ण

अभिव्यक्तिपक्ष में जो सौन्दर्य है अनुभूति-पक्ष में वही आनन्द। आनन्द को ही भक्ति में रस कहा गया है। यह आनन्द सामान्य सुखदुःखानुभूति से भिन्न वह आत्मसंवेद्य अवस्था है, जिसमें प्रकृति के उपकरण निमज्जित होकर अमृततत्व का आस्वादन करते हैं। सच्चिदानन्द का सौन्दर्य जिस आनन्द को जन्म देता है वह परम है, अगणित है अर्थात् जिसकी गणना नहीं की जा सकती। इसीलिए श्रीकृष्ण को वल्लभ-संप्रदाय में परमानन्द और अगणितानन्द पुरुषोत्तम कहा गया है। वे सौन्दर्य और आनन्द के चरम अवतार हैं, सौन्दर्य और आनन्द की इति है उनमें। उनके आगे न कोई सौन्दर्य है न आनन्द—वहां जाकर मनुष्य की एतद्विषयक कल्पनाओं का समाहार हो जाता है, सौंदर्य और आनन्द की सारी साधना समाप्त हो जाती है और सिद्ध हो जाती है। जिस रस को श्रुतियों ने नेति-नेति कहा है राधा (या कान्तारति के भक्तों) ने उसका आस्वादन किया है। श्रीकृष्ण रूपी अगाध रससिन्धु को छबीली राधा ने प्राप्त किया है।[1]

जिन सम्प्रदायों ने कृष्ण में रस का अधिष्ठान माना है उन्होंने राधा को 'रसिक' के प्रतीक रूप में ग्रहण किया है, जिन्होंने राधा को रसरूप माना है उन्होंने कृष्ण को। यों तो निम्बार्क, हरिदासी और राधावल्लभ—तीनों संप्रदायों में राधाकृष्ण के युगल रूप की आराधना प्रचलित है और रसिक का स्थान सखी किंवा सहचरी ने ग्रहण किया है, किन्तु ध्यान से मनन करने पर सैद्धान्तिक दृष्टि को थोड़ी देर के लिए भूल कर देखने पर ऐसा विदित होता है कि इन तीनों सम्प्रदायों में रसरूप में प्रतिष्ठा राधा की है और रसिक रूप में कृष्ण की। हित

---

१. सुनि मेरौ वचन छबीली राधा। तैं पायौ रससिंधु अगाधा।
जो रस नेति-नेति श्रुति भाख्यौ। ताकौ तैं अधर सुधारस चाख्यौ। —हितचौरासी पद सं० १८।

हरिवंश जी ने तो अपने संप्रदाय में इस मत की स्पष्ट घोषणा कर दी है; औरों ने यद्यपि घोषणा तो नहीं की किन्तु उनके प्रभाव से या स्वयं अपने आराधना-भाव के कारण (वल्लभ संप्रदाय को छोड़ कर शेष सभी संप्रदायों में) राधा की रसरूप में प्रतिष्ठा उत्कीर्ण है। कृष्ण की रसना 'राधा राधा' की रट लगाये रहती है। यद्यपि वे नागर और नट कहलाते हैं तथापि राधा के "अति अधीन" और उनके रस के लिए आतुर हैं।[१] जिनके रस के सम्मुख कृष्ण तक हार जाते हैं वे ही रस की अधिष्ठातृ देवी के पद पर समासीन होती हैं। गोस्वामी हितहरिवंश स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि चाहे कोई किसी में मन लगाये, वे तृण छूकर शपथ करते हैं कि उनकी प्राणनाथ श्रीश्यामा ही हैं अन्य कोई नहीं, कृष्ण भी नहीं।[२] निखिल-निगमों को अलक्षित रससमुद्र की साररूपा राधा नामक कोई एक अनिवर्चनीय सुकुमारी हैं। हितहरिवंश उन्हीं का जयघोष करते हैं।[३] एक सर्व सारातिसार स्वरूप है : वह लावण्य का सार, समस्त सुखों का सार, दयालुता के सार सहित मधुर छवि के रूप का सार है, विदग्धता और रतिकेलि का सारस्वरूप है—वही राधातत्व है। राधा सम्पूर्ण सारों की सार हैं[४]। राधा के रस को प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण की रसिकता याचक बन कर उपस्थित होती हैं। उस दुर्लभ से दुर्लभ, अनुपम से भी अनुपम, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म श्रीश्यामा के महारस के लिए श्यामसुन्दर भी लालायित रहते हैं। इस रस को प्राप्त कर वे रसानंदी होते हैं।

वल्लभ-संप्रदाय में श्रीकृष्ण ही रस रूप माने गए हैं, उनके रस का अवगाहन कर गोपियां और आराधिका राधा परमानंद के रस की अनुभूति में निमज्जित होती हैं। रस स्वरूप रास-मंडल के अधिनायक श्रीकृष्ण हैं, गोपियां उनकी सहयोगिनी। एक से बहु होकर कृष्ण प्रत्येक जीवात्मा को रस की अनुभूति से सिक्त करते हैं। इस रास-रस के लिये गोपियां वर्ष भर तपस्या कर के चीरोच्छेदन के पश्चात् अधिकारिणी होती हैं। ब्रजरस के नायक श्रीकृष्ण हैं आह्लादिनी शक्ति नहीं। यद्यपि उसके बिना यह रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती तथापि ब्रज के रसेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं श्रीराधा नहीं। ब्रज के रस-क्षेत्र में नंदनदन घनश्याम का आधिपत्य है। वे वृन्दावन के अप्राकृत मदन हैं, रसराज हैं। वात्सल्य, सख्य रसों के तो वे आलंबन हैं ही, उज्वलरस के भी वे उपजीव्य हैं। श्याम ही सुख और रस की विपुल राशि हैं। वे रूप की, गुण की, यौवन की ऐसी राशि हैं कि उन्हें देखकर नव-तरुणी ब्रजनारियां थकित हो जाती हैं। ब्रज-प्रान्त में "नील नव जलद छवि बरन" वाले, कटितट पर पीतवसनधारी, मुख से मुरली पूरित करने वाले श्याम ही आनन्द की राशि हैं, रस की राशि हैं। वे सुखधाम एवं पूर्णकाम हैं। रसराज के नायकोपम समस्त गुण उनमें विराजमान हैं : रूप, गुण, यौवन के अतिरिक्त शील, यश, दया, विद्या, बल, चातुर्य्य, छल सभी से वे अलंकृत हैं।[५] श्याम रस की रसानुभूति ही ब्रजरस का अन्तिम प्रेय है। वही शाश्वत रस है जिसमें उज्वल

---

१ हरि रसना राधा राधा रट।
अति अधीन आतुर यद्दपि पिय कहियत है नागर नट॥ —हितहरिवंश : स्फुटवाणी, पद सं० २१

२. रहौ कौऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राण नाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृण छिये॥ —वही, पद सं० २०

३. अलक्ष्यं राधाख्यं निखिलनिगमैरप्यतितरां।
रसाम्भोधेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते॥ —राधा-सुधा-निधि श्लोक ५१

४. लावण्य सार रस सार सुखैक सारे।
कारुण्य सार मधुरच्छविरूप सारे॥
वैदग्ध्य सार रति केलि विलास सारे।
राधाभिधे मम मनोखिल सार सारे॥ —हितहरिवंश : राधासुधानिधि श्लोक २५

५. स्याम सुखरासि रसरासि भारी।
रूप की रासि, गुनरासि, जोबनरासि, थकित भई निरखि नव तरुन नारी॥

रंग की गोपिकायें रंग कर मुक्ति-भुक्ति के रस को भूल जाती हैं। उस श्याम-रंग में ही सारे रंगों का समाहार है इसीलिए उस सम्पूर्ण रस को ग्रहण करने के लिए ब्रजनारियां अन्य सब रसों का तिरस्कार कर देती हैं।[१] इसी श्याम रंग का केन्द्रीभूत रस तपोज्वल गोपिकाओं के द्वारा आस्वाद्य होकर उज्वल रस के नाम से अभिहित होता है। यह उज्वल-रस ब्रजरस में सर्वोपरि है और वेणुधारी रुचिर नवकिशोर वनमाली इसके उपजीव्य हैं। त्रिभंगी श्यामसुन्दर का किशोर-रस ही वहां रसानुभूति का अन्तिम लक्ष्य है। यह चिर-नवीन किशोर-रस ब्रज के अतिरिक्त त्रिलोक में और कहीं नहीं है, एकमात्र वृन्दावन धाम ही उसका प्रवाहस्थल है।

ब्रज में कृष्ण का अवतार परमानंद का अवतार है। उनके जन्म से सर्वत्र आनन्द-ही-आनंद छा जाता है।[२] ब्रज में उनका जन्म रूप और रस का अवतरण है। इस रूप के बोध और रस की अनुभूति के लिए ही ऋषि,मुनि, श्रुति आदि गोपीवेश धारण करते हैं। जिस अकल अनीह ब्रह्म को श्रुति 'रसोवैसः' कह कर घोषित करती है वही नीलवर्ण का किशोर वपु धर कर, ब्रह्माण्ड-धारण के स्थान पर वेणु धारण कर, मयूरपिच्छ से सुशोभित मस्तक, सस्मित आनन और अपार रूपश्री लेकर, चिदानन्द रस की अनुभूति कराने के लिए वृन्दावन या भक्त के हृदय में अवतरित होता है।

इस प्रकार, रस का अधिष्ठान राधा या कृष्ण किसी एक में स्वीकार करके अपर को आस्वादक की कोटि में रखा गया है। किन्तु रसानुभूति के विषय में एक और भी मत है। सांप्रदायिक रूप से सखी-सम्प्रदाय, राधा-वल्लभ-संप्रदाय और निम्बार्क-संप्रदाय में रस का अधिष्ठान न केवल राधा किंवा कृष्ण में है बल्कि दोनों में है, और तब आस्वादक का स्थान सखी किंवा सहचरी को ग्रहण करना होता है। सांप्रदायिक रूप से वल्लभ-संप्रदाय के अतिरिक्त चाहे तीनों संप्रदायों में यह मान्यता हो, किन्तु स्वामी हरिदास तथा गोस्वामी हितहरिवंश दोनों की ही रसभावना में रसरूप में राधा का आधिपत्य उत्कीर्ण है। निम्बार्क-संप्रदाय में अवश्य ही सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार रसस्थिति बनी हुई है। इस सम्प्रदाय की रसोपासना में राधा और कृष्ण का समान महत्व है। वहां आनन्द और आह्लाद रस में एकमेक हैं।[३] वहां आस्वादक सखियां केवल राधा की सहचरी-सेविका बनने की अभि-

---

शेष—सील की रासि, जसरासि, आनँद रासि, नील-नव-जलद-छबि बरनकारी॥
दया की रासि, बिद्यारासि, बलरासि, निर्दयारासि दनु-कुल-प्रहारी।
चतुरईरासि, छलरासि, कलरासि, हरि भजै जिहिं हेत तिहिं देन हारी॥
'सूर' प्रभु स्याम सुखधाम पूरन काम, बसन-कटि-पीत मुख मुरलीधारी॥

—सूरसागर, पद सं० २४२१

१. स्यामरंग राँची ब्रजनारी। और रंग सब दीन्हें डारी।
कुसुम रंग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भगनी अरु भ्राता॥
दिना चारि मैं सब मिटि जैहै। स्याम रंग अजराइल रैहै॥
उज्वल रंग गोपिका नारी। स्याम रंग गिरिबर कै धारी॥
स्यामहिं मैं सब रंग बसेरौ। प्रगट बताइ देउँ कह झेरौ॥
अरुन सेत सित सुंदर तारे। पीत रंग पीतांबर धारे॥
नाना रंग स्याम गुनकारी। 'सूर' स्याम रँग घोषकुमारी॥ —वही, पद सं० २५३०

२. आजु ब्रज भयौ है सकल आनंद।
नंदमहर घर ढोटा जायौ पूरन परमानंद॥ —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० २

३. अम्बर में घनदामिनि बरसत रस आनँद अह्लाद।
थल अरु विथल भरैं सबै एकमेंक करैं तजि मरजाद॥

—महावाणी (उत्साह सुख, पद सं० ३२) पृष्ठ ६७

लाषा नहीं करतीं, वरन् दंपति की परिचर्या करके परम संतोष लाभ करती हैं। लाड़िली और लाल के लाड़ लड़ाने
में मोक्ष भी उनके लिए तुच्छीकृत हो जाता है।[१] किशोरी-किशोर का यह रसयुग्म सत और असत से परे तथा उसका
स्वामी है। यह आनंद-आह्लाद स्वरूप है।[२] अनन्त शक्ति और पूर्ण पुरुषोत्तम की यह सदा सनातन जोड़ी है।[३] यहां
श्यामा सच्चिदानंद की सिद्धिदा शक्ति हैं, सुधादायिनी रसशक्ति हैं। इस रसरूपता में राधा कृष्ण की आकांक्षिणी
("चातिकी") भी हैं और वरदायिनी ("स्वातिकी-वारिदा") भी।[४] रस एक ही है, वह द्विधा अभिव्यक्त होता
है। प्रिया आह्लादिनी शक्ति हैं तथा प्रिय आनंद-स्वरूप हैं। गौर और श्याम, आह्लाद और आनंद को पृथक
नहीं किया जा सकता, वे रस की इकाई हैं। आनंद के लिए आहलादिनी और आहलादिनी के लिए आनंद अपरि-
हार्य हैं। वे सदा सर्वदा एक हैं। राधाकृष्ण का युग्म एकतन है, वह युगल रूप में विलसित है। पूर्ण-प्रकाम ही
द्विधा गति से काम-रूप होकर रस की अद्भुत सर्जना करता है। स्वरूप एक है, नाम दो हैं—श्यामा-श्याम।[५]
परा अपरा के पार इन्हीं श्यामा-श्याम से आध्यात्मिक आनंद के शुभ्र नीलरस की निष्पत्ति होती है। इस चिदानंद
रस की अनुभूति करती है मनुष्य की परिष्कृत इच्छाशक्ति। सखियाँ इच्छाशक्ति ही हैं जो कोटि-कोटि रूप से
सच्चिदानंद में अनुरक्त हो, उन्हीं का रुख लिए उन्हें प्रमुदित करती हैं। वृन्दावन रूपी तन में यह इच्छाशक्ति ही
रसानुभूति के योग्य बन पाती हैं, क्रिया और ज्ञान की शक्तियां पीछे रह जाती हैं। रसानुभूति में इच्छाशक्ति
अनुपेक्षणीय है, वही परम रस की आस्वादिका है।[६] चिदानंद की रसानुभूति में सखी किंवा सहचरी की यही
तात्विक दृष्टि समीचीन प्रतीत होती है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में चिदानन्द रस की व्याख्या में सहचरी को साक्षी
का स्वरूप माना गया है। चित्स्वरूप कृष्ण भोक्ता हैं, आनद-स्वरूप राधिका भोग, हितस्वरूप सहचरियां साक्षी,
भोक्ता, भोग और साक्षी अलग-अलग नहीं, एक ही वस्तु हैं, रस के अद्वय तत्व हैं।[७] राधा आंनद-स्वरूप भोग हैं

---

१. वही, (सहज सुख, पद सं० २०). पृ० १५३।

२. सब सोभा के सागर जू नव सागर रूप उजागर जू।
आनँद अहलाद सरूपा जू सत असत परे पर भूपा जू।। —वही (सजहसुख पद सं० ३०) पृ० १५५

३. सदा सनातन इकरस जोरी सत् चित् आनँदमयी स्वरूप।
अनन्त शक्ति पूरन पुरुषोत्तम जुगलकिशोर विपिनपति भूप।।
—वही (सिद्धान्तसुख पद सं० ४) पृ० १७३-७४

४. सच्चिदानंद की सिद्धि-दा शक्ति श्यामा सुधामा सुधादा शुभा जय।
चातिकी कृष्णकी स्वातिकी वारिदा वारिधा रूप-गुन-गर्विता जय।।
—महावाणी (सिद्धान्तसुख, पद सं० ६) पृ० १७५

५. एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनँद के अह्लादिनि स्यामा अह्लादिनि के आनँद स्याम।
सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर नितप्रति काम रूप अद्भुत अभिराम।। —वही, (पद सं० २६) पृ० १८६

६. प्रिया शक्ति अह्लादिनी पिय आनन्द-स्वरूप।
तन वृन्दावन जगमगै इच्छा सखी अनूप।
कोटिन कोटि समूह सुख रुख लिए इच्छाशक्ति।
प्रानेशहि प्रमुदावहीं प्रमुदावलि अनुरक्ति।। —वही, (पद सं० १६) पृ० १८४

७. चिदानन्द हित सिंधु रस सेवक भाव समीर।
अमित कोटि लीला लहरि मीन रसिक मन धीर।।१४।।

और कृष्ण आनंद के भोक्ता, भोक्ता और भोग से ही आनन्द की द्विधा गति है, एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। और सखियां इस आनंद की प्राप्ति में प्रेम किंवा हित की अभिलाषा-स्वरूप हैं।[1] सखियों का अभिलाषामय रूप होना (प्रेम की उज्ज्वलतम अभिलाषा के रूप में) उन्हें इच्छाशक्ति का प्रतीक बना ही देता है। ये दोनों की सन्धि हैं, अर्थात् इच्छाशक्ति ही भोक्तास्वरूप आनंद और भोगस्वरूप आनंद की मध्यस्था शक्ति है। बिना इसके रस की अनुभूति संभव नहीं। यह इच्छाशक्ति ही सर्व सुखों की खान है। इस प्रकार, रस की व्याख्या चाहे भोक्ता-भोग रूप में की जाय या आनंद-आह्लाद रूप में, भक्तिमार्ग में रस की प्राप्ति प्रेमतत्व के द्वारा बतायी गयी है। प्रेम-तत्व--निष्काम, समर्पित, आत्मरहित, प्रेमी के सुख से सुखी (तत्सुखभाव)—इच्छाशक्ति का चरम विकसित रूप है। बिना उसके इस महत्तम, सूक्ष्मतम तथा गहनतम विकास के भक्तिमार्ग में स्वीकृत परात्पर-रस की अनुभूति असंभव ही नहीं, अप्राप्य है।

(२) रसिक : कृष्ण या राधा

सच्चिदानंद को चाहे कृष्ण में अवतरित माना जाय चाहे राधा में, आनंद-ब्रह्म की एक विशेषता यह भी है कि वह तटस्थ नहीं है। निर्गुण ब्रह्म की भाँति वह कूटस्थ तथा निर्लेप नहीं है। स्वयं रस का अमाप सागर होता हुआ भी वह रसिक है, रस का पिपासु है। यह विरोधाभास-सा प्रतीक होता है, किन्तु है सत्य। वह रसमय होता हुआ भी रस का लोभी है, पूर्ण-प्रकाम होता हुआ भी नितान्त रस-कामी है। उसका रसकामी होना उसमें रस के अभाव को सूचित नहीं करता, वरन् उसकी रसात्मकता की पूर्णता का परिचय देता है, स्वयं रसमय होकर रस से तटस्थ रहना उसे प्रिय नहीं। जिस प्रकार वह सौन्दर्य का आदिरूप है उसी प्रकार रस का भी आदिस्वरूप है, "रसकारण" है। किन्तु रस की पूर्णता "रसमय" और "रसकारण" होने से ही नहीं होती, वह रस "रसिक" रूप भी धारण करता है। इसीलिए आनंदघन सुन्दर नंदकुमार रसमय और रसकारण होते हुए भी रसिक हैं।[2] अन्यथा मात्र रसमय और रसकारण होकर सच्चिदानन्द लोकातीत भी बना रहता, और यदि लोक की पहुँच में आता भी है तो कुछ ही लोगों के वह "मन वाणी सों अगम अगोचर" रस "सो जानै जो पावै" से अधिक गतिशील न होता, उन्हीं तक सीमित रहता। किन्तु "रसिक" बन कर वह अपने दुर्गम रस समुद्र से जन जन को आप्लावित कर देता है। यही उसका लीलाभाव है, सृष्टिरचना का हेतु। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु--जड़ चेतन को आनंदमय आनंदित करता है और स्वरचित वस्तु से आनन्द प्राप्त करता है। आनंद का यह आदान-प्रदान 'लीला' के नाम से अभिहित किया गया है। लीला आनंद रूपिणी है, वह स्वयं में एक प्रयोजन है, उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है; आनंद स्वयं में सर्वोपरि उद्देश्य है।

शेष—चित सरूप सो भोक्ता, आनंद तासु को भोग।
हित सरूप सों साक्षी, होत न कबहुँ वियोग॥१५॥
भोग भोक्ता साक्षी त्रिविध बस्तु गुरु एक।
परा अवर या बिनु न कछु अद्वय तत्व विवेक॥१६॥ —सुधर्मबोधिनी, पृ० २७

१. लाल सर्व सुख भोक्ता बाल सर्व सुख दानि।
संधि सखी हित दुहुंन में सर्व सुखनि की खानि॥१२॥
सखी दुहुनि हित वृत्ति नित अभिलाष सुइन कौ रूप।
संख्या नाहि असंख्य बिधि सेवत जुगल स्वरूप॥१३॥ —वही, पृ० २२

२. नमो नमो आनंद-घन, सुंदर नंदकुमार।
रस-मय, रस-कारण, रसिक, जग जाके आधार॥ —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ३९

दुष्टदलन, भूभारहरण आदि कार्य कृष्णावतार के आनुषंगिक उद्देश्य हैं, उसका मूल उद्देश्य है विचित्र लीलामाधुरी द्वारा अपने अनुपम सौन्दर्य का रसदान और सृष्टि का रसपान करना। यही कृष्ण के ब्रज-अवतार का हेतु है, अन्य कुछ नहीं। इसीलिए बचपन से ही वे गोपियों के घर-घर नवनीत-चोर बन कर उनके मक्खन का रसास्वादन करते हैं, इस आस्वादन से स्वयं आनंदित होते हैं और उन्हें भी आनंदित करते हैं। बाल्यावस्था से ही रसपोषक लीलायें आरम्भ हो जाती हैं और ब्रज छोड़ने तक उत्तरोत्तर प्रगाढ़तर होती जाती हैं। स्वयं रसमय होकर रस को लाभ कर आनंदी होने के लिए ही जप, तप, संयम, ध्यान की पकड़ में न आने वाला आदि, सनातन, अविनाशी, पुरुष पुरातन नंद के आंगन में दौड़ता फिरता है। जिसके न लोचन हैं न श्रवण, न रसना न नासा, जो बिना हाथ पैर के प्रकाशित होता है, वही विश्वंभर घर घर गोरस चुराता है। जो वर्णहीन है, जिसका वर्ण "सुरति" में धारण नहीं किया जा पाता, वह गोपियों का वदन निहारता है। जो ज्ञान रूप से हृदय में बोलता है, वही बछड़ों के पीछे डोलता फिरता है। शिव की समाधि में न आने वाला ब्रह्म गोप की गायें चराता है। अच्युत, जलशायी परमानंद ही ग्वालों के साथ लीला धारण करता है। अविगत, गुणातीत, अपार यश-सम्पन्न, श्रुति से अगम, महिम्न ब्रह्म गोपियों के साथ रास में रमता है। जो चौदह भुवन पलक में मिटा देता है वह वन की वीथियों में कुटी संवारता है। वह अगम अगोचर ही राधा के वश में कुंजबिहारी है। इसका कारण है उसका लीलाधारी होना। अच्युत परमानंद कृष्ण के रूप में लीला-पुरुषोत्तम का विग्रह धारण कर अवतरित होता है। कृष्ण मर्यादा नहीं लीला के पुरुषोत्तम हैं, इसीलिए वे अपने अवतरण में ब्रह्मादिक अक्षर ब्रह्म के लिए दुर्लभ रस को गोकुल की गलियों में बहा देते हैं।[१] रसदान और रसास्वादन की यह अद्भुतता ही उन्हें अन्य अवतारों से विशिष्ट बना देती है। वे न केवल रस के कारण हैं, वरन् रस के भोक्ता भी, रसिक भी हैं, इसीलिए गोकुल में यशोदा की गोद में दुलराया जाना पसंद करते हैं। नंद के आंगन में दौड़ना, ग्वालों और बछड़ों के पीछे भागना, गोपियों का गोरस आरोगना और उनके साथ रास रचाना, वन में कुटी संवार कर राधा के वशीभूत कुंज-विहार करना, सब कुछ उन्हें इच्छित है। स्वयं रसमय होकर रसानुभूति के लिए वे ब्रज में अवतार लेते हैं। वे रसमय होकर रस के भोग भी हैं और रसिक होकर रस के भोक्ता भी। कृष्ण के रसभोक्ता का चरम रूप राधा से संबंधित रस-लीलाओं में निर्दशित है। इसीलिए अकेले कृष्ण की रसोपासना विहित नहीं मानी जाती, राधा को पाकर ही वह पूर्ण-प्रकाम होते हैं और तभी आराधक को पूर्ण रसानुभूति होती है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में रस की स्थिति राधा में मानी गयी है। वल्लभ संप्रदाय में रास की आयोजना तो कृष्ण करते हैं किन्तु मुख्यतः गोपियों की रसाकांक्षा के लिए; राधावल्लभ संप्रदाय में रास की आयोजना स्वयं कृष्ण की रसाकांक्षा के हेतु होती है, क्योंकि राधा रसरूपा हैं।[२] परन्तु राधा की रसमयता किंवा रसरूपता कृष्ण की ही भांति 'रसिकता' से संवलित है। वे परम रसमय होती हुई भी परम रसिकनी हैं। राधा वल्लभ संप्रदाय में आराध्या राधा का रूप तंत्र की ललित सुन्दरी किंवा त्रिपुर सुन्दरी जैसा है। वे रस की अधिष्ठातृ हैं, और रस की ग्राहिक भी। वे रसदाता हैं और रसभोक्ता भी। विभिन्न कलाओं के द्वारा अनुपम सुन्दरी राधा कृष्ण को रसदान देती हैं और कृष्ण की प्रेमाभिलाषा का रसास्वादन करती हैं, उनकी लीलाओं की वे 'रसिकनी' भी हैं। राधा के नेत्र कृष्ण के रूप में रस लेते हैं, वे गर्व से भर कर उस रस को चखती हैं।[३] रस के लिए आतुर कृष्ण को रसप्रवीणा

---

१. सूरसागर पद सं० ६२१।

२. रास में रसिक मोहन बने, भामिनी। —हितहरिवंश : हितचौरासी, पद सं० ६८

३. नैन कर सायल से बिडरे।
मोहन रूप अनूप हरे तृन, चाखत गर्व भरे।।

—भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३३८

स्वामिनी अपनी भुजाओं में भर लेती हैं।[1] इस रस की सरसता ही इसमें है कि प्रिया प्रेम-रस से भर कर कृष्ण की ओर देखें, उनमें रस लें।[2] कृष्ण का जीवन यदि नवल किशोरी गोरी हैं तो उनका भी जीवन विहारी ही हैं। जो जो उन्हें भाता है वही राधा को भी रुचता है।[3] जो जो कृष्ण करते हैं वह राधा को अच्छा लगता है; कृष्ण उनके नयनों के तारे हैं। कृष्ण राधा के लिए तन मन प्राण से भी अधिक प्रिय हैं। राधा की रसिकता के कारण ही राधावल्लभ-संप्रदाय का रस कृष्ण के अति विगलित दैन्य के बावजूद दास्य-रस में परिणत नहीं हो पाता। उनका दैन्य उस महामधुर रस की दुर्लभता का ज्ञापक मात्र बनना है। और राधा का कृष्ण में समानभाव से रस लेना उस महत्तम रस की सक्रियता का द्योतक है। उस अतिदुर्लभ रसानुभूति में 'राधा' शब्द सांकेतिक है : 'रा' से वह दान करती हैं, और 'धा' से धारण।[4]

अस्तु, सच्चिदानंद ही, चाहे वह राधा में मूर्तित हो या कृष्ण में, रस का कारण है। वही रसमय है, और वही रसिक है। उसकी रसमयता और रसिकता दोनों मिलकर चिदानंद रस को सक्रिय बनाते हैं।

(३) लीला-रस

रस की सक्रियता लीला कहलाती है। भगवान एवं भक्त के बीच रसानुभूति का सिलसिला लीला के माध्यम से जुड़ता है। लीला का अर्थ है पूर्णपुरुषोत्तम की अपनी इच्छाशक्ति के साथ क्रीड़ा या आनन्द-विलास। जिस प्रकार शिशु अपने प्रतिबिम्ब से क्रीड़ा कर के आनंदित होता है उसी प्रकार भगवान अपने प्रतिबिम्ब रूप भक्तों के साथ क्रीड़ा करते हुए आनंदित होते हैं। क्रीड़ा का रस भक्त के लिए मुक्ति और भुक्ति से भी अधिक सुखदायी है। कृष्ण-भक्ति में भक्त जिस रसानुभूति का भागी बनता है वह न 'ब्रह्मानन्द' है, न 'ब्रह्मानन्द-सहोदर'। वह रूपमय सगुण का लीलारस है। यह लीलारस ही रूपोपासक वैष्णव भक्तों का साध्य है। हरि से प्रीति और प्रतीति पर निर्भर इस लीलारस के सिन्धु में निमग्न होने के वे आकांक्षी हैं, मन को अन्यत्र कहीं भी, किसी भी रस में ले जाने के पक्ष में नहीं हैं। यह रस जो कौतुक और विनोद की अवधि है, इच्छाशक्ति के अनुरंजनकारी रूप का चरम विकास है, कृष्णभक्ति में 'लीलारस' के नाम से अभिहित किया गया है, अन्य किसी नाम से नहीं।[5] यह रस है या भाव, काव्य-परक दृष्टि से इस प्रश्न का उठाया जाना भक्ति-रस के संदर्भ में कोई सार्थकता नहीं रखता। ब्रज के भक्ति-संप्रदाय अपनी-अपनी भावसाधना के अनुसार विशिष्ट प्रकार की रसानुभूति में निमग्न रहे हैं। वे भक्ति की परिपक्वावस्था

---

१. देखि पिय की अधीनता भई, कृपासिंधु दयाल।
'व्यास' स्वामिनी लिए भुज भरि, अति प्रवीन कृपाल ॥ —वही, पद सं० ४१६

२. वसत रहो दिन रैन नैन, सुख पावत अति ही।
प्रिया प्रेम रस भरी लाल तन, चितवत जब ही।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (भजन-कुण्डलिया लीला), पृ० ६५

३. प्यारे जू की जीवन है नवल किशोरी गोरी,
तैसी भांति प्यारी जू की जीवनि बिहारी है।
जोई जोई भावै उन्हें सोई सोई रुचै इन्हें,
एकै गति भई ऐसी रञ्चको न न्यारी है ॥ —वही (भजन द्वितीय श्रृंखला), पृ० ९०

४. रा दाने धा धारणे राधा नाम समेत ॥३॥ —सुधर्मबोधिनी, पृ० २१

५. हरि सों प्रीति प्रतीति करी अब, मन मनसा न चलाइयै।
कौतिक अवधि बिनोद की लीला-रस-सिन्धु बढ़ाइयै ॥
—भक्त कवि व्यास जी : वाणी पद सं० ३८५।

पर पहुँच कर आनन्द की अनुभूति में ही रस की स्थिति मानते रहे हैं। गौड़ीय-संप्रदाय के परवर्ती आचार्यों की भांति उन्होंने विद्वत्समाज में भक्तिरस को काव्य-रस के समक्ष सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं समझी, और ऐसा न करने में किसी हीनग्रन्थि से ग्रसित भी नहीं हुए। वे भक्ति की एक विशिष्ट तन्मय-चेतना को रसानुभूति मानते हैं और उसी में निमज्जित होकर लीलागान करते रहे हैं। काव्य के माध्यम से इस लीलारस की अभिव्यक्ति में उन्हें सफलता मिली है। काव्य में लीलारस को स्फुरित करके वे मौन हो गए। इस रस की काव्यशास्त्रीय व्याख्या का उनके लिए कोई महत्व नहीं था। उनका अन्तस् जिस रसानुभूति को प्राप्त कर चुका था उसे प्रचलित काव्यादर्श के अनुरूप ढालने की उन्होंने चेष्टा नहीं की, क्योंकि उस रस की अपनी अलग विधा है और अलग कोटि। भगवान के लीलारस की अनुभूति मध्ययुग की प्रेमसाधना में प्रथम बार सुलभ हुई, इसीलिए उसके लिए पूर्वानुमोदित कोई शास्त्र नहीं था। बाद में सामाजिकों के बीच प्रतिष्ठित करने के लिए बंगीय शास्त्रकारों ने काव्यरस के अनुरूप भक्तिरस को प्रतिपादित करने की चाहे जितनी भी चेष्टा की हो, उस दृष्टि को लेकर कृष्ण-भक्ति-काव्य, कम-से-कम ब्रज के कृष्ण-भक्ति-काव्य, की कभी भी रचना नहीं हुई। फिर उस कसौटी पर खरा उतरने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? ब्रज के कृष्ण-भक्त-कवियों ने तो सगुण की लीला का वर्णन करते हुए पदरचना किया था। उनके काव्य में इस लीला-रस की अनुभूति करना ही उनके काव्य के प्रति उचित दृष्टि रखना है।

इस लीलारस की मूलभित्ति भी भाव ही है और इस रसानुभूति का आधार अगोचर 'शून्य' नहीं है, वरन् रूपरेखा, गुण और जाति में प्रकट, भक्ति-भाव की युक्ति से प्राप्य ब्रह्म का सगुण-स्वरूप है। सगुण का लीला-रस भगवान् के मूर्तरूप के प्रति भाव का आधार लेकर पल्लवित, पुष्पित और फलीभूत होता है। इसलिए इसमें काव्यरस का बाह्य रूप भी मिल जाता है। किन्तु है वह गौण ही, रीतिकालीन कवियों के राधाकृष्णलीला-निरूपण की भांति काव्यरस पर आधारित नहीं। कृष्ण-भक्ति-काव्य भक्तहृदय का चित्र है जो आराध्य में तन्मय और समर्पित है, वह स्वयं में धन्य है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में हम यह कह सकते हैं : "राधा और कृष्ण के नाम पर प्रेम के काव्य अनेक लिखे गये हैं, रीतिकाव्य का प्रायः सारा-का-सारा इसी प्रेम-लीला का विस्तार है। उनमें वियोगी के सभी रूपों का पूर्वराग, मान, प्रवास, प्रेमवैचित्त्य या प्रवास—का बाह्यरूप जैसा-का-तैसा मिल सकता है। पर प्रेम का वह वास्तविक चित्रण जिसमें बाह्य रूप (फार्म) गौण हो जाता है, जिसमें चतुरों के बताये हुये भेद-उपभेद होकर भी धन्य होते हैं और न होकर भी धन्य होते हैं, दुर्लभ है।—सो, नाना भावों और विभावों के चित्रण मात्र से और राधा और कृष्ण का नाम लेने भर से ही कविता उस श्रेणी में नहीं हो जाती जहाँ राधा या गोपियों के बहाने भक्त अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर अपने परमाराध्य के चरणों में निछावर कर देता है। वहाँ भावों और हावों के सूक्ष्म भेद भूल जाते हैं।[1] जिन कवियों ने बाह्यरूप (Form) का सहारा लेकर भक्तिरस के चित्रण का उपक्रम किया है, जैसे नंददास, वे भक्ति की दृष्टि से रसनिष्पत्ति में अधिक सफल नहीं हो पाये हैं, भले ही काव्य की दृष्टि में वे खरे उतरे हों। सूरदास जैसे रससिद्ध कवि ने इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया। वे भगवान् के लीलारस में इतने गहरे डूबे हैं कि उन्होंने रस के क्षेत्र में नये रूपों और नये भावों को जन्म दिया है। "वस्तुतः बाह्यरूप और परिस्थितियाँ अनडूबे मानस के विकल्प हैं। सूरदास उस विकल्प के आडम्बर से बहुत ऊपर हैं। उन्होंने उस प्रेमनिधि को पाया था जो नये रूपों और आकारों को जन्म देता है।"[2]

(४) लीलारस के उपकरण : धाम, परिकर, भगवत्तत्व

लीलारस की निष्पत्ति में भाव तो आवश्यक है, किन्तु अनुभाव, विभाव, संचारी आदि का पूर्ण संयोग अनिवार्य नहीं है। लीलारस के उपकरण केवल तीन हैं—धाम, परिकर और भगवत्तत्व। बिना इन तीनों के भक्ति-

१. मध्यकालीन धर्मसाधना : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १३९-४०।

२. वही, पृ० १४०।

रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। लीलारस के ये तीन अनिवार्य उपकरण हैं, अन्य सब गौण। इन तीनों के संयोग से ही लीलारस की अनुभूति, संभव होती है, सब कुछ होते हुए भी इनके बिना भक्ति की रसानुभूति असंभव है।

धाम—धाम का अर्थ है विशिष्ट महत्व से युक्त क्षेत्र। कृष्ण-लीला के रस की निष्पत्ति वृन्दावन धाम में ही होती है अन्य कहीं नहीं, मथुरा और द्वारिका में भी नहीं। रस की दृष्टि से वृन्दावन का विशेष महत्व है। कृष्ण की बाल, पौगण्ड और किशोरलीला का क्षेत्र यही रहा है। वृन्दावन में रस अनाविल और निरतिशय शुद्ध होकर उच्छलित हुआ है। एकमात्र वही कृष्ण की रसात्मक लीला को वहन कर सका है, अन्य कोई स्थान नहीं। इसीलिए अपने रस की अनुभूति कराने के लिए सच्चिदानन्द ने वृन्दावन को चुना। वह परमानंद श्रीकृष्ण का निजधाम है, वहाँ उनका आनंदरस नित्य और शाश्वत है। श्रुतियों ने जब सच्चिदानंद देव से अपना त्रिगुणरहित रूप दिखाने के लिए प्रार्थना किया, तब उन्होंने कृपा करके सर्वप्रथम अपना धाम, वृन्दावन, दिखाया,—वह वृन्दावन जहाँ सदैव वसंत रहता है और जो कल्पवृक्षों से आच्छादित है, जहाँ धातुमय गिरिगोवर्द्धन है, कालिंदी में अमृत जल भरा है, रससिद्ध कमल प्रफुल्लित हैं, नगों से जटित और हंस सारस से कूजित कूल हैं। वहाँ पर किशोर श्याम गोपियों को साथ लिये हुये क्रीड़ा कर रहे हैं। यह छवि देखकर श्रुतियाँ थकित हो गयीं। तब कृष्ण ने उनकी मनो-कामना पूर्ण करने के लिए कोई वर माँगने को कहा। श्रुतियों ने मात्र एक वर माँगा : गोपिका बन कर कृष्ण के साथ केलि करने का, जिसे पूर्ण परमानंद ने एवमस्तु कह कर स्वीकार किया।[1] यह वृन्दावन श्रुतियों को भी अगम्य है, क्योंकि श्रुति में ज्ञान का प्रकाश है, रस का प्रवाह नहीं। इसीलिए रसिकशिरोमणि गोस्वामी हितहरिवंश रस-वर्णन के क्रम में सर्वप्रथम अतिरम्य श्री वृन्दावन को प्रणाम करते हैं। श्रीराधिका की कृपा के बिना वृन्दावनधाम सबके मन के लिए अगम्य है,—वह वृन्दावन जो श्रेष्ठ यमुना जल से अभिसिंचित है और शरद वसंत से नित्य सेवित है।[2] कालिंदी नदी का जल नीला है और निर्मल है। यह श्यामता साधारण नहीं है, वेदान्तवेद्य परमतत्व का ही रूप है जो सजल होकर प्रवाहित हो रहा है।[3] जो ब्रजराज-नंदन के नवजलधरवत् कान्तिमान वपु में अनु-लेपित चन्दनगन्ध वहन करती है, राधा के अंगराग को संवाहित करती है, वह कलिंद-नंदिनी जल के रूप में परम-रसमयी उज्ज्वल एवं विशुद्ध भक्ति है। श्रीकृष्ण के श्याम-तनु के सदृश श्यामवर्ण यमुना अलौकिक सुधा से आपूर है, उसके अमृतजल का प्रवाह दुरन्त मोह का भंजन करने वाला है।[4] यमुना राधाकृष्ण के रस के उन्मद वीचि-विलास से सुशोभित है। गहन श्यामरस उसमें आलोड़ित हो रहा है। इस विपिन देश की चारों दिशाओं में यही श्यामसरिता बह रही है। वहाँ आनन्द की फुलवारी फूली है, षटऋतुयें मालिन बन कर सुखफल प्रदान कर रही हैं।

---

१. सूरसागर, पद सं० १७९३।

२. प्रथम यथामति प्रणऊँ श्रीवृन्दावन अतिरम्य।
श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य।।
वर यमुना-जल सींचन दिन ही शरद वंसत।
विविध भाँति सुमनस के सौरभ अलिकुल मंत।।
—हितचौरासी, पद सं० ५७

३. कालिंदी जहाँ नदी नील निर्मल जल भ्राजै।
परमतत्व वेदान्त वेद्य इव रूप विराजै।।९।।
—प० गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० १

४. वहन्तिका श्रियां हरेर्मुदा कृपा-स्वरूपिणीं,
विशुद्ध भक्तिमुज्वलां परे रसात्मिकां विदुः।
सुधा श्रुतित्वलौकिकीं परेश-वर्ण-रूपिणीं,
भजे कलिंद-नन्दिनीं दुरन्त मोह-भञ्जिनीम्।।
—हितहरिवंश : यमुनाष्टकम्, श्लोक ५

वृन्दावन में प्रेम का राज्य है और युगल-नरेश उसके एकछत्र राजा हैं[१]। वृन्दावन अखण्ड प्रेम, शाश्वत रस का धाम है। ध्रुवदास जी का तो कहना है कि एक ही प्रेमी हैं और एक ही रस है—राधावल्लभ। जो कोई भूल से भी उसे कहीं और बता दे उसे झूठा ही समझना चाहिए। तीनों लोक और चौदह भुवन में प्रेम कहीं नहीं है, वह एकमात्र वृन्दावन में जड़ाव की तरह जगमगा रहा है। वहाँ प्रेम एकरस है, न प्रेमी मिलते हैं न बिछुड़ते,—प्रेम रूप होकर वह एकतान वृन्दावन के निकुंजों में बसता है, त्रिलोक में और कहीं भी नहीं।[२] रस के खोजी रसखान ने ब्रह्म को कहाँ-कहाँ नहीं ढूंढ़ा ? पुराणों में उन्होंने खोजा, चौगुने चाव से वेद की ऋचायें सुनीं, पर कहीं भी और कभी भी वह उसे न देख पाये, और न जान पाये कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है, स्वभाव कैसा है ? खोजते-खोजते, पुकारते-पुकारते वे थक गये पर लोगों ने उन्हें नहीं बताया। अचानक वे देखते हैं कि ब्रह्म तो राधिका के पाँव पलोटता हुआ वृन्दावन की कुंजकुटीर में छुपा हुआ बैठा है।[३] उस अद्भुत रस को चख लेने के बाद रसखान सब कुछ छोड़-कर यही कामना करने लगते हैं कि कब वे ब्रज के वनबाग, तड़ाग को देखेंगे। वृन्दावन के करील कुंजों पर वे 'कोटि कल धौत के धाम' न्योछावर कर देने को तैयार हैं। वे वृन्दावनविहारी कृष्ण की लकुटी और कामरी पर त्रिलोक का राज्य छोड़ बैठते हैं और नंद की गाय चराकर आठों सिद्धि, नवो निधि का सुख भुला देने को उद्यत हो जाते हैं।[४] रसधाम वृन्दावन से मंत्रमुग्ध होकर वे कह उठते हैं कि चाहे वे जड़ रहें या चेतन वृन्दावन-वास ही पायें। यदि मनुष्य हों तो ब्रज के गोकुल-गांव के ग्वालों के साथ बसें, और यदि अवश होकर पशु बनें तो नंद की ही धेनुओं के बीच चरें। पाहन भी हों तो उसी गिरि-गोवर्द्धन के जिसे कृष्ण ने हाथ में छत्र की भाँति धारण किया था, और यदि खग हों तो कालिंदीकूल के कदंब की डालों में बसेरा हो।[५] जड़ या चेतन रूप में मात्र वृन्दा-वन में निवास करने की यह उत्कट अभिलाषा वृन्दावन के दुर्लभ रस-माधुर्य का परिचायक है।

वृन्दावन-धाम की प्रकृति—जड़ और चेतन—भी साधारण प्रकृति नहीं है, वह असाधारण है। चिदानंद कृष्ण की चेतना से अभिसिंचित होने के कारण वृन्दावन में—स्थल, जल, नभ—सर्वत्र चिद्प्रकाश का रस है। पंचयोजन के इस विहार-स्थल में रत्नखचित कंचन की भूमि झलक रही है। कुंदन की वेली द्रुमों से लिपटी हुई है, लताओं में मुक्ता की छवि और कांति है। सारे वन ऐसे जगमगा रहे हैं जैसे कोटि दामिनी घन में लस रही

---

१. विपिन देश चहुँदिश बहै, सरिता श्याम सुदेश।
प्रेमराज राजत तहाँ, इकछत युगल नरेश॥
फुलवारी आनंद की, फूली छबि अँग अंग।
षटऋतु मालिन सुख फलनि, देति दिनहि बहुरंग॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (हितशृंगार लीला), पृ० १२०

२. वही (प्रेमावली लीला : दोहा सं० ५०, ५१, ५२, ५३), पृ० १७६।

३. ब्रह्म मैं ढूंड्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितूं वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुंजकुटीर मैं बैठो पलोटत राधिका पायन। —सुजानरसखान, पद सं० २८

४. सुजान रसखान, पद सं० २ (रसखान और घनानन्द)।

५. मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥ —वही, पद सं० १

हो। यमुना रसपति के रस की पनाली बनकर बह रही है। बहुरंग के कमल और आनंद के फूल जहाँ-तहाँ फूले हुए हैं। वृन्दावन के पक्षी कोकिल, कीर, कपोत—भी रसावेगित हैं, रसाल हैं, सब गान में अनुरक्त हैं। मोर, मराल छवि से नृत्य करते हैं। प्रेमराशि रसिक-श्रेष्ठ राधाकृष्ण यहाँ प्रेम का खेल खेलते हैं। उन्होंने अपनी अगम अगाध प्रेम-क्रीड़ा का यहाँ विस्तार कर रखा है। ऐसे वन में, जिसका यशोगान शिव और श्रीपति करते हैं, साधारण मन का प्रवेश कैसे संभव है? इसीलिए भक्त-कवि अनन्य रसिकों की कृपा मनाकर ही वृन्दावन-रस का कुछ वर्णन कर सकने की सामर्थ्य अपने में ला पाते हैं।[1] यमुना की अथाह शोभा में श्रृंगाररस कुण्डल बाँध कर प्रवाहित हो रहा है। जहाँ मृगी, मयूरी, हंसिनी आनंद और प्रेम से सचेतन युगल-कमल-मकरन्द का पान करके मत्त और प्रमुदित हो रही हैं वहाँ मानव-देहधारियों की गति का क्या आकलन करना? राधा वृन्दावन के कुंजों में नित्य-आनंद की वर्षा कर रही हैं, वह आनंद ही सुरंग लता, द्रुम, फूल और फल में फूट पड़ा है। वृन्दावन की प्रकृति चिद्विलास के अनुकूल है। वह इतनी पारदर्शी है कि जिस फुलवारी में राधिका थोड़ी देर के लिए खड़ी हो जाती हैं वह पत्र फूल सबसे पीतवर्णा हो जाती है। राधा की सौवर्ण कांति को वह धारण कर सकने में समर्थ हैं।[2] प्रकृति अपने प्राकृतिक वर्णों को भी छोड़ कर राधा की देहद्युति धारण कर लेती है। चिद्घन वृन्दावन ने कृष्ण की ललित लीला के लिए ही जड़ता धारण कर रखा है। वहाँ के पर्वत, पक्षी, मृग, लताकुंज, वृक्ष, तृण किसी पर भी काल और गुण का प्रभाव नहीं है, वे जैसे-के-तैसे शोभित रहते हैं। सकल जंतु अविरुद्ध हैं, सिंह और मृग संग चरते हैं, काम, क्रोध, मद, लोभ-रहित होकर लीला का अनुसरण करते हैं। द्रुमजाति कल्पद्रुम-समान है, भूमि चिन्तामणि-सम—सभी अभीष्ट फलदायक हैं। शाखा, दल, फल, फूल में हरि का प्रतिबिम्ब विराजित हैं।[3] वनस्पति ही नहीं, धरती भी मणि-दर्पण के समान है जिसमें कृष्ण प्रतिबिम्बित होते हैं।[4] वृन्दावन की प्रकृति में राधा और कृष्ण ही प्रतिबिम्बित हैं, उन्हीं से वह स्फूर्तिमान है। इसीलिए वह चिद्रस का धाम बना हुआ है। ब्रह्मा उस वृन्दावन की रज की वांछा करते हैं और नहीं प्राप्त कर पाते। कृष्ण-भक्तकवि का कहना है कि बिना अधिकारी हुये वृन्दावन नहीं दिखाई पड़ता। जब तक वस्तु-ज्ञान नहीं होता तब तक रेणु कहाँ से दिखाई पड़ सकती है वैसे ही जैसे अंतर्यामी घट के अत्यन्त निकट हैं किन्तु विषय-विदूषित इन्द्रियाँ क्या उन्हें पकड़ सकती हैं?[5]

---

१. ध्रुवदास —बयालीसलीला (रसमुक्तावली लीला), पृ० १४७-४८

२. तरनि सुता चहूँ दिस बहै, सोभा लिए अथाह।
मनौं ढर्‌यौ सिंगार रस, कुण्डल बांधि प्रवाह ॥५५॥
मृगीं मयूरी हंसिनी, भरी प्रेम आनंद।
मत्त मुदित पीवत रहै, जुगल कमल मकरन्द ॥५८॥
आनंद घन बरषत कुँवरि, कुन्जनि में जहाँ नित्य।
सुरंग लता द्रुम फूल फल, झूमि रहे जित तित्य ॥६०॥
नेक होत ठाढ़ी कुँवरि, जेहि फुलवारी मांहि।
पत्र फूल तहँ के सबै, पीत वरन् ह्वै जाहिं ॥६१॥ —वही (प्रेमावली लीला), पृ० १७६-७७

३. नंददास —प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १५७, १५८

४. मनि-दर्पन-सम अवनि, खनि तापर छबि देहीं।
बिलुलित कुंडल अलक, तिलक झुकि झाँई लेहीं ॥ —नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी) पृ० १७६

५. अज अजहूँ रज बांछत, सुन्दर वृन्दावन की।
सो तनकेहु नहिं पावत, सूल मिटत नहिं मन की ॥
बिन अधिकारी भये नहिन वृन्दावन सूझै।

ऐसा है वह राधाकृष्ण का निज धाम जिसकी भूमि अमित दल के कमल के आकार में झूम रही है। बीच में उसके अष्टदलों की पंक्ति है जिनके ऊपर प्रिय सखियों के कुंज हैं। तेजमय कर्णिका के चारों ओर सरोवर हैं जो मान, मधुर, रूप आदि सरोवरों के नाम से विख्यात हैं। उन सरोवरों के चारों ओर की रचना अपार है। नगों के घाट निर्मित हैं, सीढ़ियों से जगमगाती हुई ज्योति का उजाला फैल रहा है। उन सरोवरों के मध्य महल सुशभित है जिसके आठ द्वार हैं। इन द्वारों पर ध्वजायें फहरा रही हैं **और** बड़ी-बड़ी मोतियों के वंदनवार बँधे हैं।[1] इस महल के आंगन-मंडल में अष्टकोण का सिंहासन है जिसके प्रत्येक कोण में एक-एक प्रिय सहचरी है।[2] यही वृन्दावन-धाम चिदानंदघन की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला है।[3] धाम की दिव्यता का आभास देने के लिए कमलवत् वृन्दावन की रचना और अष्टकोण में राधाकृष्ण का सिंहासन पर्याप्त है। वृन्दावन को कोई मात्र रमणीय प्रकृति-स्थल न समझ बैठे, इसलिए कुछ कवियों ने उसकी दिव्यता को प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। तंत्र के यंत्र में अष्टकोण आदि का बहुत प्रचार है। यंत्र देवता का शरीर कहा जाता है जैसे मंत्र उसका स्वरूप। वृन्दावन की चेतना महाशून्य की चेतना से भी ऊर्ध्व की है। महाशून्य के शिखर पर तेज के अमित विस्तार में वृन्दाविपिन-धाम जगमगा रहा है।[4] चेतना की इस दिव्य भूमि पर पहुँच कर राधाकृष्ण का लीलारस अनुभवगम्य हो पाता है। अमितदल कमल के आकार की भूमि कबीरदास के सहस्रदल कमल की समानार्थी है और अष्टदल-कमल भी, जहां कबीर का चरखा डोलता है। ऐसा ही संकेत ध्रुवदास ने दिया है। मणिमय मण्डल के बीच षोडशदल कमल है जिसके बीच किशोर-किशोरी हैं, और प्रति दल पर सहचरी।[5] वल्लभ-संप्रदाय के कवि नंददास ने भी इस प्रकार का निरूपण किया है। उन्होंने यमुना के मणिमंडित तट पर एक शंख की प्रतिष्ठा की है, जिस पर अद्‌भुत चक्र की आकृति का षोडशदल सरोज है। उस सरोज की मध्य कर्णिका में रसिक-पुरन्दर ब्रजराज कुंवर विराजित हैं।[6] यह मंडल-कमल हृदय-कमल ही है जिसके विकसित होने पर वेद्यान्तर रस की अनुभूति होने लगती

शेष—रैनु कहाँ तैं सूझै जब लगि वस्तु न बूझै॥
निपट निकट ज्यौं घट में अंतरजामी आही।
विषय-विदूषित इंद्री, पकरि सकैं नहिं ताही॥ —वही, पृ० १८२।

१. महावाणी (सिद्धान्तसुख पद सं० ३) पृ० १७२।

२. वही, पद सं० ४, पृ० १७२।

३. जय जय श्री वृन्दावन धाम, चिदानंदघन पूरन काम। —वही, पद स० ४, पृ० १७३

४. सो प्रथम एकहीं शून्य मधि समि रह्यो जैसे त्रिसरेनु के रेनु सत अंस।
याते दस-दसगुनी सहस्र सत शून्य पुनि तिनते लखसहस्र महाशून्य अवतंस॥
तिन महाशून्य के शिखरपर तेजकौ कोटि गुनते गुनौ अति अमित विस्तार।
तहाँ निज धाम बृन्दा विपिन जगमगै दिव्य वैभवनको दिव्य आगार॥
नित्य विहरत जहां नित्यकैसोर दोऊ नित्यसहचरिन सँग नित्य नवरंग।
नित्य रसरास उल्लास आनंद उर नित्य प्रतिकाश परभास अँग अंग॥
—महावाणी : सिद्धान्त सुख, पद सं० १०, पृ० १७६

५. मंडल मनिमय अधिक विराजै, निरखत कोटि भान ससि लाजै॥१५॥
तापर कमल सुदेस सुवासा, षोडसदल राजत चहूं पासा॥१६॥
मध्यकिशोर किशोरी सोहैं, दलदल प्रति सहचरि छवि जोहैं॥१७॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (रसमुक्तावली लीला), पृ० १४८

६. तहँ इक मनिमय, इक, बितस्ति कौ संकु सुभग अति।

है।[१] सहचरी के हृदयकमल में गौर-श्याम अभय-वर मुद्रा और पद्मासन में अचल रूप से विराजित हैं।[२] भक्त का देह ही वृन्दाविपिन बन जाता है।[३] यह देह ही भगवद्धाम बन जाता है। शुद्ध रस को धारण करने के लिए दिव्य भावदेह या वृन्दावन-रूपी देह का होना आवश्यक है।

परिकर—परिकर भगवान कृष्ण के नित्यसिद्ध या सिद्धप्राय: भक्त हैं। इनकी भावभूमि पर पहुँच कर, इनसे तादात्म्य प्राप्त करके ही कृष्ण-रस का आस्वादन किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। ब्रजवासी गोप-गोपी कृष्ण या राधा के परिकर कहलाते हैं। अपनी विशेष भावयोग्यता के कारण ये कृष्ण या राधा के रस को अनुभव कर सकने में समर्थ हैं, इन्हीं की भाव-योग्यता को प्राप्त कर साधक-भक्त कृष्णरस की अनुभूति में सक्षम होते हैं, सामान्य किंवा काव्यरस की रसिकता द्वारा नहीं। चिदानन्द की रसानुभूति करनेवाले 'रसिक' की अलग कोटि है जो 'सामाजिक' किंवा 'सहृदय' से भिन्न है। लीलारस की अनुभूति, वल्लभ-संप्रदाय के अनुसार, उन शुद्ध-पुष्ट भक्तों को होती है जो भगवान् कृष्ण जैसे ही भगवत् गुणों से युक्त हैं तथा उनकी लीला के आस्वादन में नित्यसिद्ध हैं, अथवा कृपाप्राप्त उन पुष्टिपुष्ट भक्तों को भी हो सकती है जो क्रमश: इन शुद्ध पुष्ट भक्तों से अपना तादात्म्य पा सकने में समर्थ होते हैं। इन दो कोटियों के अतिरिक्त न प्रवाही-पुष्ट जीव को उस रस की अनुभूति होती है, न मर्यादा पुष्ट को। पाण्डित्य अथवा 'सामाजिक' की सहृदयता की भी वहाँ पहुंच नहीं है। उस रस की अनुभूति के लिए एक विशेष वृत्ति की आवश्यकता होती है जिसे 'शुद्धसत्व' कहते हैं, यह प्राकृत रज और तम से अलग तो है ही, सत्व के भी अतीत है। कृष्ण का रस तो सूर्य-किरण के सदृश है जो मणि और पाषाण सभी पर पड़ता है किन्तु सूर्यकान्तमणि के अतिरिक्त कहीं भी उसका पावक नहीं दिखाई देता।[४] भगवान् के परिकर सूर्यकान्त-मणि के समान हैं जिनमें वह रस स्फुरित होता है, अन्य किसी भी पात्र में नहीं, पाषाण की भांति जड़ तो क्या मणि के समान स्वच्छ चेतना पात्र में भी नहीं, पात्र सूर्यकान्तमणि जैसा नितान्त द्रवीभूत होने वाला चाहिए। कृष्ण-रस की अनुभूति को वहन कर सकने की, उस रस को पचा सकने की सामर्थ्य तभी आती है जब व्यक्ति त्रिगुणातीत शरीर में शुद्ध प्रेम को धारण करता है। गुणमय शरीर से उस रस के आस्वादन की क्षमता बाधित होती है। पाप-पुण्य से अतीत उस रस को वे पचा सकते हैं जिनमें कंचन के समान शुद्धपात्रता हो। कृष्ण की वंशी का आवाहन सुनकर रास-रस के लिए वे ही गोपियां जा सकीं जो पंचभूतों से न्यारी, शुद्ध प्रेममय थीं। जो गुणमय शरीर के वश में थीं वे अपने प्राकृत तत्व के संस्कारों को भस्म करके ही कृष्ण तक पहुंच पाईं, उन्हें लेकर नहीं। पाप और पुण्य के संस्कार भी इस रस की अनुभूति

शेष—तापर षोड़सदल-सरोज, अद्भुत चक्राकृति।।
मधि कमनीय करनिका, सब सुख-कंदर, सुंदर।
तहँ राजत ब्रजराज-कुँवर, वर रसिक-पुरन्दर।।—नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १५८

१. हृदय कमल मंडल कमल भई एकता जासु।
बिगलित वेद्यान्तर जु रस प्रीति अखंडित तासु।।३४।। —सुधर्मबोधिनी, पृ० २४

२. गौर श्याम अलि हृद कमल अचल विराजन तास।
पद्मासन कर अभय वर सर्वोपास्य उपास।।१०।। —वही, पृ० २१

३. सर्वदेह मय विपिन है सर्व मनोमय लाल।।१८।। —वही, पृ० २७

४. मोहन मुरली-नाद, श्रवन जू सुन्यौ सब किन हीं।
जथा जथा बिधि रूप तथा विधि परस्यौ तिन हीं।।
तरनि-किरन ज्यौं मनि, पखान सबहिन कौं परसै।
सुरजकांति-मनि बिना नहीं कहुँ पावक दरसै।। —नंददास : प्रथम भाग (रा० पं०), पृ० १६०

ऐसा है वह राधाकृष्ण का निज धाम जिसकी भूमि अमित दल के कमल के आकार में झूम रही है। बीच में उसके अष्टदलों की पंक्ति है जिनके ऊपर प्रिय सखियों के कुंज हैं। तेजमय कर्णिका के चारों ओर सरोवर हैं जो मान, मधुर, रूप आदि सरोवरों के नाम से विख्यात हैं। उन सरोवरों के चारों ओर की रचना अपार है। नगों के घाट निर्मित हैं, सीढ़ियों से जगमगाती हुई ज्योति का उजाला फैल रहा है। उन सरोवरों के मध्य महल सुशभित है जिसके आठ द्वार हैं। इन द्वारों पर ध्वजायें फहरा रही हैं और बड़ी-बड़ी मोतियों के वंदनवार बँधे हैं।[1] इस महल के आंगन-मंडल में अष्टकोण का सिंहासन है जिसके प्रत्येक कोण में एक-एक प्रिय सहचरी है।[2] यही वृन्दावन-धाम चिदानंदघन की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला है।[3] धाम की दिव्यता का आभास देने के लिए कमलवत् वृन्दावन की रचना और अष्टकोण में राधाकृष्ण का सिंहासन पर्याप्त है। वृन्दावन को कोई मात्र रमणीय प्रकृति-स्थल न समझ बैठे, इसलिए कुछ कवियों ने उसकी दिव्यता को प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। तंत्र के यंत्र में अष्टकोण आदि का बहुत प्रचार है। यंत्र देवता का शरीर कहा जाता है जैसे मंत्र उसका स्वरूप। वृन्दावन की चेतना महाशून्य की चेतना से भी ऊर्ध्व की है। महाशून्य के शिखर पर तेज के अमित विस्तार में वृन्दाविपिन-धाम जगमगा रहा है।[4] चेतना की इस दिव्य भूमि पर पहुँच कर राधाकृष्ण का लीलारस अनुभवगम्य हो पाता है। अमितदल कमल के आकार की भूमि कबीरदास के सहस्रदल कमल की समानार्थी है और अष्टदल-कमल भी, जहां कबीर का चरखा डोलता है। ऐसा ही संकेत ध्रुवदास ने दिया है। मणिमय मण्डल के बीच षोडशदल कमल है जिसके बीच किशोर-किशोरी हैं, और प्रति दल पर सहचरी।[5] वल्लभ-संप्रदाय के कवि नंददास ने भी इस प्रकार का निरूपण किया है। उन्होंने यमुना के मणिमंडित तट पर एक शंख की प्रतिष्ठा की है, जिस पर अद्भुत चक्र की आकृति का षोडशदल सरोज है। उस सरोज की मध्य कर्णिका में रसिक-पुरन्दर ब्रजराज कुंवर विराजित हैं।[6] यह मंडल-कमल हृदय-कमल ही है जिसके विकसित होने पर वेद्यान्तर रस की अनुभूति होने लगती

शेष—रैनु कहाँ तैं सूझै जब लगि बस्तु न बूझै।।
निपट निकट ज्यौं घट में अंतरजामी आही।
विषय-विदूषित इंद्री, पकरि सकैं नहिं ताही।। —वही, पृ० १८२।

१. महावाणी (सिद्धान्तसुख पद सं० ३) पृ० १७२।

२. वही, पद सं० ४, पृ० १७२।

३. जय जय श्री वृन्दावन धाम, चिदानंदघन पूरन काम। —वही, पद स० ४, पृ० १७३

४. सो प्रथम एकहीं शून्य मधि समि रह्यो जैसे त्रिसरेनु के रेनु सत अंस।
याते दस-दसगुनी सहस्र सत शून्य पुनि तिनते लखसहस्र महाशून्य अवतंस।।
तिन महाशून्य के शिखरपर तेजकौ कोटि गुनते गुनौ अति अमित विस्तार।
तहाँ निज धाम बृन्दा विपिन जगमगै दिव्य वैभवनको दिव्य आगार।।
नित्य विहरत जहां नित्यकैसोर दोऊ नित्यसहचरिन सँग नित्य नवरंग।
नित्य रसरास उल्लास आनंद उर नित्य प्रतिकाश परभास अँग अंग।।
—महावाणी : सिद्धान्त सुख, पद सं० १०, पृ० १७६

५. मंडल मनिमय अधिक विराजै, निरखत कोटि भान ससि लाजै।।१५।।
तापर कमल सुदेस सुवासा, षोडसदल राजत चहूं पासा।।१६।।
मध्यकिशोर किशोरी सोहैं, दलदल प्रति सहचरि छवि जोहैं।।१७।।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (रसमुक्तावली लीला), पृ० १४८

६. तहँ इक मनिमय, इक, बितस्ति कौ संकु सुभग अति।

है।[1] सहचरी के हृदयकमल में गौर-श्याम अभय-वर मुद्रा और पद्मासन में अचल रूप से विराजित हैं।[2] भक्त का देह ही वृन्दाविपिन बन जाता है।[3] यह देह ही भगवद्धाम बन जाता है। शुद्ध रस को धारण करने के लिए दिव्य भावदेह या वृन्दावन-रूपी देह का होना आवश्यक है।

परिकर—परिकर भगवान कृष्ण के नित्यसिद्ध या सिद्धप्रायः भक्त हैं। इनकी भावभूमि पर पहुँच कर, इनसे तादात्म्य प्राप्त करके ही कृष्ण-रस का आस्वादन किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। ब्रजवासी गोप-गोपी कृष्ण या राधा के परिकर कहलाते हैं। अपनी विशेष भावयोग्यता के कारण ये कृष्ण या राधा के रस को अनुभव कर सकने में समर्थ हैं, इन्हीं की भाव-योग्यता को प्राप्त कर साधक-भक्त कृष्णरस की अनुभूति में सक्षम होते हैं, सामान्य किंवा काव्यरस की रसिकता द्वारा नहीं। चिदानन्द की रसानुभूति करनेवाले 'रसिक' की अलग कोटि है जो 'सामाजिक' किंवा 'सहृदय' से भिन्न है। लीलारस की अनुभूति, वल्लभ-संप्रदाय के अनुसार, उन शुद्ध-पुष्ट भक्तों को होती है जो भगवान् कृष्ण जैसे ही भगवत् गुणों से युक्त हैं तथा उनकी लीला के आस्वादन में नित्यसिद्ध हैं, अथवा कृपाप्राप्त उन पुष्टिपुष्ट भक्तों को भी हो सकती है जो क्रमशः इन शुद्ध पुष्ट भक्तों से अपना तादात्म्य पा सकने में समर्थ होते हैं। इन दो कोटियों के अतिरिक्त न प्रवाही-पुष्ट जीव को उस रस की अनुभूति होती है, न मर्यादा पुष्ट को। पाण्डित्य अथवा 'सामाजिक' की सहृदयता की भी वहां पहुंच नहीं है। उस रस की अनुभूति के लिए एक विशेष वृत्ति की आवश्यकता होती है जिसे 'शुद्धसत्व' कहते हैं, वह प्राकृत रज और तम से अलग तो है ही, सत्व के भी अतीत है। कृष्ण का रस तो सूर्य-किरण के सदृश है जो मणि और पाषाण सभी पर पड़ता है किन्तु सूर्यकान्तमणि के अतिरिक्त कहीं भी उसका पावक नहीं दिखाई देता।[4] भगवान् के परिकर सूर्यकान्त-मणि के समान हैं जिनमें वह रस स्फुरित होता है, अन्य किसी भी पात्र में नहीं, पाषाण की भांति जड़ तो क्या मणि के समान स्वच्छ चेतना पात्र में भी नहीं, पात्र सूर्यकान्तमणि जैसा नितान्त द्रवीभूत होने वाला चाहिए। कृष्ण-रस की अनुभूति को वहन कर सकने को, उस रस को पचा सकने की सामर्थ्य तभी आती है जब व्यक्ति त्रिगुणातीत शरीर में शुद्ध प्रेम को धारण करता है। गुणमय शरीर से उस रस के आस्वादन की क्षमता बाधित होती है। पाप-पुण्य से अतीत उस रस को वे पचा सकते हैं जिनमें कंचन के समान शुद्धपात्रता हो। कृष्ण की वंशी का आवाहन सुनकर रास-रस के लिए वे ही गोपियां जा सकीं जो पंचभूतों से न्यारी, शुद्ध प्रेममय थीं। जो गुणमय शरीर के वश में थीं वे अपने प्राकृत तत्व के संस्कारों को भस्म करके ही कृष्ण तक पहुंच पाईं, उन्हें लेकर नहीं। पाप और पुण्य के संस्कार भी इस रस की अनुभूति

शेष—तापर षोड़सदल-सरोज, अद्भुत चक्राकृति।।
मधि कमनीय करनिका, सब सुख-कंदर, सुंदर।
तहँ राजत ब्रजराज-कुँवर, बर रसिक-पुरन्दर।।—नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १५८

१. हृदय कमल मंडल कमल भई एकता जासु।
बिगलित वेद्यान्तर जु रस प्रीति अखंडित तासु।।३४।। —सुधर्मबोधिनी, पृ० २४

२. गौर श्याम अलि हृद कमल अचल विराजन तास।
पद्मासन कर अभय वर सर्वोपास्य उपास।।१०।। —वही, पृ० २१

३. सर्वदेह मय विपिन है सर्व मनोमय लाल।।१८।। —वही, पृ० २७

४. मोहन मुरली-नाद, श्रवन जू सुन्यौ सब किन हीं।
जथा जथा बिधि रूप तथा बिधि परस्यौ तिन हीं।।
तरनि-किरन ज्यौं मनि, पखान सबहिन कौं परसै।
सुरजकांति-मनि बिना नहीं कहुँ पावक दरसै।। —नंददास : प्रथम भाग (रा० पं०), पृ० १६०

२०

में बाधक होते हैं। पाप और पुण्य भी अन्ततः गुणों से आबद्ध हैं, गुणातीत नहीं। इसलिए गोपियों ने पाप और पुण्य के प्रारब्ध को भुगता, और उनसे मुक्त होकर ही कृष्ण के पास पहुंच सकीं। कृष्ण-प्रेम के पारसस्पर्श ने जब उन्हें पीतल से कंचन का पात्र बना दिया तब वे कृष्ण-रस के भोग में सक्षम हो सकीं। पंचभौतिक रूप से विगत होकर ही गोपियों को सच्चिदानंद के रस का अधिकार मिल पाया।[१] इसके पूर्व सच्चिदानन्द किसी भी व्यक्ति के साथ, चाहे वह कितना ही सात्विक क्यों न हो, रमण नहीं करते। गोपियों को अपने समान भागवत गुणों से सम्पन्न करने के अनन्तर ही करुणामय कृष्ण रासरस में रमण करते हैं।[२] सच्चिदानन्द के रस का आस्वादन वे ही कर सकते हैं जो उनके समान चिद्रूप हों। कृष्ण अखण्ड रूप, चिद्रूप हैं, वैसे ही उनके उज्वल रस को वहन करने वाले परिकर।[३] दोनों में गुण का किंचित् भी भेद नहीं है, भेद विभु और अणु का है, अंशी-अंश का। राधा-कृष्ण और उनके परिकर का संबंध बिंब तथा प्रतिबिम्ब जैसा है।[४]

कृष्णरस की अनुभूति तद्रूप "रसिकों" को होती है, वह कर्मी और ज्ञानी पुरुषों को नहीं छूती। वह रस भक्ति से ही प्राप्त है, ऐसी भक्ति जो कर्म और ज्ञान के साधनों के अटकाव से रहित, शुद्ध प्रेममयी है। ऐसे विशुद्ध भक्त-जनों को वह रस अनुभूत होता है।[५] इसीलिए जिस रस का शुकदेव गुणगान करते हैं, जिस रस को देवता-गण नहीं चख पाते यहां तक कि दास्यपरायण लक्ष्मी भी नहीं, वही रस रसिकिनी, बृषभानु-नंदिनी के हृदय में समाया हुआ है।[६] राधा उस रस की अनुभूति में अग्रणी हैं क्योंकि उनका भाव विशुद्ध प्रेममय है; ज्ञान और कर्म के पुरुषार्थ से रहित, एकमात्र कृष्ण के अनुग्रह पर निर्भर और पूर्ण आत्मसमर्पण के पुरुषार्थ से अर्जित ! राधा विशुद्ध प्रेमाभक्ति की प्रतीक हैं, वे कृष्ण की आराधिका हैं, बस और कुछ नहीं। कृष्ण भाव के वश हैं और किसी के नहीं। ब्रह्मा से लेकर कीट तक के जो स्वामी हैं वे निर्लोभी और निष्कामी हैं। वे केवल भाव के वशीभूत हैं, उसी के वश में संग-संग डोलते हैं, भावुक भक्तों के साथ खेलते हैं, हंसते हैं, बोलते हैं।[७] कृष्ण का लीलारस मात्र उनकी कृपा से प्राप्त हो पाता है, अन्य किसी भी साधन से नहीं। और यह कृपा प्रीति की वशवर्तिनी है। मुरारी प्रीति के वश में हैं, और किसी के नहीं। प्रीति के ही कारण उन्होंने नटवर वेश धारण किया, प्रीति के वश ही गिरिगोबर्द्धन को धारण किया। प्रीति के कारण ही वे ब्रज में माखनचोर बने, प्रीति के कारण उलूखल की रस्सी से उन्होंने अपने को बंधवाया। प्रीति के कारण उनका प्रिय नाम गोपीरमण पड़ा। प्रीति के कारण यमलार्जुन को

---

१. नाद-अमृत कौ पंथ,·······यह अचरिज को है। —वही, पृ० १६०-६१

२. कमल-नैंन करुनामय, सुंदर नंद-सुवन हरि।
रम्यौ चहत रस रास, इनहिं अपनी समसरि करि।। —नंददास : द्वितीय भाग (सि० पं०), पृ० १८१

३. जैसेंई कृष्न अखंड-रूप, चिदरूप उदारा।
तैसैंई उज्जल रस अखंड तिन करि परिवारा।। —वही, पृ० १९१

४. बिंब जुगल हित मुकर, प्रतिबिंब सकल नरनारि।
ईश कोटि सन्मुख जिते विमुख जीव संसार।।३१।। —सुधर्मबोधिनी, पृ० २४

५. नहिं परस्यो करमठ और ग्यानिनु अटकि रह्यो रसिकन के मन में।
मंद मंद अवगाहत बुधि बल भगति हेत प्रगटे छिनु छिनु में।
कछुक लहत नंद सुवन कृपा ते सो दिखियत 'परमानंद' जन में। —परमानन्द सागर, पद सं० ४५४

६. जो रस रसिक कीर मुनि गायो।
सो रस रसिक दास 'परमानन्द' ब्रखभानु सुता उरमाँझ समायो।। —वही, पद सं० ४५३

७. ब्रह्मा कीट आदि के स्वामी। प्रभु हैं निर्लोभी, निहकामी।।
भाव-वस्य सँग ही सँग डोलैं। खेलैं हँसैं तिनहिं सौं बोलैं।। —सूरसागर, पद सं० २०७८

मोक्ष दिया और नंद को लेने वरुण के गृह गए। प्रीति के ही कारण कृष्ण वनधाम वृन्दावन के कामी हैं। उनकी प्रीतिवश्यता त्रिभुवन-विदित है और इसी प्रीति के वश वे सदा राधिका के स्वामी हैं।[1] श्याम प्रीति के वश में हैं, वे राव-रंक या नारी-पुरुष का भेद नहीं करते। श्याम श्यामा प्रीति के हेतु हैं, प्रीति से ही इन्हें पाया जा सकता है।[2] जिन संप्रदायों में राधाकृष्ण का युगल-रस उपास्य है वहां उनकी परिकर-स्वरूप सहचरियां युगल की प्रीति से रंजित हैं, युगल-विहार ही उनका जीवन है, और उन्हें कुछ नहीं सुहाता।[3] राधाकृष्ण के आनंद की वर्षा इन्हीं सखियों पर होती है, सब पर नहीं। ये ही रसिकों की मणि सिरमौर हैं।[4] काल-गुण-रहित वृन्दावन-धाम में ललिता विशाखादि सहचरियाँ परिकर हैं, परिकर के अतिरिक्त अन्य सहचरियों का यहां प्रवेश नहीं है।[5] हरिप्रिया अपने सहज परिकर के साथ ही विहार करते हैं, अन्य किसी के साथ नहीं।[6] विशुद्ध इच्छाशक्ति परिकर रूप में आनंदरस की आस्वादिका बनती है।

यों तो चिदानन्द-रस की अनुभूति वात्सल्यभावापन्न यशोदा को तथा सख्यभावापन्न श्रीदामादि गोपों को भी हुई है, किन्तु रस की निविड़ अनुभूति कांतारति से ही संभव है इसीलिए गोपिकायें विशेषकर राधा परमरसमर्मज्ञा हैं। जो युगलरस को चरमसाध्य मानते हैं उनके लिए राधाकृष्ण-रस की रसिकनी सहचरियां चिदानन्द रस को वहन करने वाली परमश्रेष्ठ पात्रा हैं। ये ब्रजवासी परिकर ही कृष्ण रस या युगलरस के रसिक हैं। इनके बिना इस रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अन्य साधारण जनों में चिद्रस को अनुभव करने की सामर्थ्य ही नहीं होती। ये भगवान् के कृपाप्राप्त (पुष्टि पुष्ट) भक्त हैं, या प्रौढ़ रसापन्न सिद्धभक्त (शुद्ध पुष्ट)। लीलारस की रसानुभूति की त्रयी में ये अपरिहार्य हैं।

भगवत्तत्व : लीलारस की त्रयी की सबसे महत्वपूर्ण इकाई हैं भगवान, जो अन्य दोनों को अपने में समाहित किए हुए हैं। रस के अवतार श्रीकृष्ण वृन्दावन को अपनी क्रीड़ास्थली बनाते हैं और परिकर को रसवाहक।

कृष्णभक्तिसाधना से पूर्व ऐश्वर्य को ही भगवत्ता का सार समझा जाता था, किन्तु इस साधना ने ऐश्वर्य के स्थान पर माधुर्य को भगवत्ता का सार घोषित किया। कृष्ण की भगवत्ता उनके पराक्रम किंवा ऐश्वर्य में नहीं है, मर्यादापरायण मनुजत्व में भी नहीं। वे चरम सौंदर्य और परम माधुर्य के विग्रह हैं—यही उनकी भगवत्ता है, और लीलापरायण देवत्व में ही उनका अवतार धन्य हुआ है। राधाकृष्ण रस के रसिक हैं, वे रूप के आगार, सुख के सार हैं। उनके मधुर माधुर्य और श्रेष्ठ सौन्दर्य की सम्पूर्ण कलाओं पर कोटि ऐश्वर्य की कलायें लज्जित हो गयी

---

१. सूरसागर, पद सं० २६३६।

२. प्रीति बस स्याम है राव के रंक कोउ, पुरुष के नारि नहिं भेद कारी।
प्रीति के हेतु सूरज प्रभुहिं पाइये प्रीति के हेतु दोउ स्याम स्यामा॥ —सूरसागर, पद सं० २६३५

३. रंगी रंग अनुराग सों, पगी दुहुनि के प्यार।
और न कछू सुहाइ मन, जीवन युगल बिहार॥
—ध्रुवदास : बयालीसलीला (सभामंडल लीला) पृ० १३०

४. यह सुख देखत हैं सखी, ठाढ़ी सब गहि ठौर।
बरषन आनँद सबनि पर, रसिकनि मनि शिरमौर॥ —वही, पृ० १३१

५. अष्टसहचरिन के बिना परिकर यहाँ और सहचरिनको नहीं प्रवेशा।
काल-गुन-रहित निज धाम वृन्दाविपिन परम अभिरामताको सुदेशा॥
—महाबाणी : सिद्धान्तसुख, पद सं० ७

६. श्रीहरिप्रिया सहज परिकर सह करत विहार कामिनी कंत। —वही, पद सं० १४

हैं।[१] वे अमित कलाओं से सम्पन्न हैं और अमृतादि के कुंजों में विलास करते हैं। उनका यह रूप समस्त ऐश्वर्य के गर्व का गंजन करने वाला तथा अतिशय रंजनकारी है।[२] जो अजित, अच्युत, अनामय, असत्-सत-असंग, अप्रमेय, अव्यक्त है वही कमनीय कैशोर रूप धारण कर तथा गुणों के कौतुक से लीलामय सगुण होकर, कोटि कंदर्प के लावण्य का आगार बन कर रस-विहार के लिए उत्सुक रहता है।[३] वह रसप्रवणता प्राकृत दिखाई देती हुई भी प्राकृत नहीं है। कृष्ण परब्रह्म हैं, परमानंद हैं। वे अंशों के अंशी, अवतार के अवतारी, कारण के कारणीक, परम मंगलमय हैं। अतएव प्रकृति के विकारों से उनके ग्रसित होने की कल्पना भी हास्यास्पद है। लीलारस के लिए धारण किया गया उनका रस-रूप उनके स्वयंरूप का ही विस्तार है, शुद्धसत्व के माध्यम से उन्होंने अपनी रमणेच्छा का विस्तार कर रखा है। उनका यह इच्छा-रूप निर्विकार है।[४] जिसे वेद निर्गुण-सगुण कहते हैं वही अपनी इच्छा-शक्ति का विविध रूप में विस्तार करता है। जो अलिप्त है वही लीला रच कर लिप्त होता है तथा ब्रह्मांड में विलास करता है। ये लीलाविलासी किशोर-युगल 'पर' के भी परमेश्वर हैं और शुद्धसत्वमय हैं। यह जोड़ी सकल-लोक-चूड़ामणि है, और अशेष रस-माधुर्य में डूबी हुई है। इसीलिए रक्षक रूप के ऊपर प्रतिष्ठित है उनका रंजक रूप : कोटि कंदर्प के दर्प का दलन करने वाला मनोहर विशद वेश।[५]

ब्रह्म यदि समस्त सत्ता का ईश है तो वह नंदनंदन रूप में रसिक शिरोमणि भी है। कृष्ण-रूप में वह अनावृत आनंद, आविर्भूत रस है। वह ब्रज में अपने अनुपम रसमय रूप में प्रतिष्ठित है। इसी रसरूपता के कारण वह गोप-वधू के उर का सीतल चंदन बना हुआ है। कृष्ण के अवतार में ब्रह्म की रसरूपता सारे कोणों से फूट पड़ी है। कृष्ण की किस बात में रस की अभिव्यक्ति नहीं है ? उनके नेत्रों में रस है, चितवन में रस है, बातों में रस है, गाने में रस है, मिलन में रस है, वेणु में मधुर रस है, अपनी इस सर्वांग रसरूपता के कारण वे मनुष्य तो क्या पशु को भी ठग लेते हैं। इस रस का ही पावन यश वृन्दावन में फैला हुआ है। मुनि-मधुकर जिस रस में मत्त फिरते हैं वह ब्रज वृन्दावन में संचित है। ब्रज में उनका अवतार विशुद्ध रस का अवतार है। वहां श्याम रस के धाम हैं, रसिकों से उपासित हैं।[६] रस ने ही ब्रह्म के रूप को आकर्षण प्रदान किया है, उसे 'कृष्ण' बना डाला है, अन्यथा वह नीरस

---

१. रसिक रस-प्रेम सिंगार-रँग-रँगि रहे रूप-आगार सुखसार साजैं।
मधुर माधुर्य्य सौंदर्यतावर्य पर कोटि ऐश्वर्य की कला लाजैं॥ —महावाणी : सिद्धान्तसुख, पद सं० ६

२. अमित कला अमृतादि कुंज मधि विलसत भवन अधीपति भूप।
ऐश्वर्य्यादि अखिल ग्रबगंजन रंजन रूप अमित रति मैन॥ —वही, पद सं० ५

३. अजित अच्युत अनामय असत सत असंग अप्रमेयादि अव्यक्त सुविहार।
कमन कैशोर कीर्तन्य गुनकौतकी कोटि कंदर्प लावन्यतागार॥ —महावाणी : सिद्धान्तसुख पद सं० ९

४. अंसनके अंशी अवतार-अवतारी; कारन के कारनीक मंगल महा री।
स्वयं रूप शुद्ध सत्व इच्छा विस्तारी; जाकरिके भयो नाद-ब्रह्म-निर्विकारी॥ —वही, पद सं० ३४

५. निर्गुन सगुन कहत जिहिं वेद।
निज इच्छा विस्तारि विविध विधि वहु अनवहो दिखावत भेद॥
आप अलिप्त लिप्त लीला रचि करत कोटि ब्रह्मांड विलास।
शुद्ध सत्व परके परमेश्वर जुगलकिशोर सकल सुख-रास॥
सकल लोक चूड़ामणि जोड़ी वोरी रस-माधुर्य्य अशेष।
कोटि कोटि कंदर्प दर्प-दलमलन मनोहर विशद सुवेश॥ —वही, पद सं० २०

६. रसिक शिरोमणि नंदनंदन।
रसमय रूप अनूप विराजित गोपबधू उरू सीतल चंदन॥

होकर सदैव बुद्धि का विषय बना रहता, हृदय का विषय न बन पाता। उसके रस की आह्लादकारिता ने ही मानव-मन को प्रबल रूप से आकर्षित और मोहित किया है। इसीलिए अवतारों में कृष्णावतार जितना लोक-प्रिय और लोकरंजक हो सका उतना अन्य कोई अवतार नहीं।

वह अविगत अविनाशी तत्व रसानुभूति के लिए ही विग्रह धारण करता है, सृष्टि की रक्षा बिना विग्रह धारण किए भी हो सकती है और होती है। दानलीला के प्रसंग में गोपियां कृष्ण से कहती हैं कि तुम नंदमहर के बेटे हो, तुम्हें हम धेनु दुहते, घर-घर मक्खन चोरी करते, यशोदा के द्वारा बांधे गए जानते हैं और हम यह जानते हैं कि तुम ब्रज में रहते हो। कन्हाई! दान कब से लेने लगे?[1] इसके प्रत्युत्तर में कृष्ण अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दों में कहते हैं: कौन मेरी माता है, कौन पिता? कब तुमने मुझे जन्मते देखा, तुम्हारे वचनों को सुनकर हँसी आती है। कब मैंने माखन चोरी करके खाया, कब मां ने बांधा? किसकी गाय दुही, किसकी चराई? तुम मुझे नंद का बेटा कहती हो, पर नंद कहां से आये? मैं पूर्ण, अविगत, अविनाशी हूं, माया में मैंने सबको भुला रखा है।[2] योगमाया के द्वारा अपनी भगवत्ता को प्रच्छन्न करके ही भगवान् लीला करने के लिए भूतल पर अवतरित होते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो सहज रसास्वादन नहीं हो सकता, ऐश्वर्य का आतंक बना रहेगा। ऐसा वह भक्तों के भाव की रक्षा के लिए करते हैं। ज्ञान अथवा कर्म की संसिद्धि के लिए अवतार की आवश्यकता नहीं भी हो सकती किन्तु भाव की सम्पूर्ण उपलब्धि मूर्तविग्रह से ही होती है। इसलिए कृष्ण भक्त के लिए अवतार धारण करते हैं। वे कर्म-धर्म के वश में नहीं हैं, न योग यज्ञ के, भक्तों की आर्त पुकार उन्हें खींच लेती है। ब्रह्मा से कीट पर्यन्त व्यापक वे केवल भावाधीन हैं। जहां भाव है वहां से वे नहीं हटते।[3] यह भक्तवत्सलता उनकी भावविभोर रसमयता का प्रमाण है। यही उनके ब्रज-अवतार का हेतु है। संसार की स्थिति तथा रक्षा का कार्य वे बिना आविर्भूत हुए भी निष्पन्न कर सकते हैं और करते हैं, भाव के आदान-प्रदान से लीलारस की पुष्टि करने के लिए उन्हें रसघन-विग्रह धारण करना पड़ता है। ब्रज में उनके अवतार का यही एकमात्र हेतु है। ब्रज में ब्रह्म 'लोचन-स्रवन न रसना-नासा' वाला नहीं है, और न ही वह 'बिनु पद पानि करै परगासा।' वहां वह लोचन, श्रवण, रसना, नासा, पद, पाणि सारी इन्द्रियों सहित आविर्भूत होता है। रस का संवाहन इन्द्रियों द्वारा होता है, अतः रसेश्वर कृष्ण इन्द्रियों को कैसे छोड़ सकते हैं। विग्रह तो इन्द्रियों से रहित हो नहीं सकता, इन्द्रियरहित देह की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तो, जब परब्रह्म रसानुभूति के लिए विग्रह धारण करता है, अंतःकरण के साथ-साथ इन्द्रियों को भी अवधारित करता है तब उसके रस में इन्द्रिय-गन्ध पर नाक भौं सिकोड़ने की क्या आवश्यकता? अधकचरी

शेष—नैननि में रस चितवनि में रस बातनि में रस ठगत मनुज पसु।
गावनि में रस मिलवनि में रस बेनु मधुर रस प्रगट पावन जसु॥
जिहिं रस मत्त फिरत मुनिमधुकर सो रस संचित ब्रज वृन्दावन।
स्यामधाम रस रसिक उपासित प्रेमप्रवाह सु परमानंद मन॥ —परमानंदसागर, पद सं० ४५६

१. सूरसागर, पद सं० २१३७।

२. वही, पद सं० २१३८।

३. भक्त हेत अवतार धरौं।
कर्म-धर्म कैं बस मैं नाहीं, जोग जज्ञ मन मैं न करौं॥
दीन गुहारि सुनौं स्रवननि भरि, गर्ब-बचन सुनि हृदय जरौं।
भाव-अधीन रहौं सबही कैं, और न काहू नेंकु डरौं॥
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक, सबकौं सुख दै दुखहिं हरौं।
सूर स्याम तब कही प्रगटही, जहाँ भाव तहँ तैं न टरौं॥ —वही, पद सं० २१४०

विद्वत्ता कृष्णावतार की उत्कट काम-गन्ध पर बहुत आक्रोश प्रकट करती आई है और उसे किसी भी तत्व-ज्ञान से क्षमा करने को तैयार नहीं हुई। ऐसे पंडितजन ऐन्द्रियता के बहिष्कार से ही भगवद्रस का निष्पन्न होना स्वीकार कर सकते हैं, इन्द्रियों सहित नहीं। किन्तु जिन्हें भी कृष्ण-अवतार का रहस्य विदित है वे यह जानते हैं कि उनका भागवत-विग्रह मात्र रस और आनंद से निर्मित है। उसमें दूषित इन्द्रियों की साकारता नहीं, रस ही, आनन्द ही इन्द्रिय धारण कर साकार हुआ है, भक्तों के सम्मुख लीला का उद्घाटन करके रस की अनुभूति कराने के लिए। न केवल इन्द्रिय, मन और तद्धर्म को लेकर भी कृष्ण अवतरित हुए हैं। रूप, रेखा, गुण, जाति, युक्ति के बिना मन को निरावलंब उन्होंने नहीं छोड़ा, लीला की अनुभूति को सुलभ बनाने के लिए उन्होंने सब कुछ धारण कर रखा है। किन्तु इन सब में मात्र अपने आनन्द को धारण कर रखा है अन्य किसी तत्व को नहीं, क्योंकि लीला का अर्थ शुद्ध आनंद है, और कुछ नहीं। रस का केन्द्र बननेवाला उनका मानव-रूप उनका 'स्वरूप' है, आत्मरूप, सच्चिदानंदमय। उसमें देहेन्द्रियादि प्रतिभासित हैं, प्राकृत नहीं। वस्तुतः "श्रीकृष्ण का स्वरूप केवल आनन्द है—आनन्दमय है और सर्वभवनसमर्थ है इसलिए भगवान् ही भक्तों को लीलानुभव कराने के लिए और असुरों का दुर्भाव कराने के लिए अपनी माया के द्वारा अपने आनन्द स्वरूप को देह, इन्द्रिय, मन और तद्धर्मरूप से प्रतिभास कराते हैं। वास्तव में श्रीकृष्ण में प्राकृत देहेन्द्रियादि हैं ही नहीं।"[१] कृष्ण में इन्द्रियादि का आभास सत्य है, मिथ्या नही, किन्तु प्राकृततत्व असत्य है। जैसे बच्चे को चांदी या सोने के घोड़े में घोड़े का आकार प्रतिभासित होना असत्य नहीं है किन्तु उसमें अस्थि चर्म वाले घोड़े का भान होना असत्य है, उसी प्रकार कृष्ण की चिन्तय देह में इन्द्रियों का आभास सत्य है किन्तु उनमें प्राकृत तत्व का भान मिथ्या है। लीलानुभव के लिए यह आभास अपेक्षित है।[२] बिना इसके रस विग्रह-विहीन बन कर गूंगे द्वारा प्राप्त मीठे फल के रसास्वाद की भाँति अंतरगत ही बना रहेगा, बहिर्गत नहीं। लीला के लिए रस का अन्तरगत न होकर बहिर्गत होना, कृष्ण का अन्तर्यामी न होकर बहिर्यामी होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। कृष्ण परमात्मा और सब भूतों के स्वामी हैं तथा अनावृत परब्रह्म हैं।[३] वे आत्मानंद हैं, उनका उदार स्वरूप अविभाज्य, अखण्ड है, वे एकरस हैं। उनका यह लीला-पुरुषोत्तम रूप केवल प्रेम से सुगम्य है, अन्य किसी प्रकार नहीं।[४]

(५) लीलारस : ब्रजरस, नित्यविहाररस

लीलापुरुषोत्तम का लीलारस भाव का आधार लेकर चलता है, भाव भी प्रेम का। प्रेमाश्रित भाव से निष्पन्न रस ही भक्तिरस के मुख्यरस माने गए हैं। शान्त और शृंगार को छोड़ कर शेष सात रसों को प्रेम के अभाव में गौण स्थान दिया गया है। भक्ति में प्रेम को परम पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि विशुद्ध निष्काम प्रेम ही आनन्दरूपा भक्ति के रस को प्राप्त करने में सहायक है, अन्य कोई भाव नहीं। यों तो भगवान् की दुष्टदलन-लीलायें भी भक्त की श्रद्धा अर्जित करती हैं किन्तु श्रद्धा से रस की निविड़ अनुभूति नहीं होती, इसीलिए प्रेम-

---

१. श्रीकृष्णावतार—लेखक देवर्षि रमानाथ शास्त्री, पृ० ४७ ।

२. वही, पृ० ४७-४८।

३. ग्यान आतमा-निष्ठ, गुनत यौं आतम-गामी।
कृष्ण अनावृत परम ब्रह्म, परमातम स्वामी ॥ —नंददास : द्वितीय भाग (सिद्धान्त पंचा०), पृ० १८६

४. नहिं कुछ इंद्रियगामी, कामी कामिन के बस।
सब घट अंतरजामी, स्वामी परम एक रस॥
नित्य आत्मानंद, अखंड सरूप उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य, अगम्य अवर परकारा॥ —वही, पृ० १९१।

विरहित भावों को गौणरस के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। मुख्यरस में यदि वे स्थान पाते भी हैं तो विस्मय या चकित रहस्योन्मुखता के भाव का आश्रय लेकर, नमित श्रद्धा का नहीं। शुद्ध रसानुभूति के लिए जिस रागात्मकता की आवश्यकता होती है वह प्रेम में पुंजीभूत है, प्रेम के भी व्यक्तिगत संबंध जैसे दास्य, सख्य, वात्सल्य, कांत में। इन व्यक्तिगत सम्बन्धों से उत्पन्न प्रेम का आधार लेकर कृष्ण-भक्ति-साधना की रसानुभूति प्रतिफलित हुई है। कृष्ण का व्रज में अवतार प्रेम का अवतार है। गोप-गोपियों ने अपने भावानुसार उनसे दास्य, सख्यादि जिस प्रकार का भी प्रीतिसंबंध स्थापित किया कृष्ण ने उसका वैसा ही प्रतिदान दिया, अपने चरममधुर रूप में ऐश्वर्य का तिरोभाव करके इन ललित मानवीय भावों की सुरक्षा की। वे भक्तों के सुखदायक हैं। संपूर्ण चित्त से जो जिस भाव से उन्हें भजता है उसके लिए वे उसी भाव के आलंबन बन जाते हैं। कामातुर गोपियों की पुरातन प्रीति का भी अन्तर्यामी ने प्रतिपालन किया—कृष्ण के सम्मुख भाव की सम्पूर्ण निष्ठा का प्रश्न है, चाहे वह कामभाव ही हो।[१] वल्कि काम-भाव में तादात्म्य की उत्कट आस्पृहा होने के कारण भक्ति में कांतासक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

भगवान् भक्त के लिए मुख्यतः स्वामी, सखा, बालक और प्रियतम बनते हैं। इन भावों के आश्रय से जिन लीलारसों की निष्पत्ति होती है वे हैं—दास्यरस, सख्यरस, वात्सल्य रस एवं शृंगाररस। भक्तिरस के शास्त्रीय संदर्भ में गौड़ीय विद्वान् इन्हें प्रीति रस, प्रेयरस, वात्सल्यरस और उज्ज्वलरस के नाम से अभिहित करते हैं। व्रजलीला में इन्हीं रसों का राज्य है इसलिए इन्हें "व्रजरस" का सामान्य नाम भी दे दिया गया है। व्रजरस की माधुरी उज्ज्वलरस में सबसे अधिक उत्कर्ष पर होती है, इसलिए यह व्रज के सारे कृष्णभक्ति-संप्रदायों में रसानुभूति का परम मर्म बना हुआ है। स्वामी और सेवक के बीच जो दूरी रहती है वह सख्यरस की समानता में मिट जाती है। सख्यरस में कृष्ण और कृष्णसखा समान होते हैं। सख्य में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का भाव उनके नैकट्य का परिचायक है। वात्सल्य में भगवान् समान ही नहीं भक्त पर आश्रित हो जाते हैं। और कांतभाव में इन सारे भावों का संगम हो जाता है। इसलिए इस भाव पर आश्रित भक्ति की रसानुभूति जितनी बहुमुखी और व्यापक, तथा अपने निविड़ ऐक्यानुभूति के कारण जितनी गहन और तन्मय होती है उतनी अन्य भावों से प्राप्त रसानुभूति नहीं। जिस प्रकार सौन्दर्य की परमश्री कैशोर में निखर उठती है उस प्रकार रस की परमघनता किशोर-रस या शृंगार-रति पर आश्रित उज्ज्वल-रस में पुंजीभूत होती है, तथा इसी रस में रसानुभूति के विविध पार्श्व अपनी रंजक गतिभंगिमा सहित उपस्थित होते हैं। अतएव, व्रजरस में किशोर-रस या उज्ज्वल रस ही परममधुर, एवं रसानुभूति का सिद्ध फल माना गया है। जिसने इस रस का आस्वादन कर लिया है उसे कृष्ण की पौगंड और बाल लीलाओं के रस में रुचि जाती रहती है।[२] इस रस में भक्त और भगवान् का लीलाभाव प्रेयसी-प्रियतम का रहता है। भक्त गोपी बनकर अपना सर्वस्व प्रियतम कृष्ण को समर्पित कर देता है और उनके कांतरस से सिंचित हो सर्वहारा होकर असीम आनन्द में डूब जाता है।

---

१. भक्तनि के सुखदायक स्याम। नारि पुरुष नहीं कछु काम॥
चित दै भजै कौन हूँ भाउ। ताकौं तैसौ त्रिभुवन-राउ॥
कामातुर गोपी हरि ध्यायौ। मन-बच-क्रम हरि सौं चित लायौ॥
षटऋतु तप कीन्हौ तन गारी। होहिं हमारे पति गिरधारी॥
अंतरजामी जानी सब की। प्रीति पुरातन पाली तब की॥ —सूरसागर, पद सं० २०७८

२. नौतन वैस किशोर छबि, बसत है जिहि उर नित्त।
पौगंड बाल लीलादिहूँ, भावत नहिं तेहि चित्त॥

—ध्रुवदास: बयालीसलीला (भजनसतलीला), पृ० ७३

किशोर-रस का निकष राधा और कृष्ण के प्रेम-संबंध में पाया जाता है। इसलिए बल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त ब्रज के अन्य सारे सम्प्रदाय युगल-किशोर के लीलारस को रसानुभूति का चरम प्राप्तव्य मानते हैं। गोपी-कृष्ण के बीच जिस किशोर-रस की अवस्थिति है वह राधाबल्लभ आदि सम्प्रदायों में स्वीकृत राधाकृष्ण के किशोर-रस से पर्याप्त भिन्न है। वरन् यह कहना चाहिए कि राधाकृष्ण का किशोर-रस गोपीकृष्ण के किशोर-रस की चरम संसिद्धि है। यों शृंगारपरक विभिन्न लीलाओं का अनुसरण करते हुये राधा और कृष्ण भी कीट-भृंग-सी तादात्म्य की स्थिति पर पहुंचते हैं, किन्तु बल्लभ-सम्प्रदाय में किशोर-रस की यह तादात्म्य-संसिद्धि विभिन्न लीलाओं के अनुसरण के पश्चात् प्राप्त होती है, जबकि राधाबल्लभ, निम्बार्क तथा सखी संप्रदायों में यह तादात्म्य आरम्भ से ही विद्यमान रहता है। इस तादात्म्य को नित्य-सिद्ध मानकर भक्त सखी या सहचरी बन कर प्रकृति-पुरुष की चिरन्तन क्रीड़ा का साक्षी भाव से अवलोकन करता है। क्रीड़ा में भाग लेकर वह रसानुभूति नहीं करता वरन् तटस्थ होकर रस की क्रीड़ायित गति की अनुभूति करता है। राधा-कृष्ण का तादात्म्य स्वयंसिद्ध होने के कारण इन संप्रदायों में साधनापरक ब्रजलीलाओं का महत्व जाता रहता है, यदि वे रहती भी हैं तो उनके 'नित्यविहार रस' को पोषक बन कर। इस 'नित्यविहार' का स्वरूप बल्लभ-सम्प्रदाय के वृन्दाविपिनबिहारी राधाकृष्ण के विहार से बहुत भिन्न है। नित्यविहार के रस-निकुंजों की स्वामिनी राधिका हैं, कृष्ण नहीं। रसिक-नृपति राधा के वश में हैं[1]। और इस बिहार में निकुंजलीला की मदन-केलि का आधिपत्य है। ब्रज में घटित कृष्णा-वतार की अन्य लीलायें निकुंजलीला के सम्मुख तिरस्कृत हैं। राधाबल्लभी भक्तों का कहना है कि सारे सुखों का सार मदन-केलि है। युगल दम्पति इसी नित्य विहार-रस में मग्न रहते हैं, उन्हें और किसी भी वस्तु का भान नहीं रहता। कुंज-कुंज में लीला-मदन केलि करते हुए 'नित्यविहार-रस' का विस्तार करते हैं।[2] ब्रजरस के किशोर-रस में भी मदन-केलि की पर्याप्त चर्चा है किन्तु वही सर्वस्व नहीं है। बाल्यावस्था से आरंभ होकर मथुरागमन-तक अन्य लीलायें भी हैं। अन्य लीलायें भी उस रस की महत्वपूर्ण और अपरिहार्य अंग हैं। परन्तु नित्यविहार-रस का उपजोव्य मदनकेलि ही है, अन्य लीलायें गौण हैं। इसे निकुंजरस भी कहते हैं जो ब्रजरस के उज्वल-रस से कुछ भिन्न है। यह रस की साधनावस्था नहीं है, निकुंजरस रस की सिद्धावस्था है। उसमें रस की निश्चल-स्पंदित स्थिति, समाहित और क्रीड़ायित गति का स्फुरण हुआ है। प्रेम के रूप में वह निश्चल होकर आत्मलीन रहता है, तथा नेम (जिसका मुख्य रूप काम-केलि है) के रूप में वह शाश्वत-रस तरंगायित तथा लीलायित होता है। नेम-प्रेम की द्विधा गति में 'नित्यविहार'-रस की रसानुभूति होती है। रस में प्रेम नेम की अवस्था से कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रेम-रूप में स्थित अगाध अचिन्त्य रस नेम में स्फुरित होकर गतिमान होता है, नेम उस गहन प्रेम का ही विलास है। प्रेम-नेम को प्रेरित स्फुरित करता है, और नेम प्रेम में पर्यवसित होता है। रस की

---

१. परबस राउ रसिक-नृपतनि की, परिपाटी पहिचानी री।
सब बिधि नायक, गुनगन लायक, नवल राधिका मानी री॥
—भक्तकवि व्यासजी : वाणी, पद सं० ३०५।

२. मदन केलिको खेलि है, सकलि सुखन को सार।
तेहि बिहार रस मगन रहै, और न कछू सँभार॥
और न कछू सँभार, हार कर प्रान पियारी।
राखत उर पर लाल नेकहूँ, करत न न्यारी॥
याही रसको भजनतो नित्य रहौ ध्रुव हिय सदन।
कुन्ज कुन्ज सुख पुंज में, करत केलि लीला मदन।
—ध्रुवदास : बयालीलीसला (भजनकुण्डलिया लीला), पृ० ६५।

ये दो—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गतियाँ हैं। इस रस की आधार राधा हैं, भोक्ता कृष्ण। भक्त स्वयं इस रस का भोक्ता नहीं बन सकता, वह इस रस का 'रसिक' मात्र बन सकता है। सखी या सहचरी रूप में रसिक बन कर वह रसानुभूति करता है, प्रेमिका या प्रेयसी बन कर नहीं।

ब्रजरस से नित्यविहाररस को अधिक ऊंचा स्थान दिया गया है। इसे महामाधुरी-रस कहा गया है। यह सारे रसों का सार है, एकमात्र राधा की कृपा से प्राप्य है, अन्य किसी साधन से नहीं।[1] रसानुभूति का यह अगाध अंतस्तल है जो रससाधना के अंतरतम में प्राप्त होता है।

(६) लीला

धाम, परिकर और भगवत्तत्व के संगम से रसानुभूति की भूमिका का निर्माण होता है। इन तीनों के संयोग से प्रेमभक्तिजनित भाव का स्फुरण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार घनसंयोग से विद्युत् का। यह भाव अंकुरित होकर रसदशा तक पहुँचता है। किन्तु भाव का स्फुरण ही भक्ति की सम्पूर्ण साधना नहीं है, चिर-आनंद की प्राप्ति उसका लक्ष्य है। इसलिए प्रेमभक्ति केवल भावानुभूति नहीं है, अवश्य ही वह भावानुभूति से आरम्भ होती है। परिणति उसकी रसानुभूति में होती है क्योंकि वह न ज्ञान की निर्विकारता को प्राप्त कर संतुष्ट होती है, न कर्म की अनासक्ति को। वह आनंद, जिसका दूसरा नाम रस है, को प्राप्त कर ही विश्राम लेती है, उसके पूर्व नहीं। और उसका यह रस, यह आनंद क्रीड़ापरक होता हुआ भी निर्विकार सत् और अनासक्त चित की भूमिका पर स्थित होता है। जहाँ ज्ञान और कर्म थम जाते हैं वहाँ से प्रेम-भक्ति की उस यात्रा का आरम्भ समझना चाहिए जिसकी इति आनंद या रस की प्राप्ति में है।

भाव का स्फुरण भगवत्तत्व, परिकर, धाम से ही हो जाता है, किन्तु वह रसदशा पर तभी पहुंचता है जब लीला से परिपुष्ट होता है। लीला के बिना प्रेम-भक्ति रसानुभूति तक पहुंचने में अक्षम है। इसीलिए भक्ति-रस को लीलारस की संज्ञा दी गयी है—चाहे वह ब्रजलीलाओं से पोषित ब्रजरस हो, चाहे निकुंजलीला से प्रेरित नित्यविहार-रस। भक्ति को मात्र भाव की भूमिका से उबार कर रस की भूमिका तक पहुंचाने का श्रेय लीला को है। लीला ही भाव को आनंद की अनुभूति तक पहुंचा देती है। लीला के माध्यम से भाव इष्ट के प्रति स्नेह तक ही सीमित न रह कर "आसक्ति" और अंत में "व्यसन" की दशा तक पहुंच जाता है। जहाँ भक्त का कुछ भी अपना नहीं रह जाता, न केवल उसकी आत्मा (जो भाव का केन्द्र है) वरन् मन, प्राण, देह तक कृष्ण में लीन और उन्हीं से ओतप्रोत हो जाते हैं, अहंता और ममता के सारे आवरण छिन्न हो जाते हैं, वहाँ, भाव की इस व्यसन-दशा में, उस आनन्द किंवा रस की अनुभूति होती है जो शुद्धसत्व से उद्भूत होने के कारण निर्विकार और आत्मोल्लास के कारण "परमस्वाद" से युक्त है। उस रस की अनुभूति, जिससे अमित संतोष उपजता है, कामनाओं का संघर्ष विश्राम पाता है, और इच्छाशक्ति का आनन्द-विलास उन्मीलित होता है, ही भक्ति की रसानुभूति है, इससे भिन्न किसी अन्य रस की अनुभूति नहीं। अतः इस रसानुभूति को प्राप्त करने के लिए जिस पात्रता की आवश्यकता है वह मात्र भक्त की अपनी साधना से संभव नहीं। भक्त को अपने रस के धारण के योग्य बनाने के लिए भगवान् अपनी भगवत्ता को योगमाया से आवृत कर कुछ मानुषी आचरण करते हैं जिन्हें लीला कहते हैं। लीलारूप में पुरुषोत्तम का प्रकट होना उनका सबसे बड़ा अनुग्रह है क्योंकि वह भक्ति जो आनंदरूपा, रसरूपा है, बिना भगवत्कृपा किवा 'अनुग्रह' के कभी सिद्ध नहीं हो सकती। इस रसरूपा भक्ति को फलीभूत करने के लिए

---

१. हित ध्रुव यह रस मधुर, (है) सार को सार अगाधा।
आवै तबहीं हीय (में) कृपा करैं वल्लभ (श्री) राधा॥
—ध्रुवदास : बयालीसलीला (भजनकुण्डलिया लीला), पृ० ६६।

भगवान् अपने धाम में कई लीलायें करते हैं। इन लीलाओं के द्वारा वे भक्त के हृदय में स्थित प्रेमभाव को स्फु-रित और पुष्ट करके आनंद किंवा रस की अनुभूति में निमज्जित कर देते हैं। अनुग्रहपूर्वक की गई भगवान् की प्रेमलीलायें ही रस की सूत्र हैं, सूत्रधार स्वयं भगवान् कृष्ण नट भक्त और रंगमंच वृन्दावन-धाम। ये लीलायें भी उसी प्रकार शाश्वत और नित्य हैं जिस प्रकार धाम, परिकर और भगवान्। नित्यरस की अनुभूति अनित्य तत्वों के संयोग से नहीं, इन्हीं नित्य तत्वों के संयोग से होती है।[1]

लीला संयोगपरक, वियोगपरक दोनों होती हैं। लीला का स्वरूप ब्रजरस और नित्यविहार रस के परि-प्रेक्ष्य में कुछ भिन्न हो जाता है। यों कुछ सर्वमान्य लीलायें हैं जो दोनों प्रकार की रसानुभूति में सहायक हैं, किन्तु कुछ लीलायें हैं जो केवल ब्रजरस के ही अनुकूल हैं। ब्रजरस में स्वीकृत मुख्य लीलायें हैं—माखनचोरी, चीरहरण, रास, दान, मान, हिंडोल फाग, मथुरागमन। नित्यविहार-रस में युगल-समागम के अतिरिक्त रास, हिंडोल फाग आदि संयोगपरक लीलायें ही स्वीकृत हैं, क्योंकि उस नित्यसिद्धरस में न रस की साधनावस्था की लीलायें ग्रहीत हैं, न वियोगपरक लीलायें। कृष्णभक्तिरस में लीलायें परिव्याप्त हैं, ये ही रसानुभूति की साधन हैं।

●●●

---

१. नित्यधाम वृन्दावन स्याम। नित्यरूप राधा ब्रजबाम॥
नित्यरास, जल नित्य बिहार। नित्य मान, खण्डिताभिसार॥
नित्य कुंजसुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिबिध समीर झकोर॥

—सूरसागर, पद सं० ३४६३।

सप्तम परिच्छेद

लीलारस : संयोगगत

लीला का वास्तविक भाव ब्रज-रस के संदर्भ में ही प्रस्फुटित होता है। ब्रजलीला-निरूपण में सूरदास अग्रणी हैं। नूतन प्रसंगों की उद्भावना करने में वे विशेष पटु हैं। यों कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण की लीलाओं में समान रूप से अनुरक्त हैं, किन्तु आराध्य के प्रति सख्य-भाव की सबसे निविड़ अनुभूति सूरदास के काव्य में ही परिलक्षित होती है। माखन-चोरी लीला हो या चीर-हरण अथवा दान, उनमें उचित संदर्भ का नियोजन कर शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की विशेषता सूरदास की अपनी है। अतएव 'सूरसागर' में लीला की एक विशिष्ट योजना, एक सुनिश्चित शृंखला पायी जाती है जो रसानुभूति के क्रमिक सोपान को समझने में सहायक बनती है।

(१) माखनचोरी-लीला

कृष्ण की कैशोर-लीला उनके बाल्यकाल से आरभ हो जाती है। नवनीति-प्रिय कान्हा घर के लिए भले ही बालक हों किंतु गोपियों के सम्मुख वे किशोरावस्था में प्रकट होते हैं। इसलिए माखन-चोरी-लीला से ही किशोरलीला का प्रारंभ हो जाता है।

भक्तवत्सल भगवान् की इस लीला का उद्देश्य अपने ब्रज-जन को आनंद प्रदान करना है। गोकुल में उन्होंने सुख के हेतु ही जन्म लिया है, इसीलिए वे ब्रज में घर-घर जाकर मक्खन चखना चाहते हैं, विशेषकर मधुर भावापन्न गोपियों के घर। यशोदा के लिए वे बालरूप हैं, गोपियों के लिए नित्यकिशोर। प्रेम से वशीभूत होकर कृष्ण अपने ब्रज के लोगों के घर स्वयं मक्खन चोरी करने पहुंचते हैं।[१] "गो" का प्रयोग वेद में प्रकाश की किरणों के अर्थ में हुआ है, अतः गोरस उस प्रकाशान्वित चेतना के रस का प्रतिनिधित्व करता है। गोरस में मक्खन या घृत मानसिक धरातल पर व्यक्त चिद्रस का प्रतीक प्रतीत होता है, दूध प्राण के आनंद का, तथा दही (दानलीला में इसका स्पष्टीकरण हुआ है) देह के रस का।[२] जिस मानसिक-चेतना को ज्ञानी ब्रह्म में नियोजित तथा योगी परमात्मा में समर्पित करने के लिए कठिन साधना करता है वह भक्ति के लीलाभाव में भगवान् की कृपा तथा भक्त की उत्कट अभीप्सा से स्वतः समर्पित हो जाती है। ब्रज में बसी भक्तात्मायें कृष्ण का सालोक्य तो प्राप्त कर चुकी हैं किंतु सामीप्य नहीं। सामीप्य आदि के बिना सम्बन्ध पूर्ण नहीं होता। किशोर-लीला में कृष्ण सर्वप्रथम गोपियों के मनस् को अपनी ओर आकर्षित करके अपना सामीप्य प्रदान करते हैं। वे

---

१. मन मैं यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियो सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ।
बाल-रूप जसुमति मोहिं जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज-लोग। —सूरसागर, पद सं० ८८६

२. देखिये : मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्ति धारा और चैतन्य संप्रदाय, पृ० १५९, १६०।

'अपने' ब्रज के लोग से दूर नहीं रह सकते,—यह उनकी रसरूपी सहृदयता का परिचायक है। इतना ही नहीं 'चोर' की संज्ञा पाकर भी वे अपनी रसिकता का परिचय देने से नहीं हिचकते। केवल भक्त ही भगवान के रस का इच्छुक नहीं होता, भगवान् भी भक्त के मानसिक, प्राणिक और दैहिक रस के भोक्ता बनना चाहते हैं। रसोपभोग की क्रिया सर्वप्रथम मनस्-जगत् से आरम्भ होती है और इसका प्रतिनिधित्व करती है माखन-चोरी लीला।

एक दिन यशोदा से कृष्ण अपने नवनीत-प्रिय होने की विशेषता स्पष्ट कर देते हैं। इसके आगे उन्हें मेवा-पकवान में रुचि नहीं रह जाती। इस बात को पीछे खड़ी हुई एक युवती सुन लेती है और मन-ही-मन यह अभिलाषा करती है कि कब वह अपने घर कृष्ण को मक्खन खाता हुआ देखे। जब कृष्ण मथानी के पास जाकर बैठे तब गोपी छिप रहे और उन्हें मक्खन आरोगते देखे! अंतर्यामीप्रभु ग्वालिन के मन की बात जान लेते हैं।[1] और उसी ग्वालिन के घर चल देते हैं। उन्हें आता देख गोपी छिप कर बैठ जाती है। जब कृष्ण द्वार पर किसी को नहीं देखते तब इधर-उधर ताकते हुए भीतर चले आते हैं और सूने गृह में मथानी के पास बैठ जाते हैं। गोपी की मक्खन से भरी कमोरी उनके दृष्टि-पथ पर पड़ जाती है और वे मक्खन ले-लेकर खाने लगते हैं। मणिखंभ में अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं तो सकपका जाते हैं, उसे भी अपनी चोरी में शामिल करने के लिए मक्खन देने लगते हैं। किंतु प्रतिबिम्ब क्यों मक्खन मुंह में रखे! कृष्ण हैरान होकर पूछते हैं कि मीठे मक्खन को वह क्यों फेंके दे रहा है, क्या कम है? यदि वह चाहे तो वे सारी कमोरी उसे दे डालें! उसे देने में तो उन्हें बड़ा सुख मिल रहा है, वह क्यों नाराज़ है? कृष्ण की यह भोली लीला देखकर ग्वालिन उमँग उठती है। किन्तु कृष्ण ने जैसे ही ग्वालिन को देखा, भाग गये।[2] माखन चोरी करके वे ईषत् निकट आते हैं, सम्पूर्णरूप से अपने को पकड़ा नहीं देते। मानसिक आकर्षण ही उन्हें प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। किन्तु क्षण भर के साहचर्य से गोपी की भावदशा भिन्न हो जाती है। उसे ऐसा लगता है जैसे कोई बहुमूल्य पदार्थ मिल गया हो। उसमें प्रथम बार भावोद्रेक होता है, रोम-रोम से वह पुलकित हो उठती है, इतनी गद्गद् हो जाती है कि मुख से बात नहीं निकलती। अनुपम रूप को देख जो लिया है उसने! वह मन में फूली नहीं समाती।[3] कृष्ण की वचन-चातुरी भी गोपी को रिझा लेती है। एक दिन अकेले ही दही-मक्खन की चोरी करते पकड़े जाते हैं वे। ग्वालिन उन्हें पकड़ लेती है और आड़े हाथ ले लेती है कि आज तो सखा संग आये नहीं, किसके नाम पर चोरी मढ़ेंगे कृष्ण? पर कृष्ण भी कम व्युत्पन्नमति नहीं हैं। वे अत्यंत नागर हैं, तुरन्त बात गढ़ लेते हैं कि उन्होंने तो उसे अपना घर समझ लिया था, इसी धोखे में वे अंदर आ गये। गोरस में चींटी पड़ी देख उसे निकालने लगे! कृष्ण के इस अत्यंत भोले मृदु वचन को सुनकर और उनकी मुख-शोभा से ग्वालिन आकर्षित हो उठती है।[4] इस आकर्षण को जन्म देने के लिये ही कृष्ण माखन-चोरी लीला करते हैं। गोपी के मक्खन की सारी मटुकी कृष्ण रीती कर

---

१. सूरसागर, पद सं० ८८२।
२. सूरसागर, पद सं० ८८३।
३. फूली फिरति गवालि मन मैं री।
पूछति सखी परस्पर बातैं, पायौ पर्‌यौ कछू कहूँ तैं री?
पुलकित रोम-रोम, गद-गद, मुख बानी कहत न आवै।
ऐसो कहा आहि सो सखिरी, हमकौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं 'देख्यौ रूप अनूप॥ —वही पद सं० ८८४
४. वही, पद सं० ८९७।

डालते हैं। उसका सारा मानसिक जगत कृष्ण अपना लेते हैं। रीता करके उसके चित्त का स्वयं उपभोग करते हैं। इस प्रकार गोपी के मन का हरण हो जाता है और वह किसी अनिर्वचनीय रस से भर जाती है।[1] इस रस की अनुभूति को प्राप्त करने के लिए हर गोपी उत्सुक होने लगती है। ब्रज के घर घर में यह बात फैल जाती है कि कृष्ण सखाओं को संग लेकर चोरी करके मक्खन खाते हैं; कोई गोपी यह कहती है कि कृष्ण अभी उसके घर में घुसे, कोई कहती है कि उसे द्वार पर देखकर कृष्ण भाग गये। कोई गोपी यह अभिलाषा करती है कि किस प्रकार वह अपने घर पर कृष्ण को देखे! जितना भी श्याम खाना चाहेंगे उतना वह अच्छा मक्खन खिलायेगी, पर वह उन्हें अपने घर पर देखे! कोई गोपी केवल देखने से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहती, वह कृष्ण को देखते ही उन्हें भेंटना चाहती है; और कोई गोपी तो उन्हें ऐसा बांध लेना चाहती है कि कोई छुड़ा ही न सके। कृष्ण से मिलने के लिए गोपियाँ नाना भाँति के उपाय सोचती हैं। वे नंदकुमार को पुरुष रूप में पाना चाहती हैं। माखन-चोरी लीला से ही यह बात सुस्पष्ट हो जाती है।[2]

माखन-चोरी में कृष्ण के प्रति गोपियों का अनुराग स्नेह की अवस्था तक रहता है। उनका प्रेम अंकुरित हो उठता है और वे उसे कृष्ण की रूपमाधुरी से सिंचित करती हैं। गोपी कृष्ण को मक्खन खाने से नहीं रोकती क्योंकि उनका दधि-मक्खन-भोगी रूप उसे पसंद है, और उन्हें इस रूप में देखते हुए उसके नयन की तृषा बुझती है। एक बार कृष्ण को देखकर वह कभी नहीं छोड़ेगी! वह उन्हें तन मन प्राण दे डालने का संकल्प कर बैठती है। इस सर्वात्म-समर्पण से गोपी कृष्ण को क्यों न बाँध लेगी? इस सम्पूर्ण आत्मदान से कृष्ण अपने को छुड़ा भी कैसे पायेंगे?[3] यही, नहीं कृष्ण स्वयं गोपी का आत्मदान माँगते हैं। गर्वीली ग्वालिन दही मथती है तो बाँहों का सौंदर्य उभर उठता है। कर-कंकण रुनक झुनक बजने लगते हैं। कृष्ण मक्खन-दही माँगते हैं किंतु हठीली गर्वीली ग्वालिन नहीं देती, और अपने रंग में रंगी दही बिलोने लगती है। पर कृष्ण के आगे किसका गर्व गुमान, किसका हठ चल सकता है? नंद के लाड़ले लाल हँसकर कुछ एक बात कह देते हैं और छबीली ग्वालिन उन्हें अपना सर्वस्व

---

१. देखति पुनि-पुनि घर के वासन, मन हरि लियौ गोपाल।
सूरदास रस भरी ग्वालिनी, जानै हरि कौ ख्याल॥ —सू० सा०, पद सं० ८८९

२. चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद सुत, सँग सखा लीन्हे, चोरि माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति, मोहिं देखि द्वारैं, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।
हरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि घरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि॥
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बुद्धि बिचार।
जोरि कर बिधि कौं मनावति, पुरुष नंद-कुमार॥ —सूरसागर, पद सं० ८९१

३. गोपालै माखन खान दै।
उनतैं जाय चौगुनी लेहौं, नयन तृसा बुझान दै॥
जो कहत हरि लरका हो सुनत मनोहर कान दै।
परमानन्द प्रभु कबहूँ न छांड़ू राखोंगी तन मन प्रान दै॥ —परमानंदसागर, पद सं० ६९

दे डालती है।[१] जब कृष्ण घर से मक्खन लेकर निकलते हैं तब ग्वालिन उनकी बाँह पकड़ लेती है। पर बाँह पकड़ने से क्या वह चोर को पकड़ सकती है? नहीं, वह नवनीत-चोर उन्हें ठग लेता है। हँसकर जब वह ग्वालिन को देखता है, मीठी बात कह देता है, तब ग्वालिन ठगी-सी रह जाती है, उसे चेटक-सा लग जाता है, और प्रीति की गाँठ पड़ जाती है। कृष्ण पर कुपित होना तो दूर, वह उनकी अभ्यर्थना में लग जाती है। वह उन्हें रोकती है और खुद दही ले आने को कहती है। कृष्ण को पकड़ सकने की सारी चतुरता छिन जाती है, वह सर्वस्व देकर स्वयं आत्महारा हो जाती है।[२] उसके मुख पर चाहे गुस्सा भी हो पर अंतर में प्रेम ही रहता है। कृष्ण को देखकर वह तन की सुधि खो बैठती है। इस दर्शन के पश्चात् देह और गेह भूल जाता है, ग्वालिन मात्र कृष्ण के रस के वश में हो जाती है।[३] कृष्ण अपने सौंदर्य तथा लीलाभाव से गोपी को ठग लेते हैं। एक बार गोपी पिव-लाने के लिए मक्खन लाती नहीं कि कृष्ण गिरा देते हैं। उल्टा उसी से पूछने लगते हैं कि "हे पाहुनी तू कौन है, तेरा क्या नाम है? तू भली-मानस-सी दिखाई देती है, तेरा गाँव कहाँ है?" इस लीला से गोपी मुग्ध हो जाती है। कृष्ण का रूप देखते ही वह ठगी-सी खड़ी रह जाती है, सौंदर्य के वे उपमान जो हैं। और अपने इस रूप तथा लीला-कौशल से कृष्ण उसे प्रेम ठगौरी लगा डालते हैं।[४]

मात्र गोपी कृष्ण के प्रति आकर्षण का अनुभव नहीं करती, कृष्ण भी गोपी से आकृष्ट होते हैं। मक्खन की चोरी के लिए कृष्ण गये हुये हैं किंतु ग्वालिन की छवि को एकटक निहार रहे है। मथती हुई ग्वालिन का तन डोल रहा है, सिर का आँचल सरक गया है, वेणी ऐसे डोल रही हैं जैसे वदन रूपी इंदु के पयपान के लिए सर्प उड़ कर आ लगा हो। उसकी इस छवि पर कृष्ण रीझ जाते हैं, और श्याम के अंग-प्रत्यंग की शोभा पर ग्वालिन। कृष्ण नयन-सैन से उसका चित्त चुरा लेते हैं, उसके तन-मन की गति पंगु कर देते हैं। रसिक-शिरोमणि कृष्ण कुछ मक्खन खाकर गोपी को सुख देते हैं।[५] यौवन मदमाती ग्वालिन का रूप कृष्ण के लिए कम लुभावना नहीं है। जब वह दोनों कर से मथानी का कर्षण करती है तब भुजाओं की शोभा कढ़कर निकल आती है।

---

१. परमानंद सागर, पद सं० १३६।

२. माई हौं तकि लागि रही।
जब घर तैं माखन लै निकस्यौ, तब मैं बाँह गही।
तब हँसि कै मेरौ मुख चितयौ, मीठी बात कही।
रही ठगी, चेटक सौ लाग्यौ, परि गई प्रीति सही।
बैठौ कान्ह, जाउँ बलिहारी, ल्याऊँ और दही।
सूर स्याम पै ग्वालि समानी सरबस दै निबही। —सूरसागर, पद सं० ८९९

३. प्रेम अंतर, रिस भरे मुख, जुवति बूझति बात।
चितै मुख तन सुधि बिसारी, कियौ उर नख-घात।
अतिहिं रसबस भई ग्वालिनि, देह गेह बिसारि। —सूरसागर, पद सं० ९०७

४. लियो मेरे हाथ ते छिड़ाई।
तावन को लावत ही माखन डार्यो है कुंमर कन्हाई।
बूझन लाग्यो मोही को कौन है पाहुनी कहा तेरो नाम।
देखियत कहूं भली मानस सी कहिधौं कहा तेरो गाम।।
देखत रूप ठगी सी ठाढ़ी मन मोहन रूप निकाई।
"परमानंददास" को ठाकुर प्रेम ठगौरी लाई।। —परमानंदसागर, पद सं० १४९

५. सूरसागर, पद सं० ९१६।

इधर-उधर अंग मुड़ना, झकझोरना है और तन से मढ़ी कंचुकी विशेष शोभा प्रदर्शित करती है। अल्पवयस्का, भोली, अतिगोरी, काम के साँचे में ढली ग्वालिन की रूप-छवि देख कर कृष्ण आकर्षित ही होकर नहीं रह जाते, रीझ कर थकित हो जाते हैं।[१] प्रेम का आकर्षण एकांगी नहीं रह पाता, गोपी और कृष्ण माखन-चोरी लीला के माध्यम से परस्पर आकर्षित होते हैं। इसी आकर्षण से वशीभूत होकर वे किशोरी गोपियों के घर मक्खन चुराने के बहाने पहुँच जाते हैं।

गोपियाँ कृष्ण को अपने घर में कुछ देर के लिए देखकर ही संतुष्ट नहीं होतीं, वे उन कुछ क्षणों में ऐसा सम्मोहन कर जाते हैं कि गोपियाँ आतुर होकर यशोदा के घर पहुँच जाती हैं। मक्खन-चोरी के उलाहने को नंदभवन में पहुँचने का बहाना बना लिया जाता है, और गोपियाँ मन-गढ़न्त शिकायतें लेकर कृष्णदर्शन के लिए नंद की ड्योढ़ी पर उपस्थित रहने लगतीं हैं। कभी-कभी वे चोली के बंद तोड़े जाने तक का उलाहना ले जाती हैं, कभी मथानी चुराये जाने का बहाना गढ़ कर आ जाती हैं। यशोदा को उनकी बातों पर विश्वास नहीं होता, वे बहुत अप्रसन्न हो जाती हैं उनकी शिकायतों से। आखिर उलाहना जिन बातों का दिया जाता है उनका मेल यशोदा अपने बालक की सुकुमार दशा के साथ कैसे करें? मदमाती ग्वालिनें झूठे दोषारोपण किया करती हैं। पराए घर के भाजन वह सुकुमार मोहन कैसे पा सकता है जिसका हाथ पकड़ कर हलधर अपने साथ खिलाते हैं। गोपियाँ कंचुकी फाड़ने की शिकायत करती हैं,—हलधर का हाथ पकड़ कर खेलने वाला बालक भला यह काम कैसे कर सकता है? मथानी लेकर अपने आंगन में गोपी का हाथ नचाना यशोदा को बहुत बुरा लगता है। वस्तुतः मन कमल-नयन से लग चुका है इसीलिए गोपियाँ इतने सारे उत्तर बनाती हैं। इन्हीं उलाहनों के मिस क्षण-क्षण कृष्ण की मुखश्री देखने को मिलती है।[२] मक्खन-चोरी की शिकायत तो बहाना मात्र है, कृष्ण-दर्शन की लालसा उन्हें क्षण-क्षण नंद-भवन ले जाती है। चंचल चपल चोर-चिन्तामणि की कथा कहते नहीं बनती। ग्वालिन उलाहने के मिस मिलन का अवसर ढूंढ़ ही लेती हैं।[३] ग्वालिनों का आना सार्थक हो जाता है। कृष्ण को देखते ही वे उलाहना देना भूल जाती हैं। दृष्टि के सन्मुख पड़ने पर वे चकित होकर नंद-नंदन को देखती

---

१. देखी हरि मथति ग्वालि दधि ठाढ़ी।
जोबन मदमाती इतराती, बेनि ढुरति कटि लौं छबि बाढ़ी॥
दिन थोरी, भोरी, अति गोरी, देखत ही जु स्याम भए चाढ़ी।
करषति है दुहूँ करनि मथानी, सोभा-रासि भुजा सुभ काढ़ी॥
इत उत अंग मुरत झकझोरत, अँगिया बनी कुचनि सौं माढ़ी।
सूरदास प्रभु रीझि थकित भए मनहुँ काम साँचे भरि काढ़ी॥ —सूरसागर, पद सं० ९१८

२. दिन दिन दैन उराहनौ आवै।
इहै ग्वालि जोबन मदमाती झूठेंहि दोस लगावै॥
कहो धौं भाजन धरे पराए कहाँ मेरौ मोहन पावै।
लरिका अति सुकुमार गहे कर हलधर संग खिलावै॥
कबहुँक कहति कंचुकी फारी, कबहुँक और बतावै।
कबहुँक रई मथनियाँ लै के आँगन हाथ नचावै॥
मन लाग्यो कान्ह कमलदल लोचन ऊतरु बहुत बनावै।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर मुख इहिं मिस छिनु छिनु देख्यो भावै। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १५३

३. चंचल चपल चोर चिन्तामनि मोहन कथा न परति कही।
'परमानंद' स्वामी उरहन के मिस मिलन को ढूंढ़ि रही॥ —परमानंद सागर, पद सं० १४४

रह जाती हैं, उलाहना भूल जाता है। चित्रवत् खड़ी ग्वालिन से कुछ भी समझाया जाय, वह क्या समझे। गिरिधर का मुख देख लेने के बाद घर वापस जाना कठिन हो जाता है।[१] मक्खन चुराने में कृष्ण संकोच नहीं करते, बल्कि दूध-दही की फाग-सी खेलते हैं। पकड़े जाने पर मुंह मोड़ कर मुस्कराते हैं। यशोदा के पुत्र की यह विशेषता है कि उसने सारे ब्रज को अपनी इस लीला के द्वारा प्रेम की डोर से बाँध रखा है। टोना-सा पढ़कर जाने क्या सिर पर डाल देता है कि जो चाहता है वह छीन लेता है।[२] कृष्ण की लीला और रूप का सम्मोहन गोपियों को आत्म-समर्पण करने पर विवश कर देता है।

यह चित्त-हरण की माखन चोरी लीला का उद्देश्य है। मनस्-रस की खोज में उसका रहस्य निहित है। कृष्ण को रात-दिन गोरस की खोज है, उसी को ढंढोरते फिरते हैं वे। आनन्द में मत्त वे गोरस की फाग खेलते हैं। इस आनन्द-क्रीड़ा के द्वारा रंगीला बालक सारे ब्रज को प्रेम की डोर से जकड़ लेता है। उसके प्रेम में बंध कर चतुर सयानी ग्वालिनें उसकी बलैया लेने लगती हैं।[३] यह गोपी का सौभाग्य है कि उसे नवल किशोर-मूर्ति का दर्शन हो गया। जिसके चरण-सरोज को छूने के लिए शंभु गंगा को शिरोधार्य करते हैं, जिसके स्पर्श से शिला तर जाती है, उसके बदन-सरोज को देखकर सारी आकांक्षायें तृप्त हो जाती हैं। प्रभु के संग क्रीड़ा में विलसना ही परम भाग्योदय है।[४] जिसके विमल यश का गान वेद करते हैं, उसे मक्खन चोरी करते हुए यों अनायास पकड़ में आ जाने पर कौन जाने देगा? बहुत दिनों से कृष्ण भक्त के मनस् का आस्वाद करते रहे हैं, उसके ज्ञान-विज्ञान को चुराते रहे हैं। एक दिन जब भक्त ने उन्हें पकड़ लिया तब वे कहाँ जा सकते हैं, जा कैसे सकते हैं?[५] भक्त ऋचाओं के आस्वादक को माखनचोर के रूप में पकड़ लेता है, उन्हें अपने प्रेम-पाश में बाँध लेता है।

(२) चीर-हरण लीला

चीर-हरण-लीला का सांगोपांग वर्णन सूरसागर में ही मिलता है, अन्य कवियों ने इसका उल्लेख मात्र किया है। यों तो माखनचोरी-लीला के प्रसंग में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ कृष्ण को पति-रूप में

---

१. भूल्यो उराहने को दैवौ।
सनमुख दृष्टि परे नंदनंदन चकित ह्वीं करति चितैवौ।।
चित्र लिखी सी काढ़ी ग्वालिनि को समुझै समुझैवौ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर मुख निरखत कठिन पर्‌यो घर जैवौ।।
—चतुर्भुजदास : पदसंग्रह, पद सं० १५४

२. बात कहौं तेरे ढोटा की, सब ब्रज बाँध्यो प्रेम की डोरि।
टोना सौ पढ़ि नावत सिर पर, जो भावत सो लेत है छोरि।। —सूरसागर, पद सं० ९४५

३. समझ न परत या ढोटा की रात दिवस गोरस ढंढोर।
आनंद फिरत फाग सौ खेलत तारी देत हँसत मुख मोर।।
सुंदर स्याम रंगीलो ढोटा सब ब्रज बांध्यो प्रेम की डोर।
"परमानन्ददास" को ठाकुर स्यानी ग्वालिन लेत बलैया अंचर छोर।। —परमानंदसागर, पद सं० १४९

४. सूरसागर, पद सं० ९२०।

५. माखन चोर री हौं पायौ।
जावत कहा जान कैसे पावत बहुत दिननहि खायौ।।
स्री मुख ते उघरी द्वै दतियां तब हँसि कंठ लगायौ।
"परमानन्द" प्रभु प्रानजीवन धन वेद विमल जस गायौ।। —परमानंदसागर, पद सं० १५८

पाना चाहती हैं[1], किन्तु 'गारुड़ी-प्रसंग' की उद्भावना कर सूरदास ने इस चीर-हरण-लीला की सुस्पष्ट भूमिका बाँध दी है। इस प्रसंग के बाद वे त्रिपुरारि की सेवा करके कृष्ण को पति रूप में पाने को सोचने लगती हैं। चीर-हरण-लीला में गोपियाँ कृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए कठिन तपस्या करती हैं, और कृष्ण उनके मनोरथ को पूर्ण करने का वचन देते हैं।

गारुड़ी-प्रसंग यों है : प्रेम का जो विष राधा पर व्याप्त हो जाता है, वह कृष्ण गारुड़ी के आगमन से ही उतरता है। राधा के सर से विष उतार कर कृष्ण गोपियों के सर पर डाल देते हैं। हँस कर वे गोप-कुमारियों का मन हर लेते हैं और मदन-शर से विद्ध करके अपने घर की राह लेते हैं। वही विष की लहर जो राधा को बेचैन किए हुए थी, अन्य तरुणियों पर चढ़ जाती है। अब तो बस वे यही विचार करती हैं कि त्रिपुरारि की सेवा करके कृष्णपति को प्राप्त किया जाय।[2] वह लहर इस तरह उन्हें ग्रस लेती है कि वे अपने पति, घर सबको भूल जाती हैं। जब से कृष्ण ने उनका मन हर लिया तब से उन्हें ये सब कुछ नहीं भाता, लगता है वृथा ही अब तक जन्म गंवाया। वे सोचती हैं कि अब उन्हें वही करना चाहिए जिससे श्याम-सुंदर वर प्राप्त हों, अन्य कुछ भी नहीं करना चाहिए। और जप, तप, व्रत, संयम, साधन से तो पाषाण भी द्रवित हो जाता है, कृष्ण क्यों नहीं द्रवीभूत होंगे ? प्रेम-भक्ति का पात्र बनने के लिए गोपियों की दृष्टि में जप तप का भी महत्व है, स्वतंत्र रूप में नहीं। कृष्ण-वर की प्राप्ति का मंत्र सबने मिल कर दृढ़ किया। उनके इस व्रत से चाहे जो भी लोकापवाद हो उन्हें चिन्ता नहीं है। वे जग में मानव-जन्म को वृथा नहीं खोना चाहतीं, क्योंकि यहाँ अपना कोई नहीं है। एकमात्र कृष्ण में उनकी प्रतीति है, एवं उन्हीं में दृढ़ आस्था। अतएव सारी अभिलाषायें त्याग कर वे केवल यही अभिलाषा करती हैं कि श्यामसुंदर उन्हें पतिरूप में मिलें।[3] कृष्ण का आकर्षण आकर्षण तक ही सीमित नहीं रह जाता, वह उनके भाव-जगत् की निधि बन जाता है। चित्त की वह द्रवण-शीलता, जो स्नेह के रूप में माखन-चोरी के प्रसंग में स्फुरित हुई, अब ठोस रूप धारण करने लगी। अन्य सारे आश्रयों को छोड़कर गोपियों का स्नेह कृष्ण में सुदृढ़ हो गया। वल्लभाचार्य जी के अनुसार माहात्म्य ज्ञान के साथ सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है। गोपियों के निकट कृष्ण का माहात्म्य इसलिए नहीं है कि वे सर्वजीव-नियन्ता प्रभु और विभु हैं, वरन् इसलिए है कि वे ही प्रियतम कांत हैं। इस संसार में जहाँ कोई भी अपना नहीं है वहाँ हृदय की प्रतीति एवं प्रेम के दृढ़ विश्वास के वे ही एकमात्र पात्र हैं। अंतर्जगत् में उनकी इस महत्ता के ज्ञान के अनन्तर कृष्ण के प्रति गोपियों का स्नेह सुदृढ़ हो जाता है। यह स्नेह इतना चेतना-बद्ध एवं स्थायी हो जाता है कि वे सब कुछ छोड़ कर एकमात्र कृष्ण को पाने पर तुल जाती हैं, चाहे उसके लिए कितना ही

---

१. सूरसागर, पद सं० ८९१।

२. सूरसागर, पद सं० १३८२।

३. भवन रवन सबही बिसरायो।
नंद-नँदन जब तें मन हरि लियो, बिरथा जनम गँवायौ॥
जप, तप, ब्रत, संजम, साधन तैं, द्रवित होत पाषान।
जैसें मिलै स्याम सुन्दर बर, सोई कीजै, नहिं आन॥
यहै मंत्र दृढ़ कियौ सबनि मिलि, बातैं होइ सुहोइ।
बृथा जनम जग मैं जिनि खोवहु ह्यां अपनौ नहिं कोइ॥
तब प्रतीति सबहिनि कौं आई, कीन्हौं दृढ़ बिस्वास।
सूर स्यामसुंदर पति पावैं, यहै हमारी आस॥

—सूरसागर, पद सं० १३८३

लोकापवाद क्यों न सहना पड़े, और कोमलांगी गोपिकाओं को चाहे कितनी ही कष्टप्रद साधना क्यों न करनी पड़े। उनकी समस्त आशा एकमात्र कृष्ण पर केन्द्रित हो जाती है।

अपने इस मनोरथ की पूर्ति के लिए वे शिवोपासना करती हैं क्योंकि पति प्रदान करने में उन जैसा आशुतोष कौन है? कर जोड़कर वे त्रिपुरारि की स्तुति करती हैं, और यही कहती हैं कि नंदकुमार-पति उन्हें मिलें! तपस्या में वे सब कुछ सहन करती हैं। शीत-ऋतु से भी वे भयभीत नहीं होतीं। छहों ऋतुयें निरन्तर तपस्या में बिताती हैं, न उन्हें सांसारिक स्नेह-सम्बन्धों की सुधि रहती है, न घर की। तप करते-करते सुकुमार गोपियाँ कृश हो जाती हैं किंतु अविचल भाव से कृष्ण-पति को पाने की याचना करती रहती हैं। एक-एक याम तक ध्यान धर कर, नेत्र मूंद कर, वे सूर्य से आंचल फैलाकर प्रार्थना करती रह जाती हैं[1]। उनकी इस कृच्छ्र साधना से कृष्ण शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाते हैं और अंतर्यामी जल में ही प्रकट हो जाते हैं। सबके प्रेम को देखकर वे अंतर्यामी नहीं रह पाते, सामने प्रकट हो जाते हैं, और सबके पीछे खड़े होकर पीठ मर्दन करने लगते हैं। कृष्ण को देखकर ब्रज-युवतियां सकुचा जाती हैं, किन्तु यही तो उनकी आन्तरिक अभिलाषा रही है।[2] उनके अति तप को देखकर कृष्ण ने कृपा किया है, उन्होंने उनके तन-ताप को उपशमित किया। जिस नवलकिशोर का ध्यान उनके मन में था वही तो प्रकट होकर दर्शन दे रहा है। मन-ही-मन उन्हें विश्वास हो चला कि तप पूर्ण हुआ, कृष्ण द्रवीभूत हुए। कृष्ण-प्राप्ति के विश्वास से जो अपार आनंद उन्हें मिला वह उनके हृदय में समाता नहीं, किंतु प्रत्यक्ष रूप में वे कृष्ण की भर्त्सना करने लगती हैं कि युवतियों के बीच उन्हें लज्जा नहीं आती ?[3] हंसते हुए कृष्ण अपने घर की राह लेते हैं। और माखन-चोरी की भांति ही उलाहना लेकर प्रेम-विवश ग्वालिनें यशोदा के घर चल पड़ती हैं। वे कृष्ण के सान्निध्य का कोई-न-कोई बहाना अवश्य खोज लेती हैं। प्रेम की पुलक से अंगिया दरक जाती है, हार अपने आप तोड़ कर वे यशोदा के पास पहुंचती हैं कि उन्होंने अपने पुत्र को क्या यही छेड़छाड़ सिखा रखा है? देखें तो यशोदा उनके बालक ने कैसा हाल कर रखा है गोपिय का।[4] किंतु यशोदा चिढ़ जाती हैं, भित्ति के बिना चित्र बनाने की बात उन्हें कसे सहन हो सकती है। अब तक तो गोपियां चोरी की शिकायत लेकर आती थीं, अब प्रत्यक्ष लम्पटता का प्रमाण लेकर उपस्थित होने लगीं! यशोदा का पुत्र तो नितान्त बालक है, गोपियों को और गोप-सुत नहीं मिले ?[5] ग्वालिनों और यशोदा की बक-झक के बीच मोरमुकुट पीतांबर काछे हुए कोमल कृष्ण आ जाते हैं। यशोदा उनका हाथ पकड़ कर सामने करती हुई कहती हैं कि इन्हीं को अपराध लगाया जा रहा है? उनके श्याम तो अभी मक्खन-भोगी ही हैं क्यों

---

१. सूरसागर, पद सं० १३८५।

२. वही, पद सं० १३८६।

३. अति तप देखि कृपा हरि कीन्हौ।
तन की जरनि दूरि भई सबकी, मिलि तरुनिनि सुख दीन्हौ॥
नवल किसोर ध्यान जुवतिनि मन, वहै प्रगट दरसायौ।
सकुचि गईं अँग-वसन सम्हारति, भयौ सबनि मनभायौ॥
मन-मन कहति भयौ तप पूरन, आनँद उर न समाई।
सूरदास-प्रभु लाज न आवति जुवतिनि माँझ कन्हाई॥ —वही, पद सं० १३६७

४. वही, पद सं० १३८९।

५. चोरी रही, छिनारौ अब भयौ, जान्यौ ज्ञान तुम्हारौ।
और गोप-सुतनि नहिं देखौ, सूर स्याम है बारौ॥

—वही, पद सं० १३९१

गोपियाँ उन्हें छेड़ती हैं?[१] किन्तु गोपियां यशोदा की बात को कैसे सच मान लें? कुछ दिनों तक दधि मक्खन की चोरी करते रहने के बाद नवल-किशोर ने अब मन चुराना आरम्भ कर दिया है। कृष्ण के प्रति प्रेम मानसिक-जगत् से उतर कर हृदय-जगत् पर विराजमान होने लगा है। श्याम का मुख देखते ही गोपियों के नेत्र से आनंद के अश्रु बहने लगते हैं।[२]

वापस आकर काम धाम भूल जाता है उन्हें। माता-पिता का डर नहीं रह जाता और प्रातः होते ही वे यमुना-तट चल पड़ती हैं। यमुना-तट पर कृष्ण को देखकर उन्हें बहुत प्रसन्नता होती है। अंतर्यामी उनके व्रत को पूर्ण करने के लिए अपनी ओर से भी अग्रसर होते हैं।[३] कृष्ण को देखकर वे और भी कठिन तपस्या आरम्भ कर देती हैं। गोपिकायें कामातुर हो उठती हैं, कृष्ण को तुरन्त पति रूप में पाने की उत्कट अभीप्सा करने लगती हैं। तप में वे नेत्र मूंद कर कृष्ण का दर्शन करती हैं, श्रवण में उन्हीं के शब्दों को विचारती हैं, भुजा जोड़कर ध्यान में हरि का आलिंगन करती हैं। शरद ग्रीष्म किसी भी ऋतु से वे डरती नहीं, देह निचोड़कर तप करती हैं। उनकी इस कठिन तपस्या और तीव्र प्रेमाभिलाष से सर्वज्ञ स्वामी अत्यंत रीझते हैं।[४] आखिर कृष्ण रीझें क्यों न। उनके प्रेम के लिए वे नित्य नेम रखती हैं, चतुर्दशी की रात्रि को भोग-रहित होकर जागरण करती हैं। मन वचन कर्म से उन्हें श्याम का ही ध्यान है। उनके मन में और कुछ नहीं है, एकमात्र 'कृष्ण पति ईश्वर' की ही वे शिव से याचना करती रही हैं।[५] वर्ष भर के व्रत, नेम, संयम को कृष्ण स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें कोई किसी भी भाव से भजे, वे अपने विरद की लाज रखते हैं। कृपा-नाथ ने कृपाल होकर उनका

---

१. सूरसागर, पद सं० १३९३।

२. अबहीं देखे नवल किशोर।
घर आवत ही तनक भए हैं, ऐसे तन के चोर॥
कछु दिन करि दधि-माखन-चोरी अब चोरत मन मोर।
बिबस भई, तन-सुधि न सम्हारति, कहति बात भई भोर॥
यह बानी कहतहीं लजानी समुझ भई जिय-ओर।
सूर स्याम-मुख निरखि चली घर, आनंद लोचन लोर॥

—वही, पद सं० १३९४

३. कमल-नयन तट पर हैं ठाढ़े, सकुचहिं मिलि ब्रज-नारी।
सूरदास-प्रभु अंतरजामी, ब्रत-पूरन पगधारी॥ —वही, पद सं० १३९६

४. अति तप करति घोष-कुमारि।
कृष्न पति हम तुरत पावैं, काम-आतुर नारि॥
नैन मूंदति दरस-कारन, स्रवन सब्द विचारि।
भुजा जोरति अंक भरि हरि, ध्यान उर अँकवारि॥
सरद ग्रीषम डरति नाहीं, करति तप तनु गारि।
सूर-प्रभु सर्वज्ञ स्वामी, देखि रीझे भारि॥ —वही, पद सं० १३९९

५. गौरीपति पूजति, तप साधति, करत रहति नित नेम।
भोग-रहित निसि जागि चतुर्दसि, जसुमति-सुत कैं प्रेम॥
हमकौं देहु कृष्न पति ईस्वर, और नहीं मन आन।
मनसा बाचा कर्म हमारैं, सूर स्याम कौ ध्यान॥

—वही, पद सं० १४००

चीर हरने को सोचा।[1] चीर-हरण के लिए की गई इस तपस्या से साधारणतया पाठक अनजान रहते हैं और कृष्ण की इस लीला पर अश्लीलता का कटु आक्षेप करते नहीं थकते। वस्तुतः कृष्ण चीर का हरण तभी करते हैं जब गोपियों की कठिन संयम से की गई तपस्या पूरी होती है। चीर या वस्त्र वे आवरण हैं, आच्छद हैं जो भक्त की बाह्य संज्ञा को आवृत किए रहते हैं, बिना उनके उच्छेदन के अंतर्यामी से मिलन हो कैसे सकता है? किंतु इन आवरणों का उच्छेदन अपरिपक्व जन नहीं सहन कर सकते, वैसे ही जैसे अर्जुन क्षण मात्र के लिए ही विराट रूप को सहन कर पाये और फिर घबड़ा गए। उस विश्व-रूप की सतत अनुभूति के लिए कृष्ण ने उन्हें योग-साधन का उपदेश दिया। अवतार कृष्ण को सतत पतिरूप में पाने की सामर्थ्य को पहिले तपश्चर्या से लानी पड़ी, फिर कहीं कृष्ण ने उन पर कृपा किया। तपस् से जब उनका अंतरंग बहिरंग सुदृढ़ हो गया तब उनकी बहिर्चेतना के आवरणों को कृष्ण ने हटाया, उसके पूर्व नहीं क्योंकि उससे पहिले वे इस आवरणोच्छेद को सहन ही न कर पातीं। अविद्या से विद्या में पदार्पण भी क्रमशः होता है, एकबारगी नहीं। इसलिए चीर-हरण के पूर्व गोपियों को तपस्या करनी पड़ी।

गोपांगनाओं की तपस्या से प्रसन्न होकर कृष्ण उनका वस्त्र हरण करके कदम के वृक्ष पर चढ़ा देते हैं। कदम अध्यात्म-जगत् में अति-चेतन का प्रतीक है, वस्त्र बहिर्मुखी चेतना का।[2] कृष्ण गोपियों की बहिरंग चेतना को अतिचेतन के धरातल पर उठा देते हैं। विस्तृत कदंबतरु में जहां-तहां वस्त्र आभूषण लटका देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे व्रत के फल कदम की डालों में फल रहे हैं।[3]

जल से बाहर निकलने पर गोपियां देखती हैं कि उनके आभूषण और चीर अनुपस्थित हैं। इधर-उधर देखकर वे संकोचवश पुनः जल के भीतर प्रविष्ट हो जाती हैं। तब कदम्ब से बनवारी उन्हें दर्शन देते हैं और उनसे जल के बाहर निकल आने को कहते हैं। नंद-कुमार कहते हैं कि गोपियों का व्रत पूर्ण हो चुका है, वृथा वे तुषार सहन कर रही हैं, जल से निकल आवें। वे उन्हें चोली, चीर, हार आदि दे रहे हैं, गोपियां लेती क्यों नहीं? कृष्ण बार-बार उनसे कहते हैं कि वे बांह टेक कर उनकी विनती करें और उनके आगे शृंगार करें। वे अंतर्यामी हैं, शरद निशि में रास का आयोजन करके गोपियों की मनोकामना पूर्ण करेंगे। व्यर्थ में गोपियां काम-भय से डर रही हैं, कृष्ण को कोई किसी भी भाव से भजे, उसका तन-ताप हर जाता है।[4] कृष्ण की बात सुनकर गोपियां मन-ही-मन बहुत सुखी होती हैं, किंतु वे कृष्ण से अभी भी लज्जा का अनुभव करती हैं। इस पर कृष्ण कहते हैं कि लाज ओट दूर करके ही गोपियां उन्हें पा सकती हैं, इसके पूर्व नहीं। क्यों संकोच कर रही हैं वे? कृष्ण उन्हें तीर पर आकर उसी प्रकार विनय करते देखना चाहते हैं जिस प्रकार उन्होंने सूर्य से किया था। अब तो गोपियों का व्रत पूर्ण हो गया, उन्हें कृष्ण से अंतर नहीं रखना चाहिए। गुरुजन की शंका से रहित होकर श्याम

---

१. वर्ष भर व्रत-नेम-संजम, स्रम कियौ मोहिं काज।
कैसेहूँ मोहिं भजै कोऊ, मोहि बिरद की लाज।।
कृपा-नाथ कृपाल भए तब, जानि जन की पीर।
सूर-प्रभु अनुमान कीन्हौं, हरौं इनके चीर।। —वही, पद सं० १४०१

२. देखिये मध्ययुगीन हिंदी कृष्ण भक्ति धारा और चैतन्य संप्रदाय, पृ० १६१, १६२, १६३

३. सूरसागर, पद सं० १४०२

४. हौं अंतरजामी जानत सब, अति यह पैज करै री।
करिहौं पूरन काम तुम्हारौ, रास सरद-निसि ठै री।
संतत सूर स्वभाव हमारौ, कत भै-काम डरै री।
कैसेहुँ भाव भजै कोउ हमकौं, तिन तन-ताप हरै री। —सू० सा०, पद सं० १४०५

से वे अपना परिधान लें और उनके आगे शृंगार करें।[1] पतिरूप में स्वीकार करने के पश्चात् अब अंतराय कैसा? किंतु गोपियों में अभी भी संकोच है। वे दीन होकर कहती हैं कि कृष्ण स्वामी हैं, वे दासी हैं, वे उन्हें चीर दे दें। पर कृष्ण उत्तर देते हैं कि यदि गोपियों ने उन्हें नाथ समझा है तब उनकी बात क्यों नहीं मानतीं? इस पर गोपियां शीश पर कर जोड़कर कृष्ण के सन्मुख जाती हैं, ऐसा करने में वे मन में आनंदित भी होती हैं। तब परमानंद कृपाल उन्हें अंबर दे देते हैं।[2]

यह लीला कृष्ण ने गोपियों के संकोच-निवारण और प्रकट रूप से मिलने के लिए किया।[3] उन्होंने गोपियों को कांताभाव से वरण किया, वे पत्नी रूप में स्वीकारी गईं। अपनी इस स्वीकृति को चरितार्थ करने के लिए कृष्ण ने शरद-रास का वचन दिया जिसमें वे प्रत्यक्ष रूप से गोपियों को कांत भाव से ग्रहण करेंगे। यह सुनकर गोपियां हर्षित हुईं क्योंकि उन्हें कृष्ण पति मिल गए, सारा जंजाल मिट गया।[4]

(३) रासलीला

आंतर और बाह्य आवरणों के हट जाने पर मध्य रात्रि में कृष्ण ने गोपियों का आह्वान किया। शरद ऋतु की राका उनके मिलन-यामिनी की तिथि बनी। शरद-निशि को देखकर कृष्ण अत्यन्त प्रफुल्लित हुये। रमणीक वृन्दाविपिन में सुंदर पुष्प, उज्वल रैन, रुचिर यमुना-पुलिन, त्रिविध पवन, सबने मिलकर उनके भीतर आनंद का भाव जगा दिया, और वे ललित वेणु में गोपकन्याओं को टेरने लगे।[5] शरद की रजनी अत्यंत मादक है, सनन सन पवन बह रहा है, कुंज-कुंज में द्रुमवेली प्रफुल्लित हो झूम-झूम कर रस झेल रही है। रति के अनुकूल चिदानंदवन वृन्दावन का वातावरण है।[6] शरद ऋतु में वृन्दाविपिन की सहज माधुरी और भी छबीली हो उठी

---

१. लाज ओट यह दूरि करौ।
जोइ मैं कहौं करौ तुम सोई, सकुच बापुरिहिं कहा करौ॥
जल तैं तीर आइ कर जोरहु, मैं देखौं तुम बिनय करौ।
पूरन ब्रत अब भयौ तुम्हारौ, गुरुजन-संका दूरि करौ॥
अब अंतर मोसौं जनि राखहु, बार-बार हठ बृथा करौ।
सूर स्याम कहैं चीर देत हौं, मो आगैं सिंगार करौ॥ — सू० सा०, पद सं० १४०८

२. जौ तुम हमैं नाथ करि जान्यौ, यह हम माँगैं देहु।
जल तैं निकसि आइ बाहिर ह्वै, बसन आपने लेहु॥
कर धरि सीस गईं हरि-सन्मुख, मन मैं करि आनंद।
ह्वै कृपाल सूरज-प्रभु अंबर दीन्हें परमानन्द॥ — वही, पद सं० १४१०

३. कीन्हीं प्रीति प्रगट मिलिबे कौं, सबके सकुच गँवाए। — वही, पद सं० १४१२

४. ब्रत पूरन कियौ नंद-कुमार। जुबतिनि के मेटे जंजार॥
जप तप करि तनु अब जनि मारौ। तुम घरनी मैं कंत तुम्हारौ॥
सरद-रास तुम आस पुराऊँ। अंकम भरि सबकौं उर लाऊँ॥
यह सुनि सब मन हरष बढ़ायौ। मन-मन कह्यौ कृष्न पति पायौ॥ — वही, पद सं० १४१५

५. सूरसागर, पद सं० १६०६

६. प्यारी राधेको वृन्दावन देखौ री चिदानंदघन।
तैसिय सरद उजारी राका रुचिकारी तैसोई त्रिविध बहै पवन सनन सन।
कुंज कुंज द्रुमवेलि प्रफुल्लित अलबेली झेली रस झूमि झूमि रहि रति रेली तन।
महावाणी : उत्साह सुख, पद सं० १३६

है। मालती क्या फूली है जैसे नव यौवन को प्राप्त हुई गुणवती बाला हो। अन्य फूलों में शरद ही जैसे हंसती हुई आ गई हो। इस मादन गंध में रास-रस का सहायक चंद्र उदित हो गया है, और वातावरण कुंकुम-मंडित प्रिया वदन की भांति हो चला है। उदीयमान चंद्र की कोमल किरणों की अरुणिमा बन में व्याप्त होने लगी जैसे मनसिज के खेले हुये फाग की गुलाल घुमड़ कर फैल रही हो। स्फटिक-छटा-सी चंद्र किरणें कुंज के रंध्रों से अंदर प्रवेश करने लगी हैं। मंद-मंद गति से चलता हुआ चंद्रमा ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे उझक कर अंदर का दृश्य देखना चाहता हो।[1]

ऐसे रसभीने वातावरण में कृष्ण ने अपने कर-कमलों में मुरली उठाई। कृष्ण के योगमायाजनित इस नाद ने योग्यतानुसार गोपियों के अंतर को स्पर्श किया। जो शुद्ध प्रेममय थीं वे आतुर हो इस सूक्ष्म रंगीले अमृत-नाद का अनुसरण करती हुई कृष्ण के निकट जाने लगीं। शुद्ध प्रेम के अभाव में जिनकी काया गुणमयी थी, वे घर पर रुक गईं। पाप-पुण्य के प्रारब्ध ने उन्हें रोक लिया। वे कृष्ण के मुरली-रस को पचा नहीं सकीं। किंतु एक बार कृष्ण ने जिसे पुकार लिया, उसे संचित कर्मों की शृंखला भी क्या बांध सकती है। परमात्मा की ओर से आत्मा का यह आवाहन उसके सारे फन्दों को काट देता है। मुरली-नाद सुनकर जा पाने में असमर्थ गोपियों को दुःसह विरह ने घेर लिया। एक क्षण के तीक्ष्ण विरह में उन्होंने कोटि वर्षों के नरक-भोग की यातना को भुगत लिया, और अपना पाप-प्रारब्ध काट दिया। फिर ध्यान में जब उन्होंने कृष्ण का आलिंगन किया तब कोटि स्वर्ग-सुख निःशेष हो गये, और वे पुण्य के संस्कारों से भी मुक्त हो गईं। इस प्रकार पाप-पुण्य दोनों से मुक्त होकर रुद्ध गोपियां त्रिगुणातीत रस की ओर धावित हुईं। उस आकर्षण में बंध कर वे इस प्रकार चलीं जैसे पिंजड़े से प्रेम के विहंग छूट पड़े हों।[2] मुरली का प्रभाव ही ऐसा है। उसे सुनकर गोपियां ऐसी बावली हो उठीं जैसे सर पर टोना डाल दिया गया हो। जो गोपी जिस अवस्था में थी, उसी अवस्था में उठकर दौड़ पड़ी। कोई गोपी आकाश देखती है कोई धरती, कोई हाथ से बर्तन गिरा डालती है, कोई बालक को गोद में सम्हाल नहीं पाती। घर-घर गोपियां बेचैन हो गई हैं, मन-ही-मन सोचने लगीं कि यह कैसी वाणी है जिसने उन्हें कुल मर्यादा की लाज से रहित कर डाला, आर्य-पंथ को विस्मृत करा दिया। कृष्ण ने सबका नाम ले-लेकर पुकारा, और वे पति को खाता हुआ छोड़ कर भागीं। स्थान स्थान पर उल्टे वस्त्राभूषण धारण किये हुये, मध्य रात्रि में वे घर द्वार को तिलांजलि दे वन की ओर चलीं। यह है कृष्ण की मुरली का प्रभाव।[3] कृष्ण की वेणु के चमत्कारी प्रभाव से मानव क्या मानवेतर जगत् भी नहीं बच पाता। वह सुर, नर, नाग को तो मोहित कर ही लेती है, यमुना के नीर को भी थकित कर डालती है, पवन को मुरझा देती है। अपनी गति भूल कर खग, मृग, मीन उसके अधीन हो रहते हैं। द्रुमवेली का तन अनुराग से पुलकित हो उठता है, शशि थकित-सा स्थिर हो जाता है और निशा घटती ही नहीं। वृन्दावन-विहारी की मुरली-ध्वनि का यही योगमायिक प्रभाव है जो जड़ चेतन को अपने में समाहित कर लेता है।[4] इस ध्वनि को सुनकर सोलह सहस्र गोपिकायें सुत-पति के क्लिष्ट मोह को छोड़कर हरि के पास गईं। एक गोपी को पति ने रोक रखा था। वह देह त्याग कर कृष्ण के पास पहुंची और कृष्ण ने उसे निर्वाण-पद प्रदान किया। कृष्ण का यह आवाहन जग के मोह-बन्धनों को छिन्न कर देने वाला है।[5] मोह बन्धन को छिन्न कर गोपियां कृष्ण के पास जा पहुंचीं।

---

१. नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १५९-१६०

२. मोहन मुरली-नाद, स्रवन जु सुन्यौ...नव प्रेम-विहंगम॥ —वही, पृ० १६०-१६१

३. सूरसागर, पद सं० १६०७

४. सूरसागर, पद सं० १६०८

५. गईं सोरह सहस हरि पै, छांडि सुत-पति-नेह।

उन्हें देखकर कृष्ण मन-ही-मन हर्षित हुये। भगवान् से भक्त ही आह्लादित नहीं होता, भगवान भी भक्त से आनंदित होते हैं। कृष्ण ने प्रियाओं का जब सुहावना नूपुर नाद सुना तब उनके मन के नेत्र सिमट कर श्रवण बन गए। रुनुक-झुनुक करती हुई जब वे छबीली नारियां प्रकट हुईं तब प्रिय के अंग-अंग सिमट कर नैन बन गये। कुंज-कुंज से निकल कर चंद्रमुखियाँ आने लगीं। सबके मुख को देखते हुये कृष्ण के नेत्र ऐसे लगने लगे जैसे बहु शरद-शशियों के बीच दो चकोर।[1] जैसी शरद की निर्मल चांदनी और रास-रंग की कल्पना वैसी ही कनक-वर्ण की सब सुंदरियां। इस शोभा पर कृष्ण का मन ललचा गया। किंतु गोपियों के मनोरथ को पूर्ण करने के पूर्व उन्होंने कपट-चतुरता रच कर युवतियों को भ्रमित करना आरम्भ किया।[2] कहने लगे कि "रात्रि में क्यों वन को दौड़ आई? क्या तुम मार्ग भूल गई? या मथुरा दधि बेचते हुए देर हो गई और वन में भ्रमित होकर आ गई? देखो, मार्ग वह है। तुरन्त घर जाओ, गुरुजन खीझ रहे होंगे, गोकुल से रात को वन में आने में कोई भलाई नहीं है।" तब गोपियां कहती हैं कि "क्या तुमने मुरली में सबका नाम लेकर नहीं बुलाया, अब क्यों छल करते हो?"[3] पर कृष्ण उत्तर देते हैं कि कहां वे, कहां ब्रज में गोपियों का घर, मुरली-नाद कैसे पहुंच सकता है। पहुंच भी जाय तो भला कृष्ण बड़े घर की बहू-बेटियों का नाम कैसे ले सकते हैं? ऐसे ही, निशा में वे दौड़ आईं और दोष उन्हें लगा रही हैं! गोपियों ने अच्छा नहीं किया, अब भी वे घर लौट जायं। क्या उनके पति नहीं हैं जिनका निरादर करके वे दौड़ आई?[4] कुमारी कन्याओं के क्या माता-पिता नहीं हैं? हैं, तो क्या अपनी लाज गंवाकर रात्रि में बेटियों को आने दिया? सभी सुंदरी हैं, नव-यौवना हैं, और निष्ठुर हैं (अहीर की जाति जो ठहरी)। रात्रि में क्या वे बिना कहे आ गई या कह कर आई हैं? यदि कोई सुन लेगा तो गोपियों के लिये भी लज्जाजनक बात हो जायेगी, और कृष्ण के लिये भी। मुरली में टेरने के लिये वे स्वयं बहुत शर्मिन्दा हैं। जैसा किया वैसा फल मिला, सारा दूषण उन्हीं पर

शेष— एक राखी रोकि कै पति, सो गई तजि देह॥
दियो तिहिँ निर्वान पद हरि, चितै लोचन-कोर।
सूर भजि गोविन्द यौं, जग-मोह-बन्धन-तोर॥ —वही, पद सं० १६२५

१. तिन के नूपुर-नाद, सुने जब परम सुहाये।
तब हरि के मन-नैन सिमिटि सब श्रवननि आये॥
रुनुक झुनुक पुनि छबिली भाँति, सब प्रगट भईं जब।
पिय के अँग-अँग सिमिटि, मिले छबिले नैंननि तब॥
कुंजन कुंजन निकसत, सोभित बर आनन अस।
तम कौने तैं निकरि, लसत राका-मयंक जस॥
सबके मुख अवलोकत, पिय के नैंन बनैं यौं।
बहुत सरद ससि-माँझ, अरबरे द्वै चकोर ज्यौं॥ —नंददास : प्रथम भाग, पृ० १६२

२. देखि स्याम मन हरष बढ़ायौ।
तैसियै सरद-चाँदनी निर्मल, तैसोई रास-रंग उपजायौ॥
तैसियै कनक-बरन सब सुंदरि, इहिँ सोभा पर मन ललचायौ।
तैसियै हंस-सुता पवित्र तट, तैसोइ कल्पवृक्ष सुख-दायौ॥
करौ मनोरथ पूरन सबके, इहिँ अंतर इक खेल उपायौ।
सूर स्याम रचि कपट-चतुरई, जुवतिनि कौं यह मन भरमायौ॥ —सू० सा०, पद सं० १६२८

३. वही, पद सं० १६२९

४. वही, पद सं० १६३०

आ लगा। खैर अब गोपियां लौट जायं और पति को परमेश्वर की भांति पूजें, कृष्ण का अपराध क्षमा करें।[१] कृष्ण वेद-मार्ग का उपदेश देकर उन्हें समझाते हैं कि पति कैसा भी हो—वृद्ध, भाग्यहीन, पतित, मूर्ख, रोगी—स्त्री उसे नहीं तजती, पति की पूजा करके ही भव से तरा जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। कृष्ण के निष्ठुर वचनों को सुनकर गोपियां विकल हो उठती हैं, चकृत होकर सब सुनती रहती हैं और कुछ उत्तर नहीं देते बनता। वे तुषार से हत कमलिनी-सी कुम्हला जाती हैं। दीन होकर कहती हैं : 'हे कृपा-सिन्धु, अंतर का कपट दूर करके हमारी ओर कृपादृष्टि फेरो। हमें निराश मत करो। हमें अब कोई और शरण नहीं सूझता, किसके पास जायं। यदि दासी से चूक हो भी जाय तो प्रभु को क्षमा कर देना चाहिए।[२] फिर, दैन्य त्याग कर गोपियां कृष्ण से कहती हैं कि ये क्रूर वचन उन्हें शोभा नहीं देते, वे मोहन हैं, प्राणनाथ हैं, सुंदर और सुखदायक हैं। जब कोई धर्म के विषय में पूछे तभी उसे धर्म का उपदेश देना चाहिए, बिना पूछे नहीं। क्यों वे बिना पूछे धर्मोपदेश देकर गोपियों का हृदय दग्ध कर रहे हैं? यह तो सुना गया है कि धर्म, नेम, जप, तप, व्रत, सब किसी एक परम फल को प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु यह कहीं नहीं सुना गया कि फल-प्राप्ति के पश्चात् पुनः धर्माचरण किया जाय। (कृष्ण-प्राप्ति ही फल है, उस फल के बाद वेदाचरण का क्या महत्व?) समस्त धर्मों का सार तो कृष्ण का 'रूप' है जो धर्म के धर्म को भी मोहित कर लेता है। गृह में स्त्री-धर्म कैसा? वह तो भ्रम है, इस सौंदर्याकर्षण के आगे कुछ नहीं। और फिर मुरली का रस, उसके आगे जड़ जगत (पर्वत) तक अपना धर्म त्याग कर पुलकित हो उठता है, अचल से चल होने लगता है, तो फिर चेतन प्राणियों पर उसके प्रभाव को कौन रोक सकता है?[३] कृष्ण को पाकर कौन संसार में वापस लौटेगा। त्रिभुवन-दुर्लभ दर्शन को छोड़कर और कुछ लेकर कोई क्या करेगा? गोपियों के लिए सारे सासारिक सम्बन्ध टूट चुके हैं। कैसा धर्म, कैसा पाप? वे एकमात्र कृष्ण में अनुरक्त हैं, सारा संसार उनके लिए व्यर्थ है।[४] अंतर्यामी को उनका मनोभाव समझना चाहिए। कृष्ण उनसे पति-सेवा के लिए कह रहे हैं, वे इसी सेवा के लिए समुपस्थित हुई हैं, कृष्ण ही उनके स्वामी हैं। गोपियों के लिए कृष्णार्पण ही एकमात्र धर्माचरण है, अन्य कुछ भी नहीं। जो कृष्णोन्मुखी है वही कुलीन है, भाग्यशालिनी है। वे ही नर-नारी धन्य हैं जिनकी कृष्ण-चरण में दृढ़ निष्ठा है। उस पर से कृष्ण के अंग-प्रत्यंग की यह सुन्दरता![५] सुंदर प्रियके वदन की मोहिनी का अनुभव,

---

१. यह धौं सुनै काहूँ जो कोऊ, तुमहिँ लाज अरु हमहूँ।।
हम तो आजु बहुत सरमाने, मुरली टेरि बजायौ।
जैसौ कियौ लह्यौ फल तैसौ, हमहीं दूषन आयौ।।
अब तुम भवन जाहु, पति पूजहु परमेस्वर की नाईं।
सूर स्याम जुबतिनि सौं यह कहि, करी अपराध छमाई।। —सू०, सा०, पद सं० १६३२

२. निठुर बचन जनि बोलहु स्याम।
आस निरास करौ जनि हमरी, विकल कहति हैं बाम।।
अंतर कपट दूरि करि डारौ, हम तन कृपा निहारौ।
कृपा-सिंधु तुमकौ सब गावत अपनौ नाम सम्हारौ।।
हमकौं सरन और नहिं सूझै, कापै हम अब जाहिं।
सूरदास प्रभु निज दासिनि की, चूक कहा पछिताहिँ।। —सू० वही०, पद सं० १६३८

३. नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६४

४. सूरसागर, पद सं० १६३९

५. सोइ कुलीन सोई बड़भागिनी, जो तुव सन्मुख रहै सदाईं।
धनि पुरुष, नारि धनि तेई, पंकज चरन रहैं दृढ़ताई।।
सूरदास कहि कहा बाखानैं, यह निसि, यह अँग सुंदरताई।। —सू० सा०, पद सं० १६४३

कृष्ण के सौंदर्य का बोध और उसका प्रबल आकर्षण रस-साधना का मर्म है। ऐसा कौन है जो प्रियतम कृष्ण के सुंदर वदन को देखकर वेद-धर्म को न भूल बैठा हो? कौन उस रूप-सरोवर में सरस अम्बुज-सा प्रफुल्लित नहीं हो उठता? मुख-कमल पर छाये कुटिल अलकों के मत्त मधुकर से भक्त के चंचल नेत्रों का भाव-तादात्म्य हो जाता है। कृष्ण की भौंहें मन्मथ की फांसी हैं और चितवन मोहन-मंत्र। मंद, मृदु, मादक हंसी तो नितांत 'ठगौरी' उत्पन्न कर देती है। और अधर की सुधा, उसी की दासी हैं गोपियां। जैसे पद-कमल के रस से चंचला कमला लुब्ध हैं वैसे ही अधर-रस से चंचल गोपिकायें। उनके इसी उत्कट, अनुराग से वशीभूत होकर आत्माराम कृष्ण प्रेम-रस में रमण करते हैं।[1] इस अपरूप सौंदर्य के आकर्षण के सम्मुख किसका आकर्षण ठहर सकता है? विना वृन्दावन-बिहारी के माता-पिता, पति-पुत्र, कुल की क्या सार्थकता है? कृष्ण भले हैं कि वे, गोपियां कृष्ण से ही प्रश्न कर बैठती हैं।[2] सत्य के उद्घाटन पर वे स्वयं मान जायेंगी और वापस लौट जायेंगी। अपने मुख से कृष्ण क्या निर्णय करें? वे समझ गये कि गोपियां एक अंग से भी कच्ची नहीं हैं। कृष्ण के बिना वे किसी और को नहीं जानतीं। उनके आगे वे लोक वेद की मर्यादा को तृण से भी तुच्छ समझती हैं। गोपियों ने कपटरहित होकर कृष्ण से प्रेम किया है, उन्हें ठीक-ठीक पहिचाना है। तब पूर्ण कृपा सहित कृपालु उनके दृढ़ नेम की स्तुति करने लगते हैं। भला सिंह जंबुक के शरणागत रह सकता है? फिर, गोपियां कृष्णाश्रय के अतिरिक्त किसी की शरण में कैसे रह सकती हैं? कृष्ण ने उन्हें अंक में भर लिया और उनकी विरहाग्नि शान्त हुई।[3]

तब, त्रिभुवन-मोहन रासमंडली का निर्माण होता है। परम रमणीय यमुना-कूल पर बहु भांति के फूल फूले हुये हैं, मलय पवन बह रहा है। आनंद-रस उमड़ पड़ा है, प्रभु केलि कर रहे हैं और प्रियायें रससिंधु झेल रही हैं।[4] इस आनंद-रस से प्रभु रसाविष्ट हो रहे हैं, जिधर उनकी सुदृष्टि होती है उधर सुधा-वृष्टि-सी हो जाती है; ग्रीवा रसाविष्ट है, भुज-भाव को देखकर शत रतिपति भी लज्जित हो जाते हैं। यही नव शृंगार-मूर्ति का लीला-

---

१. सुंदर पिय कौ बदन निरखि, अस को नहिं भूल्यौ।
रूप-सरोवर-माँझ, सरस अम्बुज जनु फूल्यौ।।
कुटिल अलक मुख-कमल, मनौ मधुकर मतवारे।
तिन-मधि मिलि रहे लाल, नैंन चंचल जु हमारे।।
चितवनि मोहन-मंत्र, भौंह जनु मनमथ-फांसी।
निपट ठगौरी आहि, मंद-मृदु, मादक हाँसी।।
अधर-सुधा के लोभ भईं हम दासि तिहारी।
ज्यौं लुब्धी पद-कमलन, कमला चंचल नारी।।
बिहँसि मिले नँदलाल, निरखि ब्रजबाल बिरह-बस।
जदपि आत्माराम, रमत भये परम प्रेम-रस।।
—नंददास : प्रथमभाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १६४-१६५

२. कहा सुत-पति, कहा मातु-पितु, कुल कहा, कहा संसार बिनु-बन-बिहारी।
हमहिं समुझाइ यह कहौ मूरख नारि, कहौ तुम कहा नहिँ मर्म जानैं।
सुनहु प्रभु सूर तुम भले की वै भले, सत्य करि कहौ हम अबहिँ मानैं।। —सूर० सा०, पद सं० १६४५

३. सूरसागर, पद सं० १६५२

४. 'गोविन्द' प्रभु करत केलि भामिनी रससिंधु झेलि।
जय जय सूर सब्द कहत आनँद रस कीनां।। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ५२

रस है।[१] प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण आविर्भूत हैं। सोलह सहस्त्र गोपियां हैं और सोलह सहस्र गोपाल। महारास में दिव्य चेतना की सारी पखड़ियां खिल उठी हैं। अंतर्यामी के साथ मिलकर भक्तात्मा आनंद-चेतना में डूब गई है, उसके सामीप्य से सराबोर है। जिस प्रकार भक्त भगवान् को प्राप्त कर रसाविष्ट है उसी प्रकार भगवान भी भक्त को ग्रहण कर रसान्वित हैं। नृत्य की गतियों के द्वारा इस आनंदातिरेक की सहज अभिव्यक्ति हो रही है। राधा और कृष्ण केन्द्र में हैं, राधा की कायव्यूहस्वरूपा गोपियां वृत्त पर। जो अवस्था राधा की है वही गोपियों की। राधा कृष्ण रास के नृत्य में होड़ ले रहे हैं। दोनों परस्पर संगुम्फित हो रहे हैं, प्राण-से-प्राण, नयन-से-नयन अटक रहे हैं। राधा की चटकीली छवि से मुग्ध घनश्याम लिपट रहे हैं, रीझ-रीझ कर आलिंगन कर रहे हैं। वे मुदित मन से नृत्य कर रहे हैं तथा श्रमित होने पर राधा का अंचल ले-लेकर श्रम-कन पोंछ रहे हैं।[२] राधा भी कृष्ण को रिझाने में कोई कसर नहीं उठा रखतीं। अनुपम विधि से तान-बंधान उठातीहुई मधुर स्वर ताल में गा रही हैं। नेत्रों से गूढ़ भेद जता कर कृष्ण को प्रेमाबद्ध कर रखा है। अंग-अंग से भांति-भांति के भावों को निपुणता से दर्शा कर वे रस की वृद्धि कर रही हैं। रीझ कर गोवर्द्धनधारी प्रभु उन्हें कंठ से लगा लेते हैं। ऐसा रिझा रखा है राधा ने श्याम को।[३] नृत्य के समय राधा और कृष्ण का लावण्यमय रूप दर्शनीय है। संगीत-रस में कुशल राधिका नृत्य के आवेश में दिव्य गति से चरण चलाती हैं। विशाल लोचन और मन के उल्लास का सूचक मृदुहास उनकी छवि को और भी प्रिय बना देता है। उनके पद-विन्यास मृदुल हैं, वलयावली चलती है तथा किंकिणी, मंजीर की मंजु झनकार समवेत रूप में उठ पड़ती है। रूप अनुपम है, कांति अद्भुत है, उस पर से आभरण-भूषित राधा षोडश शृंगार धारण किए हुए हैं। मृदंग, वीणा तारस्वर में बज रहे हैं और राधा पीयूष-वर्षी वाणी से संगीत के शब्द उच्चरित कर प्रिय के श्रवण पुलकित कर रही हैं। वस्तुतः वे गिरिराजधर घनश्याम से भी अधिक कला-धारिणी हैं, रस की ग्रंथि-रूप में विदित हैं।[४] उनकी कला से भक्ति होकर कृष्ण आत्मविभोर हो नृत्य करते हैं। राधा के साथ वे नृत्य में नई-नई गति लेते हैं। सिर से झरते हुए कुसुम

---

१. नाचत नव सिंगार मूरति जवल्लभ सुभग रास।
जित सुदृष्टि सुधा दृष्टि रसाविष्ट ग्रीव सुलोल
तित भुज वर भाव निरखि रति पति सत लाजे। —वही, पद सं० ५३

२. अरुझ्यौ कुंडल लट बेसरि सौं पीतपट-
वनमाल बीच आन उरझे हैं दोऊ जन।
प्राननि सों प्रान, नैंन-नैंन सो अटकि रहे,
चटकीली छवि देखि लपटानौ स्याम घन।।
होड़ा-होड़ी नृत्य करैं रीझि-रीझि अंक भरैं,
ततथेई ततथेई रटति मन मगन।
'सूरदास मदनमोहन' रास-मंडल में प्यारी कौ,
अँचल लै-लै पोंछिति हैं श्रम-कन।। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ३०

३. रिझये सखि! तें साँवरो सुजान-राइ।
तान बंधान अनूपम बिधि सों मधुर ताल सुर सुघर गाइ।।
राखे प्रेम-प्रमोधि प्रानपति गूढ भेद नैननि जनाइ।
उघटति सब्द संगीत स्वामिनी निर्तति पग नूपुर बजाइ।।
रास-रंग-हरि-संग रसु राख्यो अंग-अंग गुन बहुत भाइ।
'चतुर्भुज' दास प्रभु गोवर्द्धनधर लेत रूसि हँसि कंठ लाइ।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद स० ३५.

४. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ४७

ऐसे लगते हैं जैसे कुंतल ही हुलस कर हँस रहे हों। भाल पर स्वेदकण झलमलाने लगते हैं। अंग भंग की लटक, भृकुटि की मटक, कोमल चरणों की चाल, चल कुंडलों की चमक, दशनावली की दमक तथा विशाल लोचनों से व्यंजित विविध भाव, एक रसना से कवि कुंवर गिरिधरलाल के अद्भुत चरित का कैसे वर्णन कर सकता है।[1] वृन्दावन के इस आनंद-विलास को देखकर चंद्र थकित हो जाता है और काम लीक खींच देता है।[2]

रास का नृत्य केवल आत्मा-परमात्मा के सामीप्य को ही मुखर नहीं करता, वह उनकी पारस्परिक रति को भी अवसर प्रदान करता है। यह 'जोड़ी' का विहार है। कृष्ण का मुकुट चरण तट को पहुंच रहा है। भुजाओं में भोली भामिनी धारण किये हुये हैं वे; आलिंगन, चुंबन, परिरम्भन पर भक्त-कवि तृन तोड़ डालते हैं।[3] इस रति-महोत्सव में गोपियों की विचित्र दशा है। उन्हें तन की सम्हाल नहीं रह गई, बाल खुल कर बिखर रहे हैं, हार टूट रहे हैं, कंचुकी फट रही है, चूड़ियाँ टूट रही हैं, शिर से फूल गिर रहे हैं, चंदन मिट रहा है। आलिंगन, परिरंभन, चुम्बन से इस रास-विलास में महोत्सव मनाया जा रहा है। रास-लीला में कृष्ण की केलि को देखकर सुर-विमान ठहर गये हैं।[4] यह रास अबलाओं का बल है, अतिमत्त निरंकुश गज सदृश मोहन गोपियों के लट-पाश को निरखकर बंध गये। बिना उद्यम के, अनायास ही उनके मन की गति को अबलाओं ने पंगु कर डाला, जब वे भृकुटि विलास सहित कृष्ण की ओर कटाक्ष करती हैं तब की बात कौन चलावे ?[5] गोपिकाओं ने कृष्ण को वशीभूत कर रखा है और इस वशीकरण पर अबलाओं को गर्व भी हो जाता है।

अंतर्यामी से कुछ भी छिपा नहीं रहता, वे प्रियाओं के प्रेम-गर्व को जान लेते हैं, और नृत्य करते-करते रास से अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। अब तो रास की रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है। गोपियां विरह में कातर हो जाती हैं। सारा राग रंग बिखर जाता है। किन्तु कविवर नंददास इस मध्यान्तर विरह को प्रेम का पोषक मानते हैं। उनका मत है कि मधुर वस्तु के निरन्तर आस्वाद से भारी सुख मिलता है किन्तु बीच-बीच कटु-अम्ल-तिक्त का स्वाद लेना भी अतिशय रुचिकारी होता है। जिस प्रकार पुट के देने से पट में सरस रंग पक्का

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ४८

२. वृन्दावन रच्यौ रास विहरत आनंद विलास
बिथकित चंद सखी लीक लयौ काम ॥ —गोविन्दस्वामी : पदसंग्रह, पद सं० ६१

३. ततथेई ततथेई सब्द उघटत पिय भले बिहारी बिहरत जोरी।
बरहा मुकुट चरन तट आवत धरे, भुजन में भामिनि भोरी।
आलिंगन चुंबन परिरंभन 'परमानन्द' डारत तृन तोरी ॥ —परमानन्द सागर, पद सं० २३०

४. गोपाल लाल सों नीकैं खेलि।
बिकल भई संभार न तन की सुन्दरि छूटे बार सकेलि ॥
टूटत हार कंचुकी फाटत फूटत चुरी खिसत सिर फूल।
चंदन मिटत सरस उर चंदन देखत मदन महीपति भूल ॥
बाहु कंध परिरंभन चुम्बन महा महोच्छब रास विलास।
सुर विमान सब कौतुक भूले कृष्न केलि 'परमानन्ददास' ॥ —वही, पद सं० २३३

५. देखो माई अबला के बल रास।
अति गज मत्त निरंकुश मोहन निरखि बँधे लट पास ॥
अब ही पंगु भई मन की गति बिनु उद्दिम अनियास।
तब की कहा कहौं जब पिय प्रति चाहत भृकुटि बिलास ॥ —हितचौरासी, पद सं० ५३

रस है।[1] प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण आविर्भूत हैं। सोलह सहस्त्र गोपियां हैं और सोलह सहस्र गोपाल। महारास में दिव्य चेतना की सारी पखड़ियां खिल उठी हैं। अंतर्यामी के साथ मिलकर भक्तात्मा आनंद-चेतना में डूब गई है, उसके सामीप्य से सराबोर है। जिस प्रकार भक्त भगवान् को प्राप्त कर रसाविष्ट है उसी प्रकार भगवान भी भक्त को ग्रहण कर रसान्वित हैं। नृत्य की गतियों के द्वारा इस आनंदातिरेक की सहज अभिव्यक्ति हो रही है। राधा और कृष्ण केन्द्र में हैं, राधा की कायव्यूहस्वरूपा गोपियां वृत्त पर। जो अवस्था राधा की है वही गोपियों की। राधा कृष्ण रास के नृत्य में होड़ ले रहे हैं। दोनों परस्पर संगुम्फित हो रहे हैं, प्राण-से-प्राण, नयन-से-नयन अटक रहे हैं। राधा की चटकीली छवि से मुग्ध घनश्याम लिपट रहे हैं, रीझ-रीझ कर आलिंगन कर रहे हैं। वे मुदित मन से नृत्य कर रहे हैं तथा श्रमित होने पर राधा का अंचल ले-लेकर श्रम-कन पोंछ रहे हैं।[2] राधा भी कृष्ण को रिझाने में कोई कसर नहीं उठा रखतीं। अनुपम विधि से तान-बंधान उठातीहुई मधुर स्वर ताल में गा रही हैं। नेत्रों से गूढ़ भेद जता कर कृष्ण को प्रेमाबद्ध कर रखा है। अंग-अंग से भांति-भांति के भावों को निपुणता से दर्शा कर वे रस की वृद्धि कर रही हैं। रीझ कर गोवर्द्धनधारी प्रभु उन्हें कंठ से लगा लेते हैं। ऐसा रिझा रखा है राधा ने श्याम को।[3] नृत्य के समय राधा और कृष्ण का लावण्यमय रूप दर्शनीय है! संगीत-रस में कुशल राधिका नृत्य के आवेश में दिव्य गति से चरण चलाती हैं। विशाल लोचन और मन के उल्लास का सूचक मृदुहास उनकी छवि को और भी प्रिय बना देता है। उनके पद-विन्यास मृदुल हैं, वलयावली चलती है तथा किंकिणी, मंजीर की मंजु झनकार समवेत रूप में उठ पड़ती है। रूप अनुपम है, कांति अद्‌भुत है, उस पर से आभरण-भूषित राधा षोडश शृंगार धारण किए हुए हैं। मृदंग, वीणा तारस्वर में बज रहे हैं और राधा पीयूष-वर्षी वाणी से संगीत के शब्द उच्चरित कर प्रिय के श्रवण पुलकित कर रही हैं। वस्तुतः वे गिरिराजधर घनश्याम से भी अधिक कला-धारिणी हैं, रस की ग्रंथि-रूप में विदित हैं।[4] उनकी कला से क्षत्ति होकर कृष्ण आत्मविभोर हो नृत्य करते हैं। राधा के साथ वे नृत्य में नई-नई गति लेते हैं। सिर से झरते हुए कुसुम

---

१. नाचत नव सिंगार मूरति जवल्लभ सुभग रास।
जित सुदृष्टि सुधा दृष्टि रसाविष्ट ग्रीव सुलोल
तित भुज वर भाव निरखि रति पति सत लाजे। —वही, पद सं० ५३

२. अरुझ्यौ कुंडल लट बेसरि सौं पीतपट-
वनमाल बीच आन उरझे हैं दोऊ जन।
प्राननि सों प्रान, नैंन-नैंन सों अटकि रहे,
चटकीली छवि देखि लपटानौ स्याम घन।।
होड़ा-होड़ी नृत्य करैं रीझि-रीझि अंक भरैं,
ततथेई ततथेई रटति मन मगन।
'सूरदास मदनमोहन' रास-मंडल में प्यारी कौ,
अँचल लै-लै पोंछति हैं श्रम-कन।। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ३०

३. रिझये सखि! तें साँवरो सुजान-राइ।
तान बंधान अनूपम विधि सों मधुर ताल सुर सुधर गाइ।।
राखे प्रेम-प्रमोधि प्रानपति गूढ भेद नैननि जनाइ।
उघटति सब्द संगीत स्वामिनी निर्तति पग नूपुर बजाइ।।
रास-रंग-हरि-संग रसु राख्यो अंग-अंग गुन बहुत भाइ।
'चतुर्भुज' दास प्रभु गोवर्द्धनधर लेत हँसि हँसि कंठ लाइ।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद स० ३५.

४. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ४७

ऐसे लगते हैं जैसे कुंतल ही हुलस कर हँस रहे हों। भाल पर स्वेदकण झलमलाने लगते हैं। अंग भंग की लटक, भृकुटि की मटक, कोमल चरणों की चाल, चल कुंडलों की चमक, दशनावली की दमक तथा विशाल लोचनों से व्यंजित विविध भाव, एक रसना से कवि कुंवर गिरिधरलाल के अद्भुत चरित का कैसे वर्णन कर सकता है।[1] वृन्दावन के इस आनंद-विलास को देखकर चंद्र थकित हो जाता है और काम लीक खींच देता है।[2]

रास का नृत्य केवल आत्मा-परमात्मा के सामीप्य को ही मुखर नहीं करता, वह उनकी पारस्परिक रति को भी अवसर प्रदान करता है। यह 'जोड़ी' का विहार है। कृष्ण का मुकुट चरण तट को पहुंच रहा है। भुजाओं में भोली भामिनी धारण किये हुये हैं वे; आलिंगन, चुंबन, परिरम्भन पर भक्त-कवि तृन तोड़ डालते हैं।[3] इस रति-महोत्सव में गोपियों की विचित्र दशा है। उन्हें तन की सम्हाल नहीं रह गई, बाल खुल कर बिखर रहे हैं, हार टूट रहे हैं, कंचुकी फट रही है, चूड़ियाँ टूट रही हैं, शिर से फूल गिर रहे हैं, चंदन मिट रहा है। आलिंगन, परिरंभन, चुम्बन से इस रास-विलास में महोत्सव मनाया जा रहा है। रास-लीला में कृष्ण की केलि को देखकर सुर-विमान ठहर गये हैं।[4] यह रास अबलाओं का बल है, अतिमत्त निरंकुश गज सदृश मोहन गोपियों के लट-पाश को निरखकर बंध गये। बिना उद्यम के, अनायास ही उनके मन की गति को अबलाओं ने पंगु कर डाला, जब वे भृकुटि विलास सहित कृष्ण की ओर कटाक्ष करती हैं तब की बात कौन चलावे ?[5] गोपिकाओं ने कृष्ण को वशीभूत कर रखा है और इस वशीकरण पर अबलाओं को गर्व भी हो जाता है।

अंतर्यामी से कुछ भी छिपा नहीं रहता, वे प्रियाओं के प्रेम-गर्व को जान लेते हैं, और नृत्य करते-करते रास से अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। अब तो रास की रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है। गोपियां विरह से कातर हो जाती हैं। सारा राग रंग बिखर जाता है। किन्तु कविवर नंददास इस मध्यान्तर विरह को प्रेम का पोषक मानते हैं। उनका मत है कि मधुर वस्तु के निरन्तर आस्वाद से भारी सुख मिलता है किन्तु बीच-बीच कटु-अम्ल-तिक्त का स्वाद लेना भी अतिशय रुचिकारी होता है। जिस प्रकार पुट के देने से पट में सरस रंग पक्का

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ४८

२. वृन्दावन रच्यौ रास विहरत आनंद विलास
बिथकित चंद सखी लीक लयौ काम॥ —गोविन्दस्वामी : पदसंग्रह, पद सं० ६१

३. ततथेई ततथेई सब्द उघटत पिय भले बिहारी बिहरत जोरी।
बरहा मुकुट चरन तट आवत धरे, भुजन में भामिनि भोरी।
आलिंगन चुंबन परिरंभन 'परमानन्द' डारत तृन तोरी॥ —परमानन्द सागर, पद सं० २३०

४. गोपाल लाल सों नीकैं खेलि।
बिकल भई संभार न तन की सुन्दरि छूटे बार सकेलि॥
टूटत हार कंचुकी फाटत फूटत चुरी खिसत सिर फूल।
चंदन मिटत सरस उर चंदन देखत मदन महीपति भूल॥
बाहु कंध परिरंभन चुम्बन महा महोच्छब रास विलास।
सुर विमान सब कौतुक भूले कृष्न केलि 'परमानन्ददास'॥ —वही, पद स० २३३

५. देखो माई अबला के बल रास।
अति गज मत्त निरंकुश मोहन निरखि बँधे लट पास॥
अब ही पंगु भई मन की गति बिनु उद्दिम अनियास।
तब की कहा कहौं जब पिय प्रति चाहत भृकुटि बिलास॥ —हितचौरासी, पद सं० ५३

हो जाता है उसी प्रकार तनिक विरह से प्रेम-पुंज वर्द्धित होता है।[१] कृष्ण के कुंज-ओट में छिप जाने पर गोपियों का प्रेम अत्यंत कातर होने लगता है। विरह में विकल होकर वे जड़ चेतन्य का विभेद तक विस्मृत कर बैठती हैं, द्रुमवेलियों से कृष्ण का पता पूछने लगती हैं। गोपियां अपनी भूल मान लेती हैं, और करुणामय अंतर्यामी से पुनः प्रकट होने की प्रार्थना करती हैं।[२] वे यह समझ जाती हैं कि हरि के लाड़ और यौवन के गर्व के कारण रास-रस को पचा नहीं पाईं। कृष्ण का कोई दोष नहीं है, दोष उनका ही है जो देहाभिमान के कारण कृष्ण को खो बैठीं।[३] पर प्रेम में यह अभिमान तो शोभा देता है, कृष्ण ने इस बात को समझा क्यों नहीं? इसीलिए गोपियां कहती हैं कि मान करना तो युवतियों का स्वभाव है, इसी में उनकी शोभा है, नंदलाल कुंवर क्षुब्ध क्यों हो गये? अब कृष्ण मिलेंगे तब वे अंचल पकड़ कर उन्हें झकझोरेंगी और उनसे झगड़ा करेंगी कि वे क्यों संग छोड़ कर चले गये? कुच और भुजाओं के बीच वे कृष्ण को बांधेंगी, और नयन-बाण से विद्ध करेंगी। प्रेम की इस लड़ाई को या वे जीत कर रहेंगी या हार कर, किंतु मिलने पर लड़ेंगी अवश्य।[४] परन्तु फिर भी कृष्ण प्रकट नहीं होते। उन्मत्त की भांति वन में ढूंढ़ने पर जब कृष्ण नहीं मिलते तब वे कृष्ण-लीला करने लगती हैं। हरि की-सी चाल, वैसा ही अवलोकन, उनका-सा गायों का घेरना-टेरना, पट का फेरना, बन से लौटना, गाना, कंदुक रचना, ललित त्रिभंगी से नृत्य करना, गिरि धारण आदि लीलाओं में वे इतनी तन्मय हो जाती हैं कि उन्हें अपने देह का भान जाता रहता है। भृंगी के भय से यदि महाजड़ कीट भृंग हो जाता है तो कृष्ण-प्रेम से कृष्णमय हो जाने में कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है।[५] इस प्रकार जब वे कृष्ण में तन्मय हो जाती हैं तब उन्हें कृष्ण के चरण-चिह्न दिखाई देते हैं। उसके साथ ही राधा के चरण-चिह्न भी दृष्टिगत होते हैं। वे उस गोपी के भाग्य पर चकित हो जाती हैं जो एकांत में कृष्ण

---

१. मधुर वस्तु जो खात निरतर, सुख तौ भारी।
बीच बीच कटु-अम्ल-तिक्त, अतिसय रुचिकारी॥
ज्यों पट पुट के दियैं, निपट ही परत सरस रँग।
तैसैं ही रंचक बिरह, प्रेम के पुंज बढ़त अँग॥ —नंददास : प्रथम भाग (रासपचाध्यायी), पृ० १६७

२. अब करि कृपा मिलौ करुनामय कहियत हौ सुखकारी।
सूर स्याम अपराध छमहु, अब समुझीं, चूक हमारी॥ —सूरसागर, पद सं० १७०५

३. हरि कैं लाड़, गरब जोबन कैं सकीं न बचन सम्हारि।
जनियत हैं अपराध हमारौ, नहिं कछु दोष-मुरारि॥
ढूंढ़ति बाट-बाट बन घन मैं, मुरछि, नैन जल ढारि।
सूरदास अभिमान देह कैं बैठी सरबस हारि॥ —वही, पद सं० १७०६

४. अबकैं जो लाल मिले अचरा, गहि झकझोरौं री।
काहे तुम संग छाड़ि गए संग लागि डिगरौं री॥
जुवतिन कौ यह सुभाव मान करतहि सोभा।
नागर नन्दलाल कुंवर काहे चित ओभा॥
बाँधौं कुच भुजन बिच नैन बान मारौं।
'परमानद' प्रेम लराई-जीतौं कै हारौं॥ —परमानद सागर, पद सं० २३४

५. मोहनलाल, रसाल की लीला इन हीं सोहैं।
केवल तनमय भईं, कछु न जानति हम को हैं॥
....
भृंगीभय तैं भृग होइ, वह कीट महा जड़।
कृष्न-प्रेम तैं कृष्न होइ, कछु नहिं अचरज बड़॥ —नन्ददास : प्रथम भाग (रासपचाध्यायी), पृ० १६९

के साथ रसपान में विभोर है। आगे चलने पर उन्हें राधा दिखाई पड़ती हैं जो अकेली "क्वासि कवासि ! पिय महाबाहु" कह कर कृष्ण को टेर रही हैं। राधा को यह गर्व हो गया था कि उनके समान अन्य कोई स्त्री नहीं है, तभी तो कृष्ण को उन्होंने ही वश में कर पाया है। उनके वशी कृष्ण उन्हें लेकर अन्य सबको छोड़कर अंतर्ध्यान हो गये ! उनके समान सुंदर और चतुर कोई नहीं, उन्हीं के लिए कृष्ण ने रास का आयोजन किया है। इस अभिमान के कारण कभी वे बैठ जाती थीं, कभी कृष्ण से कहने लगतीं कि मैं बहुत थक गई हूँ, कंधे पर चढ़ा कर ले चलो।[१] राधा के गर्व को भी कृष्ण क्यों सहन करते ? वे उन्हें भी छोड़कर छिप गये। तभी विरहम्लान, वन में अकेली, मुरझाई हुई खड़ी राधिका से गोपियों की भेंट होती है। सोलह सहस्र गोपियों की पीड़ा एक राधा के प्राण में समाई है। गोपियाँ राधा को धैर्य बंधाती हैं, और श्याम को लाने का वचन देती हैं। वन-वन सोलह सहस्र गोपिकाएँ ढूंढती फिरती हैं किंतु पूर्ण अकल ब्रह्म को नहीं पातीं। कृष्ण हृदय में छिपे यह चरित देखते हैं। गोपियों के विरहातिरेक से कृष्ण अंतर से प्रकट हो जाते हैं। वे प्रेम के वश में हैं इसलिए और छिपे नहीं रह सकते।[२] राधा को उठा कर कृष्ण भुजाओं में भर लेते हैं, और कंठ से लगाकर उनका दुःख भुला देते हैं। लीलाधारी प्रभु अपने छिपने का कारण उनका गर्व नहीं बताते वरन् प्रेम की स्वाभाविक रक्षा करते हुए कहते हैं "मैं तो हँसी-हँसी में छिप गया था—सहज खेलवश, तुम चतुरा स्त्रियाँ धरती पर मुरझा कर गिर पड़ीं ?"[३] कृष्ण का छिपना और प्रकट होना दृष्टि-बंध करके नट के छिपने फिर प्रकट होने के समान था।[४] कृष्ण को देखते ही सारी गोपियाँ जी उठती हैं : वैसे ही जैसे घट में प्राण आने पर इन्द्रियाँ। गोपियाँ यह भूल जाती हैं कि उनके गर्व के कारण कृष्ण अतर्ध्यान हो गये थे, वे कृष्ण को निष्ठुर कह कर दोषी ठहराने लगती हैं। वे कृष्ण से उनकी प्रीति की कोटि पूछने लगती हैं : एक तो वे होते हैं जो बिना प्रेम किये ही प्रेम करते हैं, एक वे जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, तीसरे वे कौन होते हैं जो दोनों प्रकारों को तज देते हैं ? यह आक्षेप स्पष्ट ही कृष्ण पर किया गया है। कृष्ण समझ गये। यद्यपि वे जगत्-गुरु, नागर, गोवर्द्धनधारी हैं तथापि गोपियों के प्रेम में विवश वे अपनी गलती मानने को तैयार हो जाते हैं। वे गोपियों के प्रेम का ऋण स्वीकार करते हैं और अपना दोष। गोपियों ने जो किया वह कोई भी नहीं कर सकता, लोकवेद की सुदृढ़ शृंखला को तृण के समान तोड़ दिया। अपनी इस प्रेम माया के कारण ही उन्होंने कृष्ण को वशीभूत कर रखा है।[५] कृष्ण के रस-वचनों को सुनकर सब क्रोध छोड़ देती हैं। पुनः रास-

---

१. सूरसागर, पद सं० १७१८।

२. अतर तैं हरि प्रगट भए।
रहत प्रेम के बस्य कन्हाई, जुवतिनि कौं मिलि हर्ष दए। —सूरसागर, पद सं० १७४८

३. सूर सागर, पद सं० १७४६।

४. तब तिन हीं मैं प्रगट भये, नागर नगधर यौं।
दृष्टिबंध करि दुरैं, बहुरि प्रगटे नटवर ज्यौं॥ —नंददास प्रथम भाग (रासपचाध्यायी), पृ० १७३।

५. तब बोले ब्रजराज-कुँवर हौं रिनी तुम्हारौ।
अपने मन तैं दूरि करौ, यह दोस हमारौ॥
कोटि कल्प लगि तुम प्रति, प्रति-उपकार करौं जौ।
हे मनहरनी तरुनी, अरिनी नहिंन हौंउ तौ॥
सकल बिस्व अपबस करि, मो माया सोहति है।
प्रेम-मई तुम्हारी माया सौ मोहिं मोहित है॥
तुम जो करी सो कोउ न करै, सुनि नवल किसोरी।
लोक-वेद की सुदृढ़ शृंखला तृन सम तोरी॥—नंददास : प्रथम भाग (रासपंचाध्यायी), पृ० १७५।

विवाह का दहेज भी दिया जाता है, जिसे "पठौनी" कहा गया है। कंचन के थाल में सौंज सजाई जाती है. मणि के कलशों की पंक्ति सजी है, चंद्रकांतमणि की चौकी। कनक-तार से भरपूर विचित्र वस्त्र हैं, नाना रंग के अन्य वस्त्र भी हैं। अमोल रत्नों के ललित गहने हैं, डब्बे भर-भर के कनक, मणि और नग के आभूषण दिये गये हैं। चारों ओर डालियां भरी मधुर मिठाइयां रखी हैं; मेवा दाख, बदाम, छुहारा, पिस्ता, गरी आदि थैली में भर कर दिए गये हैं। विद्रुम की कंघी और मखतूल की चोटी दी गई है राधा को। सुगंधों से भरे कटोरे हैं और इत्र से भरी शीशियां। सेज के चारों ओर दहेज की ये सामग्रियां सखियों ने सजा रखी हैं।[1]

राधा-कृष्ण के विवाह की लीला में कुछ कवियों ने नंद और यशोदा के भाव को भी महत्व दिया है। यशोदा अपने लाल का ब्याह बड़े गोप की बेटी से करना चाहती हैं। कृष्ण भी घोड़ी चढ़ने के लिए उत्सुक हैं।[2] वृषभानु-नंदिनी-सी बड़ गोप की बेटी से कृष्ण का विवाह तय हो जाता है। यशोदा 'दूलह कुंवर-कन्हैया' की आरती उतारती हैं। कृष्ण के शिर पर नंद विराजमान हैं और पास में बलदेव। सखा कृष्ण का शृंगार सँवारते हैं, देवता मंगल-गीत गाते हैं।[3] बरसाने में मंडप छा जाता है, प्रिया-प्रियतम भांवर लेते हैं। वृन्दावन में यह अविचल जोड़ी सदैव क्रीड़ा करती है, विवाह-लीला के द्वारा भक्त उसी शाश्वत ऐक्य को अपने हृदय में पुनर्स्फूर्त करता है।[4] भक्त कवि नंदलाल का सेहरा गाकर कृतार्थ होता है।[5]

विवाहोपरान्त "ज्योनार" का रोचक वर्णन भी गदाधर भट्ट ने प्रस्तुत किया है। वृषभानु के सदन में नन्दादि वर-पक्ष के लोग पधारे हैं। उनके लिए कोमल पट के पांवड़े बिछाये गये हैं। राम कृष्ण दोनों भाई गौर श्याम चंद्र की भांति विराजमान हैं। चंदन घिस कर मृगमद और केशर के साथ भूमि लिपाई गई है, उस पर अति उज्वल कपूर के चूर से चौक की रचना की गई है। कमल की कोमल पंखड़ियों का शीतल मंडप छाया गया है, आस-पास फूलों के पर्दे हैं तथा मालाओं का जाल बुना हुआ है। शीतल स्वच्छ कुंकुम के जल से सब के चरण धोये जाते हैं और आदरपूर्वक नंद-पक्ष के लोगों को कनक-पीठ पर बिठाया जाता है। गोपराज वृषभानु के संग आभीर वेष में विराजित होते हैं, मानो मानसरोवर के तीर राजहंसों का समान हो। कंचन की थाली और स्फटिक के कटोरे में व्यंजन परोसा जाता है। अम्ल, तीक्ष्ण, कटु, लवण सारे रसों के व्यंजन से बरातियों का आतिथ्य किया गया है। ज्योनार

---

१. वही, पद सं० १७८।

२. अपने लाल को व्याह करूँगी बड़े गोप की बेटी।
सब सखा बरात चलैंगे हौं अब चढ़िगो घोरी।
'जन परमानंद' पान खवावे बीरा राखे भर झोरी॥ —परमानंद सागर, पद सं० ३१३

३. दिन दूलह मेरो कुँवर कन्हैया।
नित प्रति सखा सिंगार सम्हारत नित आरती उतारत मैया॥
नित प्रति गीत वादित्र मंगल धुनि नित सुर मुनिवर बिरद कहैया।
सिर पर श्री ब्रजराज बिराजत तैसेई ढिग बलनिधि बल भैया॥ —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ५५

४. सजनी री गावो मंगलचार।
चिरजीवो वृषभानु नंदिनी दुल्है नंदकुमार॥
मंडप छायो देखि बरसाने बैठ नंद उदार।
भामर लेत प्रिया और प्रीतम तन मन दीजै वार॥
यह जोरी अविचल स्री वृन्दावन क्रीड़त करत बिहार।
'परमानंद' मनोरथ पूरन भक्तन प्रान आधार॥ —परमानंद सागर, पद सं० ३११

५. परमानद सागर, पद सं० ३१५।

की शोभा और संपत्ति का वर्णन करने में भक्तकवि अपने को असमर्थ पाने लगता है, वह जूठन उठाने में अपना भाग्य मानता है।[1] राधा को व्याह कर कृष्ण नंदगांव ले आते हैं। राधा आई, नंद के घर नवनिधि आ गई। सुवासिन द्वार रोक कर खड़ी हो गई, बड़े नेग के लिए झगड़ती है। यशोदा का आह्लाद कम नहीं है, वे भांति-भांति की गौवें उसे नेग में दे डालती हैं तथा सारी भी पहिनाती हैं। फिर सब की गोद मेवा से भरती हैं। रत्न-चौक में युगल जोड़ी को बिठा कर वे आरती उतारती हैं।[2] वाम भाग में वृषभानुनंदिनी सहित कृष्ण की आरती केवल यशोदा ही नहीं, ललितादि सखियां भी उतारती हैं। कंचन-थाल लेकर हाथ में मुक्ताफल और फूलों का हार सम्हाले अपार हर्ष के साथ सखियां युगल की आरती करती हैं। सारी ब्रजनारियां वृन्दावन में इस जोड़ी को अविचल रहने का आशीष देती हैं।[3] अंत में कुंज-भवन में ब्रजराज कुमार और वृषभानुनंदिनी का मंगलचार होता है। कुंज में मधुप-गण वेदध्वनि करते हैं तथा कोकिला प्रणय-संगीत छेड़ देती है। विवाह-लीला के फलस्वरूप भक्तकवि को जो अनुभूति होती है वह रत्नरूपा प्रेमभक्ति की होती है। उसे प्रेमभक्ति के रत्नों का भूरि-भूरि हार प्राप्त हो जाता है।[4] इस लीला के माध्यम से यही प्राप्त करने को वह उत्सुक भी रहा है, इसी में उसकी रुचि है।

इस प्रकार, राधा-कृष्ण का विवाह—चाहे वह यमुना-कूल पर कुंज मंडप में गंधर्व-विधि से संपादित हो, चाहे वृषभानु के घर वेदोक्त रीति से—कवियों के लीला-गान का प्रिय विषय रहा है। वस्त्र आभूषण की छटा, सखियों के उत्साह तथा चहल-पहल के बीच, भांति-भांति के रुचिर व्यंजनों से सेवित, राधा-कृष्ण की अनादि जोड़ी का भूतल पर सुंदर मंडप के नीचे गठबन्धन होता है और उनकी भांवरें फिराई जाती हैं। भक्तों का मन उपास्य के परिणय को देखकर हर्षोन्मित्त हो उठता है और वह कभी गाली के रूप से, कभी बधाई के रूप में या कभी मंगलगीत के शब्दों में फूट पड़ता है। राधा-कृष्ण के विवाह के अवसर पर कवि-हृदय उमँग उठता है और वे दोनों के रस-ग्रन्थन से, रसानुभूति से अपने को एकाकार कर आनंद-विभोर हो उठते हैं।

(५) पनघट-लीला

रास लीला के द्वारा गोपियां कृष्ण का प्रथम साहचर्य प्राप्त करती हैं। प्रेम-परीक्षा में खरी उतरने के बाद वे इस योग्य हो जाती हैं कि कृष्ण उनके साथ रमण करें। वे कृष्ण पर सम्पूर्ण रूप से समर्पित हो जाती हैं, वे उन्हीं की हो जाती हैं। अब कृष्ण उनके प्रेम को वर्द्धित करने के लिए परीक्षायें नहीं लेते, भांति-भांति की प्रेम-पोषक लीलाओं के द्वारा गोपियों के अधिकाधिक निकट आते जाते हैं। रास-लीला के लिये गोपियों ने जो तप किया था

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ५६।

२. मांगै सुवासिन द्वार रुकाई।
झगरत अरत करत कौतूहल चिरजीवो तेरो कुंवर कन्हाई॥
. . . .
दीनी धूमरि धौरी पियरी और तिनकौं सारी पहिराई।
फिर सबहिन की महर जसोदा मेवा गोद भराई॥
आरती कर लिये रतन चौक में बैठारे सुंदर सुखदाई।
'परमानंद' आनंद नंद के भाग बड़े घर नवनिधि आई॥ —परमानद सागर, पद सं० ३१६

३. वही, पद सं० ३१७

४. कुंज भवन में मंगलचार।
नव दुलहिन वृषभान नन्दिनी दूल्हे स्री ब्रजराज कुमार॥
करत वेद धुनि विप्र मधुप गन कोकिल पिय गावत अनुहार।
दीने भूरि 'दास परमानंद' प्रेमभक्ति रतनन के हार॥ —परमानंद सागर, पद सं० ३१८

उसका उन्हें रसमय फल प्राप्त हो चुका है। अब कृष्ण पतिरूप में उन्हें प्राप्त हो चुके हैं, चाहे वे स्वकीया हों या परकीया। इससे पूर्व वे माखन चोरी के द्वारा गोपियों का चित्त अपहृत करते थे, और भोलेपन के साथ बचकर निकल जाते थे। किंतु रास-लीला के उपरान्त वे अपने कान्तभाव को स्वीकार कर लेते हैं और प्रकट रूप में गोपियों से छेड़-छाड़ आरम्भ कर देते हैं। यों वे त्रिलोक के पति हैं, पूर्णकामी हैं, किन्तु ब्रज-युवतियों के प्रेम का विचार करके यमुना-तट पर वे एक रसात्मक लीला का प्रसार करते हैं जिसे 'पनवट-लीला कहा गया है।[1] यमुना से जल भर कर आती हुई या जल भरने जाती हुई गोपियों की गागर ढरका या फोड़ कर, इंडुरी गिरा कर, चितवन से चित्त चुरा कर वे सबके मन को भाते हैं और प्रणय का पोषण करते हैं।

यमुना के तट पर वंशीवट के नीचे चटकीले पट को कटि-तट पर लपेटे नागर-नट खड़े रहते हैं। मुकुट एक ओर लटका-सा रहता है, भृकुटी मटकती रहती है, और कुंडल चमकता रहता है। बन-माल उर पर शोभित रहती है, द्रुम डाल से हाथ टेक कर कृष्ण खड़े रहते हैं। उनकी यह शोभा हर भक्त के चित्त में प्रतिबिम्बित होने लगती है। गोपी ग्वाल उन्हें अत्यंत निकट देखते हैं, वे उनके वस्त्र की सुगंधि की लपटों को भलीभांति अनुभव करते हैं।[2] उनकी इस शोभा को देखकर भक्त बिह्वल हो जाता है. एक अंग को दखने में ही उसके नेत्रों में जल भर आता है। श्याम अपने रूप से ही छकाकर नहीं छोड़ देते, वे वंशीवट के नीच छिप कर खड़े हो जाते हैं। कोई ग्वालिन यमुना तट पर जल भरने जाती है, जल भर कर जब वह गागर उठा कर सिर पर रखती है और घर की ओर चलती है तब कृष्ण उसके पीछे से जाकर सिर से गागर ढरका देते हैं। ग्वालिन भी कम चतुर नहीं है, वह समझ जाती है कि किसने यह लीला रची है और वह झट श्याम का हाथ पकड़ लेती है, उनकी लकुटी छीन लेती है। औरों से अचगरी करें तो करें, उससे लग कर कृष्ण नहीं जीत सकते। हार कर कृष्ण गागर देने लगते हैं उसे। पर वह पकड़ती नहीं, रीती गागर लेकर वह क्या करे? जब कृष्ण अपने हाथ से गागर भर कर लाकर देंगे, तभी ग्वालिन उनकी लकुटी वापस करेगी, अन्यथा नहीं।[3] चाहे नंद बड़े गोप ही हों, वह क्यों डरेगी; वृषभानु की आन जो ग्वालिन डरे! एक गांव, एक स्थान के निवासी होने के कारण वह कृष्ण से दब क्यों जाय, जवाब का सवाल देकर रहेगी।[4] ठीक ही तो है, जब भक्त को कृष्ण का सालोक्य प्राप्त हो गया हो तब उसके मन में भय कहां रह जायेगा? भगवान और उसके बीच का संभ्रम तो मिट ही जायेगा। वह भगवान के समकक्ष हो जायेगा: यदि कृष्ण बड़े गोप के बेटे हैं तो ग्वालिन भी बड़े महर की बेटी है।[5] एक स्थान में निवास करते हैं, वे एक ही जाति के हैं, फिर क्यों भक्त उनसे डरे! कृष्ण भी उसकी आज्ञा का तत्काल पालन नहीं करते, कोई एक दूसरे से कम नहीं है। वे गोपी को उस दिन की याद दिलाकर लज्जित करना चाहते हैं जिस दिन उन्होंने सबका चीर हरण किया था! चीर हरण का प्रसंग

---

१. हरि त्रिलोक-पति पूरनकामी। घट-घट व्यापक अंतरजामी।।
ब्रज-जुवतिनि को हेत बिचार्यौ। जमुना कैं तट खेल पसार्यौ।। —सूरसागर, पद सं० २०१७

२. उर सोहै बनमाल, कर टेके द्रुम डाल ठाढ़े नंदलाल सोभा भई घट घट।
सूरदास-प्रभु की बानक देखैं गोपी ग्वाल वाल निपट निकट, पट आवै सोंधे की लपट।।
—वही, पद सं० २०१९

३. सूरसागर, पद सं० २०२२।

४. घट मेरो जबहीं भर दैहौ, लकुटी तबहीं दैहौं।
कहा भयौ जो नंद बड़े, वृषभानु-आन न डरैहौं।।
एक गावैं इक ठावैं वांस, तुम कैं हौ क्यौं मैं सैहौं।
सूर स्याम मैं तुम न डरैहौं, ज्वाब स्वाल कौ दैहौं।। —वही, पद सं० २०२३

५. हौं हूं बड़े महर की बेटी, तुम सौं नहीं डरैहौं। —सूरसागर, पद सं० २०२४

सुनते ही ग्वालिन तन की सुधि खो बैठती है और उसे ठगौरी लग जाती है। उसके हाथ से कब लकुटी गिर जाती है इसका उसे भान नहीं रहता। उसकी इस आत्म-विस्मृत दशा में कृष्ण उसका घट भर कर, उठा कर पकड़ा देते हैं। वह देह से नितान्त विगत होकर ब्रज की ओर चल पड़ती है। जहां-जहां वह दृष्टि डालती है, वहां-वहां कृष्ण दिखाई देने लगते हैं, उसके नेत्र में समा जो गये! यही तो कृष्ण की पुष्टि-लीलाओं का उद्देश्य है। वे भक्त के अंतर्चक्षु खोलकर सर्वत्र अपना दर्शन देने लगते हैं। केवल मन की ही वृत्ति से भक्त उन्हें नहीं पकड़ता, नेत्र की वृत्ति भी उनमें रम जाती है। तब भक्त संसार में सब कुछ गँवा बैठता है। अभी-अभी ग्वालिन हंसती हुई आई थी, कृष्ण के मिलने पर अब कैसी भूली-सी चली जा रही है, क्या गंवाकर चली है वह?[१] गोपी अपने मन का भाव नहीं छिपाती, वह स्पष्ट स्वीकार कर लेती है कि उसे कृष्ण ने मोहिनी लगा दी है। वह अकेले जल भरने गई थी, राग रस का यमुना जल। वहां कृष्ण को देखा और उनकी चितवन सालने लगी। अब तो मर्म में भाला बिंध गया, कहते ही नहीं बनता। ऐसी तीव्र चोट है कृष्ण के चितवन की! वह आह्लादित ही नहीं करती, मर्म में बिंध कर सालती है, मीठे दर्द के द्वारा अपना अस्तित्व भक्त के संपूर्ण व्यक्तित्व में प्रसरित करके उसे विवश कर देती है।[२]

इसी विवश दशा में ग्वालिन को घर पहुंचा कर सखी आतुर हो यमुना तट पर स्वयं पानी भरने चल देती है। वहां कृष्ण को न देखकर व्याकुल हो जाती है। जल भर कर ठिठकती हुई वह घर लौट चलती है, कृष्ण से न मिलने का बार-बार उसे पश्चात्ताप रहता है। किंतु यमुना-तट पर अंतर्यामी सदैव ही रहते हैं। यों वे छिपे रहते हैं, किंतु भक्त के भाव के कारण आविर्भूत हुये बिना नहीं रहते। ग्वालिन को इस प्रकार व्याकुल देख कृष्ण प्रकट हो जाते हैं और उसके तन का ताप बुझा कर हर्षित करते हैं। ग्वालिन के अंतर्गत भाव से वे अनभिज्ञ नहीं हैं, जो उन्हें जिस भाव से भजता है वे उसे उसी भाव से प्रतिदान देते हैं। गोपी के तन-ताप को वे पहिचान जाते हैं, और उसे अंक में भर कर उसका ताप शमित करते हैं। गोपी की तपन मिट गई और वह प्रेम में छक कर रस से बेहाल हो गई है।[३] उसकी भी वही दशा हो गई है जो पहली गोपी की हुई थी। प्रभु के रंग में रंगकर रास्ता भूलकर वह किसी अन्य रास्ते से घर चलने लगती है। कृष्ण-रंग में रंगकर परिचित जीवन-मार्ग भूल ही जाता है। श्याम वर्ण के बालक के मुख को देखकर घर की गली भूल जाना क्या स्वाभाविक नहीं है?[४] ग्वालिन की दशा जाग्रत अवस्था से परे चली जाती है, वह किसी स्वप्न-दशा में पहुंच जाती है। स्वप्न की अंतश्चेतना से बहिर्चेतना में आने में वह चौंक-सी जाती है।[५] जब से उसने कृष्ण की ओर देखा है और कृष्ण ने उसकी ओर, वह उनके हाथ बिक गई है। विचित्र मनस्थिति हो गई तब से, हृदय में धुकधुकी नेत्रों में टकटकी-सी। एक खोयापन व्याप्त हो गया उस पर। तन व्याकुल है और मुख से वाणी नहीं निकलती। यही कृष्ण की मोहिनी का प्रभाव है। उसका संपूर्ण अस्तित्व विलीन

---

१. उतहिं तैं इक सखी आई, कहति कहा भुलाइ।
सूर अबहीं हँसत आई, चली कहा गवाँइ॥ —सूरसागर, पद सं० २०२५

२. री हौं स्याम मोहिनी घाली।
अबहिं गई जल भरन अकेली, हरि-चितवनि उर साली॥
कहा कहौं कछु कहत न आवै, लागी मरम की भाली।
सूरदास प्रभु मन हरि लीन्हौ, बिवस भई हौं आली॥ —वही, पद सं० २०२६

३. मिलि हरि सुख दियौ तिहिं बाल।
तपति मिटि गई प्रेम छाकी, भई रस बेहाल॥ —वही, पद सं० २०२७

४. आवति ही जमुना भरि पानी।
स्याम बरन काहू कौ ढोटा, निरखि बदन घर-गैल भुलानी॥ —वही, पद सं० २०३०

५. चौंकी परी सपनैं जनु जागी, तब बानी कहि सखिनि सुनाई। —वही, पद सं० २०२९

हो गया, वह वारिधि में जल की बूँद की भाँति खो गई। अब निस्सीम-चेतन कृष्ण ही रह गये, उसकी ससीम चेतना विलुप्त होने लगी। रूप का आकर्षण पर्याप्त नहीं, उसका मोहिनी प्रभाव अचूक होता है। इस प्रभाव को डालने में मोहन सर्वथा समर्थ हैं। मोहिनी के प्रभाव से प्रेमी-भक्त की अपनी पृथक सत्ता का भान जाता रहता है, वह आराध्य के अस्तित्व में मिल कर ही अपनी सार्थकता पाता है। उसकी द्वैत अवस्था, खण्ड सत्ता का तिरोभाव होने लगता है; वह आराध्य में समाहित होने लगता है। इस संपूर्ण आत्म-विलयन की स्थिति को प्राप्तकर लेने पर कृष्ण तनिक देर के लिए भी भक्त के मन से हटते नहीं। मोहिनी शक्ति के प्रभाव से भक्त श्याम-रस का आस्वादन ही नहीं करता, छक जाता है उससे। छक जाने पर उसे अपनी सुधि जाती ही रहेगी, एक मात्र आस्वाद्य ही उस पर व्याप्त हो जायेगा।[१]

कृष्ण की अचगरी से गोपियाँ मन ही मन रीझती हैं। उनकी मृदु मुस्कान, नैन-सैन, त्रिभंग-तन, ठगौरी की ये कलायें उन्हें भाती हैं, किन्तु ऊपर से खीझ दिखाकर वे अपने मन के भाव को छिपाने का यत्न करती हैं। वे कहती हैं कि उन्हें श्याम की बढ़ी हुई अचगरी पसंद नहीं है, कोई यमुना से जल नहीं भर पाता, कृष्ण किसी की इंडुरी छीन लेते हैं, किसी की गगरी फोड़ देते हैं। उनकी इन हरकतों से युवतियाँ सशंकित होकर घाट-बाट देखती हुई आती हैं। अब वे कृष्ण से डरने लगी हैं, निशंक यमुना तट पर नहीं आ पातीं। यह भय है या प्रेम की धुकधुकी, इसे वे अच्छी तरह से जानती हैं, और कृष्ण भी उनके इस मनोवैज्ञानिक भय से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे भी उनके उलाहने को हँसकर झेलते हैं। कदम पर चढ़ जाते हैं और बदन सिकोड़ कर भौंहें मोड़ते हुए हँसते हैं। गोपियाँ यशोदा से कृष्ण की लंगराई की शिकायत करने चल पड़ती हैं। यशोदा शिकायत सुनकर खीझ उठती हैं। किन्तु कृष्ण बातें बनाने में बचपन से चतुर हैं। वे कहते हैं कि गोपियाँ कदम के तीर से उन्हें स्वयं बुलाती हैं और तरह-तरह की बातें गढ़-गढ़ कर बनाती हैं। उनके मटकने से गगरी स्वयं सिर से गिर जाती है, कृष्ण क्या करें?[२] यशोदा अपने पुत्र की बात पर चट विश्वास कर लेती हैं; वे ब्रजनारियों को ढीठ, गँवार, पापिन कहती हैं और अपने पुत्र को निर्दोष। किंतु यशोदा के सामने कृष्ण चाहे बेहद सीधे बन जायें पीठ-पीछे वे अपनी अचगरी की आदत से बाज नहीं आते। कोई गोपी यमुना का जल नहीं भर पाती; कृष्ण कदम की डाल पर बैठ जाते हैं और गाली दे दे कर सबको बुलाते हैं। किसी की गगरी फोड़ डालते हैं, किसी के सर से पानी ढलका देते हैं, किसी से नैन-सैन करते हैं, किसी को बरबस आलिंगन में बाँध लेते हैं, किन्तु सब कुछ करते हुए भी वे सबकी पहुँच के परे ही रहते हैं, किसी के हाथ नहीं आते।[३] ये लीलायें ब्रज-युवतियों के लिए ही करते हैं वे, क्योंकि यही उनका भाव है। भावानुकूल फल ही वे प्रदान करते हैं, इतर कुछ नहीं। गोपियाँ मन-वचन-कर्म से श्याम के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानतीं। इसीलिए कृष्ण मनोनुकूल फल देते हैं।[४] गोपियों के मन में कृष्ण की अचगरी की कामना रहती है, यदि कृष्ण प्रकट रूप से वैसा ही आचरण करते हैं तो इसमें उनका क्या दोष?

लीला के द्वारा भाव का उद्रेक करने में कृष्ण अत्यंत पटु हैं। सखियों के बीच राधिका आ रही हैं। उनकी छबि को देखकर नंद-नंदन रीझ जाते हैं। नाना प्रकार से वे राधा को आकर्षित करने की लीलाएँ करना आरम्भ

---

१. वही, पद सं० २०३०।
इक एसैंहि छकि रही स्याम-रस, तापर इहिँ यह बात सुनाई ॥ —वही, पद सं० २०३१

२. सूरसागर, पद सं० २०४६।

३. वही, पद सं० २०५१।

४. मन-बच-कर्म स्याम सुंदर तजि, और न जानति आन।
यह लीला सब स्याम करत हैं, ब्रज-जुवतिनि कैं हेत ॥
सूर भजै जिहिं भाव कृष्न कौं, ताकौं सोइ फल देत ॥ —सूरसागर, पद सं० २०५०

कर देते हैं। कभी वे राधा के आगे, कभी पीछे नाना भाव दर्शाते हुए चलते हैं। कनक लकुटी से पंथ सँवार कर बना देते हैं। जहाँ राधा की परछाईं देखते हैं वहाँ अपनी भी परछाईं का मिलन करा देते हैं। सिर पर पीतांबर वार कर वे राधा के प्रति अपने न्योछावर-भाव को अभिव्यक्त करते हैं। ओढ़नी ओढ़ कर चलना दिखाते हैं, कदाचित् इसी बहाने वे राधा के निकट आ जायें।[1] किंतु राधा भी कम दृढ़ नहीं है। कृष्ण की यह सारी चाल निष्फल हो जाती है। तब वे अपनी मोहिनी शक्ति का आश्रय लेते हैं और किसी एक भाव-प्रदर्शन से राधा को काम-विवश कर डालते हैं। सीधे न सही वे छल से राधा को जीत लेते हैं। गागर तक कर कंकड़ मारते हैं, किंतु कंकड़ गागर में न लगकर प्रिया की देह में लगता है और पुलक के मारे अंग उमंग उठता है अँगिया दरक उठती है, अंचल आनंद से लहराने लगता है। राधा का मन प्रभु से अटक जाता है और वही होता है जो होना चाहिए—देह-गेह की सुधि नष्ट हो जाती है।[2] राधा और सारी गोपियों की एक सी दशा हो जाती है। उन्हें सुनाई ही नहीं पड़ता कि कहाँ गुरुजन का शोर हो रहा है क्योंकि उनके हृदय की गाँठ पीतांबर के छोर से बँध चुकी है। रासलीला में वे गुप्तरूप से परिणीता हुई थीं। पनघट-लीला के पश्चात् वे पीतांबर के साथ अपने हृदय के गठबंधन को प्रकट रूप से घोषित कर देना चाहती हैं। अब तक वे संकोच में अटकी थीं, अब वे अनुराग प्रकट कर देने को तत्पर हैं। कृष्ण के साथ हिलमिल कर क्रीड़ा करने में वे अपना भाग्य मानती हैं, अब संकोच किस बात का? जब तक मन पूर्णतया नहीं मिला था तब तक और बात थी, किंतु अब उन्हें कृष्ण का निकटतर सान्निध्य प्राप्त हो चुका है, वे अपने प्रेम-मनोरथ को सच ही करके छोड़ेंगी, गुप्त प्रीति को प्रकट करके रहेंगी।[3]

पनघट-लीला के द्वारा भाव आसक्ति की स्थिति को पहुँच जाता है। कृष्ण में अपनी दृढ़ अनुरक्ति का परिचय तो गोपियों ने रासलीला के पूर्व ही दे दिया था, पनघट-लीला के द्वारा कृष्ण उनके अनुराग को "आसक्ति" की सीमा तक पहुँचा देते हैं। गोपियाँ कृष्ण से आकर्षित ही नहीं, मोहित हो जाती हैं। उनसे कुछ कहते नहीं बनता क्योंकि प्रियतम कृष्ण ने उनका मन हर लिया है। माता, पिता, पति, बंधु—सबका संकोच त्याग कर वे कृष्ण के निस्सीम प्रणय में मग्न हो गई हैं। अब वे उस अनुराग-सिंधु से तैर कर निकल आने में असमर्थ हैं, उसमें डूब गईं। कृष्ण के अरुण अधर और रुचिर नेत्रों से अपने मदन-मुदित मन को हटा सकने में असमर्थ हैं। वही उनका सहज स्वभाव हो गया है : आसक्ति का यही लक्षण है। आयासहीन गहन अनुरक्ति ही आसक्ति है। जब चित्त कृष्ण में आसक्त हो गया तब देह-दशा किंवा लोक-मर्यादा कहाँ रह सकेगी? इस सहज आसक्ति ने अहर्निश उसी आनंद-कंद को देखने की टेक उत्पन्न कर दी है। अब कृष्ण के फंदे से निकलना

---

१. वही, पद सं० २०५८।

२. वही, पद सं० २०५९।

३. को जाने कित होत है, घर गुरुजन कौ सोर।
मेरौ जिय गाँठी बँध्यौ, पीताम्बर कौ छोर॥
अब लौं सकुच अँटकि रही, प्रगट करौं अनुराग।
हिलि मिलि कै सँग खेलिहौं, मानि आपनौ भाग॥
घर घर ब्रजवासी सबै, कोउ किन कहै पुकारि।
गुप्त प्रीति परगट करौं, कुल की कानि निवारि॥
जब लगि मन मिल्यो नहीं नची चोप कै नाच।
सूर स्याम-सँगही रहौं करौं, मनोरथ साँच॥

—सूरसागर, पद सं० २०६१।

असंभव है, गोपियों की गति लुब्धक के हाथों में मीन-सी हो गई है। वे कृष्णाधीन हैं, प्रेम-विवश हैं।[1] अब तो उन्हें केवल हरि के दर्शन का चाव रह गया, अन्य सारे चाव मिट चुके हैं। साँवरे से प्रीति बढ़ गई है, चाहे लोग लाख कुपित हों। क्रोध का भय नहीं रह गया, क्योंकि कृष्ण के सौन्दर्य की मोहिनी अचूक है। श्याम में राशि-राशि सौन्दर्य तो पुंजीभूत है ही, उस पर से अंगों में अगणित भाव : गोपियाँ उनके रंग में रँग जाती हैं, अब लज्जा रहे या जाय, इसकी उन्हें चिंता नहीं है।[2] अब उन्हें मृदु मुस्कान के अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता। हल्दी और चूना के मिल जाने पर एक रंग हो जाता है, गोपियाँ और कृष्ण एक-रंग हो गए हैं, अब उन्हें कौन अलग कर सकता है? अभी तक तो उन्हें संकोच था, किंतु अब तो वही करने की उनकी आन हो गई है। अब अपने अभिनव पातिवर्त्य को खण्डित नहीं होने देंगी; कुल की मर्यादा को मिटा कर इसी पातिवर्त्य की रक्षा करेंगी।[3] बिना कृष्ण के वे और किसी को नहीं जानतीं। अब उन्होंने अनमोल मणि, अमृत की कणी को प्राप्त कर लिया है, उसे छोड़कर वे काँच या विष का संग्रह क्यों करें? मन-वचन-कर्म से अब कृष्ण ही उनके धन हैं, उनके कारण गोपियों ने अपनी जाति तज दी है।[4] अब उनका राग प्रौढ़ हो चुका है, जाति तक उन्होंने छोड़ दी। पनवट पर ग्वालिनों का जाना नित्य-धर्म था, कृष्ण ने अपनी लीला के द्वारा उस धर्म को एक अन्य मोड़ दे दिया। अब वे पनवट जल भरने नहीं, कृष्ण की प्रेम-सुधा भरने जाती हैं।

(६) दान लीला :

यह प्रेम-सुधा हृदय एवं चित्तगत ही न रह कर गोपियों की देह में उतरना चाहती है। इसीलिए कृष्ण दानलीला रचते हैं। दानलीला के माध्यम से वे अपने रस को गोपियों के मानसिक एवं प्राणिक धरातल से

---

१. कहा कहौं सखि कहत बनै नहिं नद-नंदन मेरो मन जु हर्यौ।
मात-पिता-पति-बंधु-सकुच तजि, मगन भई नहिं सिंधु तर्यौ॥
अरुन अधर जुग नैक रुचिर रुचि, मदन-मुदित मन संग लर्यौ।
देह-दसा, कुल-कानि-लाज तजि, सहज सुभाव रह्यौ सु धर्यौ॥
आनँद-कंद चंद-मुख निसि दिन, अवलोकन यह अमल पर्यौ।
सूरदास प्रभु-सौं मेरी गति, जनु लुब्धक-कर मीन चर्यौ॥ —सूरसागर, पद सं० २०७२

२. सखी मोहिं हरि-दरस कौ चाउ।
साँवरे सौं प्रीति बाढ़ी, लाख लोग रिसाउ॥
स्यामसुंदर कमल-लोचन, अंग अगनित भाउ। —वही, पद सं० २०७४

३. मोहिं तौ नहिं और सूझत बिना मृदु मुसुक्यानि॥
रंग काँपै होत न्यारौ, हरद चूनो सानि।
इहै करिहौं और तजिहौं, परी ऐसी आनि।
सूर प्रभु पतिवर्त्त राखौं, मेटि कै कुल-कानि॥ —वही, पद सं० २०७७

४. मेरैं जिय ऐसी आनि बनी।
बिनु गोपाल और नहिं जानौं, सुनि मोसौं सजनी॥
कहा काँच के संग्रह कीन्हैं, डारि अमोल मनी।
विष-सुमेरु कछु काज न आवै, अमृत एक कनी।
मन-बच-क्रम मोहिं और न भावै, मेरे स्याम धनी।
सूरदास-स्वामी के कारन, तजी जाति अपनी॥ —वही, पद सं० २०७९

अवरोहित करके दैहिक चेतना तक में संचरित करते हैं। माखन-चोरी लीला के द्वारा वे भाव को 'स्नेह' में परिणत करते हैं, चीर-हरण के आवरणोच्छेद के पश्चात् रास-लीला में वे उनके गर्व का हरण कर स्नेह को गहन करते हैं। पनघट-लीला के द्वारा वे स्नेह को 'आसक्ति' की दशा में पहुँचाते हैं तथा दानलीला के द्वारा 'व्यसन' में। व्यसन की स्थिति में पहुँचकर भाव पूर्ण रसोद्रेक में समर्थ होता है। रसानुभूति मात्र अंतर्गत नहीं रह जाती, बहिर्गत भी हो जाती है, वह व्यक्तित्व की वाह्यतम चेतना में उतर आती है। रसानुभूति की दृष्टि से दानलीला का यह महत्वपूर्ण योगदान है। दानलीला रस की अनुभूति को भौतिक चेतना में उतार लाती है। यह तो विदित है कि गोपियाँ कृष्ण के प्रति कामभाव से आकर्षित हैं, इसीलिए उन्होंने कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए वर्ष भर तप किया। ब्रज-युवतियों के मन में सदैव यह ध्यान बना रहता है कि कृष्ण को उनसे तनिक भी अंतराय न हो; वे उन्हें घाट, बाट, यमुना-तट पर रोकें, मार्ग चलते हुए जहाँ-तहाँ टोकें। उनके इस भाव के वश में निर्लोभी, निष्कामी, जगत के स्वामी उनके संग संग डोलते हैं। सम्पूर्ण चित्त से कृष्ण का किसी भी भाव से भजन किया जाय, भजन करने वाले को उस भाव का प्रतिदान मिलता है।[1]

ब्रज-युवतियाँ अंग-अंग का शृंगार करके यूथ की यूथ गोरस बेचने मथुरा जाती हैं। किंकिणी, नूपुर, बिछिया मदन की घंटियों के समान बजती चलती हैं। चंद्र-वदनी सुकुमारी गोपियाँ कृष्ण को अत्यंत प्यारी हैं। उनके रूप और यौवन को देखकर कृष्ण रीझ जाते हैं और दधि-दान की लीला रच कर युवतियों के संग रस-क्रीड़ा करने को सोचते हैं। सखाओं से कह देते हैं कि वे पेड़ पर छिपे बैठे रहें, जब गोपियाँ मथुरा दही बेचने जाने लगें तब वे कूदकर उन्हें छेंक लें। सिर पर दूध-दही लिए यौवन-अलबेली गोपियाँ परस्पर हँसती हुई चली जा रही हैं। अचानक सखाओं की भीड़ देखकर किशोरियाँ चकित हो गईं। वे शंशकित-सी खड़ी रह गईं; तब ग्वाल बोल उठे, "डरो नहीं, यहाँ ठग-तस्कर कोई नहीं है, दानी यदुपति विराजे हैं। नित्य प्रति यहाँ आती रहती हो. क्या श्याम के राज्य का भय नहीं है तुम्हें?"[2] नित्य चोरी से गोपियाँ अपनी सामग्री बेच आती हैं दानी कृष्ण को कर नहीं देतीं। क्या वे बाजार-हाट में दान लेने वाले कृष्ण को नहीं जानतीं?[3] गोपियाँ गोरस का व्यापार करती हैं, कृष्ण को उनका अंश नहीं देतीं। सर्वात्म समर्पण में यह अनुचित है कि वे कृष्ण को देह समर्पित न करें। इसीलिए कृष्ण दानलीला रचकर उनसे अपना अधिकार माँगते हैं। इस प्रसंग में गोपियों का मनोभाव दर्शनीय है। वे रासलीला के समय की मनःस्थिति से बहुत आगे बढ़ चुकी हैं। अब वे न दीन हैं, न याचक। अब तो कृष्ण याचक रूप में उपस्थित होते हैं और वे उनकी उपेक्षा-सी करती प्रतीत होती हैं। सीधे-सादे रूप में वे अपना आत्म-दान नहीं कर देतीं, कृष्ण से तकरार करती हैं, तर्क करती हैं, तब कहीं जाकर उनकी बात मानती हैं। प्रेम का नैकट्य अब उनमें किसी प्रकार की श्रद्धा या संकोच नहीं रहने देता। सखाओं द्वारा दान की चर्चा छिड़ने पर 'गर्व-गहीली' गुजरियाँ उत्तर ही नहीं देतीं। अब वे अपने को किसी से कुछ कम नहीं समझतीं, गोरस की माती रंगभरी ग्वालिने गज की गति से झूमती हुई चली जाती हैं। जब बलात् रोक ली

---

१. चित दै भजै कौनहूँ भाउ। ताकौं तैसौ त्रिभुवन-राउ॥
कामातुर गोपी हरि ध्यायौ। मन-वच-क्रम हरि सौं चित लायौ॥
. . . .
ब्रम्हा कीट आदि के स्वामी। प्रभु हैं निर्लोभी निहकामी॥
भाव-वस्य सँगहीं सँग डौलैं। खेलैं हसैं तिनहिं सौं बोलैं॥ —सूरसागर पद सं० २०७८

२. वही, पद स० २०७९।

३. वही, पद स० २१२२।

४. गुजरिया गरब गहीली ऊतरु नाहीं देबि—
चलति गज गति गोरस की माती, अति रंग भरिया। —गोविंदस्वामी : पद संग्रह पद सं० २६

जाती हैं तब हँसकर पूछती हैं कि कान्ह कौन हैं, सखा कौन हैं,—वे क्या माँग रहे हैं? वे सबको अच्छी तरह जानती हैं। कहाँ से वे दान लेने के अधिकारी बन आये हैं, यदि दानी हैं तो छाप दिखायें। पिता की परम्परा छोड़कर यह नई चाल कृष्ण ने कब से अपना ली है?[1] कृष्ण कहते हैं कि छाप क्या दिखायें, कौन उन्हें नहीं जानता? एकमात्र ग्वालिन ही ऐसी है जो उन्हें नहीं मानती, चोरी से गोरस बेच आती है, कृष्ण गोरस नहीं प्राप्त कर पाते।[2] यह सत्य है कि कृष्ण के ब्रह्मत्व से ग्वालिनों के अतिरिक्त कोई भी अनभिज्ञ नहीं है। सुर, नर, मुनि उन्हें ब्रह्म जानते हैं, पर ग्वालिनें तो उन्हें कान्ह ही समझती हैं; इसलिए उनकी अवज्ञा करती हैं। यों कृष्ण को बहुत कुछ लेना है उनसे, इसलिए वे अपने बल का स्मरण दिलाते हैं उन्हें। क्या गोपियों को गोवर्द्धन-धारण की घटना भूल गई? इन्द्र जब ब्रज को बहाये दे रहा था तब गिरि उठा कर क्या कृष्ण ने सबको उबारा नहीं था? किंतु गोपियाँ गिरिधारण को कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं समझतीं। वे कहती हैं कि गोवर्द्धन तो उन्होंने अपने घर के लिए धारण किया था, उसी के बल पर क्या वे पराये लोगों से दान माँगते फिर रहे हैं? नंद का मन रखने के कारण वे अपने घर में भले ही बड़े कहे जायें, गोपियाँ तो उन्हें बन में गाय चराने वाला एक चरवाहा ही समझती हैं जिसके एक हाथ में मुरली है, सर पर मोर-पंख है, कंधे पर कमरी है और दूसरे हाथ में लकुटी।[3] गोपियाँ कृष्ण के माहात्म्य से अभिभूत नहीं होतीं, वे उन्हें एक विशिष्ट गोप के रूप में ही देखती हैं। कृष्ण बार-म्बार अपने माहात्म्य को उद्घाटित कर उन्हें प्रणत करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जिसमें जितनी बुद्धि है वह उतना ही समझ सकता है, गोपियाँ कमरी को कमरी समझती हैं। जिस कमरी की वे निंदा करती हैं, उस पर कृष्ण चीर पाटंबर न्योछावर करने को तैयार है क्योंकि वह तीनों लोक का आडंबर है। इसी के बल पर उन्होंने असुरों का संहार किया है; इसी के बल पर सारा भोग है,—यह सर्व-योग्य है।[4] कृष्ण की योगमाया है वह। किंतु गोपियाँ हँसकर चुटकी लेती हैं कि कृष्ण कमरी के ओढ़ने वाले हैं, उन पर पीताम्बर शोभा नहीं देता। ठीक ही है काले तन पर काली कमरी ही शोभा देती है। कृष्ण तनिक चिढ़ जाते हैं वे, कहते हैं कि छाछ बेचने वाली उन्हें क्या जानें? बात कहते हुए इठलाती चली जा रही हैं सब, और हँसती हुई ताली दे रही हैं।[5] किंतु छाछ बेचने वाली गोपियों पर यदि कृष्ण व्यंग्य करते हैं तो गोपियाँ भी कृष्ण का एक अच्छा-सा परिचय देने से नहीं चूकतीं। वे जानती हैं कि कृष्ण नंदमहर के पुत्र हैं, इससे अधिक कुछ नहीं; जब वे खरिक जाती हैं तब उन्हें धेनु दुहते हुए देखती हैं। गोपियाँ यह भी जानती हैं कि कृष्ण चोरी करते हैं, घर-घर भाँड़े ढूँढ़ते फिरते हैं। ये ढंग छोड़ कर कब से वे दानी बन गये? जब यशोदा ने उलूखल से बाँधा था तब गोपियों ने ही उन्हें छुड़ाया था, वह उपकार क्या वे भूल गए? गोपियाँ कृष्ण के अतीत को जानती हैं, अब वे किस आधार पर उनकी श्रद्धा को जीत सकते हैं? ग्वालिनों के मन में कृष्ण का अन्य कोई रूप नहीं है, एकमात्र

---

१ सूर सागर, पद सं० २१२५।

२. तुमसौं बहुत लेन है मोकौं, पहिलैं ताहि सुनाऊँ।
चोरी आवति बेंचि जाति हौ, पुनि गौरस कहँ पाऊँ॥
माँगति छाप कहा दिखराऊँ को नहिं हमकौं जानत,
सूर स्याम तब कह्यौ ग्वालि सौं, तुम मोकौं नहिं मानत॥
—वही, पद सं० २१२८

३. वही, पद सं० २१३२।

४. वही, पद सं० २१३३।

५. बात कहत अँठिलाति जाति सब, हँसति देति कर तारी।
सूर कहा ये हमकौं जानैं, छाँछहिं बेंचनहारी॥
—वही, पद सं० २१३६

उनके मानवीय रूप को ही वे भलीभाँति पहचानती हैं और यह जानती हैं कि कृष्ण व्रज में रहते हैं।[१] इससे अधिक वे और कुछ नहीं जानतीं। गोपियों के मन में एकमात्र व्रजवासी नंद-नंदन की प्रतिष्ठा है, परब्रह्म की नहीं। किंतु कृष्ण उनकी सारी बातों की दूसरा ही व्याख्या कर सुनाते हैं। वे कहते हैं कि कौन उनकी माता है, कौन पिता,—वे तो अजन्मा हैं। कब गोपियों ने उन्हें जन्मते देखा, उनकी बात सुनकर कृष्ण को हंसी आती है। कब उन्होंने मक्खन चोरी करके खाया, कब माता ने बाँधा! यह सब तो उनकी योगमाया का प्रभाव है। वे पूर्ण, अविगत, अविनाशी हैं, माया ने सबको भुला रखा है।[२] वे भक्त के लिये अवतार धारण करते हैं, कर्म धर्म के वश में नहीं हैं वे, न भोग-यज्ञ को ही कुछ मानते हैं। गर्व वचनों को सुनकर चिढ़ते हैं, दीन की पुकार खूब सुनते हैं। वे भावाधीन रहते हैं किसी से तनिक भी नहीं डरते। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त के वे स्वामी हैं। सबको सुख देकर दुख हरते हैं। कृष्ण प्रकट रूप में कहे दे रहे हैं कि जहाँ भाव है वहाँ से वे नहीं टलते।[३] इस प्रसंग में कृष्ण अपने अवतार होने का स्पष्टीकरण स्वयं अपने मुख से कर देते हैं। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में उन्होंने अर्जुन के सन्मुख अपने अवतार होने की घोषणा की थी, उसी प्रकार दानलीला के प्रसंग में भी गोपियों के सम्मुख करते हैं; सब भूतों के स्वामी ('ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक') होने का भाव व्यक्त करते हैं। वे ही यज्ञ-पुरुष हैं, दान लेने का उनका अधिकार है। कृष्ण के अवतार की भव्य कल्पना से अर्जुन भले ही अभिभूत हो गये हों, गोपियाँ उससे अछूती ही रहती हैं। रसानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि राग में श्रद्धा-तत्व की मिलावट न हो। उत्कट राग श्रद्धा की अवहेलना भी कर जाता है, वह स्वयं अपने में ही पूर्ण है। रागानुगा भक्ति उस निरामय आनंद को पा लेती है जो ब्रह्मानंद से भी आगे है, जिसे "रस" कहते हैं। इस रसानुभूति को प्राप्त करने के लिए ही गोपियाँ उत्सुक हैं, उनकी वृत्तियाँ इसी के अनुकूल हैं। अतएव उन पर कृष्ण के मायाधिप ब्रह्म होने का, अथवा करुणार्द्र अवतार होने का कोई प्रभाव कहीं पड़ता। यदि कृष्ण की इन बातों से उनमें संभ्रम उत्पन्न हो गया होता तो रस की अनाविल अनुभूति उन्हें न हो पाती। कृष्ण की सारी बातों को अनसुनी करके अविश्वासपूर्वक वे कहती हैं कि कृष्ण ने कहाँ की बात चला रखी है, स्वर्ग-पाताल एक कर रखा है! युवतियों से यह तत्त्व-चर्चा करने से क्या लाभ? यदि वे लायक हैं तो अपने घर के, वन के भीतर क्यों डरवाते हैं। यदि वे गोरस का दान लेना चाहते हैं तो सीधे-सीधे माँग लें, युवतियो को क्यों उलझा रखा है।[४] किंतु गोरस

---

१. सूर सागर पद सं० २१३७।

२. वही, पद सं० २१३८।

३. भक्त हेत अवतार धरौं।
कर्म-धर्म कैं बस मैं नाहीं, जोग जज्ञ मन मैं न करौं॥
दीन-गुहारि सुनौं स्रवननि भरि, गर्व-वचन सुनि हृदय जरौं।
भाव-अधीन रहौं सबही कैं, और न काहू नैंकु डरौं।
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक, सबकौं सुख दै दुखहिं हरौं।
सूर स्याम तब कही प्रगट हीं, जहाँ भाव तहँ त न टरौं॥ —वही, पद सं० २१४०

४. कान्ह कहाँ की बात चलावत।
स्वर्ग पताल एक करि राखौ, जुवतिनि कहा बतावत॥
जो लायक तो अपने घर कौ, बन-भीतर डरपावत।
कहा दान गोरस कौ ह्वै है, सबै न लेहु दिखावत॥
रीती जान देहु घर हमकौ, इतनें हीं सुख पावत।
सूरस्याम माखन दधि लीजै, जुवतिनि कत अरुझावत॥ —वही, पद सं० २१४१

का दान भी वे क्यों दें? कृष्ण जगाती बने हुए ऐसे दान मांग रहे हैं जैसे कल ही तो अपने हाथों नंदगाँव बसाया हो! राधा की सखियाँ वृन्दावन को राधा का राज्य मानती हैं, वे अपने राज्य का दान किसी अन्य को क्यों दें? अधिक से अधिक कृष्ण फल, फूल, वृक्ष की रखवाली कर सकते हैं और इसी में वे अपने को धन्य समझें, कोई उनके बाबा का बाग थोड़े ही है वृंदावन![1] यदि वृन्दावन उनका हो भी तो वे दान लेंगे कैसे? वे किस पर ठकुराई कर रहे हैं? उनसे घटकर कौन है, नंद से वृषभानु सवा हैं। घाट-बाट में रोक कर माट ढंढोरते हुए वे कोई अच्छा काम नहीं कर रहे हैं। इस लालच और लंपटता से उनकी मर्यादा चली जायगी। वे तो ज्ञानी-प्रवीण बड़े के पुत्र हैं मर्यादा कैसे भूल गये? किंतु कृष्ण कब मानने लगे। उन्होंने गोपियों की इन बातों का केवल एक उत्तर दिया—आलिंगन, और रिझा लिया।[2] किंतु फिर भी वे ऊपर से आक्रोश दिखाती ही हैं। वे कृष्ण की विगर्हणा करती हैं कि न जाने उनकी कैसी अटपटी आदत पड़ गई है जो सघन बीथियों में ब्रज-बन्धुओं के मार्ग में अटक जाते हैं। ठाले-ठूले फिरते हैं, कैसे भी गोपियां बच कर निकलें, भेंट हो ही जाती हैं।[3] नंद के लाड़िले को घाट-बाट, गिरि-गह्वर, कन्दरा सब जगह, सदैव गोपियों को अटकाना अच्छा लगता है, अब वे दानी होकर गोकुल में अड़े हैं, उनके कारण कोई चल नहीं सकता।[4] यह सत्य है कि प्रेमी कृष्ण को अपनी प्रणयिनी गोपियों को सर्वत्र अटकाना अच्छा लगता है, वे उनके भाव को विवर्द्धित करने के लिये सभी जगह उपस्थित रहते हैं। इसीलिए भोर ही से दान के मिस मार्ग रोके खड़े हुये हैं आज। वस्तुतः यह छेंकना उनकी रस-प्रवणता का परिचायक है। हंसी ही में वे मन लूट लेते हैं, मीठे मीठे-बोल के द्वारा वशीभूत कर लेते हैं, विशाल नेत्रों की चितवन से चित्त आकर्षित कर लेते हैं। दान के मिस वे गोपियों से रति ही जोड़ रहे हैं।[5] बरबस दही का दान मांगते

---

१. भली कीनी आज हीं जगातिन को रूप धर्‌यो,
काल्हि ही तो नदगाँव बांह दे बसायौ है।।
नाम लेत वन को न लाज कछू आवति है,
वृन्दावन राधा जू को वेदन में गायौ हैं।।
फल-फूल रूखन जाय रखवारी करौ।
कोऊ बाग बाबा जू ने बिसाले लगायौ है।। —माधुरी वाणी : दानमाधुरी, पद सं० ११

२. कापर ढोटा करत ठकुराई।
तुम तैं घटि कौन या ब्रज में नंदहु तें वृषभान सवाई।।
रोकत घाट बाट मधुबन को ढोरत माट करत हौ बुराई।
निकसि लैहौ बाहिर होत ही लंपट लालच किये पत जाई।।
ज्ञान प्रवीन बड़े कौ ढोटा सो सुध तुम कहां बिसराई।
'परमानंददास' को ठाकुर दै आलिंगन गोपी रिझाई।। —परमानंद सागर पद सं० १७४

३. गिरिधर कौन प्रकृति तिहारी अटपटी सघन बीथिन में—
ब्रजवधू आवति जाति अब मारग में अटको।
तुम तो ठाले ठूले फिर हो जु निसि दिन हम ग्रह काज करें—
कैसैं बचि बचि निकसत तोउब ह्वै, जात भटको।। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३७

४. घाट बाट गिरि गहवर कन्दर सदा अटक तोहि भावै।
गोकुल भये छवीले दानी मारग चलन न पावै।। —परमानंदसागर, पद सं १८४

५. गिरिघटिया उठि भोर ही मारग रोकत आइ।
बहुरि अचानक सीस तैं भृकुटी देत ढुराइ।।
. . . .

हैं। ऊपर से गोपियां चाहे कितना ही खीझें, वे मन ही मन यह जानती हैं कि यह त्रिभुवन-सिरमौर प्रीति का ग्राहक है।[१] इस प्रेम-ग्राहकता पर वे मन ही मन मुग्ध हैं।

गोपियों के प्रति अपनी आसक्ति को कृष्ण छिपाते नहीं। सारी ढिठाई छोड़कर वे दीन याचक बन जाते हैं। वे वृषभानु दुलारी से 'कृपा-अवलोकन' का दान माँगते हैं, अपने तृषित लोचन-चकोर के लिए उनके बदन-इंदु की किरणों का आपान माँगते हैं। राधा सब प्रकार से सुघर हैं सुजान हैं और सुंदरी हैं इसीलिए कृष्ण उनसे विनती करते हैं। विनती ही नहीं, वे उनका चरण छू करके याचक को मान देने की प्रार्थना करते हैं।[२] वे गोपी का तनिक-सा दही चखने को आतुर हैं क्योंकि उन्होंने उसके अद्भुत स्वाद की प्रशंसा सुनी है।[३] कृष्ण ग्वालिन के गोरस की सराहना करते नही थकते, वे बारबार उसके मीठेपन पर अपना लालच प्रकट करते हैं।[४] यदि मीठा न होता तो वह माँगते ही क्यों, रास्ते चलती सभी का गोरस तो वे नहीं माँगते। कुछ विशेषता अवश्य होगी गोपियों के गोरस में जिसके कारण कृष्ण उसके आस्वादन के लिए लालायित हो उठे हैं। वे आश्चर्य से पूछते भी हैं कि आखिर इस मीठेपन का कारण क्या है? ग्वालिन ने दूध में क्या मिलाकर जमाया है जो उसकी छाक मधुर हो उठी है?[५] कृष्ण चंद्रावली से मनुहार भी करते हैं कि थोड़ी देर के लिए वह मटुकी उतार कर रख दे, दोनों बैठ कर प्रेम की बातें करें।[६]

किंतु इतनी दीनता दिखाने पर, मनुहार करने पर भी जब गोपियाँ इतराती रहती हैं तब कृष्ण अपनी महत्ता का उद्घोष करने से नहीं चूकते। इस बार वे अपने ब्रह्मत्व का रोब नहीं लेते, अपनी प्रीति-ग्राहकता की बड़ाई करते हैं। ग्वालिन गोरस बेचने में मदमाती है। कृष्ण स्पष्ट कह देते हैं कि नंदनंदन के बिना उसका असली

शेष—हँसत ही मैं मन मुसत हो कहि कहि मीठे बोल।
सेंत मेंत क्यों पाइए यह गोरस निरमोल॥
'चत्रभुज' प्रभु चित करषियो चितवन नैन बिसाल।
रोत जोरी मिस दान के गिरि गोवर्धनलाल।
—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २६

१. बरबस दान दही कौ माँगत, वृन्दावन की ठौर।
'परमानन्द' प्रीति कौ गाहक, ए त्रिभुवन सिरमौर। —परमानन्द सागर, पद सं० १९८

२. कृपा अवलोकनि दान दै री महादान वृषभानदुलारी।
तृषित लोचनि चकोर मेरे तुव वदन इंदु किरनि कान दे री॥
सब विधि सुघर सुजान सुंदरी सुनि लै विनती कान दे री।
'गोविन्द' प्रभु पिय चरन परसि कह्यौ जाचक को तुव मान देरी॥
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४७

३. रंचक चाखन दै री दह्यौ।
अद्भुत स्वाद स्रवन सुनि मोपै नाहिन परत रह्यौ॥ —परमानंद सागर, पद सं० १७०

४. मीठौ ही गोरस तेरौ हो गवालनी, मीठा ही गोरस तेरो॥
कौन भाँति ले जमाय, भामिनी मन ललची है मेरा॥ —गोविन्द स्वामी पद संग्रह, पद सं० ४२

५. ग्वालनि मीठी तेरी छाछि।
कहा दूध में मेलि जमाय, सांची कहौ किन बाछ। —परमानंद सागर, पद सं० १८८

६. नेक मटुकिया धरी चः उतारि।
बैठि प्रेम की बातें कीजै सुन चंद्रावलि नारि॥ —वही, पद सं० १९२

ग्राहक कोई नहीं है, क्यों गोपी वृथा अपने रस का व्यापार करती है? वह अपने दूध दही का दाम बता दे, आखिर मटके छूने क्यों नहीं देती? मुफ़्त ही तो माँग नहीं रहे हैं कृष्ण। मोल की बात सुनकर ग्वालिन मुस्करा उठती है।[१] कृष्ण का आरोप है कि गोपी चोरी से नित्य गोरस बेचती रही है, आज अचानक कृष्ण से मुलाकात हो गई। अब क्यों वह छूट पायेगी, चाहे बड़े गोप की बेटी क्यों न हो।[२] एक बार जब कृष्ण मिल गये तब कौन उनसे छूट सकता है यही उनका शुद्ध अनुग्रह है। भक्त से उन्हें यह शिकायत तो रहती ही है कि वह अपने रस का व्यापार करता है, कृष्ण को अर्पित नहीं करता। कृष्ण स्पष्ट कह देते हैं कि वे गोपियों का मक्खन दही लेकर क्या करें. वह तो उन्हें रोकने का बहाना मात्र है। वे गोपियों से उन चीजों को माँगते हैं जिनका वे वन में व्यापार करती हैं और यह नहीं जानतीं कि कृष्ण उस व्यापार के जगाती हैं। कृष्ण मन ही मन अनुमान करते रहे कि गोपियाँ उनके सम्मुख अपना व्यापार प्रसरित करेंगे किन्तु क्यों गोपियाँ कहें, क्यों कृष्ण उसका मोल करें। हार कर कृष्ण दानी बन कर आये। सदा से वाणिज्य करती आई हुई आत्माओं के वस्तु-व्यापार का वह आज लेखा करेंगे?[३] हँस कर राधा पूछती हैं कि आखिर किस चीज का गोपियाँ व्यापार करती हैं? भला स्त्रियाँ किस चीज का व्यापार कर सकती हैं! कृष्ण स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि वे उनसे यौवन का दान लेंगे। इसी के बल पर गोपियाँ किसी को कुछ गिनती नहीं हैं। ऐसा धन लेकर वे घूमती फिरती हैं और दान देने से कतराती हैं। वे नित्यप्रति उस मार्ग से आती जाती हैं किंतु गर्व के मारे कृष्ण को कभी अपना धन देने को नहीं सोचतीं।[४] वे अनोखी बनजारिने त्रिभुवन का रूप लिये फिरती हैं, ऐसा अमूल्य धन जिसके पास है उसकी बुद्धि पंसारियों-सी है। इसीलिए कृष्ण को देने में वे आना-कानीं कर रहीं हैं।[५] किन्तु कृष्ण कब छोड़ने वाले ठहरे।

---

१. गोरस बेचिबे में माति।
नंद नंदन बिन कोऊ न लैहै काहे को मथुरा जाति।
दूध दही के दाम कहि दै तैं छुवत कहा सतराति!
'परमानंद' ग्वालिनी सयानी मोल कहत मुसकाति! —परमानंद सागर पद सं० १७२

२. हमारौ दान दै गुजरेटी।
नित तू चोरी बेचति गोरस आजु अचानक भेटी॥
अति सतराति क्यों व छूटैगी बड़े गोप की बेटी।
'कुम्भनदास' गोवर्धनधारी भुज ओढ़नी लपेटी॥ —कुंभनदास : पद संग्रह, पद सं० ११

३. माखन दधि कह करौं तुम्हारौ।
या बन में तुम बनिज करति हौ, नहिं जानत मोकौं घटवारौ।
मैं मन मैं अनुमान करौं नित, मोसौ कैहैं बनिज पसारौ।
काहे कौ तुम मोहिं कहति हौ, जोवन-धन ताकौ करि गारौ।
अब कैसैं घर जान पाइहौ, मोकौं यह समझाइ सिधारौ।
सूर बनिज तुम करति सदाई, लेखौ करिहौं आजु तिहारौ। —सूरसागर, पद सं० २१४२

४. जोबन-दान लेउँगौ तुमसौं।
जाकैं बल तुम बदति न काहुहिं कहा दुरावति हमसौं॥
ऐसौ धन तुम लिये फिरति हौ, दान देत सतराति।
अतिहिं गर्व तैं कह्यौ न मोसौं, नित प्रति आवति जाति॥ —वही, पद सं० २०८७

५. लीन्हें फिरति रूप त्रिभुवन कौ, री नोखी बनजारिनि॥
पंलौ करति, देति नहिं नीकैं, तुम हौ बड़ी बजारिनि।
सूरदास ऐसो मग जाकैं, ताकैं बुद्धि पँसारिनि॥ —वही, पद सं० २०९१।

वे गोपियों के अंग-प्रत्यंग, वस्त्राभूषण,—सारी भौतिक सामग्री का दान लेकर मानेंगे। प्रकट ही वे कह सुनाते हैं कि उन्हें यह सब चाहिए : चिकुररूपी चमर, घूंघट रूपी तुरंग, भ्रुवसारंग, कटाच्छ-वाण, नैन-खंजन, मृग, नासा-शुक, तरौना-चक्र, अधर-विद्रुम, दशन-वज्रकण, ग्रीवकपोत, कोकिल-वाणी, कुच-कनकघट, अंग-सुगंधि, पाटंबर, कटि-केहरि, हंस-गयंद-गति आदि।[1] इन्हीं वस्तुओं का वाणिज्य है गोपियों के पास जिसे आज कृष्ण हर हालत में लेंगे। गोपियाँ कहती हैं क्या इनमें भी कृष्ण का हिस्सा है? इस पर कृष्ण उत्तर देते हैं कि हिस्सा ही नहीं, सभी उनका है। जीव का क्या नहीं है उनका, सभी कुछ पुरुषोत्तम का है। जब तक कृष्ण को इन सब वस्तुओं का दान नहीं मिलता तब तक जीव का कैसे हो सकता है?[2] चेतना के प्रत्येक स्तर का समर्पण करके ही जीव उनके रसास्वादन का अधिकारी होता है, इसके पूर्व तो वह अहंभाव से भोग मात्र करता है, निरपेक्ष आनंदमयी रसानुभूति नहीं। इसीलिए कृष्ण अपने भक्तों से हठपूर्वक दैहिक-वृत्तियों का समर्पण करवाना चाहते हैं।[3] गोपियाँ उनकी स्पष्टोक्ति से संकुचित हो जाती हैं, उल्टा कृष्ण को निर्लज्ज और ढीठ कहने लगती हैं, झूठी बात बनाने वाला साबित करती हैं। इस पर कृष्ण अत्यन्त सहज भाव से उत्तर देते हैं कि वे झूठी बातें क्या जानें, उन्हें जो जिस भाव से भजता है वे उसी भाव से प्रत्युत्तर देते हैं : "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**। गोपियों ने उन्हें पतिरूप में पाने के लिए तप किया था अंतर्यामी उसी रूप में उनके सम्मुख उपस्थित हैं। योगी को वे योगी बन कर दर्शन देते हैं, कामी को कामी। उपलब्धि की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। यदि गोपियों ने कृष्ण के इस रूप को झूठा समझा था तो तप क्यों किया था? जब भगवान काम भाव की पूर्ति के लिए उपस्थित हैं, तब भक्त देह-समर्पण से क्यों विमुख हो रहा है?[4] कृष्ण को गोपियों की वणिक-बुद्धि पसंद नहीं है; वे चाहते हैं कि गोपियाँ पूर्ण रूप से उनसे प्रीति करें और निःशंक होकर संसार में रहें।[5] काम-नृपति ने ही कृष्ण को दान लेने के लिए भेजा है। उसी ने क्रोधित होकर कृष्ण को बुलवाया है। जब से गोपियों के रूप-यौवन की लोचनदूत ने जाकर चर्चा की, तब से कामदेव शैशव महल छोड़कर यौवन महल में आ गया, और कृष्ण को दान पहिनाकर भेजा। कृष्ण का मन काम-नृपति का आज्ञाकारी भृत्य है, इसीलिए कामदेव ने उन्हें चुना है।[6] भगवान के अवतारों में एकमात्र कृष्णावतार ही प्रणय-भाव के स्वच्छंद विलास के निमित्त

---

१. सूरसागर पद सं० २१७१।

२. बाँट कहा अब सबै हमारौ।
जब लौं दान नहीं हम पायौ तब लौं कैसैं होत तिहारौ॥ —वही पद सं० २१६०

३. देखिये, मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्ति धारा और चैतन्य संप्रदाय, पृ० १६५।

४. झूठी बात कहा मैं जानौं।
जो मोकौं जैसैं हि भजै री, ताकौं तैसैं हि मानौं॥
तुम तप कियौ मोहि कौ मन दै, मैं हौं अंतरजामी।
जोगी कौं जोगी ह्वै दरसौं, कामी कौं ह्वै कामी॥
हमकौं तुम झूठै करि जानति, तौ काहैं तप कीन्हौ।
सुनहु सूर कत भई निठुर अब, दान जात नहिं दीन्हौ॥ —सूरसागर, पद सं० २१८१

५. प्रीति करौ मोसौं तुम काहे, न, बनिज करति ब्रज-गाउँ।
आवहु जाहु सदैं इहिं मारग, लेत हमारो नाउँ॥ —वही, पद सं० २१८४

६. तब रिस करिकै मोहि बुलायौ।
लोचन-दूत तुमहिं इहि मारग, देखत जाइ सुनायौ॥
सैसव-महलनि तैं सुनि बानी, जोबन-महलनि आयौ।

और उपयुक्त है, अन्य कोई अवतार नहीं। कृष्ण की ये बातें सुनकर गोपियाँ मग्न हो जाती हैं, उन्हें अपने देह की सुधि जाती रहती है। वे कौन हैं, कहाँ रहती हैं कहाँ आई हैं—इन बातों का उन्हें तनिक भी भान नहीं है। कामनृपति की छड़ी लगते ही उन्होंने रूप यौवन को कृष्ण के हवाले कर दिया। अनंग-डर के वश में होकर उन्होंने सकुचाते हुए कृष्ण को यौवन-दान दिया और हृदय से ध्यान धरकर कृष्ण के शरणागत हुईं। देह से विगत होकर वे मन में कृष्ण से यह निवेदित करती हैं कि अपने रूप और यौवन को उन्होंने कृष्ण के लिए ही संचित कर रखा था, कृष्ण द्वारा स्वीकृत होने पर उन्हें सुख मिलेगा। वे विनयपूर्वक कहती हैं कि जिस प्रकार वारिधि के आगे जल-कण है उसी प्रकार कृष्ण के रूप-यौवन के आगे उनका रूप-यौवन है। इसी लिए उसे देने में गोपियों को लज्जा आती है। अमृत सरोवर के आगे तनिक से मधु का क्या मूल्य? श्याम शोभा की सीमा है, उस असीम सौंदर्य की कौन समता कर सकता है।[१] उनकी सौंदर्य-राशि के सम्मुख गोपियों का सौंदर्य कितना तुच्छ है, इसीलिए वे देने से झिचकती हैं।[२] किंतु कृष्ण उनके दैन्य को दूर करके उनके रूप और यौवन का दान ग्रहण करते हैं। कृष्ण के सौंदर्यातिरेक से विभोर होकर देह-दान करना शुद्ध रसानुभूति का पोषक है। सूरदास ने कृष्ण के ब्रह्मत्व के निदर्शन द्वारा यह दान स्वीकार नहीं करवाया है, वरन् काम-भाव के ग्राहक होने के कारण सच्चिदानंद को अपंकिल भू-रस का अधिकार दिलाया है। किंतु कुछ कवियों की शुद्ध भक्ति-भावना में संभ्रम का पुट भी है। कुंभन दास की गोपियाँ कृष्ण को त्रिभुवनपति और नाथ समझ कर अधिकारी समझती हैं। वे कृष्ण के गुण और कम- को स्वीकारती हुई उनके माहात्म्य के प्रति अपनी अल्पज्ञता प्रकट करती हुई, देह समर्पित करती हैं।[३] उनके देह-समर्पण से कृष्ण संतुष्ट होते हैं। वे समझ जाते हैं कि गोपियाँ अब उनकी हो गई हैं, उन्हें इस बात की दृढ़ प्रतीति हो जाती है। अब वे दान के लिए हठ नहीं करेंगे, जब चाहेंगे माँग लेंगे।[४] गोपियों का सर्वस्व कृष्ण का है, कृष्ण के अतिरिक्त किसी का नहीं। प्रणयिनी ब्रजांगाओं ने देह, मन, प्राण, जीवन सभी कृष्ण को अर्पित कर

शेष—अपनैं कर बीरा मोहिं दीन्हौ, तुरत दान पहिरायौ॥
बैठौ है सिंहासन चढ़िकै, चतुराई उपजायौ।
मन-तरंग आज्ञाकारी भूत, तिनकौं तुमहिं लगायौ॥ —सूर सागर, पद सं० २२०६

१. सूर सागर, पद सं० २२०७।

२. मन यह कहति देह बिसरायैं।
यह धन तुमहीं कौ सँचि राख्यौ इहिं लीजै सुख पायैं॥
जोबन रूप नहीं तुम लायक, तुमकौं देति लजाति।
ज्यौं बारिधि आगैं जल-किनका, बिनय करति इहिं भाँति॥
अमृत-सर आगैं मधु रंचक, नहिं करति अनुमान।
सूर स्याम सोभा की सींवाँ, तिन पटतर को आन॥ —वही, पद सं० २२०८

३. तुम त्रिभुवन पति नाथ! करो सोई जिय भावै।
तुम्हरे गुन अरु कर्म कछु हम कहत न आवै॥
सेस सहस्र मुख गावहिं ध्यान धरें त्रिपुरारि।
हम अहीरि ब्रजवासिनी हौ क्यों हूँ करि पावैं पारि।
कहति ब्रजनागरी।३०। —कुंभनदास : पद सग्रह, पद सं० १९

४. कहत स्याम अब भई मनहिं भई परतीति।
जब चैहैं तब माँगि लेहिंगे, हमहिं तुमहि भई प्रीति॥ —सूर —सागर, पद सं० २२२८

दिया है।[1] और कृष्ण भी उनके सूक्ष्मतम से स्थूलतम दान को स्वीकार करते हैं, स्वीकार ही नहीं करते, उसमें आनंद अनुभव करते हैं। रसिक-शेखर का यह महिम-चरित अकथ्य है। जो निर्विकार चैतन्य है, योग, यज्ञ और तप के द्वारा भी ध्यान में नहीं आता वही गोपियों के देह-रस का दान लेने में सुखी होता है। सुखी ही नहीं, उसमें परम मधुरता का आस्वादन करता है। विश्वम्भर और जगदीश दधि-दान में तृप्ति अनुभव करते हैं,। हर्ता, कर्ता, जगत के स्वामी गोपियों के प्रेम का प्रतिदान ही नहीं देते, उनके हाथ बिक जाते हैं। यही उनकी रस-प्रवणता है।[2] वे व्रज-युवतियों से कभी दूर नहीं होते, वे उन्हें घेर रखती हैं। उन्हीं के कारण वे बैकुंठ तजकर व्रज में जन्म लेते हैं। वृन्दावन में राधा और गोपियों का संग वे भूल नहीं पाते, वे एक प्राण दो देह हैं।[3] इस अभेद-तत्त्व का पूर्ण परिपाक दानलीला के उपरान्त होता है क्योंकि तब जीवका सब कुछ कृष्णमय हो जाता है; देह-मन-प्राण सभी कुछ कृष्ण का हो चुकता है।

देह-समर्पण के पश्चात् गोपियों की काया में भी रस की अनुभूति होती है। कृष्ण का स्पर्श उन्हें रस से भर देता है स्वरभंग, वेपथु, प्रस्वेद प्रकाशित हो उठते हैं। हर्ष से कंचुकी तरक जाती है। शृंगार-हार सरक जाता है। कंकण किंकिणी नीबी शिथिल हो जाती है; उर, वाम भुजा, लोचन, और कपोल फड़कने लगते हैं। जब कृष्ण चिबुक उठाकर मुख ऊँचा करते हैं तब धैर्य टूट जाता है और हृदय जोर से धड़कने लगता है।[4] तरुणियाँ श्याम-रस से मतवाली हो जाती हैं। उन पर दिव्य यौवन-रस चढ़ जाता है, जिसकी खुमार अत्यंत तीखी होती है। सूफी साधक भी इश्क के खुमार को साधना की सिद्धि मानते हैं। इस खुमार के चढ़ जाने के बाद व्यक्ति अपनी समस्त मानवीय चेतना को खो देता है। वह रिक्त हो जाता है—मन, प्राण, देह के पूर्वार्जित रस से उसका घट रीता हो जाता है; एकमात्र सच्चिदानंद का महा-रस अंग-अंग में तरंगायित होने लगता है। रसानुभूति की इस परिपूर्णतम अवस्था में घर-बाहर, देह-गेह के सम्बन्ध न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। एकमात्र श्याम ही चेतना के केन्द्र बन जाते हैं, और श्याम-रस ही एकमात्र रस रहता है।[5] हरि-रस के मद से भय जाता

---

१. दधि माखन कौ दान और जो जानौ सबै तुम्हारौ
सूर स्याम तुमकौं सब दीन्हौं जीवन प्रान हमारौ॥ सूर सागर, पद सं० २२३०

२. यह महिमा येई पै जानै।
जोग-जज्ञ तप ध्यान न आवत सो दधि-दान लेत सुख मानैं।
खात परस्पर ग्वालनि मिलि कै, मीठौ कहि-कहि आपु बखानैं।
विस्वंभर जगदीस कहावत ते दधि दोना माँझ अघाने॥
आपुहिं करता आपुहिं हरता आपु बनावत आपुहिं मानैं।
ऐसे सूरदास के स्वामी ते गोपिनि कैं हाथ बिकाने॥ —वही, पद सं० २२२६

३. सूर सागर पद सं० २२३२

४. प्यारे के परस होत उपज्यौ सरस स्वरभंग वेपथ प्रस्वेद अंग ढरक्यौ।
हरष सौं फूल्यौ तन तरकी कंचुकी तनि चखन चलत सों सिंगार हार सरक्यौ।
कंकन किंकिणी कटि नीवीहूँ सिथिल भये लोचन कपोल भुज वाम उर फरक्यौ।
चिबुक उठाय कै जु ऊंचै तब कीनों सुख धीरज न रह धरधर हीयो धरिक्यौ॥
—माधुरी वाणी : दान माधुरी, पद सं० ३१

५. तरुणी स्याम रस-मतवारि
प्रथम जोबन-रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि॥
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतौ माट।

रहता है।[१] श्याम को तन समर्पित कर देने के उपरान्त श्याम विमुख नर-नारी वृथा लगने लगते हैं, सोते-जागते कृष्ण का ही ध्यान रहता है।[२] चित्त से कृष्ण का आवच्छिन्न ध्यान ही प्रेम-साधना की सिद्धि है। दानलीला के पश्चात् गोपियों की प्रत्येक इन्द्रिय-वृत्ति कृष्णाभिमुखी हो जाती है। उनके नेत्र श्रवण, मन, बुद्धि, चित्त सभी कृष्ण के वश में हैं। रसना कृष्ण के यशोगान में अटकी रहती है। इस प्रकार इन्द्रिय, नैन, बुद्धि, चित्त जब सभी कृष्ण के वश में हो जाते हैं, तब गोपी विदेह-सी डोलती हुई गोरस के स्थान पर हरि-रस बेचने लगती है।[३] इस हरि, रस की प्राप्ति में कृष्ण-भक्ति-साधना का रस-परिपाक होता है। रसिक भक्तों को न ब्रह्मानंद-सहोदर संवेद्य है न ब्रह्मानंद, एक मात्र हरि-रस ही संवेद्य है। यही उनकी रसानुभूति है।

दानलीला पर आकर भक्त को पूर्ण रसानुभूति होती है। भक्त के मन, प्राण और देह रस की अनुभूति से निमज्जित हो जाते हैं। दानलीला के उपरान्त रस का विलास आरम्भ होता है। रसानुभूति की विकास-प्रक्रिया पूर्ण होकर जब दानलीला में रस-दशा पर पहुँच जाती है तब रस शत-शत रूपों में क्रीड़ायित होने लगता है। भक्त और भगवान के बीच का रसानुभव, उनका आनंद ऋतुओं के अनुसार अपनी अभिव्यक्ति करता है—वर्षा में 'हिंडोल' तथा वसंत में 'फाग' के रूप में। शेष ऋतुयें रसोद्रेक में अधिक समर्थ नहीं होतीं, इसीलिए रस-क्रीड़ा में उन्हें स्थान नहीं दिया गया है। रस की सर्वांगीण प्राप्ति के अनन्तर ही रस-विलास संभव होता है, उसके पूर्व नहीं। नैमित्तिक सेवा में बसंत, फाग को वर्षोत्सव की दृष्टि से चाहे कितना ही अपनाया जाय, उनके रस-विलास की अनुभूति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि साधक, प्रारम्भिक लीलाओ की अनुभूतियों से न गुजरा हो। चीर-हरण से लेकर दानलीला तक रस की साधना करने के पश्चात् ही सच्चिदानन्द के रस की अनुभूति संभव होती है। तब "बसंत" और "हिंडोल" में हरि-रस का अतिरेक समझ में आ सकता है, उसके पूर्व वे मात्र लौकिक उत्सवों के पर्याय से प्रतीत होते हैं।

(७) हिंडोल

दानलीला के पश्चात् प्रेयसियों और कृष्ण में कोई दूरी नहीं रह जाती, वे अपनी इच्छाएँ व्यक्त करने में संकोच नहीं करतीं। यमुना तीर पर कदम्ब की छांह में ब्रज ललनाओं की भीड़ एकत्रित है। भांति-भांति के चीर धारण किए हुए, आपाद मस्तक श्रृंगार से वे झलमला रही हैं। इनमें प्रियतमा राधा भी हैं। वे बारंबार विनय करती हैं, कृष्ण के पैर पड़ती है, पुनः-पुनः हाथ पकड़ कर अनुनय करती हैं और कांत के कंठ को ग्रहणकर झूलने की साध

शेष—महा-रस अंग-अंग पूरन, कहाँ घर, कहँ बाट।।
मातु-पितु गुरुजन कहाँ कै, कौन पति, को नारि।
सूर प्रभु कैं प्रेम पूरन छकि रहीं ब्रजनारि।। —सूर सागर, पद सं० २२४२

१. हरि-रस-रूप यहै मद आवत उर डार्‌यौ जु महावत।
गेह-नेह-बंधन-पग तोर्‌यौ, प्रेम-सरोवर धावत।। —वही, पद सं० २२४७

२. स्याम-बिमुख नर-नारि बृथा सब, कैसैं मन इनसौं अनुरागत।।
यह तनु सूर स्याम कौं अरप्यौ, नैंकु टरत नहिं सोवत जागत।। —वही, पद सं० २२५१

३. चली प्रातहीं गोपिका, मटुकिनि लै गोरस।
नेत्र, स्रवन, मन, बुद्धि, चित्त, ये नहिं काहूँ बस।।
तन लीन्हें डोलति फिरै, रसना अटक्यौ जस।
गोरस नाम न आवई, कोउ लैहै हरि-रस।। —वही, पद सं० २२५३

को व्यक्त करती हैं।[1] गोपांगनाएँ हरि के संग हिंडोला झूलना चाहती हैं, झूलना ही नहीं उन्हें झुलाना भी चाहती हैं। ग्रीष्म-ऋतु के बीत जाने पर सरस वर्षा आई है, वे त्रिभुवन-पति से अपनी इस साध को पूरी करवाना चाहती हैं। वे रमक कर हिंडोल पर चढ़ें और कृष्ण उन्हें झुलायें, इससे बढ़ कर वर्षाऋतु का और क्या सुख हो सकता है।[2]

वर्षा ऋतु का वातावरण भी रस के अनुकूल है। यमुना का सुन्दर तीर है, विविध समीर बह रही है, कुसुम भार से नमित लताएँ पावन नीर का स्पर्श करती हुई, तट पर झुकी हुई, झूम रही हैं। मोर, कोकिल, हंस, चातक, मधुप, कीर, सारे पक्षी कलरव कर रहे हैं। मंद-मंद बूंदों में मेघ बरस रहा है। काली घटाएँ झुकी हुई हैं, श्वेत बक-पंक्ति उड़ रही है। दामिनी दमक रही है, अंदर में मंद कल रोर मचा हुआ है। हरीतिमा से संपन्न भूमि विलस रही है, सरिता सरोवर सीमा तोड़ कर उमंग चले हैं। विविध सुगंध की अपार लहरें वातावरण को और अलिवृंद को मद-अंध किए दे रही हैं। प्रकृति ने वधू के रूप में अपना श्रृंगार कर रखा है जैसे पावस ने अंग-अंग में श्रृंगार धारण कर के कृष्ण के प्रति अपनी प्रीति को व्यक्त किया हो। वर्षा ने सघन घटाओं के घूंघट में चपला का चपल कटाक्ष छिपा रखा है। धुरवा की अलकावली ढल रही है, और बकपंक्ति का मधुहास मुखरित हो रहा है। जलकण की धार मोतियों की हार सी प्रतीत हो रही है, विपिन उसका रंग-बिरंगा वस्त्र बना है, सुरचाप उसका चित्र-विचित्र आभूषण। कदम्ब की सुगन्धि जैसे वधू के देह का सौरभ है, और वधू उसके चरण का महावर। पक्षियों का कलरव उसके भूषण का रव है। ऐसे रसपूर्ण वातावरण से कृष्ण के मन में क्यों न मनसिज-रस उपजे ?[3] वातावरण के अनुकूल ही ब्रज-वधुएँ वसन धारण कर समुपस्थित होती हैं। चुने हुए चीर और "चुहचुहाती" हुई बहुरंगी चूनरी पहन कर, नील-लहंगा, लाल चोली धारण कर, केशर से अंग उबटकर वे झुंड-की-झुंड उपस्थित होती हैं। श्याम का मख पूर्ण इन्दु है और वे उदधि की तरंग के समान उमड़ कर आ गई हैं। और फिर विश्वकर्मा ने झूला भी तो अनुपम गढ़ा है। कामकुंड चढ़ाकर दो खंभे बनाए हैं जिनमें हरित चुन्नी, लाल, हीरा आदि जड़े हुए हैं। कोर पर विद्रुम और मुक्ता की लड़ी लटक रही है। बहुरंगी रेशम का बरुहा है। स्वर्ण स्फटिक का सिंहासन है जो हीरा, लाल, प्रवाल आदि से सुसज्जित है। एसे अद्भुत हिंडोले पर राधा-कृष्ण विराजमान हैं। सखियां मुदित होकर उन्हें झुला रही हैं। नव पावस-ऋतु में नवल रस बरस रहा है और उसका मधुर शोर मच रहा है।[4] राधाकृष्ण मुदित होकर परस्पर गान कर रहे हैं, राग मल्हार का आलाप ले रहे हैं। नीलांबर पीतांबर खिसक-खिसक पड़ता है पर दोनों को अंग की सुधि नहीं है। मेघ घुमड़े हुए हैं। इस रागपूर्ण वातावरण में प्रभु रसमय होकर झूल रहे है।[5] गोपियां प्रेम-

---

१. सूर सागर, पद सं० ३४४८

२. हिंडोर हरि सँग झूलियै (हो) अरु पिय कौं देहिं झुलाइ।
गई बीति ग्रीषम गरद हितरितु, सरस बरषा आइ॥
अब यहै साध पुरावहु हो, सुनहु त्रिभुवनराइ।
गोपांगना गोपाल जू सौं, कहति गहि गहि पाइ॥
अब गढ़नहार हिंडौरना कौ, ताहि लेहु बुलाइ।
हम रमकि हिंडोरैं चढ़ैं, अरु तुमहिं देहु झुलाइ॥ —वही पद सं० ३४४९

३. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ७४

४. 'चत्रुभुज' प्रभु गिरिधर नव पावस रितु।
नव रस बरखत देत मधुर रोर॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १२१

५. मदित परस्पर गावत दोऊ अलापत राग मलार।
खसि खसि परत नील पीतांबर कछु न अंग संभार॥

रसमाती हैं, रूप-निधान रसिक कृष्ण का विलास उच्छलित हो रहा है।[१] देह धारण कर के पूर्ण-ब्रह्म विलास कर रहे हैं, सुर ललनाएँ यही वांछा करती हैं कि वे द्रुम की डाल बन जाएँ।[२]

वस्तुतः हिंडोल क्या है रति का रसरंग है जिसमें भीगे-रीझे युगल झूल रहे हैं। यह हिंडोल अद्भुत है। प्रेम की डोर है, रस की डांडी है। और वातावरण भी आंतरिक भावों का द्योतक है, बिजली हृदय का विकास है, वर्षा की झड़ी नवल नेह की झड़ी है। रोम वीणा के तार से बज रहे हैं, प्राण गा रहा है, अंग नृत्य कर रहा है।[३] नेह का खंभ, चतुरता की डांडी, हाव भाव का मरुवा और चोप की पटुली है। अनुपम भाव-कटाक्ष से राधा चित चराती हैं। अनंत-रस मंद-मंद बरस रहा है। बादल का गरजन उसका विहसन है जिसमें दशन की किलक व्यक्त हो जाती है। चपला उनके हृदय का हुलास है, पवन रस की झकोर। वलय, नूपुर का क्वणन विहंगों का बोल है। दंपति कामरस से ओत प्रोत हैं।[४] जब हरि हर्ष से झकोर देते हैं तब प्रिया 'हा' 'हा' करती हैं, 'न' 'न' कहती हैं, और संभ्रम सहित प्रभु उन्हें हृदय से लगा लेते हैं।[५] प्रभु निपुण नागर हैं, वे जान बूझ कर जोर से झटका दे देते हैं जिससे कि

शेष—उनये मेघ सकल बन राजत अद्भुत सोभा देत।
परमानन्द प्रभु रसमय झूलते सखी बलैया लेत।। —परमानंद सागर, पद सं० ७९४

१. गोपी सकल प्रेम रस माती, राजत रसिक विलास।
रूप निधान निरखि गिरिधारी, प्रमुदित 'गोविन्द' दास।। —गोविंद स्वामी : पद संग्रह, पद सं० १९९

२. थकित सुर ललनासहित नभ, निरखि स्यामबिहार।
हरषि सुमन अपार बरषत, मुखहिं जै जैकार।।
करत मन मन यहै बांछा, भए न बन द्रुम डार।
देह धरि प्रभु 'सूर' बिलसत, ब्रह्म-पूरन-सार।। —सूर सागर, पद सं० ३४५५

३. अद्भुत एक हिंडोरो माई।
प्रेम-डोर पटुली पन सोभित झूलत दोउ सुख पाई।।
मरुवा-मूल सुरँग-रस डांडी गन गन लूं बिलगाई।
हृदय विकास प्रकास बीजूरी नवल नेह झर लाई।।
गावत प्रान रोम रँग बीना अँग नृत्यत सुखदाई।
'रूपरसिक' बलि-बलि झूलन पर लसौ हिए सुख आई।।
—निम्बार्क माधुरी, पृ० १०९ (रूपरसिक जी, पद सं० ४९)

४. दोऊ रीझें भीजें झूलत हैं रस रंग हिंडोरैं।
नेह खंभ डांडी, चतुरई, हाव-भाव मरुवे, चौंप पटुली,
अनुपम भाव कटाच्छ रमकि चित चोरैं।।
रस अनंत, वरसि मंद, गरजि हँसन, किलक दसन,
चमकति चपला हुलास, पवन झकोरैं।
क्वनित् वलय नूपुर मानौं, बिहंग बोलैं,
'श्री सूरदास मदनमोहन' दंपति-
बतरात जात काम-रस भोरैं।। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ९९

५. जब हरि हरषि दैत झोटा बोलै विहसि प्रिया हाहा नन।
संभ्रम सहित गदाधर प्रभु हृदै लाय लई जीवन धन।। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ७७

प्रियतमा डर जायँ और वे उनके चपल अंग को भुजाओं में भर लें।[1] वस्तुतः हिंडोल-लीला का आयोजन ही आमोद-प्रमोद की भावना से हुआ है। अब रसास्वाद में कोई व्यवधान नहीं रह गया, गोपियां कृष्ण के हाथों समर्पित हैं। रसिक शिरोमणि कृष्ण उनके रस-ग्राहक ही नहीं, रसभोक्ता हैं। वे अब प्रियाओं से रस का दान नहीं मांगते, वरन् बहाने से रस ले लेते हैं। युगल-किशोर यौवन-जोर के हिंडोले पर झूलते हैं।[2] श्रम जल से भीगी नागरी की कंचुकी प्रियतम के मन को मोहित कर लेती है। प्रिया की चौकी से गिरधर का चंद्रहार उलझ जाता है। रसाल दृगों से, रस भरी भौंहों से राधा हँस-हँस कर कुछ संकेत करती हैं। मुड़ने में वे कृष्ण का चित्त कर्षित कर लेती हैं और उन्हें लालायित कर देती हैं। श्यामा परम प्रवीण हैं, रसिक कृष्ण उनके सदैव अधीन हैं।[3] कृष्ण सदैव अधीन ही नहीं रहते, वे क्रीड़ा-प्रिय हैं, छेड़ कर रस लेने में विदग्ध। रस की उद्भावना के लिए वे प्रिया के बनावटी कोप की परवाह नहीं करते। झूलने के झकझोर से राधा के हार की डोर टूट जाती है और वे कोप से कृष्ण की ओर देखने लगती हैं। किंतु कृष्ण जैसे उनके क्रोध को लक्षित ही नहीं करते। वे अपना जोर बनाये रखते हैं। झकझोर में जब बेसर निकल जाती हैं जब कृष्ण अधबीच में ही उसे ले लेते हैं, राधा को कृतार्थ करने के लिए नहीं वरन् उनका वदन छूने के लिए। जब राधा की सांस भरने लगती है तब उनके विथकित तन को भुजाओं के बीच समेट लेते हैं और अपने पीतपट से हवा करते हुए नवल प्रीति को वर्द्धित करते हैं।[4] कुलक-पुलक कर वे वेपथु-युत भेंटते हैं, उर उरोज से घर्षित होता है। डांडी छोड़ कर हाथ पकड़कर चुम्बन लेने में कृष्ण लड़खड़ाते नहीं।[5] रसपान के लिए विदग्ध कृष्ण परिस्थितियां रच लेते हैं।

---

१. जबहिं झोटा देति प्यारी लागत अति मन डरन।
'चतुर्भुज' प्रभु निपुन नागर चपल अँग भुज भरन।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० १२५

२. हिंडोरना झूलत युगल किशोर।
हिंडोरना राजत जोवन जोर।। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ८३

३. निज सुख पुंज वितान कुंज हिंडोरना झूलत स्याम सुजान।
संग स्यामाजू परम प्रवीन, जाकें सदा रसिक आधीन।।
नीलाम्बर पहिरे नव नागरि लाल कंचुकी सोहें।
भीज गई श्रम जलसौं उरजन प्रीतम कौ मन मोहें।।
लट सगबगी सलोल बदन पर सीस फूल उलटानों।
प्रिया की चौकीसों गिरधर को चन्द्रहार अरुझानों।।
दृग रसाल रस भरी भौंह सों हँस हँस अर्थ जनावे।
दुरन मुरन में चित करषत है लालची मन ललचावे।। —वही, पद सं० ८०

४. झूलन के झक-झोरन टूटि गये हार-डोर,
पिय की ओर रिस भरि चितई।।
बेसरि निकसि गई, लाल अधबीच लई।
बदन छुवन मिस नासिका छुई।।
आरस के झक झोर भरि गये स्वास,
तन विथकित जानि भुज वीच लई।
'श्री सूरदास मदन मोहन' निज, पीत पट-
करत बयार बाढ़ी प्रीति नई।। —सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० १००

५. कुलकि-पुलकि बेपथजुत भेंटत, उर उरजनि सों धरषत।
झूका सह तन डाँड़ी गहत न, कर गहि चुंबन लेत न लरषत।।—भक्तकवि व्यास जी, वाणी, पद सं० ६८८

यों तो हिंडोल-लीला गोपी-कृष्ण का समवत विलास है, किंतु प्रमुखता राधा-कृष्ण की ही है। इसीलिए युगल-उपासक भक्तों ने भी हिंडोल-लीला को अपने नित्य-विहार-रस के अंतर्गत रखा है। रंगदेवी, सुदेवी, विशाखा, ललिता आदि सखियाँ दम्पति को हिंडोले पर झूलता देखकर अपना सर्वस्व समर्पित कर डालती हैं।[1] कोई सखी पंखा झलती है, कोई चँवर डुलाती है, कोई मुखवास व डब्बा लिए रहती है, कोई झारी। अपनी-अपनी सौंज सजा-सजा कर सखियाँ चारों ओर खड़ी रहती हैं। युगल-चंद्र नागरता की राशि हैं; वे नित्य-विलास में विलसते हुए अपने रस और आनंद को उजागर करते हैं।[2] जहाँ कवि सखीभाव से प्रणत होकर युगल-किशोर के रसविलास का पर्यवेक्षण नहीं करता, प्रत्युत स्वयं गोपी-भाव में रंगकर उस रसानुभूति में प्रवेश करता है, वहाँ भी उसके रंग-रस में भक्ति-भाव का गहरा पुट रहता है। भक्त-कवि उस गोपी का जीवन सफल मानता है जो हरि के संग केलि में रत है, "कृष्ण, कृष्ण" नाम लेकर रंग बरसा देती है। भक्त-कवि प्रभु के इस रतिरंग में भी अपने चित्त को उनके चरणों में मिलाने की कामना करता है।[3] वह केवल कवि नहीं है, रस-निष्पत्ति ही उसका कवि-कर्म नहीं है। वह रसोद्भावन के साथ ही अपना आत्मोत्सर्ग कर डालता है, सदैव के लिए राधा-कृष्णमय हो जाना चाहता है। यह रस-प्रसंग लौकिक नहीं है, युगल-किशोर ने लीला रूप का विस्तार कर रखा है। जिस पूर्णब्रह्म को वेद उपनिषद नहीं प्राप्त कर सके, उसी के रस को ब्रजनारियों ने न जाने किस भाग्य-फल के प्रसाद में पा लिया है! जिन्हें देवतागण खोजते हैं वे ही ब्रज में अवतरित हैं। ब्रज का अवतार रस का अवतार है। इसमें "खवासी" पाना एकमात्र कृष्ण-कृपा पर ही निर्भर है।[4] इस कृपा के कारण ही भक्त-कवि सच्चिदानन्द की हिंडोल-लीला का आस्वादक हो पाता है, कवि-कल्पना से नहीं। साधना का सिद्धि-स्वरूप यह रसोद्रेक कृष्ण के अनुग्रहपूर्ण प्रेम से संभव है। हिंडोल उनके लीला रूप का विस्तार है, उससे उनका लीला-रस ही विस्तरित होता है। पावस-केलि में सघन-द्रुम-सम, घनघटा रूपी कृष्ण विराजमान हैं और सौदामिनी-सी, कंचनवेली-रुपिणी राधिका, घन दामिनी, द्रुम और कंचनवेली का विलास नित्य है। वृन्दावन में कुँवर-

---

१. हिंडोरे झूलत हैं पिय प्यारी।
श्री रंगदेवि सुदेवि बिसाखा झोंटा दत ललितारी।
जै श्रीभट्ट निरखि दम्पति छवि, देत अपनपौ वारी॥ —श्रीभट्ट : युगशतक, पद सं० ९३

२. कोउ सखी कर लिये बीजना बीजत कोउ चँवर कर ढोरै।
कोउ सखी कर लिए मोरछल झुकि झुकि झूमि झकोरैं॥
कोउ सखी मुखवास डवा लिए कोउ झारी भरि सोरें।
अपनी अपनीसौंजनि सजि सजि सब ठाढ़ी सब ओरें॥
जुगलचंद आनंद उजागर नागरताकी रासी।
नित नव कुंज-भवन सुख विलसत नित्यविलास विलासी॥ —महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० ८६

३. धन धन गोपी सुफल जीवन करत हरि संग केलि।
कृष्न कृष्न कहि नाम बोलत देत है रंग रेलि॥
चिरजीवो, सखि मदन मोहन फले जसोदा बेलि।
'परमानन्द' नंद नंदन चरन निज चित मेलि॥ —परमानंद सागर, पद सं० ७९३

४. जुगल किसोर बने अति सुंदर लीला रूप पसारे हो।
मुदित सहचरी राग अलापति झोटा देत सुखकारी।
पूरन निगम नाहीं पावत कौन भागि ब्रज नारी हो॥
खोजत सेस महेस बिधाता सोई सकल ब्रजवासी।
कीन्हीं कृपा दास 'गोविन्द' कों दीनी आप खवासी हो॥ —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० २०४

कुँवरि विलास-सागर में रसावेश से झूलते हैं।[1] रसावेश में दोलन ही उनकी हिंडोल-लीला है। यही इस लीला की आंतरिक सार्थकता है। वृन्दावन का पावस सहज है, वहाँ सदा आनंद केलि होती रहती है। नंद-कुमार का यह रमण नित्य है, उनकी लीला नित्य है, मंगल-गान नित्य है, आनंद नित्य है।[2] गोपी-कृष्ण की यह रसानभूति स्तुत्य है।

(८) वसंतलीला

हिंडोला-लीला महत्वपूर्ण अवश्य है, किंतु रसानुभूति की चरम अभिव्यक्ति नहीं है। रस का अतिरेक, आनंद की मधुरतम अभिव्यक्ति वसंत-लीला में होली के उत्सव पर होती है जहाँ प्रेयसी-प्रियतम एक दूसरे के रंग में सराबोर हो उठते हैं। तब रस दोलायमान ही नहीं होता, उच्छलित हो उठता है। गोपियों को नंदकुमार से या गोप-समाज से किसी प्रकार का पर्दा नहीं रह जाता। एक ओर से रसिकनी गोपियाँ आती हैं, दूसरी ओर से रसिक कृष्ण। फिर दोनों ओर से समान रस-चेष्टाएँ होती हैं और फाग के महोत्सव में उनके हृदय का आनंद-महोत्सव स्वच्छन्द होकर उच्छलित होता है।

ऋतुराज आया है, ऋतुओं का कांत। सारा वातावरण रसाविष्ट हो गया है। कंतरूपी वसंत के शीश पर आम्रमंजरी का मौर है। वन में कोकिला कुहू कुहू के बोल में रस डाले दे रही है। वन-राजि फूली हुई है, कुंदकुसुम की विरल शोभा मुग्ध करने वाली है। इन पुष्पों पर मधुराते मधुमाते मधुप दौड़े फिर रहे हैं।[3] रस की सामग्री और रसिक दोनों का संयोग है। कानन तो कुसुमित है ही, यमुना तट पर कमल की कली भी फूल गई है। नूतन सघन तमाल मुकुलित है। जाती, जुही, चंपक, सब एक साथ मुकुलित हो उठे हैं। पारिजात और मंदार के माल्य में मधुकर के ज़ाल लिपटे हुए हैं। कुटज, कदंब और ताल से वन की विचित्र शोभा हो रही है। नूतन प्रवाल अतिकोमल है, लवंग-लता की सुवास से वन महक रहा है, पुष्पित केतकी मानो तरुणी का हास है : ऐसी शोभा देख कर रसिक कृष्ण क्यों न रीझें ?[4] ऋतु ही सरस है, कृष्ण क्या करें। आम और द्रुमवेलियों में मौर आ गया है, मधुकर परिमल में

---

१. रंग हिंडोरना मन मोह्यो।
सहज वृन्दाविपिन पावस सदा आनन्द केलि ।।
जहाँ सघन द्रुम घटा घन सौदामिनि कंचन-वेलि।
तहँ कुँवर कुँवरि विलास सागर झूलत रस आवेस ।। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ८४

२. झूलत स्याम स्यामा संग।
विपुल गोपी, बिपुल वन गृह, रवन नंदकुमार ।।
नित्य लीला, नित्य आनँद, नित्य मंगल गान।
'सूर' सुर मुनि मुखनि अस्तुति, धन्य गोपी कान्ह ।। —सूर सागर, पद सं० ३४५९

३. आयो वसंत रितु अनूप कंत नूत मौरे।
बोलत बन कोकिला मानों कुहू कुहू रस ढोरे ।।
फूली वनराजि जाइ कुंद कुसुम थोरे।
मधु राते मधु माते मधप फिर दौरे ।। —गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १०१

४. विहरत वन सरस बसंत स्याम। सँग जुवती जूथ गावें ललाम ।।
मुकुलित नूतन सघन तमाल। जाही जुही चंपक गुलाल ।।
पारिजात मंदार माल। लपटावत मधुकरनि जाल ।।
कुटज कदंब सुदेस ताल। देखत बन रीझै मोहनलाल ।।
अति कोमल नूतन प्रवाल। कोकिल कल कूजत अति रसाल ।।
ललित लवंग लता सुवास। केतकी तरुनी मानो करत हास ।। —गोविंदस्वामी :पदसंग्रह, पद सं० १०६

भूले हैं। द्वादश बन रतनारे दीख रहे हैं, चारों ओर टेसू जो फूले हुए हैं। द्रुमों के बीच पलाश-मंजरी अग्नि की भाँति प्रोज्वल हो उठी है, जैसे हर्ष के कारण होली लगा दी गई हो।[१] पराग, फूल और फल बरस रहे हैं, मधु की धारा धरणी में हिलोर ले रही है।[२] ऐसे मादक वातावरण में रस का सिंधु मर्यादा तज कर उमड़ेगा ही। उस पर से वसंत की पंचमी,—वह तो मदनमहोत्सव की मंगल तिथि है। जगत विमोहन मकरध्वज की जहाँ तहाँ दुहाई फिर रही है। मन्मथ राजसिंहासन पर बैठा हुआ है। हाथ में विकट चाप है। परमानंद ठाकुर सारी रसरीति समझते हैं, इसीलिए वे इस मदन-महोत्सव में गोपियों के मन की प्रीति उकसा देते हैं।[३] वसंत-ऋतु के आगमन पर मदन का प्रचुर जोर हो जाता है। तिस पर से गोरी सुन्दरी राधा और सुन्दर नंदकिशोर की जोड़ी, केलि-रस झूमकर उमड़ पड़े तो आश्चर्य क्या?[४] फिर, मृगनैनी और कंत ने मिलकर वसंत की भली भाँति पूजा की है, शुचि सुरत रंग से उसे नहलाया है, अनुराग के अम्बर से अंग अंगोछा है। रंगरंगीली बालाओं ने उसे अतिरसाल सुंदर प्रेमाम्बर धारण कराया है। तन आलिंगन के आभरण से सज्जित किया है, और चुम्बन के चंदन से चर्चित।[५] ऐसी ऋतु के आगमन पर नारियाँ परम हर्षित हैं। ब्रजांगनायें बार-बार हरि को यह समझा रही हैं कि वसंत ऋतु आ गई है। उनके मन में फाग-चरित के रस की साध है, वे हरि के संग मिलकर खेलना चाहती हैं। गोपियों की इस इच्छा को सुनकर श्याम मुस्काते हैं, वे स्वयं भी हर्षित होते हैं।[६] वे रति-रंग ठानकर रस का न्यास करते हैं। वस्तुतः श्यामा-श्याम का विलास एक ही है, अनेक गोपियाँ उस रस को विस्तरित करती हैं। अकल निरंजन विविध वेश धारण करके उनके साथ विलास करता है, उन्हें एक क्षण के लिए भी नहीं तजता। फाग के रंग-रस में श्याम युवतियों की मनोकामना को पूर्ण करते हैं। वे वामाओं के सदैव निकट रहते हैं, दिवस-रात्रि सुख प्रदान करते हैं।[७] यही आनंद-ब्रह्म की रसाधीनता हैं। आज हरि राधा के घर फाग खेलने आवेंगे, भक्त के घर रसिक भगवान का आगमन होगा। आँगन में काक बोलकर इस शगुन संदेश को सूचित कर रहा है। अब उनसे फाग खेलने भगवान स्वयं आ रहे हैं। मृदंग, डफ़, झांझ बज रहा है, जीवात्मा अब सो क्या रही है? उसे आनंद की पुकार से जग उठना है। चोवा, चंदन

---

१. द्रुम-गान-मध्य पलास मंजरी, उदित अगिनि की नाईं।
अपनैं अपनैं मेरनि मानौ, होरी हरषि लगाईं।। —सू० सा०, पद सं० ३४७२

२. बरषत विटप-पराग फूल-फल, मधुधारा महँ धरनि हिलोरी।—भक्तकवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ६५६

३. परमानंद सागर, पद सं० ३३१

४. रितु वसंत के आगमन प्रचुर मदन कौ जोर।
राधा गोरी सुंदरी सुंदर नंद किसोर।।
केलि रस झूमकरारे झूमक्करा।। —परमानन्द सागर, पद सं० ३३४

५. आज भली भांति पूज्यों बसंत; मिलि मृगनैनी मनहरन कंत।
अन्हवाये सचि सुचि सुरति रंग; अम्बर अनुराग अँगोछि अंग।
प्रेमाम्बर सुंदर अति रसाल; पहराये रंगरंगीली बाल।
आलिंगन अभरत तन सजाय; चरच्यो चंदन चुम्बन सुहाय।।—महावाणी : उत्साह सुख, पद सं० १

६. सूर सागर, पद सं० ३४६३

७. स्यामा स्याम बिलास एक। सुखदायक गोपी अनेक।।
तजत नहीं काहू छनेक। अकल निरंजन विविध भेष।।
फाग-रंग-रस करत स्याम। जुवतिनि पूरक करन काम।।
बासरहूँ सुख देत जाम। सूर स्याम प्रभ निकट बाम।। —सू० सा०, पद सं० ३४७१

और कुमकुम, केशर लेकर आराध्य के पाँव लगना चाहिए और रसिक-शेखर का, अचल सौभाग्य देने वाले का दर्शन करना चाहिये।[१] नींद से जागकर वृन्दावन के अप्राकृत मदन के कुञ्ज रूप और रस को निरखना-परखना चाहिये उसे। निद्राभंग के लिए डफ़ आदि मंगल वाद्य बज रहे हैं।

जिस प्रकार कृष्ण गोपियों की तमस्-निद्रा का उच्चाटन कर डालते हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी ब्रह्म को आत्मलीन आनंद से निकाल कर बहिरंग आनंद में आकर्षित करती हैं। गोपियों से रस पाकर ही आनंद-ब्रह्म रसराज की संज्ञा प्राप्त करता है। वसंत ऋतु के अनुरूप गोपियों की शोभा को देखकर कृष्ण का मन काम-स्फूर्त हो उठता है। कृष्ण यदि परम सुंदर हैं तो गोपियाँ भी उनसे कम नहीं हैं। वसंतोत्सव में उनकी शोभा देखते ही बनती है। वसंत की बधाई गाती हुई वे नंदराय के दरबार चल पड़ी हैं। बड़ी तीखी छवि है उनकी : तन पर झूमक की सारी, लाल अँगिया, उर पर नव हार, लंबे केशों की नितम्ब पर झूलती हुई वेणी, मृगमद की आड़ी रेखा, बड़ी-बड़ी आँखों में अंजन, पद में जेहरि, केहरि कटि पर किंकिणी। चौपा-चौप में, गली-गली में बिछुवों की झंकार सुनाई दे रही है। आभूषणों की झंकार सुनकर मदन विचलित है। जिस पर से, शीश पर जो कंचन-कुंभ है उसमें मदन-सिंधु भरा हुआ है और मोर-मंजरी से वह ढंका है।[२] राधा की सखियाँ कृष्ण से घटकर नहीं हैं। ग्वालिनें "यौवन-गर्व-गहेली" हैं। कनक-तन गोरियों ने कुमकुम उबट रखा है, किशोरियों ने अंग में सुगंध चढ़ा रखा है। कीमती वस्त्र पहन रखे हैं। कुसुम से कबरी ग्रथित है, माँग मोतियों और मणि से। घनी भृकुटियाँ, कज्जलरंजित बाँके नयन, श्रवणों में जगमगाते कुंडल, नकबेसर में लटकती गजमुक्ता उनके मुख-मण्डल को सौन्दर्य-दीपित कर रही है। अनार से दशन, बिम्ब से अधर और चिबुक में मानो मधु ढँका हुआ है। कपोल-कंठ में मुक्तावली और हार है, हाथ में कंकण एवं गजदंत के चूड़े। उनके नख मणि-माणिक की कांति मिटा देने वाले हैं। ह्रद सी नाभि, मृगराज सी कटि, करिणी से नितम्ब, कदली सी जंघायें, मराल सी गति, चरणों में कल नूपुर की ध्वनि : ऐसी अनंग-मंजरियाँ नंद की पौरी पर फाग गा रही हैं। सुनकर कृष्ण घर के भीतर कैसे रह सकते हैं।[३] गोरी-गोरी भोली-सी गुजरियाँ उन्हें मोह लेती हैं। सुवासित कंचुकी, कटि पर लाल लहंगा, चलते हुए जेहरि के पास लाल एड़ियों का उघरना, लाल रंग की अधर सुधा, सब कुछ मोहन को मोहित कर डालता है।[४] इसीलिए वे गोरस से मत्त होकर हो-हो होरी कहते हुए ब्रज के लड़कों के साथ डोलते फिरते हैं। घर-

---

१. तेरैं आवैंगे आज सखी हरि, खेलन कौं फागु री।
सगुन सँदेसौ हौं सुन्यौ, तेरे आँगन बोलै काग री॥
मदन मोहन तेरैं बस माई, सुनि राधे बड़भाग री।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ, का सोवै, उठि जाग री॥
चोवा चंदन लै कुमकुम अरु, केसरि पैयाँ लाग री।
"सूरदास" प्रभु तुम्हरे दरस कौं, राधा अचल सुहाग री॥ —सू० सा०, पद सं० ३४७८

२. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७८

३. सूर सागर, पद सं० ३५२०

४. गोरी गोरी गुजरिया भोरी-सी तें मोहे नँदलाल।
खेलत में हो हो जु मंत्र पढ़ि डार्यो तें जु गलाल॥
तेरी सौंधें सनी अँगिया उरजनि पर अरु कटि लँहगा लाल।
उघरि जात कबहूँक चलत जेहरि ढिग एड़ी लाल॥
सकल तियनि में राजखे है ज्यों मोतियनि में लाल।
'दास चतुर्भुज' कौं प्रभु मोह्यौ अधर-सुधा रँग लाल॥ —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७९

घर का द्वार खोलते हैं, जो कोई डर कर छिप जाता है उसके यहाँ बरजोरी पैठ जाते हैं। यही आनंद-ब्रह्म का स्वभाव है, उनकी आनंद-प्रेरणा से कोई बच नहीं सकता। वे अचानक आकर आँखें मींच लेते हैं, रूपसुधा के रस से नेत्र सिंचित करते हैं। मत्त-गयंद की भाँति फाग-क्रीड़ा में रत होते हैं, अलकें शिथिल हो जाती हैं; कृष्ण भूले-भूले से इस प्रकार डोलते हैं जिस प्रकार कमल से प्रफुल्लित होने पर मधुप।[१] डफ बजाते हुए बने-ठने सखाओं सहित कृष्ण का होली-उत्सव विचित्र है। मृदंग पर ताल ठोंकी जा रही है, मंद-मंद मुरली बज रही है। अबीर की झोली फेंट में कसी हुई हैं, लाल गुलाल की मूठ उड़ायी जा रही है। सर पर वर्ण-वर्ण की पाग है, कटि में काछनी की छवि तथा तन में चंदन की खौर : शोभा उनकी निराली है। उधर वृषभानु-सुता अल्पवयस्का किशोरी बालाओं की टोली बुला लाती हैं। स्वयं उनके तन पर नीलांबर और सुरंग कंचुकी शोभित है। ब्रज-युवतियाँ नखशिख से शृंगार धारण किए हुये हैं। भाल पर रोली की बिंदी है, मुख में पान भरा है। वे कोटि कनक-कलश लिए हुये हैं, जिनमें फूलेल भरा हुआ है। अब दोनों ओर से खेल जमा। नाना रंग के सुमन के रंगों से पिचकारी भरी गई है, किसी ने रस-धार मार दिया, तो कोई अपना दाँव परखता है। दौड़ मची हुई है, आपस में लोग टकरा रहे हैं। पीछे से ललिता, चंद्रावली ने आकर कृष्ण को पकड़ लिया। उन्हें देखते ही जहाँ-तहाँ से, चारों ओर से ब्रजयुवतियाँ घिर आती हैं। एक पीतांबर झटकती है, तो एक, मुरली छीन लेती है। वे हँस-हँस कर अपना बदला लेती हैं। कभी कृष्ण ने यमुना-तट पर चीर हरा था, मक्खन चुराया था, अब वे अपना दाँव ले रही हैं। गोपियाँ कृष्ण से कहती हैं कि राधिका के पैरों पड़ो। नीलाम्बल-पीतांबर की कसकर गाँठ बाँध दी जाती है और कनक कलश से हरि पर केशर ढाल दिया जाता है। आनंद के अतिरेक में मग्न गोपियाँ होली का गीत गाती हैं। उनके इस सुख को देवतागण विमान पर चढ़े हुए देखते हैं, पुष्प-वृष्टि करते हैं, जय-जयकार करते हैं।[२] इस उत्सव में कृष्ण को पूर्णतया वशीभूत कर लिया जाता है। नागर कृष्ण युवती के वश में पड़ जाते हैं। कोई युवती उनके कान में भेद की बातें कहकर दौड़ जाती है, कोई अचानक आकर पकड़ लेती है, कोई उनके कपोल पर नाना भाँति के चित्र रच डालती है, कोई अच्छी तरह आँखें आँजती है, कोई वेणी गूंथ कर मोतियों से माँग सँवारती है। तनसुख की सुरभित सारी उन्हें पहिनाई जाती है। चम्पकलता आकर चिबुक पर दिठौना बना देती है। मोहिनी-रूप में कृष्ण को देखकर मोहिनी नारियाँ भी मोह जाती हैं। नाना रंग की अबीर से उनका मुख-मंडल ऐसा रंजित कर दिया जाता है जैसे चंद्र इन्द्रधनुष सहित घन में छा गया हो। उनके सर पर ढाले हुए केशर का पनाला बह चलता है। कृष्ण को रस में लिपटी गालियां सुनाई जाती हैं। इतने से ही गोपियों को संतोष नहीं होता। वे उन्हें घूंघट से ढँक कर यशोदा के पास ले जाती हैं और कहती हैं कि यह किसी राय की कन्या है जिसने यशोदा को आत्म-समर्पण कर दिया है। उस कन्या को विधाता ने रूप, वयस् और गुण में श्याम का जोड़ीदार बनाया है। अतः हर्षित मन से, आनंद सहित यशोदा बधावा बाँटें : विधि से भी रूप-उजागर बहू ला कर उन्हें दी गई है। भोली यशोदा वधू को गोद में बिठाकर विधाता से गोद पसारती हैं और उसका मख चूमती हैं। गोपियाँ हँसने लगती हैं, तब यशोदा

---

१. हो हो हो हो होरी बोलै। गहेरस कौ री मातौ डोलै।।
ब्रज के लरिकन संग लिये डोलै। घर घर के री खिरका खोलै।।
जो कोउ डरपि जाय दुरि बैठे। कर बरजोरि ताहि कै पैठै।।
आय अचाकक अँखियाँ मींचै। रूप-सुधा रस नैननि सींचै।
अलकावली सिथिल अतिराजत। धावत मत्त गयंद लजावत।।
ब्रज में डोलत भूल्यौ-भूल्यौ। मधुप उड़े मानौं अम्बुज फूल्यौ।।—सूरदास मदन मोहन की वाणी, पद सं० ७९

२. सूर सागर, पद सं० ३४९१

को वधू की वास्तविकता का पता चलता है और वे लज्जित हो जाती हैं। "हो हो" होरी बोलती हुई, कर-ताली देती हुई गोपियाँ नाच उठती हैं।[1] होली के खेल में गोपियाँ जेता होती हैं, कृष्ण पराजित। वे कृष्ण को गाली गाती हैं,—हरि काले हैं, दो पिताओं के बीच के जो ठहरे। वे नट हैं किंतु राधा के आगे लट्टू जैसे हैं। वे मधुकर हैं, घर-घर रस चखते फिरते हैं। वे राधा के मनरंजन खंजन हैं। वे नागर हैं, रंगभीने हैं आदि आदि।[2] यों सुजान-शिरोमणि श्याम-सुंदर को गाली देने में गोपियाँ हिचकती हैं क्योंकि बड़े लोगों के अवगुण का वर्णन करने में संकोच होता है। किंतु होली का अवसर है, बड़ा और छोटा क्या? इस अवसर पर तो भगवान की विरुदावली नहीं, गाली गाई जाती है। प्रेम-सम्बन्ध में गाली की ही शोभा है। अतएव संकोच छोड़कर गोपियाँ वेद के अगम प्रभु को गाली सुनाना आरम्भ करती हैं। न तो ब्रह्म के पिता का निर्णय है न जाति-पाँति का, जिसके मन में जैसा आता है वैसा बखानता है। जिस चंचल माया नटी ने जगत को भ्रष्ट कर रखा है, उसकी ओर देखने में कौन सी बड़ाई है, जहाँ-तहाँ हँसाई ही है। बचपन से कृष्ण ने कौन-सा भला कार्य किया? उत्तम जन के योग्य वस्तु (मुक्ति) को अधमों को दे दिया। दस मास जिस माता के गर्भ में रहे उसकी आशा तोड़कर गोरस की लालच में दूसरे के पुत्र बन गये। बालपन से ही गोपियों के सूने गृह में डटे, रंक की तरह दधि के भाजन चाटे। बड़े गोप के बेटे होकर भी दूसरे का भात माँगा, न मिलने पर तीसरे से माँगा,—याचना करने में तनिक भी संकोच न हुआ। उन्होंने निपट निर्लज्ज होकर गोप-कन्याओं के पट चुराये। वेणु के द्वारा बुलाकर पराई नारियों के साथ बन में विलास किया। मोहन, वशीकरण, चेटक आदि का यंत्र-मंत्र जानते हैं, उस पर से जग उनकी प्रशंसा करता है?[3]

कृष्ण भी अपना दाँव ले लेते हैं, वे क्यों चूकें। गोपियों ने कृष्ण को स्त्रीवेश धारण करवाया था। वे स्वेच्छा से स्त्री बनकर रसोपभोग का अवसर खोज लेते हैं। एक सुंदरी स्त्री का वेश बनाकर, सारी-कंचुकी पहन कर, केसर का टीका लगाकर और सारे अंगों में फूलों का शृंगार करके, सौदामिनी-सी मुस्कान सहित वे युवतियों के बीच आते हैं। उनके रूप से गोपियाँ ठगी-सी, विमोहित रह जाती हैं। वे उत्सुक हो उस अनुपम सुंदरी का परिचय पूछने लगती हैं। नवेली ब्रज-बाला हँस-हँस कर, रसाल वचनों को रच-रच कर उत्तर देती है कि वह उन्हीं लोगों के साथ की खेली है। जान कर भी सहेलियाँ अजान बन रही हैं? गोपियाँ यह सुनकर चकित हो जाती हैं, उन्हें तो वह नवला हरि के से नेत्रोंवाली, उनकी-सी वाणी वाली प्रतीत होती है। किंतु वे उसे पहिचानने में असमर्थ रहती हैं। सखी कहती है कि राधा उन्हें अच्छी तरह पहिचानती हैं। राधा अकेली आई हैं इसीलिए कीर्ति ने उसे भेजा है। यह नई, सहेली एक खेल सुझाती है : सघन विपिन में लुका-छिपी का। वहाँ सब लोग एक साथ न जायें, दो-दो अलग-अलग डोलें। उसने राधा को पकड़ कर अपनी जोड़ी बना ली, ऐसे ही दो-दो की टोलियाँ बन गई हैं। मौन धारण करना इस खेल की अनिवार्य शर्त रखी गई। अतएव मौन रख कर राधा और वह सखी किसी कुंज में प्रविष्ट हो जाती हैं। अन्य सखियाँ कुंजों में उन्हें खोजती फिरती हैं और राधा-हरि सुख-पुंज में विलास करते हैं। तदुपरान्त अकेली राधा आती दिखाई पड़ती हैं। गोपियाँ पूछने लगती हैं कि संग की सखी कहाँ है? राधा कहती हैं कि किसी गह्वर बन में वे उस सखी से बिछड़ गईं, डरी हुई किसी प्रकार यहाँ आई हैं। सखी को उन्होंने शायद पुष्पवाटिका में देखा है। सुनते ही नागरी गोपियाँ दौड़ पड़ती हैं और सहेली को पकड़ लाती हैं। फिर तो कृष्ण का वही हाल होता है जो पहिले हुआ था,—सर पर से केशर ढलकायी जाती है, वेणी

---

१. माधुरी वाणी : होरी माधुरी, पद सं० ३०।
२. परमानन्द सागर, पद सं० ३३५।
३. गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ७२।

गूंथी जाती हैं आदि-आदि।[1] विजय अन्ततः गोपियों की रहती हैं, पर एकांत में रस-विलास का बहाना कृष्ण खोज ही लेते हैं। वे भीड़ से अलग राधा के साथ कुंज में होली खेलते हैं, परस्पर प्रेम में वे एक दूसरे के मुख में बूका लगाते हैं।[2] यों तो राधा-कृष्ण की प्रीति जगत-विदित है, सखियों से छिपाने की क्या आवश्यकता? पर गोपनता में विशेष सुख है। दोनों कमल-क्रीड़ा में रत होते हैं। ओर कोर से छिपकर सहचरियाँ देखती हैं। आह्लाद के साथ आनंद व्रीड़ारहित होकर क्रीड़ा करता है। दोनों ओर से मार मचती है; एक तो दोनों नागर किशोर हैं, उस पर से यौवन का जोर। सौरभ का समूह घुमड़ता रहता है, गंध मंडराती रहती है, मधुलिह मदंध होते जाते हैं। राधा कृष्ण के कौतुक को सखियाँ चकित होकर देखती रहती हैं।[3]

आनंद और आह्लाद का यह रागरंग मन के सारे प्रसन्न स्रोतों को उन्मुक्त कर देता है। भक्त-कवि चांचर, चैतवगाली, फाग के गीतों से अपने हृदय के विशद आह्लाद को मुखरित कर देता है। अब कृष्ण से सारी दूरी मिट गई है। गोपियाँ उन्हें निकट से पा गई हैं। कृष्ण से चांचर खेलना चाहती हैं, कोई अकेली नहीं रहना चाहती। वे चोवा चंदन अरगजा लेकर रंग की रेलपेल मचाना चाहती हैं, निशंक होकर खेलना चाहती हैं। बहुत दिनों की संचित अभिलाषाओं को भली भाँति समेट कर तृप्त करने का अवसर बसंत-लीला में आया है, अतएव दुःख को पैरों से रौंद डाला गया है।[4] मतवाले मीत ने उन्हें रसोद्रेक के लिए विह्वल कर दिया है। एक तो रस-मत्त प्रियतम, उस पर से वृन्दावन का संयोग। दोनों ने मिलकर आनंद-क्रीड़ा को वसंत-लीला के रूप में उच्छलित कर दिया है। वृन्दावन सहज सुहावना है, वहाँ सदा हरियाली रहती है। आनंद-घन प्रिया प्रियतम स्वाति-बूंद बन कर वहाँ नित्य बरसते रहते हैं। इस नित्य आनंद-वर्षा से प्राण-पपीहा पीउ-पीउ की रट लगाकर रस गटक लेता है, बड़े भाग-सुहाग से चिर-स्वाति बूंद जैसी अपूर्व वस्तु मिलती है। इस रस से तन की तृष्णा बुझा लेना चाहिये, मन को कभी तृप्ति का अनुभव नहीं होना चाहिए।[5] उस आनंद-घन के रस में स्नात होकर तृप्ति में भी अतृप्ति की

---

१. सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ८३। २. स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० १००।

३. दोऊ लाल करत मिलि कमल केलि, दुरि ओरे कोरें देखति सहेलि।

. . . .

अह्लाद सहित आनँद उदार; व्रीड़हिं तजि क्रीड़हिं विवि विहार।
मची मार परस्पर दुहूँ ओर; जोवन सजोर नागर किसोर।
अंग-अंग उपटि छवि देत ऐन; मुख हो हो हो हो वदत वैन।
घुमड़ाय रह्यो सौरभ समूह; सचकित भये लोचन लखि कुतूह।
बलि श्री हरिप्रिया मधुलिह मदंध; मड़राय रहे घमड़ाय गंध।—महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० ४

४. या मतवारे मीतसों मिलि चाँचरि खेलौ री।
कोउ रहो न अकेलि अकेली हेली सुनो सब हेलो री!
चोवा चंदन अरगजा ले रंग में रेलौ री!
और अबीर गुलाल उड़े वुका बंदन मेलौ री!
होय निशंक सुटंक टरौ जिनि जानि अवेलौ री!
बहु दिनकी मन की रली भलीभाँति सकेलौ री!
श्रीहरि प्रिया प्रताप ते दुख पायन पेलौ री! —महावाणी : उत्साह सुख (चांचरि) पद सं० २७

५. वृन्दावन सहज सुहावनो जहाँ सहज सदा हरियारी जू।
स्वाति बूंद नित वरषहीं जहाँ आनंदघन पिय प्यारी जू।।
बोलि बोलि पपीहा पीउ पीउ रस गटक लै रस गटक लै।।

अनुभूति बनी रहती है। फाग के अवसर पर रस उमड़ पड़ा है। नंदकुमार के साथ हँस-मिल कर खेलने का यही अवसर है। अब वे भक्तों से छिप नहीं सकते, राधा के जीवन-प्राण, रसिकराज को दर्शन देना ही पड़ेगा। गोकुल में अब प्रीति प्रकट हो गई है, दुराव कैसे रह सकता है। गोपियाँ अब दर्शन के बिना जीवित नहीं रह सकतीं, कोई कुछ भी उपाय कर ले। यशुमति के पुत्र की मुस्कान उनके चित्त में चुभ रही है, अब अन्यत्र रुचि नहीं उपजती, उन्हें देखने की सहज आदत पड़ गई है। गोपियों की यह रसाकांक्षा कृष्ण पूरी करते हैं, बिना गोपाल की कृपा के इस रस को कोई भी नहीं पा सकता।[1] जिसका नाम राधिका है उसी का नित्य सुहाग है। रसभरे प्रभु जब फाग खेलते हैं तब मदन-नृपति की सेना दलमलित हो जाती है।[2] रस के आदि-नायक की क्रीड़ा है यह, मदन क्यों न दलित हो जाय। सर्वगुण-सम्पन्न, परम-रूपवान कृष्ण की रसलीला की यह चरम-परिणति है। इसमें तन मन की सारी ग्रन्थियाँ खुल चुकी हैं, तभी कृष्ण के मदन भाव की चाँचर मच सकी है।[3]

वस्तुतः वसंत-लीला आनंदातिरेक का प्रतीक है, मिलन-रस की पूर्ण संसिद्धि है। दोनों ओर से आनंद की ऐसी वर्षा हो रही है जैसे भादों में मेह की।[4] भक्त और भगवान समान रूप से रस की अनुभूति कर रहे हैं। अब अनुग्रहीत और अनुग्राहक का भाव मिट गया है। तन मन की सारी ग्रंथियाँ खुल गई हैं, अणु में विभु के सारे गुण प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। जीव का आनंदरूप पूर्णतया उद्‌घाटित है। अतः जगत में आनंद उमड़ पड़ा है। याम-घड़ी बीतते हुए किसी को भान नहीं रहा, चिरन्तन आनंद ने हृदय में प्रवेश कर लिया है। अब द्वैत-भाव-जन्य विरह नष्ट हो चुका है।[5] कृष्ण और गोपियों में तनिक भी अंतर नहीं रह गया, अति-आनंद का प्रमाद छा गया है, मानो प्रेम-समुद्र ने उमड़ कर मर्यादा तोड़ दी हो।[6] रंगरांची ग्वालिनें अति-आनंद से अधीर

शेष—तेरेइ भागसुहाग सों यह वस्तु अपुरबे आई जू।
तनकी तृषा बुझाय लै मति माने मन तृपताई जू॥ —वही, पद सं० २९ (चैतवगारी)

१. आजु परब हँसि खेलियै, मिलि सँग नंदकुमार। मनोरा झूम करो ॥
मोहन दरस दिखावहू दुरहु तो नंद की आन। म०।
रसिकराइ सुंदर बरन, राधाजीवन प्रान। म०॥
प्रगट प्रीति गोकुल भई, कैसौं करत दुराउ। म०।
हम न दरस बिनु जीवहीं, कोउ कछु करौ उपाउ। म०॥
जसुमतिसुत, चित चुभि रही, वह तुम्हरी मुसुकानि। म०।
अब न अनत रुचि ऊपजै, सहज परी यह बानि। म ०।
....
'सूर' गुपाल कृपा बिना, यह रस लहै न कोई। म०। —सूर सागर, पद सं० ३४८३

२. भाई नीके लागें दुलह दुलहिन खेलत फाग। जाको नाम राधिका गोरी ताको नित्त सुहाग॥
रसभरे 'गोविंद' प्रभु के खेलत मदन नृपति की सैन दलिता॥ —गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १२०

३. चांचरि माची मैन की हो हो हो मुख बोल।
सब गुन रूप अचागरे तन मन ग्रंथिन खोल। —महावाणी, उत्साह सुख, पद सं० ३३

४. दोऊ दिसि पै आनँद बरषत ज्यौं भादौं कौ मेह॥ —सूर सागर, पद सं० ३४८४

५. राग-रंग सोभा अँग-अँग प्रति, निरखि बिरह भज्यौ बिदेस॥
जानत नहीं जाम घरी बीतत अति आनंद हृदै प्रवेस। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७१

६. अंतर कछु न रह्यौ तिहिं औसर, अति आनंद प्रमाद।
मानहु प्रेम समुद्र 'सूर' बल, उमँगि तजी मरजाद॥ —सूरसागर, पद सं० २४८८

गूंथी जाती हैं आदि-आदि।[१] विजय अन्ततः गोपियों की रहती हैं, पर एकांत में रस-विलास का बहाना कृष्ण खोज ही लेते हैं। वे भीड़ से अलग राधा के साथ कुंज में होली खेलते हैं, परस्पर प्रेम में वे एक दूसरे के मुख में बूका लगाते हैं।[२] यों तो राधा-कृष्ण की प्रीति जगत-विदित है, सखियों से छिपाने की क्या आवश्यकता? पर गोपनता में विशेष सुख है। दोनों कमल-क्रीड़ा में रत होते हैं। ओर कोर से छिपकर सहचरियाँ देखती हैं। आह्लाद के साथ आनंद व्रीड़ारहित होकर क्रीड़ा करता है। दोनों ओर से मार मचती है; एक तो दोनों नागर किशोर हैं, उस पर से यौवन का जोर। सौरभ का समूह घुमड़ता रहता है, गंध मंडराती रहती है, मधुलिह मदंध होते जाते हैं। राधा कृष्ण के कौतुक को सखियाँ चकित होकर देखती रहती हैं।[३]

आनंद और आह्लाद का यह रागरंग मन के सारे प्रसन्न स्रोतों को उन्मुक्त कर देता है। भक्त-कवि चांचर, चैतवगाली, फाग के गीतों से अपने हृदय के विशद आह्लाद को मुखरित कर देता है। अब कृष्ण से सारी दूरी मिट गई है। गोपियाँ उन्हें निकट से पा गई हैं। कृष्ण से चांचर खेलना चाहती हैं, कोई अकेली नहीं रहना चाहती। वे चोवा चंदन अरगजा लेकर रंग की रेलपेल मचाना चाहती हैं, निशंक होकर खेलना चाहती हैं। बहुत दिनों की संचित अभिलाषाओं को भली भाँति समेट कर तृप्त करने का अवसर बसंत-लीला में आया है, अतएव दुःख को पैरों से रौंद डाला गया है।[४] मतवाले मीत ने उन्हें रसोद्रेक के लिए विह्वल कर दिया है। एक तो रस-मत्त प्रियतम, उस पर से वृन्दावन का संयोग। दोनों ने मिलकर आनंद-क्रीड़ा को वसंत-लीला के रूप में उच्छलित कर दिया है। वृन्दावन सहज सुहावना है, वहाँ सदा हरियाली रहती है। आनंद-घन प्रिया प्रियतम स्वाति-बूंद बन कर वहाँ नित्य बरसते रहते हैं। इस नित्य आनंद-वर्षा से प्राण-पपीहा पीउ-पीउ की रट लगाकर रस गटक लेता है, बड़े भाग-सुहाग से चिर-स्वाति बूंद जैसी अपूर्व वस्तु मिलती है। इस रस से तन की तृष्णा बुझा लेना चाहिये, मन को कभी तृप्ति का अनुभव नहीं होना चाहिए।[५] उस आनंद-घन के रस में स्नात होकर तृप्ति में भी अतृप्ति की

---

१. सूरदास मदनमोहन की वाणी, पद सं० ८३। २. स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० १००।

३. दोऊ लाल करत मिलि कमल केलि, दुरि ओरे कोरें देखति सहेलि।

. . . .

अह्लाद सहित आनँद उदार; व्रीड़हिं तजि क्रीड़हिं विवि विहार।
मची मार परस्पर दुहूँ ओर; जोवन सजोर नागर किसोर।
अंग-अंग उपटि छवि देत ऐन; मुख हो हो हो हो वदत वैन।
घुमड़ाय रह्यो सौरभ समूह; सचकित भये लोचन लखि कुतूह।
बलि श्री हरिप्रिया मधुलिह मदंध; मड़राय रहे घमड़ाय गंध।—महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० ४

४. या मतवारे मीतसों मिलि चाँचरि खेलो री।
कोउ रहो न अकेलि अकेली हेली सुनो सब हेलो री!
चोवा चंदन अरगजा ले रंग में रेलौ री!
और अबीर गुलाल उड़े बुका बंदन मेलौ री!
होय निशंक सुटंक टरौ जिनि जानि अवेलौ री!
बहु दिनकी मन की रली भलीभाँति सकेलौ री!
श्रीहरि प्रिया प्रताप ते दुख पायन पेलौ री! —महावाणी : उत्साह सुख (चांचरि) पद सं० २७

५. वृन्दावन सहज सुहावनो जहाँ सहज सदा हरियारी जू।
स्वाति बूंद नित बरषहीं जहाँ आनंदघन पिय प्यारी जू॥
बोलि बोलि पपीहा पीउ पीउ रस गटक लै रस गटक लै॥

अनुभूति बनी रहती है। फाग के अवसर पर रस उमड़ पड़ा है। नंदकुमार के साथ हँस-मिल कर खेलने का यही अवसर है। अब वे भक्तों से छिप नहीं सकते, राधा के जीवन-प्राण, रसिकराज को दर्शन देना ही पड़ेगा। गोकुल में अब प्रीति प्रकट हो गई है, दुराव कैसे रह सकता है। गोपियाँ अब दर्शन के बिना जीवित नहीं रह सकतीं, कोई कुछ भी उपाय कर ले। यशुमति के पुत्र की मुस्कान उनके चित्त से चुभ रही है, अब अन्यत्र रुचि नहीं उपजती, उन्हें देखने की सहज आदत पड़ गई है। गोपियों की यह रसाकांक्षा कृष्ण पूरी करते हैं, बिना गोपाल की कृपा के इस रस को कोई भी नहीं पा सकता।[१] जिसका नाम राधिका है उसी का नित्य सुहाग है। रसभरे प्रभु जब फाग खेलते हैं तब मदन-नृपति की सेना दलमलित हो जाती है।[२] रस के आदि-नायक की क्रीड़ा है यह, मदन क्यों न दलित हो जाय। सर्वगुण-सम्पन्न, परम-रूपवान कृष्ण की रसलीला की यह चरम-परिणति है। इसमें तन मन की सारी ग्रन्थियाँ खुल चुकी हैं, तभी कृष्ण के मदन भाव की चांचर मच सकी है।[३]

वस्तुतः वसंत-लीला आनंदातिरेक का प्रतीक है, मिलन-रस की पूर्ण संसिद्धि है। दोनों ओर से आनंद की ऐसी वर्षा हो रही है जैसे भादों में मेह की।[४] भक्त और भगवान समान रूप से रस की अनुभूति कर रहे हैं। अब अनुग्रहीत और अनुग्राहक का भाव मिट गया है। तन मन की सारी ग्रंथियाँ खुल गई हैं, अणु में विभु के सारे गुण प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। जीव का आनंदरूप पूर्णतया उद्घाटित है। अतः जगत में आनंद उमड़ पड़ा है। याम-घड़ी बीतते हुए किसी को भान नहीं रहता, चिरन्तन आनंद ने हृदय में प्रवेश कर लिया है। अब द्वैत-भाव-जन्य विरह नष्ट हो चुका है।[५] कृष्ण और गोपियों में तनिक भी अंतर नहीं रह गया, अति-आनंद का प्रमाद छा गया है, मानो प्रेम-समुद्र ने उमड़ कर मर्यादा तोड़ दी हो।[६] रंगराची ग्वालिनें अति-आनंद से अधीर

शेष—तेरेइ भागसुहाग सों यह वस्तु अपुरवे आई जू।
तनकी तृषा बुझाय लै मति माने मन तृपताई जू।। —वही, पद सं० २९ (चैतवगारी)

१. आजु परब हँसि खेलियै, मिलि सँग नंदकुमार। मनोरा झूम करो ।।
मोहन दरस दिखावहू दुरहु तो नंद की आन। म०।
रसिकराइ सुंदर बरन, राधाजीवन प्रान। म०।।
प्रगट प्रीति गोकुल भई, कैसौं करत दुराउ। म०।
हम न दरस बिनु जीवहीं, कोउ कछु करौ उपाउ। म०।।
जसुमतिसुत, चित चुभि रही, वह तुम्हरी मुसुकानि। म०।
अब न अनत रुचि ऊपजै, सहज परी यह बानि। म ०।
....
'सूर' गुपाल कृपा बिना, यह रस लहै न कोई। म०। —सूर सागर, पद सं० ३४८३

२. भाई नीके लागें दुलह दुलहिन खेलत फाग। जाको नाम राधिका गोरी ताको नित्त सुहाग।।
रसभरे 'गोविंद' प्रभु के खेलत मदन नृपति की सैन दलिता।। —गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० १२०

३. चांचरि माची मैन की हो हो हो मुख बोल।
सब गुन रूप अचागरे तन मन ग्रंथिन खोल। —महावाणी, उत्साह सुख, पद सं० ३३

४. दोऊ दिसि पै आनँद बरषत ज्यौं भादौं कौ मेह।। —सूर सागर, पद सं० ३४८४

५. राग-रंग सोभा अँग-अँग प्रति, निरखि बिरह भज्यौ बिंदेस।।
जानत नहीं जाम घरी बीतत अति आनंद हृदै प्रवेस। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७१

६. अंतर कछु न रह्यौ तिहिं औसर, अति आनंद प्रमाद।
मानहु प्रेम समुद्र 'सूर' बल, उमँगि तजी मरजाद।। —सूरसागर, पद सं० २४८८

हैं।[१] इस रसक्रीड़ा का सुख सारे सुखों से न्यारा है।[२] हृदय में आनंद का हुलास अत्यन्त बढ़ा हुआ है, किसी से रुकता नहीं है, रससिंधु सीमाएँ तोड़कर उमड़ चला है।[३] ज्ञान-ध्यान, जप-तप सब भुला दिया गया है, मुनियों ने अपना आसन छोड़ दिया है, आगम-निगम के पंडित, शिव-विरंचि सब बावले हो रहे हैं।[४] एकमात्र रागरंग छाया हुआ है; अब रस की अनुभूति में कोई बन्धन नहीं रह गया है, रस का प्रवाह बह चला है।[५] अंतर का अनुराग पूर्णतया उद्-बुद्ध है, वह प्रकट है, तिरोहित नहीं। होली के रस में मग्न होकर भक्त विदेह हो गया है। समझ में नहीं आता। कौन कौन हैं, सब एकमेव होकर गुंथ गये हैं। रसिक और रसज्ञ परस्पर संगुम्फित हैं।[६] क्रीड़ा-रस में मग्न होकर सब ने तन की सुधि खो दी है।[७] सब क्रीड़ा-रस के वश में हैं, न मान है न विरह, मन में एक ही अनुभूति है : आनंद।[८] ब्रज-वनिताओं की रस-कामना को कृष्ण ने आत्यंतिक रूप से पूर्ण किया है, प्रेम के सलिल से उर-अंतर भिना हुआ है।[९] होली में गिरिधर के अनुराग के रंग और रस से बरसाना भीग गया है।[१०] गोपियों और गोपाल के समान अनुराग ने रस की पूर्ण निष्पत्ति कर दी है। अन्य लीलाओं के द्वारा जो रस-लहरें बनती रही हैं वे वसंत-लीला में समाहित होकर निस्सीम और अमाप बन गई हैं। अब रस पूर्णतया असीम हो चुका है। लीला-रस अब सिंधुवत् हो गया है, अगाध अथच शत-शत विलासोर्मि में उद्वेलित। इस लीला-रस सिंधु का वर्णन कौन कवि कर सकता है? इसे अंतर्चक्षु से देखते ही नेत्र थकित हो जाते हैं, वर्णन कैसे हो।[११] भक्त का कवि वशीभूत हो जाता है, रह जाती है एकमात्र भक्ति। वह केवल कृष्ण के रंग से रँग जाता है, उसे और रंग नहीं सुहाते। वह यादवराय से नित्य होली खेलना चाहता है, फगुवा के रूप में उनकी चितवन और मृदु मुस्कान ही पाना चाहता है, अन्य कुछ

---

१. अति आनंद अबीर, नैन सलोने री रँगराँची ग्वालिनि।। —सूर सागर, पद सं० ३४८६

२. यह ब्रज होरी खेल को सब सुख ते सुख न्यारो जू। —माधुरी वाणी : होरी माधुरी, पद सं० ३०

३. अति हुलास हिय में बढ्यौ अब कापै यह रोक्यो जाय।
उमगि चल्यौ रस सिंधु ज्यौं अपनी मर्यादा बिसराय। —वही, पद सं० ३०

४. ज्ञान, ध्यान, जप, तप सब बिसरे, आसन मुनिगन छाँड़े।
आगम निगमनि के पंडित सब सिव विरंचि बौराए।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ७४

५. राग-रंग रह्यौ, रस कौ प्रवाह बह्यौ —भक्त कवि व्यास जी : वाणी, पद सं० ६४८

६. मगन भई तन की सुधि भूली
समुझि न परै कौन की को री।
अंतर तें अनुराग प्रगट भयौ
प्रेम सिंधु मरजादा तोरी। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ९१

७. फाटत चीर रहत द्रुम द्रुम प्रति टूटत मोतिनि हार।
क्रीड़ा रस बस भए मगन मन, तन की तजी सँभार।। —वही, पद सं० ९६

८. क्रीड़ारस-बस भये मगन सब मान न मन आनंदना।
'दास चतुर्भुज' प्रभु सब सुख-निधि गिरिधर-बिरह-निकंदना।। —वही पद सं० ८८

९. ब्रजबनिता मन पूरन कीनों।
प्रेम सलिल उर अंतर भीनों।। वही, पद सं० ८६

१०. गिरिधर के अनुराग सों रंग भीज रह्यो बरषानों जू। —माधुरी वाणी : होरी माधुरी, पृ० ८८

११. यह लीला रस सिंधु को कवि वरनि सके।
दास गदाधर जाय निरखत नयन थके।। —गदाधर भट्ट की वाणी, पद सं० ६६।

नहीं। स्याम ही उसके जीवन और प्राण हैं, अन्य कोई नहीं।[1] इस सर्वात्मभाव से आत्मनिवेदन में रसानुभूति का परिपाक होता है। वसंत-लीला में रस आसव रूप हो जाता है। इस आसव में छक कर कृष्ण उन्मत्त हो जाते हैं।[2] रसाविष्ट कृष्ण गोपियों से रस ग्रहण करते हैं।

(९) निकुंज लीला

जो रस दानलीला के द्वारा गोपियों की देह में समाहित हो गया था वह निकुंज-लीला में तरंगायित हो उठता है। निकुंज-लीला में गोपी-कृष्ण अथवा राधा-कृष्ण का रतिविलास वर्णित है। रस जब देह से भी अभिव्यक्त हो, आनन्द की अनुभूति जब दैहिक-चेतना में भी हो, तब रसानुभूति की चरम-संसिद्धि होती है। निकुंज लीला में राधा और कृष्ण, आराधक और आराध्य एकमेव हो जाते हैं। मन का व्यवधान तो पहिले ही मिट चुकता है, तन का व्यवधान भी विलीन हो जाता है। रसानुभूति की प्रगाढ़तम अवस्था भी तभी आती है जब स्थूलतम यंत्रों में भी सूक्ष्म आनंद का रस प्रवाहित होता है। केवल आत्मा (Self) के स्तर पर जीव और ब्रह्म का मिलन नहीं होता, सत्ता के निम्नतम धरातल पर वह मिलन सम्पन्न होता है, देह में भी आनन्द की धारा प्रवाहित होती है। अवश्य ही यह रसानुभूति की अंतिम अवस्था है, रस साधना की चरम-परिणति है। बिना जड़-देह के चिन्मय-रस से सिक्त हुए रसानुभूति पूरी नहीं होती, वह अधूरी ही रह जाती है। लीला-भाव के द्वारा आनंद की प्राप्ति में यह अनिवार्य है कि प्राण की सारी वृत्तियाँ आनंद की खोजी हों, देह की वृत्तियाँ आनंद वहन कर सकने में समर्थ। यों मनस् के धरातल पर आनंद की निर्विकार अनुभूति तो ज्ञानी और योगी भी कर लेते हैं, पर सत्ता के व्यक्त अंगों में उस रस की अनुभूति को उतार लाना ही कृष्ण-भक्ति की रस-साधना का मूलमंत्र है। अतः देह को दास्य-भाव से स्तब्ध न करके मधुर-भाव से उस साधना का पात्र बनाया जाता है। चरम निगूढ़ रसानुभूति का आस्वादक यह देह भी बनता है। निकुंज-लीला में दैहिक अभिव्यक्तियों में रस का उत्क्षेपण हुआ है।

ब्रह्म जब सगुण रूप धारण करके साकार होता है तब वह भक्त से प्रत्येक स्तर पर तादात्म्य पाना चाहता है। इस तादात्म्य में ही आनंद की अनुभूति होती है, अलग रह कर नहीं। देह के स्तर पर जीव और ब्रह्म में जड़ता और चिन्मयता की खाई बनी रहती है। रससाधक भक्तों के भावदेह में यह दूरी मिट जाती है। तब भगवान कामाधीन होकर भक्त से दैहिक-मिलन की कामना अभिव्यक्त करते हैं। कृष्ण में ऐसी कामना उठती है कि राधा के प्राण से प्राण मिल जायं, वे तन में तन समा लें, आंखों से आंखें मिली रहें।[3] इस मनोकामना की पूर्ति निकुंज-लीला में होती है। निविड़ निकुंज में रस-सागर उद्वेलित

---

१. स्याम तुम्हारैं रँग रंगी हैं, और न रंग सुहाइ।
नितही होरी खेलियै हो, तुम सँग जादवराइ॥
यह फगुवा हम पावहीं, चितवनि मृदु मुसुकान।
सूर स्याम ऐसैं करौं जू, तुम हौ जीवनप्रान॥ —सूर सागर, पद सं० ३५०२

२. "रूपरसिक" रसासव में छकि डोलत हौ डहकैं वरजोरी॥ —निम्बार्क-माधुरी
(—रूप रसिक जी : पद सं० ११, पृ० १०२),

३. ऐसी जीय हौत जो जीय सों जीय मिलैं,
तन सौं तन समाइ ल्यौतौ देखों कहा हो प्यारी।
तोही सौंहि लग आँखिनिसों आँखें,
मिली रहें जीवत को यहै लहा हो प्यारी। —स्वामी हरिदास : केलिमाल, पद सं० ३५

होता है।[1] बल्लभ-संप्रदाय में गोपियाँ श्रीकृष्ण-संगम के लिए उत्सुक रहती हैं, क्योंकि वे रसराज हैं और गोपियाँ रसिकनी। किंतु निम्बार्क और राधा-बल्लभ संप्रदायों में राधा रसालय हैं और कृष्ण रस के याचक हैं[2] रसभरी राधिका रसिक सुंदर साँवरे की प्राण, जीवन, जड़ी हैं। गौर-अंग सुरत के रंग से रंजित है, उनकी और कृष्ण की सहज जोड़ी बन पड़ी है।[3] स्वामिनी सारे सुखों की खान हैं, जब वे प्रियतम के उर से लगती हैं तब रोम-रोम रति-रस में रँग जाता है। प्रेमदान से अंग-अंग अनुदिन सुख पाते हैं, क्षण-क्षण अधिकाधिक सुख प्राप्त करते हैं। प्रेम का दान प्रिया के लिए सहज और स्वाभाविक है।[4] यही अनुभूति कृष्ण से बल्लभ संप्रदाय की गोपियों को होती है। कृष्ण के अंग संग के लिये वे साधना करती हैं। वे पतिरूप में कृष्ण को पाना चाहती हैं। कृष्ण पति हों या उपपति, गोपियों की प्रेम-वांछा उनके साथ विहार करने से ही संतुष्ट नहीं हो जाती, रास में प्राप्त संस्पर्श से ही वे पूर्णतुष्ट नहीं हो जातीं,—रास लीला तो प्रथम साहचर्य है, घनिष्ठतम संपर्क की भूमिका मात्र, वे कृष्ण से एकमेक हो जाने को उत्सुक रहती हैं। गोपियों ने जब वृन्दावन में कृष्ण का सालोक्य प्राप्त कर लिया है तब वे सामीप्य पर ही नहीं रुकतीं, पूर्ण तादात्म्य चाहती हैं, सायुज्य की कामना से अभिभूत रहती हैं। बल्लभ-संप्रदाय में जिस पांचवीं मुक्ति की अभिनव कल्पना की गई है उसे सायुज्य-अनुरूपा कहा गया है। यह सायुज्य-अनुरूपा मुक्ति ही नित्य लीला-प्रवेश है। लीला में पूर्ण प्रवेश उन्हीं को प्राप्त है जो दैहिक रूप से भी कृष्ण से नित्य-युक्त हैं जैसे उनके सिद्धपुष्ट भक्त। पुष्टिपुष्ट भक्त की रससाधना की अंतिम सिद्धि सिद्धपुष्ट भक्त बन जाने में है। इसलिए गोपियाँ कृष्ण-संगम के हेतु सतत उद्यमशील रहती हैं। निकुंज में कामकेलि के सम्पन्न होने पर उन्हें मधुर-रस की पूर्ण अनुभूति हो जाती है। रसिक कृष्ण प्रणयरस में कामरस का उपभोग करके उन्हें कृत-कार्य करते हैं। निकुंजलीला में काम का अध्यात्मीकरण संपन्न होता है।

कृष्ण अपनी रति चेष्टाओं में नागर हैं। यों वे कितने ही स्वच्छंद क्यों न हों, इस लीला में वे याचक बन कर ही उपस्थित होते हैं। इसमें ज़ोर नहीं चलता; कोई कितना ही सबल क्यों न हो, सुई की नाक से निकलना होता है। बिना कहे इधर-उधर हिलडुल नहीं सकता, यदि वह ऐसा करता है तो गंवार ही समझा जाता है। निकुंज-रस पर प्रिया का अविचल राजत्व है, ध्रुव टले तो टले, उनका प्रभुत्व नहीं टल सकता।[5] इसीलिए कृष्ण

---

१. निबिड़ निकुंज मिले रससागर जीते सत रतिराज सुरत रन।। —हित चौरासी; पद सं० ४४

२. माँगत लाड़िलौ रसदान
देहु दया करि कुँवरि किसोरी हौ तुम मायानिधान।।
अति उदार अरबी करबी न उचित अहो बीतत वर्ष समान।
श्रीहरिप्रिया सकल सुखदायक लायक परम सुजान। —महावाणी : सहज सुख, पद सं० २७

३. जय श्रीराधिका रसभरी।
रसिक सुंदर साँवरे की प्रान-जीवन-जरी।।
गौर अंग अनंग अद्भुत सुरति-रंगनि-ररी।
सहज अंग अभंग जोरी सुभग-साँचे -ढरी।। —वही, पद सं० ३२

४. स्वामिनी सकल सुखन की खानि।
रोम-रोम रति-रस से रागति जब उर लागति आनि।।
पावत सचु अँग अँग अनुदिन छिन-छिन अति अधिकानि।
श्रीहरिप्रिया सहज स्वाभाविक परम प्रेम की दानि।। —वही, पद सं० ८९

५. जोरावरि न चले या नगर में अदलै।
कैसोई अवल सवल किन होउ कोऊ सुई नाके निकलै।।

अपनी सारी प्रभुता भूलकर प्रीति की रीति अपनाते हैं। इस रीति को जानने में नायक कृष्ण सर्वोपरि हैं। यद्यपि सारे लोकों के वे चूड़ामणि हैं तथापि यहाँ पर अपने को दीन मानते हैं। निकुंज-भवन में जब राधा मान ठानती हैं तब कोटि नवीना कामिनियों के निकट रहते हुए भी कृष्ण धैर्य नहीं धारण कर पाते। उनका नेह मधुप की भाँति चपल और नश्वर नहीं है जो अन्य-अन्य से प्रीति करता रहता है। वे एकमात्र राधा-रस में आसक्त हैं, कामुक नहीं।[1] इसीलिए इस रस को प्राप्त करने में वे अत्यन्त दीन हो जाते हैं। वे निपुण नायक हैं, मोहन हैं, किन्तु फिर भी चंचल नहीं है, राधा के सम्मुख अपना सब कुछ हार जाते हैं।[2] उनकी इस दीनता से रस की अधिष्ठात् देवी राधा भी प्रसन्न होकर सर्वस्व दे डालने से नहीं हिचकतीं। किन्तु वे भी नागरी हैं। रतिक्रीड़ा में वे बनावटी क्रोध प्रदर्शित कर कृष्ण की रसवांछा को उत्तेजित करती रहती हैं। नवल नागर और नवल नागरी मिलकर कुंज में कोमल कमल-दलों की शैया रचते हैं। उस शैया पर गौर और श्यामल के रुचिर अंग इस प्रकार मिलते हैं जैसे सरस नीलमणि मृदुल कंचन में खचित हो। सुरत के हेतु जब प्रिय चेष्टा करते हैं तब प्रिया मानिनी हो जाती हैं और मधुर कलह मच जाती है। उरोज का स्पर्श करते ही रोष, हुंकार गर्व से भामिनी की दृगभंगि लच जाती है। रभस की कोई भी माधुरी नहीं बचती।[3] रति-विहार में कृष्ण अपना अंग हार जाते हैं।[4] यों रसिक पुरन्दर अपना भाग पूर्ण रूप से ले लेते हैं। आनंद-महल में वे इस प्रकार केलि करते हैं जैसे उमँग-उमँग कर घन बरस रहा हो। प्राणप्रिया के परमपद की प्रशंसा करके वे मुदित मन से आगे बढ़ते चले जाते हैं किन्तु सदैव रुख लेकर विलसते हैं। राधा का वदन है या सुधासदन ? नयन मैन के ऐन हैं, भौंहें कामधनु सी चढ़ी हैं। रसना और मधु अधर के रस के चषक का कृष्ण को चस्का लग जाता है। श्रम-बूंदें बदन पर झलकने लगती हैं, अलकें छहराने लगती हैं। मोतियों की लड़ टूट जाती है, चिकुर-चंद्रिका सर से छूट जाती है। बिंदी मृगमद से सन जाती है। रसवादी नायक रसवाद में अड़े रहते हैं, अधिकाते हुए उन्हें आलस्य नहीं आता और प्रिया अनुकूल कलोल को देखकर स्वयं भी सुखी होती

शेष— जानि परे ऐड़ बैड़ जो बिन कहै पैड़ इत उत हलै।।
श्रीहरिप्रियाजू को राज अविचल ध्रुव टलै तो टलै।। —महावाणी : सुरत सुख, पद सं० ५३

१. प्रीति की रीति रंगीलोई जानै।
जद्यपि सकललोक चूड़ामणि दीन अपुनपौ मानै।।
यमुना पुलिन निकुंज भवन में मान माननी ठानै।
निकट नवीन कोटि कामिनि कुल, धीरज मनहिं न आनै।।
नस्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन-आन सों बानै।
जै श्री हितहरिवंश चतुर सोई लालहिं, छाँड़ि मेंड़ पहिचानै।। —हित-चौरासी, पद सं० ४१

२. नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै। —वही, पद सं० ४२

३. नवलनागरि, नवल-नागर-किशोर मिलि, कुंज कोमल कमल दलनि सिज्या रची।
गौर श्यामल अंग रुचिर तापर मिले, सरस मणि नील मनों मृदुल कंचन खची।।
सुरत नीबीनिबन्ध हेत प्रिय मानिनी प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष हुँकार गर्व दृग भंगि भामिनि लची।।
कोक कोटिक रभस रहसि हरिवंशहित विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।
प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक पिवत मकरंद सुख राशि अंतर सची।।
—वही, पद सं० ५०

४. रंगमहल के रति-विहार में हारि रहे निज अंग जू। —महावाणी : उत्साहसुख, पद सं० १६०

हैं।[१] निकुंज-लीला में दोनों आसक्त होकर अंत में एक दूसरे के वश में हो जाते हैं। कृष्ण राधा के वश में हो जाते हैं और कृष्ण राधा के, सुरत-सेज पर वे समान उल्लास से रस झेलते हैं।[२] निकुंज की क्रीड़ा आनंद-पुंज को बढ़ाने वाली है। इस संगम में प्रेम-तरंग पूर्णतया व्याप्त हो जाती है और राधा-कृष्ण रस के अधीन हो जाते हैं। रस ही युगल मूर्ति धारण करके क्रीड़ायित होता है। हाव, भाव, ब्रजभाव सहित मृदु वधू के वचनों से अनंग उत्पन्न होता है। तब राधिका और गिरिधर की छवि इतनी अधिक आकर्षक हो जाती है कि वर्णन नहीं करते बनता। भक्त उस छवि का वर्णन कर सकने में असमर्थ होकर उसे हृदय में बसाकर सतत निरखना चाहता है।[३]

रतिकेलि के प्रसंग में विपरीत-रति और सुरत-युद्ध का वर्णन करने से भी भक्त-कवि नहीं हिचके हैं। उद्दाम होकर रस जब निकुंज में प्रकट होता है, तब वह इन रूपों में भी चित्रित किया गया है। राधा-कृष्ण दोनों समप्रीति हैं, रसलंपट हैं। सुरत-युद्ध में जययुक्त होकर अत्यंत फूल उठते हैं। बदन पर पसीने की घनी बूंदें छलक आती हैं, अंग-अंग के भूषण अस्तव्यस्त हो जाते हैं। तिलक मिट जाता है, अलकें शिथिल हो जाती हैं। दोनों मदन-रंग में रंगे रहते हैं; नेत्र, वचन, कटि का दुकूल-सब शिथिल पड़ जाता है।[४] राधा-कृष्ण की रतिकेलि चाहे जिस रूप में प्रकट हो, उसमें अनुराग का रंग ही प्रबल रहता है, वासना का नहीं। वे अमृत की मूर्ति हैं, मोहन मोहिनी रस-रंग में भीने हैं, प्रियतम का अंग-अंग प्रेम-शृंगार में पगा है। वे अनुराग के बाग में विहार करते हैं।[५] वे प्रेम की पृथ्वी पर अड़ जाते हैं, टलते ही नहीं, और रतिरण में जुट जाते हैं।[६] मधुर-रस की यह काम-क्रीड़ा माधुरी के कुंज में होती है,

---

१. महावाणी : सुरत सुख, पद सं० ३६ ।

२. लाल बस बालके बाल बस लाल।
सुरत-सुख-सेज पर हेज-भरे विलसहीं, हुलसहीं, चितचाड़िले लाड़िले लाल।।
कमल-माला कलित ललित उर पर वलित दलित अँग-अँग रति-रलित दोउ लाल।
श्रीहरिप्रिया सुमिलि झेलि रहे रसझूमि ऊमि चूमि-चूमि विधुवदनी विवि लाल।।
—वहीं, सुरत सुख, पद सं० २

३. क्रीडत दोऊ नवनिकुंज।
स्याम स्यामा ललित लपटनि बढ्यो आनँद पुंज।।
बढ्यो सुरत संजोग रस बस भए प्रेम तरंग।
हाव भाव ब्रजभाव मृदु बधू बचन उदति अनंग।।
राधिका गिरिवरधरन छबि कहत न बने बैन।
बसो 'गोविन्द' दास के उर संतत निरखो नैन।। —गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४१०

४. प्रीतसम दोऊ रस लंपट, सुरत जुद्ध जय जुत अतिफूल।
श्रमवारिज घनविंदु बदन पर, भूषण अंगहि अंग विकूल।।
कछु रह्यौ तिलक, शिथिल अलकावलि, वदन कमल मानौं अलि भूल।
(जैश्री) हित हरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैन बैन कटि, शिथिल दुकूल।। —हित चौरासी, पद सं० ३

५ अमृत की विवि मूर्ति मोहिनी मोहन जू रसरंग-भीने।
प्रेमसिंगार में पागे हैं प्रियतम अंग अंग वस रंग-भीने।।
अति अनुरागके बाग में विहरत वितन विपुल लस रँग भीने।
श्रीहरिप्रिया सु जीवनि जोरी प्रगट विसद जस रँग-भीने।। —महावाणी : सुरतसुख, पद सं० २५

६ प्रेम पुहुमि पर अरि रहे टरत न रन जुरि जोट।
मतवारे घूमत महा नेह अगड़ की ओट।। —वही, पद सं० २६

जिसमें मोद की शैया रची जाती है, मोद की शैया पर ही अलबेले सुकुमार विराजमान होते हैं। मोद का ही रूप-तेज युगल-तन में जगमगाता है; हाव, भाव, चातुरी के भूषण से वे भूषित होते हैं। नेत्रों के सैन से नेहनीर प्रवाहित होता है, नैन सैन के द्वारा वे इसी नेहनीर में भीग जाते हैं, इतने भीग जाते हैं कि बोलना भी भार हो जाता है।[1] इस प्रकार राधा-कृष्ण की रतिकेलि में आनंद, मोद का ही प्रावल्य देखा जाता है, इतर प्रेरणाओं का नहीं। आनंद और आह्लाद का यह नित्य रूप है। यही उनका नित्य विहार है। वे सदा सहज-सुख में लीन हैं, सुरत-स्नेही हैं। वस्तुतः वे एक ही हैं दो नहीं, एक ही प्राण है जो दो देहों में दीप्त हो रहा है। एक ही वयस् है कैशोर, अंग-अंग में यौवन का अद्भुत जोर है। सारी रजनी विलास करने पर भी तनिक भी तृप्ति का अनुभव नहीं होता उन्हें, सदैव चोज बना रहता है। महा-मंगल-रस में सनी मनोज-मूर्ति आनंद के अनुभव में, रस की अनुभूति में चिर अतृप्त रहती है।[2] भोर हो जाता है किंतु दोनों के मन में संध्या का ही धोखा बना रहता है। रात्रि स्वप्नवत् चली जाती है, उनके समझ में नहीं आता कि क्या बात हो गई। या कि वे मिले नहीं, अभी ही आकर बैठे हैं, या निशा आज कुछ बीच से ही चली गई ? जब वे अस्त-व्यस्त भूषण और वसन देखते हैं तब वास्तविक स्थिति समझते हैं। निकुंज-रस उन्हें एक सुखमयी भ्रमदशा में प्रेषित कर देता है। वे मिलकर भी अपने को अनमिला समझते हैं।[3] इस विलास का न आदि है न अंत, फिर भी लाल और प्रिया में पहचान नहीं हो पाती। नई भांति, नई छवि-कान्ति, नई नवला, नवनेह में विहरणशील विहारी-सब कुछ नया है।[4] निकुंजलीला नित्य नवीन लगती है।

यह रसानुभूति दुर्लभ से भी दुर्लभ है, कृपा बिना सुलभ नहीं है। हरि और प्रिया की जोड़ी चिदानंद की प्रकाशिनी है, अविकृत कृति है, कोटि मन्मथ-मोहिनी है।[5] मरकत मणि और कनक से खचित रति की यह रागावली अविकृत है, उनका मिथुन आनंद और आह्लाद का मिथुन है, जड़ और विकृत देह का नहीं। प्रिया के तन का तेज इतना भास्वर है कि मनुष्य क्या स्वयं कृष्ण की बुद्धि विभ्रमित हो जाती है। राधा को देखकर कृष्ण की गति शिथिल

---

१. माधुरी की कुंज तामें मोद की लै सेज रची, तेहि पर राजै अलबेले सुकुमाररी।
रूप तेज मोद के युगल तन जगमगै, हाव भाव चातुरी के भूषन सुढार री।
नेह नीर नैनन की सैनन में रहे भीजि, कौन रंग बाढ्यो जहाँ बेलिबोऊ भाररी।
अतिही आसक्त सखी रही मोहि जोहि जोहि हित ध्रुव प्राननि को यहै है अहाररी ॥

—ध्रुवदास : बयालीस लीला : (भजन दुतिय शृंखलालीला), पृ० ९५

२. जय श्री नवनित्यविहारी, हौं या विलसनिपर बलिहारी।
सदा सहज सुख सुरत सनेही; एक प्रान दीपति द्वै देही ॥
देही द्वै दीपति दिनहिं दिन छिनहिं छिन रतिरँग रँगे।
एक वयस किसोर जोवन जोर अद्भुत अँग अँगे ॥
सकल निसि विलसे वितन तउ तृपति तनक न मन रने।
चढ़े चोज मनोज मूरति महामंगल रस सने ॥ —महावाणी : सुरत सुख, पद सं० २७

३. भोर भये सांझ ही को धोखो हे. . .प्रेम बेलि है बई।

—ध्रुवदास : बयालीस लीला, (भजन तृतीय शृंखला लीला,) पृ० १०२

४. न आदि न अंत बिलास करैं दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
है नई भांति नई छबि कांति नई नवला नव नेह बिहारी ॥

—वही, पृ० १०२

५. जयति श्रीहरिप्रिया जोरी चिदानंद प्रकाशिनी।
अविकृता कृति कोटि मनमथ मोहिनी कलभाषिनी ॥ —महावाणी : सुरत-सुख, पद सं० २७

हो जाती हैं; वे डगमगा जाते हैं, दांव नहीं लग पाता, उथल-पुथल मच जाती है। वे उनका मुख-रुख लेकर टकटकी जोहते हैं। यद्यपि कृष्ण रग-रग से विकल रहते हैं तथापि प्रिया के तन-तेज के आगे हतप्रभ हो जाते हैं।[1] इसीलिए इस रस को प्राप्त करने के लिए कृष्ण को याचक बनना पड़ता है। राधा निकुंजेश्वरी हैं, कृष्ण नहीं। युगल-उपासक भक्तों के श्रृंगार-रस का स्वरूप निकुंज-विहार-स्वरूप है अन्य लीलायें पोषक मात्र हैं। राधा अत्यंत सुकुमार नवल नायिका हैं, नायक रसिक निकुंजबिहारी हैं। दोनों कोकरस में अत्यंत प्रवीण हैं, राजहंस की भांति एक दूसरे से कोई घट कर नहीं है। दोनों की देह रूप, मदन, मोद और रस से निर्मित है। वे प्यार की शैया पर मोद और मृदुनेह से भरे विराजमान होते हैं। दोनों की एक ही रंगरुचि है, एक ही वय है, एक ही प्राण है, केवल देह दो हैं। सरस स्नेह में उलझे कृष्ण पल-पल आनंद का अनुभव करते रहते हैं।[2] नित्य-विहार में निकुंजलीला सर्वोपरि है, निकुंज-माधुरी परम-रस-माधुरी है। इसे सारे रसों का सार कहा गया है। यह अपार कृपा से प्राप्त होता है।[3] रसानुभूति की यह अंतिम एवं चरम उपलब्धि है। ●●

---

१. देखि भई लाल की गति सिथिल।
डग डगमगत लगत तनक न लग ह्वै अति उथलपुथल।।
टगटग जोय रहे मुख-रुख लै रग-रग सकल विकल।
श्रीहरिप्रिया-तन-तेजके आगे अकल न लागे अकल।।

—महावाणी : सुरत सुख, पद सं० ५४

२. अब बरनौ निज रस सिंगारा, सुखनिधि सरस निकुंज बिहारा।।१२।।
नवल नाइका अति सुकुँवारी, नाइक रसिक निकुंजबिहारी।।१३।।
अति प्रवीन रस कोक दोऊ, राजहंस गति घटि नहिँ कोऊ।।१४।।
रूप मदन रस मोद की, सहज जुगल बर देह।।
बैठे प्यार की सेज पर, भरे मोद मृदु नेह।।१५।।
एक रंग रुचि एक वयँ, एक प्रान द्वै देह।
पल-पल पिय हुलसत रहत, अरुझे सरस सनेह।।१६।।

—ध्रुवदास : बयालीस लीला (रतिमंजरी लीला), पृ० १९२

३. श्रीवृन्दावन-महल सुख है सब रस को सार।
"रूपरसिक" जिनको मिलै तिन पर कृपा अपार।।१७।।

—रूपरसिक देव जी, निम्बार्कमाधुरी, पृ० १२३

अष्टम परिच्छेद

लीलारस : वियोगगत

निकुंजलीला भक्ति की रसानुभूति की चरम निविड़ अवस्था मानी गई है—वल्लभ-संप्रदाय में भी और युगलोपासक संप्रदायों में भी। राधा-वल्लभ-संप्रदाय किंवा निम्बार्क-सम्प्रदाय की रससाधना एकांत रूप से संयोग-निष्ठ है। उनके 'नित्यविहार-रस'' को संयोगलीलाएँ ही, जैसे हिंडोल, वसंत आदि पुष्ट करती हैं। इन संयोग-लीलाओं में मिलन के लिए उद्यम नहीं होता, मिलन का रूप ही इनमें अभिव्यक्त होता है। राधाकृष्ण की जोड़ी है, उनमें द्वैत नहीं है। रस आनंद और आह्लाद का युग्म बन कर क्रीड़ा में रत होता है, अतः उसमें विच्छेद का अवकाश कहां, मिलन के उद्यम का प्रश्न कहां ? राधाकृष्ण चिर-मिलन में लीन रस का विस्तार मात्र करते हैं। युगल-उपासक भक्त इस रस की अनुभूति करना चाहता है। इस चिरन्तन रस को अपनी अनुभूति में उतारना ही उसकी सारी साधना है और यह उसे गुरु, रसिक तथा राधा की कृपा से सुलभ हो जाती है। ब्रजरस के रसिक-भक्तों की रसानुभूति साधनापरक है, उसके क्रमिक सोपान हैं। वे भक्त आरम्भ से ही रस की अखण्ड अनुभूति में प्रवेश नहीं पाते। भिन्न-भिन्न लीलाओं के द्वारा व्यक्तित्व का संस्कार करके वे अपने को उस शाश्वत रस की अनुभूति के योग्य बनाते हैं। इस रस-संस्कार में संयोगपरक लीलाएँ जितनी आवश्यक हैं, उससे भी अधिक आवश्यक वियोग-परक लीलायें हैं। भक्त अपने को दासीवत् सहचरी नहीं समझता, वह अपने को प्रियतम कृष्ण की प्रेमिका समझ कर रसानुभूति के लिए उद्यमशील होता है। जीव और ब्रह्म अपने साररूप में भले ही एक हों (इस ऐक्यानुभूति को प्राप्त करना ही आनंदित होना किंवा रसानुभूति करना है), व्यक्त रूप में दोनों का विच्छेद है। विच्छेद की यह अनुभूति जब तक चेतना में जाग्रत नहीं होती, तब तक आनंद की साधना आरंभ ही नहीं हो सकती। ब्रह्म से वियुक्त होकर, मूल आनंद से छिटक कर जीवात्मा न जाने कितने अज्ञान से लिप्त हो गयी है। भक्ति में विरह की अनुभूति उसे अज्ञान के बन्धनों से मुक्ति दिला कर सच्चिदानन्द के रस के उपयुक्त बनाती है। विरह से, वियोग की अनुभूतियों से चित्तवृत्ति का निरोध होता है। बिना चित्तवृत्ति के निरुद्ध हुए, अंतश्चेतना में पहुँचे, आत्मा में निवास करने वाले रस का स्फुरण नहीं होता। सच्चिदानन्द के आनन्द की अनुभूति जड़ता में बद्ध रह कर संभव नहीं है। उस आनंद की भुक्ति के लिए जड़ता से मुक्ति आवश्यक है।

वियोगपरक लीलायें इस मुक्ति की साधिका बन कर साधक को विशुद्ध रसानुभूति के योग्य बनाती हैं। वियोग मुख्यतः तीन अवस्थाओं में व्यक्त होता है—कृष्ण को देखकर उनसे प्रथम मिलन न होने तक का विरह, भक्त के मान से उत्पन्न विरह और कृष्ण के मथुरा-गमन पर गोपियों का परम वियोग।

(१) कृष्ण से प्रथम-मिलन के पूर्व का विरह

काव्य में जिसे पूर्वराग कहा जाता है, उसी के समानान्तर विरह की प्रथम अनुभूति भक्त को तब होती है, जब वह कृष्ण का आकर्षण तो अनुभव करता है किन्तु मिलन नहीं हो पाता। मीराँबाई का पूर्वरागजन्य विरह अन्यतम है,—स्वप्नदर्शन से कृष्ण के प्रति उनमें जो रति उत्पन्न हुई वह कृष्ण-मिलन के अभाव में विरह की अत्यन्तिक स्थिति तक पहुंच गई। अन्य कवियों ने गोपियों के माध्यम से अपनी प्रथम विरहानुभूति को जिस स्तर पर अभिव्यक्त किया है वह मीराँबाई की विरहानुभूति सी पुष्ट और सम्पूर्ण नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें

कृष्ण-मिलन के लिए भक्त की कातर मनोवांछा प्रतिबिम्बित है। नंददास ने "रूपमंजरी" की कथा में नायिका रूपमंजरी के व्याज से भक्त की उस प्रथम वियोगानुभूति को प्रस्तुत किया है जो कृष्ण के सबल आकर्षण के कारण जन्म लेती है, और जब तक कृष्ण मिल नहीं जाते, शान्त नहीं होती।

परकीया भाव से रस की अनुभूति को उत्कृष्ट समझने का एक कारण उसकी उत्कट विरहानुभूति भी है। इसलिए भक्त-कवियों ने परकीया-भाव को रसानुभूति के लिए सर्वोत्कृष्ट बताया है। नंददास का स्पष्ट कथन है कि रस में जो उपपति रस है, उसे कविगण रसावधि कह कर रस्वीकार करते हैं।[1] यदि यह रस किशोरी आत्मा में कृष्ण के प्रति उत्पन्न हो जाय तो संसार से आसक्ति क्षणमात्र में हटने लग जाय और आत्यन्तिक सुख, (जिसे आनंद कहते हैं) की प्राप्ति सहजतम हो जाय। इसीलिए रूपमंजरी की सखी (गुरु) इन्दुमती गिरिवर कुँवर से प्रीति उत्पन्न करने का उपक्रम करती है। एक दिन राजकुमारी रूपमंजरी स्वप्न में अपने योग्य एक सुन्दर नायक को देखती है, स्वप्न में ही वह तन-मन से उससे अनुरक्त हो जाती है। वह रूप इतना अनुपम है कि नेत्रों से ग्रहीत नहीं हो सकता, जैसे स्वाति का घन चातक की चंचुपुटी में समा नहीं सकता।

रूपमंजरी उस अनुपम रूप से इतनी अधिक अनुरक्त हो जाती है कि उसे खो देने के भय से वर्णन नहीं करती।[2] उस रूप के रस से प्रेमिका बावली हो जाती है। वह अपनी चेतना से विगत हो किसी दूसरी चेतना में पहुँच जाती है, जिससे फिर से स्वस्ति लाभ करना असंभव हो जाता है।[3] उसका हृदय अत्यन्त स्वच्छ और निर्विकार है जैसे दर्पण, और तन तमस् की जड़ता से शून्य रुई-जैसा, अतएव प्रियतम कृष्ण के प्रेम की सूर्यकिरण के छूते ही तन में विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठती है।[4] उसके मन की गति वैसी ही हो जाती है जैसे समुद्र के प्रति गंगा की। विरह के समस्त लक्षण प्रकट होने लगते हैं,—भूख-प्यास मिट जाती है, नेत्रों में नीर छलकने लगता है, अंग में वेपथु और स्वरभंग प्रकट होने लगता है। बीच-बीच में रूपमंजरी को मूर्च्छा तक आने लगती है। तन विवर्ण हो जाता है। प्रिय की तनिक सी चर्चा को भी सौ बार सुन कर वह तृप्त नहीं हो पाती।[5] प्रकट मिलने के लिये वह आतुर हो उठती है। ऋतुओं का सारा सौन्दर्य उसके विरह को तीव्र करने लगता है। अन्त में कृष्ण स्वप्न में मिलते हैं और उसका मनोरथपूर्ण करते हैं।

रूपमंजरी का विरह कृष्ण के स्वप्नदर्शन से उत्पन्न होता है। किंतु गोपियों और राधा की अनुभूतियाँ ब्रज की खोरी में कृष्ण के वास्तविक दर्शन होने के पश्चात् उभरती हैं। कृष्ण भौंरा चकडोरी लिए खेलने निकलते

---

१. रस मैं जो उपपति-रस आही, रस की अवधि कहत कवि ताही।
सो रस जौ या कुँवरिहि होई, तौ हौं निरखि जियौं सुख सोई।।—नंददास : प्रथम भाग (रूपमंजरी), पृ० ८

२. अरु वह रूप अनूतम जेतौ······निकसि जिनि जाइ। —वही, पृ० १२

३. ताके रूप अनूप रस, बौरी हौं मेरी आलि।
आज तनक सुधि परन दै, सबै कहौंगी कालि।। —वही, पृ० १३

४. तिय-हिय दरपन तन रुई, रही हुती पुट पागि।
प्रीतम तरनि किरनि परसि, जागि परी तन आगि।। —वही, पृ० १४

५. भूख पियास सबै मिटि गई, खाइ कछू गुरुजन की लई।
मन की गति पिय पै इक ढारा, समुद मिली जैसैं गंग की धारा।
डभकि दै नैंन नीर भरि आवैं, पुनि सुखि जाइ, महा छबि पावै।
पुलकि अंग सुर-भंग जनावैं, बीच-बीच मुरझाई आवै।
बिबरन तन अस देइ दिखाई, रूप-बेलि जैसे घाँम मैं आई।
तनक बात जौ पिय पै पावै, सौ बिरियाँ सुनि तृपति न आवै।।—नंददास : प्रथम भाग, (रूपमंजरी) पृ० १५

हैं, रास्ते में राधा से भेंट हो जाती है। दोनों के मन में प्रथम स्नेह जाग्रत हो जाता है। राधा नागरी होते हुये भी प्रीति की अनुभूति के कारण एकदम भोली हो जाती हैं। उनका सारा बुद्धिकौशल विलीन हो जाता है, वे मन ही मन उलझ जाती हैं। तन में विरह प्रबल होने लगता है। वे व्याकुल हो उठती हैं, घर तनिक भी नहीं सुहाता। चित्त की गति अत्यन्त अस्थिर हो जाती है, उन्हें खान-पान सब-कुछ भूल जाता है। इतना ही नहीं, वे उन्मादग्रस्त व्यक्ति की भाँति आचरण करने लगती हैं। कभी बिहँसती हैं, कभी विलाप करती हैं, कभी अपनी ही दशा पर लज्जित होकर सकुचा जाती हैं। मन तो कृष्ण ले गये, बात की सी अजीब स्थिति हो जाती है उनकी।[1] राधा से परिहास करती हुई सखियाँ जब कृष्ण को देखती हैं तब चकित हो जाती हैं। वे प्रभु के रस के वश में हो जाती हैं, काम का द्वन्द्व आरंभ हो जाता है। कृष्ण राधा को नैनों की सैन में मोह लेते हैं। वाणी सुनते ही राधा की सुध-बुध सब भूल जाती है, वे लुब्ध हो जाती हैं। कृष्ण की मृदु मुस्कान जब से मन की मणि का अपहरण कर लेती है, तब से तिल भर के लिए भी चित्त में चैन नहीं रहता।[2] उन्हें स्याम-भुजंग डस लेता है, प्रेमप्रीति का विष अंतर को भेद कर भिन जाता है। अब वह किसी प्रकार निर्विष नहीं हो पाता। निर्विष होना तो दूर, विष सारे शरीर में फैल जाता है। उन्हें न भीड़ भाती है, न चहल-पहल। विष की लहर इतनी बढ़ जाती है, जहर का प्रभाव इतना मर्मान्तिक हो जाता है कि उसे कृष्ण के अतिरिक्त और कोई गारुड़ी उतार ही नहीं सकता।[3] प्रथम दर्शन से ही इतनी गहरी विरहानुभूति उत्पन्न होकर व्याप्त हो जाती है।

इतनी गूढ़ तो नहीं, किन्तु कृष्ण-मिलन की चाह में गोपियों की दशा भी अटपटी होने लगती है। कोई गोपी दही मथती रहती है, आँगन से कृष्ण इशारे करते हुये निकल जाते हैं। गोपी भूली-सी रह जाती है, किसी प्रकार दधि नहीं मथ पाती, दधि समेत मथनियाँ छिटका देती है। हाथ से मथानी छोड़कर घर से उठकर कृष्ण के पीछे वन को जाने लगती है, लोकलाज मर्यादा सब भुला देती है वह।[4] एक दूसरी गोपी है, जिस दिन से मोहन ने उसकी ओर मुड़कर मुस्करा दिया, उस दिन से विरह आकर उपस्थित हो गया है। तब से पल युग के समान जाता है, घड़ी-प्रहर क्रम-क्रम करके बीतता है। वह हाथ मल कर पछताती है। हृदय में मदनमूर्ति गड़ गयी,

---

१. नागरि मन गई अरुझाई।
अति बिरह तनु भई व्याकुल, घर न नैंकु सुहाइ।।
स्याम सुन्दर मदन मोहन, मोहिनी सी लाइ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान-पान भुलाइ।।
कबहुँ बिहँसति, कबहुँ बिलपति, सकुचि रहति लजाइ।
मातु पितु कौ त्रास मानति, मन बिना भइ बाइ।।
जननि सौं दोहनी माँगति, बेगि दै री माइ।
सूर प्रभु कौं खरिक मिलिहौं, गए मोहिं बुलाइ।। —सूर सागर, पद सं० १२९६

२. वही, पद सं० १३६०।

३. वही, पद सं० १३६५।

४. मथनियां दधि समेत छिटकाई।
भूली-सी रहि गई चितै उत किनु न बिलोवन पाई।।
आंगन ह्वै निकसे नँद-नंदन नैन की सैन जनाई।
छांडि नेत कर तें घर तें उठि पाछें ही बन धाई।।
लोक-लाज अरु बेद-मरजादा सब तनतें बिसराई।
'चत्रुभुज' प्रभु गिरिधरन मंद हँसि कछुक ठगौरी लाई।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २४०

गिरिधर से मिलने को नेत्र बहुत अकुलाते हैं।[1] किन्तु प्रीति की बात किससे कही जायँ ? तन की विवस्था समझ कर वह मन ही मन चुप हो जाती है। मर्मी के बिना मर्म कोई नहीं जान सकता, इसीलिए वह हृदय में ही सहती है, कहती नहीं।[2] तब से दर्शन के लिये नेत्र, वचन सुनने के लिये कान, और मिलने के लिये हृदय तपता है। कृष्ण जीवन-प्राण हो जाते हैं। यही अभिलाषा रहती है कि नैन-निमेष न लगे, नागर नटवर वेश को इकटक देखते रहा जाय।[3] निशिवासर चैन नहीं पड़ता, न घर अच्छा लगता है न बाहर। अच्छा भी कैसे लगे ? घर के भीतर माता-पिता त्रसित करते हैं कि कुल में कलंक लग रहा है, बाहर सब व्यंग्य करते हैं कि कान्ह की स्नेहिनी आई है ! किन्तु वह करे भी क्या, जब से नंद-नंदन दृष्टिपथ में आ पड़े हैं, पल भर बिना उनके रहा नहीं जाता।[3] बिना देखे नहीं रहा जाता।[4] उठते-बैठते, सोते-जागते कृष्ण-कृष्ण जपते बीतता है। एकमात्र कृष्ण-मिलन की वासना रहती है और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मुरली की ध्वनि का प्रभाव अचूक है। कृष्ण का आवाहन सुनकर कौन आत्मा घर पर रह सकती है।[5] श्यामसुन्दर जिसे दासी बना लेते हैं उसकी गति समझ में नहीं आती। सखी से गोपी कहती है कि उसे कुछ उपदेश ऐसा मिले जिससे उसके यह समझ में आ जाय कि वह कहाँ जाय, कृष्ण को कहाँ पावे ? उसके नेत्र की वृत्ति को कृष्ण-मिलन के लिए अटक पड़ जाती है।[6] वह करे भी क्या ? प्रेम की पीर विचित्र होती है। कोई खोजे, और खोजने पर न पाये तो क्या उपाय है ? वह विवश हो जाता है। हृदय में प्रबल शूल उठता है, रहा नहीं जाता, रोना आता है। मर्म में न जाने कैसी बला उत्पन्न हो जाती है, वायु का प्रकोप सा लगता है। कृष्ण-प्राप्ति के लिए निशिवासर हृदय में चटपटी रहती है, धुक-धुकी

---

१. तब तें जुगसमान पलु जात।
जा दिन तें देखे सखि ! मोहन मो तन मुरि मुसिकात।।
दरसन देत ठगौरी मेली कहि न सकी कछु बात।
बीतत घरी पहर क्रम-क्रम अब कर मींडत पछितात।।
हृदै में गडी मदन मूरति मन अटक्यौ सांवल गात।
'चत्रुभुज' प्रभु गिरिधरन मिलन कौं नैन बहुत अकुलात।।—चतुर्भुजदास, पद संग्रह, पद सं० २४१

२. वही, पद सं० २४४।

३. लाल ! दरसन कों नैना तपें—नटवर भेष हो। —वही, पद सं० २४६

४. अब हौं कहा करों री माई !
जब तें दृष्टि परे नँद-नंदन, पल भरि रह्यौ न जाई।।
भीतर मात-पिता मोहि त्रासत—'तैं कुल गारि लगाई'।
बाहिर सब मुख जोरि कहत हैं, 'कान्ह-सनेहिनि आई'।।
निसि वासर मोहि कल न परति है घर आंगन न सुहाई।
'चत्रुभुजदास' प्रभु गिरिधरन छबीले हँसि चितु लियो चुराई।। —वही, पद सं० २५७

५. गोविन्द ग्वालिन ठगौरी लाई।
बंसी के वट जमुना के तट मुरली मधुर बजाई।।
उठत बैठत सोवत जागत जपत कन्हाई कन्हाई।
'परमानन्द स्वामी' मिलनै कौं और न कछू सुहाई।। —परमानंदसागर, पद सं० ३५३

६. कहु उपदेजे सहचरी मोसौ कहां जांइ कहां पाऊं।
'परमानन्ददास' को ठाकुर जहां लै नैन मिलाऊं।।
—वही, पद सं० ४१६

नहीं जाती।[1] कृष्ण से दृष्टि मिलते ही गोपी के मन में अनुराग उत्पन्न हो गया जैसे किसी रंक ने निधि लूट ली हो। कहती-सुनती तो कुछ और रही, किन्तु गोपी के मन ने दूसरा ही पंथ पकड़ लिया। मर्यादा का उल्लंघन कर उसने उपहास सहन किया, पर हरि से रस-रीति का निर्वाह किया। उसने तन, मन, प्राण का समर्पण करके अपना नेम व्रत निबाहा।[2] अब वह दोनों नेत्रों में टकटकी बाँधे बारंबार मदनगोपाल की कौतुकमयी मूर्ति को देखने के लिए उपक्रम करती है। पड़ोस का वास है, ग्वालिन कृष्ण के चरण-कमलों में अनुरक्त हो गयी है। बाकी सब मूर्ख हैं, वही नागरी है, चतुरा है जो कृष्ण के रस से गीधी प्रतिदिन उबर आती है।[3] इसमें उसका कोई दोष नहीं है, उसका प्रिय ही रसिया है, जो देखता है वही भूल रहता है। न जाने किस-किस के मन में उस रसिक ने आवास बना रखा है। कौन ऐसा है जिसे हँसकर देखने पर उस किशोर ने अपने वश में नहीं कर लिया।[4] ग्वालिन उस चतुर-शिरोमणि बहु-नायक से अपनी बाँह को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहने की (निर्वाह करने की) प्रार्थना करती है। अच्छा-बुरा जो कुछ भी है उसे गोपाल के चरणों में समर्पित कर देती है। अपनी आसक्ति पर उसे ग्लानि नहीं है क्योंकि बड़े भाग्य से यह रूपासक्ति मिल पाती है।[5] जब मन कृष्ण में अनुरक्त हो जाता है तब और कुछ अच्छा नहीं लगता। कृष्ण के विरह में गोपी घर में ही वन कर लेती है, आहार-विहार का सुख छोड़ कर घर में बटोही की तरह रहती है। जागते-सोते यही उत्कंठा रहती है कि कोई कृष्ण से मिलन करा दे।[6]

---

१. प्रेम की पीर सरीर न माई।
निस वासर जिय रहत चटपटी यह धुकधुकी न जाई।।
प्रबल सूल रह्यो जात न सखी री आवै रोवन माई।
कासौं कहौं मरम की माई उपजी कौन बलाई।
जो कोऊ खोजै खोज न पैयतु ताको कौन उपाई।
हौ जानति हौं मेरे मन की लागत है कछु बाई।। —परमानन्दसागर, पद सं० ४२०

२. वही, पद सं० ४२१।

३. वही, पद सं० ४१९।

४. सुनि री सखी तेरो दोस नहीं मेरो पीउ रसिया।
जो देखत सो भूलि रहत हैं कौन कौन के मन बसिया।।
सो को जो न करौ बस अपने जा तन पै हंसि कै चितैया।
'परमानंद प्रभु' कुंवर लाडिलो अबहि कछू भीजत मसिया।। —वही, पद सं० ४३०

५. सुनहु गोपाल लाल पांइ लागी भली पोच ले बहिये।
हौं आसक्त भई या रूपै बढ़े भाग तैं लहिये।।
तुम बहु नायक चतुर सिरोमनि मेरी बांह दृढ़ गहिये।
'परमानन्दस्वामी' मन मोहन तुम ही निरबहिये।। —वही, पद सं० ३५६

६. मेरो मन गोविंद सों मान्यो तातैं और न जिय भावै।
जागत सोवत यह उत्कंठा कोऊ ब्रजनाथ मिलावै।।
बाढ़ी प्रीति आन उर अंतर चरन कमल चित दीनो।
कृष्ण विरह गोकुल की गोपी घर ही में वन कीनो।।
छांड़ि अहार बिहार सुख यह और न चाहत काऊ।
'परमानंद' बसत हैं घर में जैसे रहत बटाऊ।। —वही, पद सं० ४६८

पूर्वरागजन्य विरह की मार्मिक अनुभूति में मीराँबाई बेजोड़ हैं। स्वप्न में कृष्ण ने उनका पाणिग्रहण किया। उसी स्वप्न की स्थिति में उन्होंने कृष्ण का दर्शन किया है। किन्तु जब से उन्होंने नंदनंदन को देख लिया तब से लोक और परलोक कुछ अच्छा नहीं लगता।[१] लोक ही नहीं परलोक तक में उनकी कोई रुचि नहीं रह गयी। स्वर्ग अपवर्ग दोनों उस अपूर्व रूपमाधुरी के सम्मुख तिरस्कृत हो उठे हैं। हरि ही मीरा के जीवन और प्राण के आधार बन गये। तीनों लोक में उन्हें अन्य कोई भी आसरा नहीं है। सारा संसार उन्होंने देख लिया, कृष्ण के बिना उन्हें कुछ नहीं सुहाता। वे कृष्ण की दासी बन गई हैं, कृष्ण के बिना उनकी कोई गति नहीं है।[२] अब वे गिरवर के हाथ बिक गयी हैं, और लोग उन्हें बिगड़ा हुआ बताते हैं। पर वे करें क्या, जीवन की मूल-जड़ी के बिना प्राण कैसे रखें? वे अपने प्रियतम के संग सच्ची हैं, इसीलिए प्रकट होकर नाची हैं,—इसमें लज्जा की क्या बात? जगहँसी मिट चुकी है। ज्ञान की गूढ़ चोट आर-पार बिंध गयी। अब न उन्हें भूख है न चैन, रात्रि की नींद नष्ट हो गयी है।[३] प्रिय का पंथ निहारते हुए सारी रात व्यतीत हो जाती है। सारी सखियाँ सीख तो देती हैं पर मन एक सीख भी नहीं मानता, बिना देखे मनको कल नहीं पड़ता,—ऐसा ठान लिया है उसने। मन से ही नहीं, अंग-अंग से मीराँ व्याकुल हो गयी हैं। मुख पर केवल प्रिय का नाम है। किन्तु उनका प्रियतम अंतर की वेदना को, विरह की पीर को नहीं जानता। चाहे वह न भी समझे पर मीराँ प्रेम करना कैसे छोड़ सकती हैं, उनकी गति पानी के बिना मछली की-सी है। वे कृष्ण की ऐसी ही रट लगाये हैं जैसे चातक घन की।[४] राममिलन के हेतु उनके उर में आर्ति जग गई है। विरह-वाण के लगने पर वे निरन्तर तड़प रही हैं, उन्हें चैन नहीं पड़ रहा है। दिवारात्रि वे प्रिय का पंथ निहारती हैं और प्रिय-प्रिय रटती हैं। इससे दूसरी सुध-बुध भाग गई है। विरह-भुजंग ने उनका कलेजा डस लिया है, हलाहल की लहर फैल गई है। अब वे प्रिय के लिये अत्यन्त व्याकुल हैं।[५] वे पंथ निहारती हैं, डगर बुहारती हैं, खड़ी होकर राह जोहती हैं किन्तु प्रियम नहीं आते। यदि वे यह जानतीं कि प्रीति करने से दुख होता है तो

---

१. जब से मोहिं नंदनंदन, दृष्टि पर्‌यो भाई।
तब से परलोक लोक, कछू न सोहाई।

—मीराँबाई की पदावली, पद सं० ९

२. हरि मोरे जीवन प्रान अधार॥
और आसिरो नाहीं तुम बिन, तीनूं लोक मँझार।
आप बिना मोहिं कछु न सुहावै, निरख्यौ सब संसार।
मीराँ कहै मैं दास रावरी, दीज्यौ मती बिसार॥

—वही, पद सं० ४

३. वही, पद सं० २२।

४. वही, पद सं० ८७।

५. राम मिलण के काज सखी, मेरे आरति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल न परत है, बिरह बाण उरि लागी री।
निस दिन पंथ निहारूँ पीव की, पलकन पर भरि लागी री।
पीव पीव मैं रटूं रात दिन, दूजी सुधि बुधि भागी री।
बिरह भवँग मेरो डस्यो है कलेजो, लहरि हलाहल जागी री।
मेरी आरति मेटि गुसाईं, आइ मिलौ मोहि सागी री।
मीराँ व्यकुल अति उकलाणी, पिया की उमंग अति लागी री।

—वही, पद सं० ९१

नगर में यह ढिंढोरा फेरतीं कि कोई प्रीति न करे।[1] मीराँ तो अब विवश हैं, लगी हुई लगन छूटने की नहीं है—चाहे नाभि में साँस न पैंठे, चाहे नेत्र दुखी हों।[2] उनकी स्थिति कोई समझ भी नहीं सकता और न कोई उसका निवारण कर सकता है। वे दर्द से दीवानी हैं किन्तु उनका दर्द कोई जानता नहीं। घायल की गति या तो घायल जानता है या जिसने घायल किया है वह। मीराँ के प्रियतम की शैया फूलशैया नहीं है, सूली के ऊपर सेज है उनकी, कैसे कोई सोवे? और प्रियतम से दूरी भी बहुत है—पृथ्वी से गगनमण्डल की दूरी—किस प्रकार मिलना सम्भव हो? मिलन के अभाव में दर्द की मारी मीराँ वन-वन उपचार खोजती फिरी हैं किन्तु कोई वैद्य नहीं मिला। मिलने से भी क्या, उनकी पीर तो उस प्रेम की पीर है जिसे साँवलिया ने दिया है। वह तभी मिटेगी जब साँवलिया स्वयं वैद्य बन कर आवेंगे क्योंकि घायल की गति घाव पैदा करने वाला ही जानता है।[3] किन्तु पता नहीं मीराँ के मनमोहन क्यों नहीं आते? क्या कहीं संतों का काम करने लग गये, या मीराँ की ओर का रास्ता भूल गये।[4] नेह लगाकर न जाने कहाँ चले गये। प्रेम की शिखा जलाकर विश्वास-संगी उन्हें छोड़ गया, नेह की नाव चलाकर विरह-समुद्र में छोड़ दिया। अब मीराँ कैसे रहें?[5] उनका प्रियतम निष्ठुर है क्योंकि वह योगी है। वह जाकर परदेश छा रहा। जब से बिछुड़ा है, तबसे संदेश भी नहीं दिया। विरह-दग्ध मीराँबाई उससे मिलने के लिए स्वयं योगिनी बनने को प्रस्तुत हैं। वे अपने तन पर भस्म रमायेंगी, सिर के केश का क्षौर करवायेंगी, और भगवा वेश धारण करके चारों दिशाओं में खोजेंगी। राम-मिलन की आशा में वे विरह के क्लेश के रहते हुए भी अनेक जन्मों तक जीने की इच्छा रखती हैं?[6] मिलन की आशा ही भक्त के दग्ध जीवन को संजीवित किये रहती है।

(२) मानलीला

मिलन के अभाव में विरहजन्य जो आर्ति होती है वह मिलन पर मिट जाती है। किन्तु मिलन होने पर भी ईश्वर में भक्त की असंदिग्ध अनुरक्ति नहीं हो पाती। राधा या गोपी जब कृष्ण को पा लेती हैं तब वे आत्मदान कर

---

१. जो मैं ऐसा जानती रे, प्रीत कियाँ दुख होइ।
   नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोइ।
   पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोइ।
   मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होइ।। —मीराँबाई की पदावली, पद सं० १०२

२. वही, पद सं० १०८।

३. वही, पद सं० ७२।

४. आयो नहीं सखीरी, हे मेरो०।।
   कैंकहुँ काज किया संतन का, कै कहुँ गैल भुलावना।। —वही, पद सं० ८५

५. प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय।।
   छोड़ गया विस्वास सँगाती, प्रेम की बाती बराय।
   बिरहे समँद में छोड़ गया छो, नेह की नाव चलाय।
   मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम बिनि रह्योइ न जाय।। —वही, पद सं० ६६

६. जोगिया जी छाइ रह्यो परदेस।
   जबका बिछड़्या फेर न मिलिया, बहोरि न दियो संदेस।
   या तन ऊपरि भसम रमाऊँ, खोर करूँ सिर केस।
   भगवाँ भेख धरूँ तुम कारण, ढूंढत च्यारूँ देस।
   मीराँ के प्रभु राम मिलण कूं, जीवनि जनम अनेस। —वही, पद सं० ७०

पूर्णतया सुखी नहीं होतीं, कृष्ण पर एकाधिकार प्राप्त करना चाहती हैं। अधिकार-भावना मान का रूप धारण करती है। इससे प्रेम-रस बाधित होता है। अतएव गोपियों में मान जगने पर कृष्ण अपनी प्रबल प्रीति का परिचय देकर मानापनोदन करते हैं। वे अब अन्तर्ध्यान होकर शिक्षा नहीं देते, राधा-विरह में वे स्वयं कातर हो जाते हैं। इस बार मिलन की चेष्टा गोपियों की ओर से नहीं होती, कृष्ण की ओर से होती है।

कृष्ण के बहुनायकत्व को राधा सहन नहीं कर पातीं, यौवन-गर्विता राधा नखशिख क्रोध से भर जाती हैं, और मान ठान कर बैठ जाती हैं।[1] राधा का मान साधारण मान नहीं है, वह दुर्जेय है। कृष्ण उन्हें मनाने के लिए दूती भेजते हैं। दूती मान मनाती है किन्तु राधा मानती नहीं हैं। कृष्ण से राधा के पास और राधा से कृष्ण के पास आते जाते सारी रात्रि बीत जाती है, दूती के पाँव दुखने लगते हैं किन्तु राधा का मान नहीं टूटता।[2] चंद्रमा भी अस्त हो गया है, पर राधा का मान नहीं घटा। उड्गन छिपने लगे, एक घड़ी में विहान हुआ चाहता है परन्तु राधा की तरेरती भौंहें रस की कमान सी चढ़ी हैं। यद्यपि प्रिय-मिलन के लिए ही उन्होंने मान-गुमान कर रखा है, तथापि शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाने वाली नहीं हैं वे।[3] सिखाते-सिखाते सारी रात बीत गयी, दूती ने कोटि-कोटि कहा किन्तु राधा के कान में एक बात भी नहीं गई। उनके हृदय में गाँठ पड़ गई है, बातें भिदती नहीं। मनाने पर बाँह छुड़ा लेती हैं, आँचल से मुख पर ओट कर लेती हैं। प्रभु के बुलाने पर विलंब करे—ऐसी कौन युवती है? किन्तु हैं एक—वे हैं प्रियतमा राधा।[4] अबला के बल का प्रताप यदि कहीं दिखाई देता है तो राधा के मानगढ़ में। उनके मानगढ़ को भंग कर सकना आसान नहीं है। घूँघट का दरवाजा नहीं खुलता। प्रभु ने साम, दाम, दंड, भेद की सेना से घेरा डाला किन्तु राधा की रुखाई का जाल नहीं टूटता।[5]

दूती किसी प्रकार रसभंगकारी मान को तोड़ने का प्रयास करती है। पहले तो वह राधा की प्रशंसा करती है; उनके रूप और छवि पर आँचल वारती हुई निवेदन करती है कि रसना तो एक ही है, राधा की विशद कीर्ति तथा रूपगुण का वर्णन कैसे किया जा सकता है? राधा अंग-अंग से अति प्रवीण हैं, प्रिय की मन-अभिरामा हैं। विरंचि ने रचरच कर राधा का निर्माण किया है, श्याम के साथ रमण करने के लिए एकमात्र श्यामा ही हैं, अन्य कोई नहीं।[6]

---

१. सूरसागर, पद सं० ३१८२।
२. मान मनावत मानत नाँई।
  स्यामसुन्दर तेरे हित कारन पाती विरह पठाई।।
  आवत जात रैनि सब बीती दूखन लागे पाँई।
  'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल अब टेरत हैं चलि तहाँई।। —चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३१७
३. गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४९९ ।
४. सिखवत-सिखवत बीती अब रतियां।
  कोटि कही एको न कान करी हृदै। गांठि तेरे भेदति न बतियां।।
  बांह छिड़ाइ रहति ब्रजसुंदरि! देति ओट अंचर की गतियां।
  तजि इह ज्ञानु सयानु आपुनो समुझि सखी! मेरी बहु मतियां।।
  'दास चतुर्भुज' प्रभु के बोलत बिलंबु करे ऐसी कौन जुवतियां।
  रसिक राइ गिरिधरन छबीले भरि आंकौ सीतल करि छतियां।।—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० ३०३
५. गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४८३ ।
६. एक रसना गुन रूप कैसें कै बरनों बिसद कीरति अंग अंग अति प्रबीन पिय मन अभिरामा।।
  'गोविन्द' बलि सखी कहै रचि पचि बिरंचि कीने- स्याम रमन कों माई तुही है स्यामा।।
  —वही, पद सं० ४७५

अपनी प्रशंसा सुन कर कौन द्रवीभूत नहीं हो जाता ? किन्तु मानवती राधा को श्लाघा भी द्रवित नहीं कर पाती। अब दूती कृष्ण की प्रशंसा आरम्भ करती है, उनके दुर्लभ प्रेम एवं रस का माहात्म्य बताती है। हरि के मुखकमल में रस संचित है, आनन्द का पीयूष भरा हुआ है। सारे सुख उन्हीं के साथ हैं, उनकी कृपा से विमुख होकर कल्प पर्यन्त जीवित रहने में भी क्या है ?[१] ऐसे आनन्दघन के नेत्रों में, वाणी में, तन-मन, रोम-रोम में राधा ही रम रही हैं। उनके तन में सदा राधा ही प्रतिबिम्बित हैं।[२] प्रेमकातर श्याम राधा की प्रतीक्षा में उधर का ही मार्ग देखते हैं, उनके चित्त में अत्यन्त आतुरता है। राधा का मुख-सुहास कृष्ण के हृदय में बसा है, इसीलिए उन्होंने शीघ्र ही दूती को मनाने भेजा है। पर राधा विलम्ब कर रही हैं, चतुरतापूर्वक बहुत सारे उत्तर बना देती हैं। एक ओर कृष्ण का प्रेम, दूसरी ओर राधा की अवज्ञा। दूती समझाती है कि त्रिभुवन में वही स्त्री बड़भागिनी है जो मोहन के मन को भा गई (और राधा ही वह स्त्री है)। गिरिधर रसिकवर हैं, उनका अंग-अंग सुखदाई है, उनसे विमुख क्या होना ?[३] जाने किस पुण्य के कारण राधा का वदन-सुधाकर कृष्ण को भाता है। कमलापति विरहकातर हो उसी मुख का स्मरण कर रहे हैं, अपनी पावन प्रेम-लीला को प्रकट दिखा रहे हैं। मूढ़ राधा को अब चलना चाहिए, विलम्ब नहीं करना चाहिए, अचिरात् चरण-कमल के रस का पान करना चाहिए। ऐसी जो प्रीति करे उसे तो सर्वस्व दे देना चाहिए, मान की कहाँ गुंजाइश है ?[४] जिसे तन-मन-धन सर्वस्व दिया जा चुका है, उससे रूठना क्या ? ब्रजनन्दन बहुनायक हैं, मान करके उन्हें कैसे पाया जा सकता है ? बहुनायक नवल निकुंज में बैठे राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं, ऐसा समय तो राधा-सी बड़भागिनी ही पाती है। राधा ही विचित्र रूप-गुण सम्पन्न स्त्री हैं जो नवल कृष्ण को रिझा सकती हैं।[५] जिसके दर्शन को सारा

---

१. हरि मुख कमल सच्यौ रस, सजनी अति आनंद पियूष पिये।
'सूरजदास' सकल सुख हरि सँग, कृपा बिमुख का कल्प जिये।।

—सूर सागर, पद सं० ३२००

२. माधुरी वाणी : मानमाधुरी, पद सं० ३२।

३. बैठे क्यों बनै मोहि माई !
सुन्दर स्याम इतहिं पथ चाहत अति चित आतुरताई।।
तुव मुख हास बसी हरि के जिय तो हौं बेगि पठाई।
तूं बिलंबति ठानति बहु ऊतर जानी हौं है चतुराई।।
सोई बड़भागि जुवति त्रिभुवन में जो मोहन-मन भाई।
'चत्रुर्भुज प्रभु गिरिधरन रसिकवर अंग-अंग सुखदाई।।

—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २८९

४. कौन सुकृत फल तेरो वदन सुधाकर भावै।
कमला को पति पावन लीला लोचन प्रगट दिखावै।।
अब चल मुगधि विलंब न कीजै चरन कमल रस लीजै।
ऐसी प्रीति करे जो भामिन ताकौ सरबसु दीजै।।

—परमानन्दसागर पद सं० ३९५

५. जाहि तन मन धन दीजे जु तासों आली रूसनो कैसे बनि आवे।
घोख नृपति सुत ऐते पर बहुनायक यातें कहत हों समुझि चितै अनखन कैसे पिय पावे।।
नवल निकुंज नवल बैठे तातें हौं पठई ऐसो तो समयो तोही सी बड भागिनी पावे।
सोई तो बिचित्र गुन रूप तिया ओ 'गोविन्द' प्रभु कों रिझावे।।

—गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ३१४

जगत तरसता है, उसी को तनिक-सा दर्शन देने के लिए राधा से प्रार्थना की जा रही है। जिसकी मुरली की ध्वनि सुर-मुनि को मोहित कर लेती है, उसकी ओर राधा तनिक-सा देख दें! शिवविरंचि जिसका पार नहीं पाते, वह राधा के चरणों का स्पर्श करता है। जिसके वश में त्रिभुवन है उसे अपनी वाणी सुना कर राधा वश में कर लें। ऐसे स्वामी से मिल कर अपना जन्म सफल कर लेना चाहिए। पूर्व पुण्य और सुकृत के फल से ही राधा को कृष्ण प्राप्त हुये हैं, क्यों नहीं वे उस रूप का छक कर पान करतीं? कृष्ण-संग दुर्लभ है। उसे प्राप्त कर दस दिन भी जी लेना सुखकर है, उसी में जीवन की सार्थकता है।[१] राधा विलंब क्यों कर रही हैं? दूती उपदेश देती है कि तन और यौवन ऐसे ही चला जायगा जैसे फागुन की होली, या भीग कर ऐसे विनष्ट हो जायगा जैसे कागज़ की चोली। राधा पर कृष्ण की कृपा हुई है, उन्हें सारा छल छोड़ देना चाहिए।[२] उन्हें झूठा अभिमान छोड़ देना चाहिए, सुन्दर भगवान् से प्रीति कर के रस-रीति का निर्वाह करना चाहिए। यौवन धन चार दिवस का होता है, पान की तरह रंग पलटता है। फिर कहां यह अवसर मिलेगा, कृष्ण के गोप-वेश का संग कैसे होगा?[३] दूती बारंबार रस के लिए राधा को उपदेश देती है, किन्तु राधा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जब सब कुछ कहने-सुनने पर भी राधा का मान नहीं छूटता, तब दूती राधा की भर्त्सना करने लगती है। अभी तक तो उसने राधा के रूप और गुण की प्रशंसा करके उन्हें त्रिभुवन से अद्वितीय ठहराया, उसके प्रभाव की प्रशंसा करते हुए कृष्ण को उन्हीं के वशीभूत बताया, किन्तु जब राधा पर किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ता तब दूती कुपित हो जाती है और स्पष्ट शब्दों में राधा को भला-बुरा कहने लगती है। राधा को चेतावनी देती हुई दूती कहती है कि वस्तुतः राधा में कोई विशेषता नहीं है, कृष्ण ने लाड़ लड़ा रखा है। दूसरे, यौवन ने राधा को बावली कर रखा है। यौवन का गर्व तो व्यर्थ है ही, कृष्ण-प्रेम का गर्व भी व्यर्थ है। उस गर्व में भूले नहीं रहना चाहिए। वह क्षण भंगुर है, अधिक-से-अधिक चार दिन का चाव होता है कृष्ण का। मान करना सभी स्त्रियों का स्वभाव है, किन्तु चार दिन के प्रेम का सुख राधा मान करके क्यों खोए दे रही हैं? उठती हुई वयस् का दांव वह गंवाये दे रही हैं, उन्हें प्रेमी कृष्ण के साथ हिल-मिल कर रहना चाहिये। मान ठान कर कैसी नासमझी कर रही हैं? उनके लिए दूती का कहना मानना श्रेयस्कर है।[४] रस के ही वशीभूत हैं कृष्ण, रसिक गोपाल को रसिक-गण रस के द्वारा रिझाते

---

१. पूरब पुन्न, सुकृत फल तेरो, क्यों न रूप नैन भरि पीजै।
चरन कमल की सपथि करति हों ऐसो जीवन दिन दस जीजै॥
'परमानंद' स्वामी सों मिलके अपनो जनम सफल करि लीजै॥ —परमानंदसागर, पद सं० ४१३

२. तन जोवन ऐसैं चलि जैहे, जनु फागुन की होली री।
भीजि बिनसि जाइहि छिनु भीतर, जनु कागद की चोली री॥
तोपर कृपा भई मोहन की, छाँड़ि सबै चौछोली री॥ —सूर सागर, पद सं० ३२०६

३. छाँड़ि न देत झूठे अति अभिमान।
मिलि रस रीति प्रीति करि हरि सों सुन्दर हैं भगवान॥
यह जोवन धन द्यौस च्यारि को पलटत रंग सो पान।
बहुरि कहाँ यह अवसर मिलिहै गोप भेष को ठान॥
बार बार दूतिका सिखवै करहि अधर रसपान।
'परमानंदस्वामी' सुखसागर सब गुन रूप निधान॥ —परमानंदसागर, पद सं० ३९९

४. एक तौ लालन लाड़ लड़ाई, दूजै जोवन करी बावरी।
इनकैं गरब भूलि जनि रहि री, होत अधिक दिन चारि चाव री॥

हैं। रस में कोप त्याग देना उचित है। क्रोध करके प्रिय से प्रेम नहीं होता, रससिक्त वचन श्रवण को सुख पहुंचाते हैं। कृष्ण रस के वशे हैं, उनसे कुरस कैसा? राधा को उस रस का निर्वाह करना चाहिए और कृष्ण के हृदय से दूर न रह कर संलग्न रहना चाहिये।[१] राधा ने तो आँख मूंद कर मौन धारण कर लिया है, कृष्ण की रसाकुलता को क्या समझें? कृष्ण मक्खन से भी मृदु हैं, मैन से मृदुतर हैं, स्त्री को तनिक-सा देखने पर ही ढल जाते हैं। जिससे मिलते हैं उसी के रंग में रंग जाते हैं, हृदय के इतने कोमल हैं![२] किन्तु इतने कोमल और सहृदय रसिक के मन की बात क्या राधा जानती हैं? नहीं। कृष्ण के हृदय में तनिक-सी भी कठिनता नहीं है, वे नवनीत-हृदय हैं, किन्तु राधा का हृदय कुलिश के समान कठोर और भारी है। प्रणत सुंदर सुकुमार कब के जग रहे हैं, किन्तु राधा हठ ठाने हैं।[३] उन्हें प्रेम की पीर नहीं है, वे किसी दूसरे के प्रेम की पीर को क्या जानें? दूती उन्हें हृदय से विरह का अंधकार हटाने का उपदेश देती है।[४] मोहन के बदन को निहार कर नागरी राधा को सारी अटपटी बातें छोड़ देना चाहिये। अभी वे नहीं समझतीं, जब नंदनंदन के बिना हृदय में चटपटी लगेगी तब राधा समझेंगी।[५] जब मुरली की ध्वनि सुन कर मोर बोलेंगे तब मदन तन का दहन करेगा। जब जानेंगी तब मानेंगी, अभी नहीं मानतीं। जब प्रेम-प्रवाह में उनका मन बहेगा तब राधा का मन गिरिधर के बिना नहीं रह पायेगा।[६]

शेष— मेरो कह्यौ मानि तू माई, सबै त्रियनि कौ यह सुभाव री।
'सूर' स्याम सौं हिलि-मिलि रहियै उठत बैस कौ इहै दावँ री।।

—सूर सागर, पद सं० ३२१५

१. रस ही में बस कीन्हे कुँवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रसिक रस रिझवति रस ही में तासों रिस तजि री माई!
प्रिय कौ प्रेम रिस सों न होइ रसीली राधे! रस ही में वचन श्रवन सुखदाई।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर रस बस भए तासों कुरस कत मिलि रहै हिरदे लपटाई।।

—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २९६

२. तुम तो मुख मूंदि कै मौन गह्यौ कछु जानति हो उनके मन की।
जानति हो उनके मन की यह नैक नहीं जिय में कठिनाई।।
माखन ते मृदु मेंनहुते मृदु नेंक त्रिया निरखे ढरिजाई।
या ब्रज में वनिता जितनी वर वानिक तो सबसो बनि आई।।
जाहि मिलै मिलि जाय तिही रंग ऐसे हिये के हैं कोमलताई।।

—माधुरीवाणी : मानमाधुरी, पद सं० २२

३. अति हठु न कीजे री प्यारी चलि गिरिधारी लालन कुंजबिहारी।
प्रनत सुंदर सुकुमार कब के निसि जागत है, कुलिश समान हृदौ भारी।।

—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४९६

४. तोहि नाहिनें प्रेम पीर तू कहा जानें आँन की 'गोविन्द' प्रभु हृदे कै मेटि बिरह अँधेरी।।

—वही, पद सं० ४९३

५. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २९७।
६. तेरौ मन गिरिधर विनु न रहैगौ।
बोलेंगें मोर मुरली की धुनि सुनि तब तनु मदन दहैंगौ।
जानेगी तब मानेंगी री आली प्रेम-प्रवाह बहैगौ।।

—वही, पद सं० ३१४

जगत तरसता है, उसी को तनिक-सा दर्शन देने के लिए राधा से प्रार्थना की जा रही है। जिसकी मुरली की ध्वनि सुर-मुनि को मोहित कर लेती है, उसकी ओर राधा तनिक-सा देख दें! शिवविरंचि जिसका पार नहीं पाते, वह राधा के चरणों का स्पर्श करता है। जिसके वश में त्रिभुवन है उसे अपनी वाणी सुना कर राधा वश में कर लें। ऐसे स्वामी से मिल कर अपना जन्म सफल कर लेना चाहिए। पूर्व पुण्य और सुकृत के फल से ही राधा को कृष्ण प्राप्त हुये हैं, क्यों नहीं वे उस रूप का छक कर पान करतीं? कृष्ण-संग दुर्लभ है। उसे प्राप्त कर दस दिन भी जी लेना सुखकर है, उसी में जीवन की सार्थकता है।[१] राधा विलंब क्यों कर रही हैं? दूती उपदेश देती है कि तन और यौवन ऐसे ही चला जायगा जैसे फागुन की होली, या भीग कर ऐसे विनष्ट हो जायगा जैसे कागज़ की चोली। राधा पर कृष्ण की कृपा हुई है, उन्हें सारा छल छोड़ देना चाहिए।[२] उन्हें झूठा अभिमान छोड़ देना चाहिए, सुन्दर भगवान् से प्रीति कर के रस-रीति का निर्वाह करना चाहिए। यौवन धन चार दिवस का होता है, पान की तरह रंग पलटता है। फिर कहां यह अवसर मिलेगा, कृष्ण के गोप-वेश का संग कैसे होगा?[३] दूती बारंबार रस के लिए राधा को उपदेश देती है, किन्तु राधा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जब सब कुछ कहने-सुनने पर भी राधा का मान नहीं छूटता, तब दूती राधा की भर्त्सना करने लगती है। अभी तक तो उसने राधा के रूप और गुण की प्रशंसा करके उन्हें त्रिभुवन से अद्वितीय ठहराया, उसके प्रभाव की प्रशंसा करते हुए कृष्ण को उन्हीं के वशीभूत बताया, किन्तु जब राधा पर किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ता तब दूती कुपित हो जाती है और स्पष्ट शब्दों में राधा को भला-बुरा कहने लगती है। राधा को चेतावनी देती हुई दूती कहती है कि वस्तुतः राधा में कोई विशेषता नहीं है, कृष्ण ने लाड़ लड़ा रखा है। दूसरे, यौवन ने राधा को बावली कर रखा है। यौवन का गर्व तो व्यर्थ है ही, कृष्ण-प्रेम का गर्व भी व्यर्थ है। उस गर्व में भूले नहीं रहना चाहिए। वह क्षण भंगुर है, अधिक-से-अधिक चार दिन का चाव होता है कृष्ण का। मान करना सभी स्त्रियों का स्वभाव है, किन्तु चार दिन के प्रेम का सुख राधा मान करके क्यों खोए दे रही हैं? उठती हुई वयस् का दांव वह गंवाये दे रही हैं, उन्हें प्रेमी कृष्ण के साथ हिल-मिल कर रहना चाहिये। मान ठान कर कैसी नासमझी कर रही हैं? उनके लिए दूती का कहना मानना श्रेयस्कर है।[४] रस के ही वशीभूत हैं कृष्ण, रसिक गोपाल को रसिक-गण रस के द्वारा रिझाते

---

१. पूरब पुन्न, सुकृत फल तेरो, क्यों न रूप नैन भरि पीजै।
चरन कमल की सपथि करति हों ऐसो जीवन दिन दस जीजै॥
'परमानंद' स्वामी सों मिलके अपनो जनम सफल करि लीजै॥ —परमानंदसागर, पद सं० ४१३

२. तन जोबन ऐसैं चलि जैहे, जनु फागुन की होली री।
भीजि बिनसि जाइहि छिनु भीतर, जनु कागद की चोली री॥
तोपर कृपा भई मोहन की, छाँड़ि सबै चौछोली री॥ —सूर सागर, पद सं० ३२०६

३. छाँड़ि न देत झूठे अति अभिमान।
मिलि रस रीति प्रीति करि हरि सों सुन्दर हैं भगवान॥
यह जोवन धन द्यौस च्यारि को पलटत रंग सो पान।
बहुरि कहाँ यह अवसर मिलिहै गोप भेष को ठान॥
बार बार दूतिका सिखवै करहि अधर रसपान।
'परमानंदस्वामी' सुखसागर सब गुन रूप निधान॥ —परमानंदसागर, पद सं० ३९९

४. एक तौ लालन लाड़ लड़ाई, दूजै जोबन करी बावरी।
इनकैं गरब भूलि जनि रहि री, होत अधिक दिन चारि चाव री॥

हैं। रस में कोप त्याग देना उचित है। क्रोध करके प्रिय से प्रेम नहीं होता, रससिक्त वचन श्रवण को सुख पहुंचाते हैं। कृष्ण रस के वशी हैं, उनसे कुरस कैसा ? राधा को उस रस का निर्वाह करना चाहिए और कृष्ण के हृदय से दूर न रह कर संलग्न रहना चाहिये।[१] राधा ने तो आँख मूंद कर मौन धारण कर लिया है, कृष्ण की रसा-कुलता को क्या समझें ? कृष्ण मक्खन से भी मृदु हैं, मैन से मृदुतर हैं, स्त्री को तनिक-सा देखने पर ही ढल जाते हैं। जिससे मिलते हैं उसी के रंग में रंग जाते हैं, हृदय के इतने कोमल हैं ![२] किन्तु इतने कोमल और सहृदय रसिक के मन की बात क्या राधा जानती हैं ? नहीं। कृष्ण के हृदय में तनिक-सी भी कठिनता नहीं है, वे नवनीत-हृदय हैं, किन्तु राधा का हृदय कुलिश के समान कठोर और भारी है। प्रणत सुंदर सुकुमार कब के जग रहे हैं, किन्तु राधा हठ ठाने हैं।[३] उन्हें प्रेम की पीर नहीं है, वे किसी दूसरे के प्रेम की पीर को क्या जानें ? दूती उन्हें हृदय से विरह का अंधकार हटाने का उपदेश देती है।[४] मोहन के बदन को निहार कर नागरी राधा को सारी अटपटी बातें छोड़ देना चाहिये। अभी वे नहीं समझतीं, जब नंदनंदन के बिना हृदय में चटपटी लगेगी तब राधा समझेंगी।[५] जब मुरली की ध्वनि सुन कर मोर बोलेंगे तब मदन तन का दहन करेगा। जब जानेंगी तब मानेंगी, अभी नहीं मानतीं। जब प्रेम-प्रवाह में उनका मन बहेगा तब राधा का मन गिरिधर के बिना नहीं रह पायेगा।[६]

शेष— मेरो कह्यौ मानि तू माई, सबै त्रियनि कौ यह सुभाव री।
'सूर' स्याम सौं हिलि-मिलि रहियै उठत बैस कौ इहै दावँ री।।

—सूर सागर, पद सं० ३२१५

१. रस ही में बस कीन्हे कुँवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रसिक रस रिझवति रस ही में तासों रिस तजि री माई !
प्रिय कौ प्रेम रिस सों न होइ रसीली राधे ! रस ही में वचन श्रवन सुखदाई।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर रस बस भए तासों कुरस कत मिलि रहै हिरदे लपटाई।।

—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २९६

२. तुम तो मुख मूंदि कै मौन गह्यौ कछु जानति हो उनके मन की।
जानति हो उनके मन की यह नैक नहीं जिय में कठिनाई।।
माखन ते मृदु मेंनहुते मृदु नेंक त्रिया निरखे ढरिजाई।
या ब्रज में वनिता जितनी वर वानिक तो सबसो बनि आई।।
जाहि मिलै मिलि जाय तिही रंग ऐसे हिये के हैं कोमलताई।।

—माधुरीवाणी : मानमाधुरी, पद सं० २२

३. अति हठु न कीजे री प्यारी चलि गिरिधारी लालन कुंजविहारी।
प्रनत सुंदर सुकुमार कब के निसि जागत है, कुलिश समान हृदौ भारी।।

—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४९६

४. तोहि नाहिनें प्रेम पीर तू कहा जानें आँन की 'गोविन्द' प्रभु हृदे कै मेटि बिरह अँधेरी ।।

—वही, पद सं० ४९३

५. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २९७ ।

६. तेरो मन गिरिधर बिनु न रहैगौ।
बोलेंगें मोर मुरली की धुनि सुनि तब तनु मदन दहैंगौ।
जानेगी तब मानेंगी री आली प्रेम-प्रवाह बहैगौ।।

—वही, पद सं० ३१४

जगत तरसता है, उसी को तनिक-सा दर्शन देने के लिए राधा से प्रार्थना की जा रही है। जिसकी मुरली की ध्वनि सुर-मुनि को मोहित कर लेती है, उसकी ओर राधा तनिक-सा देख दें! शिवविरंचि जिसका पार नहीं पाते, वह राधा के चरणों का स्पर्श करता है। जिसके वश में त्रिभुवन है उसे अपनी वाणी सुना कर राधा वश में कर लें। ऐसे स्वामी से मिल कर अपना जन्म सफल कर लेना चाहिए। पूर्व पुण्य और सुकृत के फल से ही राधा को कृष्ण प्राप्त हुये हैं, क्यों नहीं वे उस रूप का छक कर पान करतीं? कृष्ण-संग दुर्लभ है। उसे प्राप्त कर दस दिन भी जी लेना सुखकर है, उसी में जीवन की सार्थकता है।[१] राधा विलंब क्यों कर रही हैं? दूती उपदेश देती है कि तन और यौवन ऐसे ही चला जायगा जैसे फागुन की होली, या भीग कर ऐसे विनष्ट हो जायगा जैसे कागज़ की चोली। राधा पर कृष्ण की कृपा हुई है, उन्हें सारा छल छोड़ देना चाहिए।[२] उन्हें झूठा अभिमान छोड़ देना चाहिए, सुन्दर भगवान् से प्रीति कर के रस-रीति का निर्वाह करना चाहिए। यौवन धन चार दिवस का होता है, पान की तरह रंग पलटता है। फिर कहां यह अवसर मिलेगा, कृष्ण के गोप-वेश का संग कैसे होगा?[३] दूती बारंबार रस के लिए राधा को उपदेश देती है, किन्तु राधा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जब सब कुछ कहने-सुनने पर भी राधा का मान नहीं छूटता, तब दूती राधा की भर्त्सना करने लगती है। अभी तक तो उसने राधा के रूप और गुण की प्रशंसा करके उन्हें त्रिभुवन से अद्वितीय ठहराया, उसके प्रभाव की प्रशंसा करते हुए कृष्ण को उन्हीं के वशीभूत बताया, किन्तु जब राधा पर किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ता तब दूती कुपित हो जाती है और स्पष्ट शब्दों में राधा को भला-बुरा कहने लगती है। राधा को चेतावनी देती हुई दूती कहती है कि वस्तुतः राधा में कोई विशेषता नहीं है, कृष्ण ने लाड़ लड़ा रखा है। दूसरे, यौवन ने राधा को बावली कर रखा है। यौवन का गर्व तो व्यर्थ है ही, कृष्ण-प्रेम का गर्व भी व्यर्थ है। उस गर्व में भूले नहीं रहना चाहिए। वह क्षण भंगुर है, अधिक-से-अधिक चार दिन का चाव होता है कृष्ण का। मान करना सभी स्त्रियों का स्वभाव है, किन्तु चार दिन के प्रेम का सुख राधा मान करके क्यों खोए दे रही हैं? उठती हुई वयस् का दांव वह गंवाये दे रही हैं, उन्हें प्रेमी कृष्ण के साथ हिल-मिल कर रहना चाहिये। मान ठान कर कैसी नासमझी कर रही हैं? उनके लिए दूती का कहना मानना श्रेयस्कर है।[४] रस के ही वशीभूत हैं कृष्ण, रसिक गोपाल को रसिक-गण रस के द्वारा रिझाते

---

१. पूरब पुन्न, सुकृत फल तेरो, क्यों न रूप नैन भरि पीजै।
चरन कमल की सपथि करति हौं ऐसो जीवन दिन दस जीजै।।
'परमानंद' स्वामी सों मिलके अपनो जनम सफल करि लीजै।। —परमानंदसागर, पद सं० ४१३

२. तन जोबन ऐसैं चलि जैहे, जनु फागुन की होली री।
भीजि बिनसि जाइहि छिनु भीतर, जनु कागद की चोली री।।
तोपर कृपा भई मोहन की, छाँड़ि सबै चौछोली री।। —सूर सागर, पद सं० ३२०६

३. छाँड़ि न देत झूठे अति अभिमान।
मिलि रस रीति प्रीति करि हरि सों सुन्दर हैं भगवान।।
यह जोवन धन द्यौस च्यारि को पलटत रंग सो पान।
बहुरि कहाँ यह अवसर मिलिहै गोप भेष को ठान।।
बार बार दूतिका सिखवै करहि अधर रसपान।
'परमानंदस्वामी' सुखसागर सब गुन रूप निधान।।
—परमानंदसागर, पद सं० ३९९

४. एक तौ लालन लाड़ लड़ाई, दूजै जोबन करी बावरी।
इनकैं गरब भूलि जनि रहि री, होत अधिक दिन चारि चाव री।।

हैं। रस में कोप त्याग देना उचित है। क्रोध करके प्रिय से प्रेम नहीं होता, रससिक्त वचन श्रवण को सुख पहुंचाते हैं। कृष्ण रस के वशी हैं, उनसे कुरस कैसा? राधा को उस रस का निर्वाह करना चाहिए और कृष्ण के हृदय से दूर न रह कर संलग्न रहना चाहिये।[1] राधा ने तो आँख मूंद कर मौन धारण कर लिया है, कृष्ण की रसाकुलता को क्या समझें? कृष्ण मक्खन से भी मृदु हैं, मैन से मृदुतर हैं, स्त्री को तनिक-सा देखने पर ही ढल जाते हैं। जिससे मिलते हैं उसी के रंग में रंग जाते हैं, हृदय के इतने कोमल हैं![2] किन्तु इतने कोमल और सहृदय रसिक के मन की बात क्या राधा जानती हैं? नहीं। कृष्ण के हृदय में तनिक-सी भी कठिनता नहीं है, वे नवनीत-हृदय हैं, किन्तु राधा का हृदय कुलिश के समान कठोर और भारी है। प्रणत सुंदर सुकुमार कब के जग रहे हैं, किन्तु राधा हठ ठाने हैं।[3] उन्हें प्रेम की पीर नहीं है, वे किसी दूसरे के प्रेम की पीर को क्या जानें? दूती उन्हें हृदय से विरह का अंधकार हटाने का उपदेश देती है।[4] मोहन के वदन को निहार कर नागरी राधा को सारी अटपटी बातें छोड़ देना चाहिये। अभी वे नहीं समझतीं, जब नंदनंदन के बिना हृदय में चटपटी लगेगी तब राधा समझेंगी।[5] जब मुरली की ध्वनि सुन कर मोर बोलेंगे तब मदन तन का दहन करेगा। जब जानेंगी तब मानेंगी, अभी नहीं मानतीं। जब प्रेम-प्रवाह में उनका मन वहेगा तब राधा का मन गिरिधर के बिना नहीं रह पायेगा।[6]

शेष— मेरो कह्यौ मानि तू माई, सबै त्रियनि कौ यह सुभाव री।
'सूर' स्याम सौं हिलि-मिलि रहियै उठत बैस कौ इहै दावँ री ।।

—सूर सागर, पद सं० ३२१५

१. रस ही में बस कीन्हे कुँवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रसिक रस रिझवति रस ही में तासों रिस तजि री माई!
प्रिय कौ प्रेम रिस सों न होइ रसीली राधे! रस ही में वचन श्रवन सुखदाई।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर रस बस भए तासों कुरस कत मिलि रहै हिरदे लपटाई।।

—चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २९६

२. तुम तो मुख मूंदि कै मौन गह्यौ कछु जानति हो उनके मन की।
जानति हो उनके मन की यह नैंक नहीं जिय में कठिनाई।।
माखन ते मृदु मैंनहुते मृदु नेंक त्रिया निरखें ढरिजाई।
या ब्रज में वनिता जितनी वर वानिक तो सबसो बनि आई।।
जाहि मिलै मिलि जाय तिही रंग ऐसे हिये के हैं कोमलताई।।

—माधुरीवाणी : मानमाधुरी, पद सं० २२

३. अति हठु न कीजे री प्यारी चलि गिरिधारी लालन कुंजबिहारी।
प्रनत सुंदर सुकुमार कब के निसि जागत है, कुलिश समान हृदौ भारी।।

—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४९६

४. तोहि नाहिनें प्रेम पीर तू कहा जानें आँन की 'गोविन्द' प्रभु हृदे कै मेटि बिरह अँधेरी ।।

—वही, पद सं० ४९३

५. चतुर्भुजदास : पद संग्रह, पद सं० २९७ ।

६. तेरौ मन गिरिधर बिनु न रहैगौ।
बोलेंगें मोर मुरली की धुनि सुनि तब तनु मदन दहैंगौ।
जानेगी तब मानेंगी री आली प्रेम-प्रवाह बहैंगौ।।

—वही, पद सं० ३१४

किन्तु राधा के मन पर दूती की किसी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मनाते-मनाते वह हार जाती है पर राधा टस से मस नहीं होतीं। कृष्ण के माहात्म्य का उन पर कोई असर नहीं होता, वे रार बढ़ाये बैठी रहती[१] हैं। प्रेम की प्रगाढ़ अवस्था में भक्त भगवान् के माहात्म्य को भूल जाता है, रह जाता है एकमात्र स्नेह। इस स्नेह के कारण ही वह मान ठान बैठता है। अपने स्नेह का प्रतिदान न पाकर वह कृष्ण से क्षुब्ध हो जाता है। कृष्ण तब उसके अधीन हो जाते हैं। रसानुभूति की परिपक्वावस्था में दैन्य का भाव प्रत्यावर्तित होकर कृष्ण पर चला जाता है। भक्त मानी हो जाता है, कृष्ण विनयी। ज्यों-ज्यों कृष्ण विनती करके दूती को भेजते हैं, त्यों-त्यों राधा मान के गढ़ में ऊपर-ऊपर चढ़ती जाती हैं। मध्यस्थ भी हार जाता है, दोनों के बीच उसकी स्थिति चौगान के गेंद की तरह हो जाती है।[२] दूती भी खीझ जाती है। अभी तक वह कृष्ण की पैरवी कर रही थी, अब निष्पक्ष होकर कृष्ण के चरित्र का उद्घाटन करती है। कृष्ण से वह स्पष्ट शब्दों में कहती है कि वे खोटे हैं, बहुनायक हैं, इसीलिए सुशीला सुलक्षणा नारी को नहीं पा सकते। वह उनके भाग्य की सराहना करती हुई कहती है कि वे भाग्य के बड़े मोटे हैं जो राधा जैसी स्त्री पा गए, पूर्व पुण्य के फल से वे मिल गईं, कृष्ण तो घुटे हुये हैं। राधा परम सुशील, सुलक्षण नारी हैं, वे ही त्रिभंगी तथा खोटे हैं। राधा के मन में केवल कृष्ण हैं, किन्तु कृष्ण कोटि स्त्रियों को मन में बसाये हुये हैं—राधा एकनिष्ठ हैं, कृष्ण बहुनायक।[३] दोनों के बीच रसरीति का निर्वाह कैसे संभव है? जब कृष्ण देख लेते हैं कि राधा नहीं आतीं तब वे मदन-पीर से मंथित हो उठते हैं। वे गदगद-स्वर, विरहाकुल और पुलकित हो जाते हैं, उनके नेत्रों से नीर बहने लगता है। "क्वासि क्वासि वृषभानु नंदिनी" कहते हुये अधीर होकर विलाप करने लगते हैं। वंशी वाण के समान लगने लगती है, मालायें व्याल के समान, पिक और कीर सिंह के समान, मलयज गरल सदृश, मारुत अग्नि सदृश तथा चीर चुभती हुई घास की तरह प्रतीत होने लगता है। कोटि वनिताओं के रहते हुए भी राधा के मान से कृष्ण की यह दशा हो जाती है।[४] तब या तो सखी की प्रार्थना पर राधा कृष्ण के पास निकुंज में आती हैं, या कृष्ण स्वयं उनके पास मान मनाने पहुंचते हैं।

---

१. मनावत हार परी मेरी माई!
तू चट से मट होति नहि राधे उन मोहि लैन पठाई॥
राजकुमारी होय सो जानै कै गुरु सीख सिखाई।
नंद नंदन कौ छांडि महातम अपनी रार बढ़ाई॥ —परमानंदसागर, पद सं० २०२

२. आवत जात हौं हारि परी री।
ज्यों-ज्यों प्यारो विनती करि पठवत त्यों-त्यों तू गढ़ मान चढ़ी री॥
तिहारे बीच परे सो बाबरी हौं चौगान की गेंद भई री।
'गोविन्द' प्रभु सों मिले क्यों न भामिनी सुखद जामनी जात बही री॥
—गोविन्दस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ४९५

३. बड़े भाग्य के मोटे हौ।
ऐसी तिया और को पावै, बने परस्पर जोटे हौ।
वैसिय नारि सुंदरी छोटी, तैसेंइ तुम बलि छोटे हौ।
पूरब पुन्य सुकृत फल की वह, आपु गुननि करि घोटे हौ॥
परम सुशील सुलच्छन नारी, तुमहिं त्रिभंगी खोटे हौ।
'सूर' स्याम उनके मन तुमहीं, तुम बहुनायक कोटेहौ॥ —सूर सागर, पद सं० ३२२७

४. चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिनु कुंवरि कोटि बनिता-जुत मथत मदन की पीर॥

मान के प्रसंग में कृष्ण की प्रियाधीनता द्रष्टव्य है। पीछे-पीछे ललिता, उनके आगे श्यामा और उनके आगे कृष्ण मार्ग में फूल बिछाते चलते हैं। कठिन कलियों को बिन-बिन कर अलग कर देते हैं क्योंकि प्यारी के चरण-कमल कोमल हैं, कृष्ण डरते हैं कि कहीं कलियां गड़ न जायँ! उलझी हुई लताओं को अपने हाथ से सुलझाते हैं, पल्लव के पत्तों को ऊँचे अटका देते हैं—राधा के शीश से कहीं वे उलझ न पड़ें। प्रिय की अधीनता देख कर नेत्र तृप्त होते हैं।[1] प्रिय की ऐसी छवि देख कर राधा को अंग-दशा भूल जाती है, अन्तरगत आनन्द से भर जाता है और सखियों से कह कर कृष्ण अपनी फेंट में सुमन भरवा लेते हैं, (अत्यन्त अधीन होकर डरे से वश में रहते हैं) मार्ग में सुमन बिछाते हैं, राधा के पग की ओर देखते रहते हैं, वे बामा के ऐसे वश में हो जाते हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है, जो जिस भाव से उन्हें भजता है वे उसी भाव से उसे मानते हैं।[2] यदि प्रेम के अतिरेक में भक्त मानी होकर उन्हें झुकाना चाहे तो वे झुकते भी हैं। मानवती राधा के विलंब करने पर कृष्ण अत्यन्त व्यथित हो जाते हैं। कुंजविहारी राधा की प्रीति में बंधे रहते हैं, उनके आधे वचन को सुनकर प्राण पोषित करते हैं।[3] यदि कृष्ण राधा के प्यारे हैं, तो राधा भी उनकी दुलारी हैं। वे दुलारी राधिका से मान छोड़ने की प्रार्थना करते हैं, अपने माथे पर हाथ रखवा

शेष—गद-गद सुर, विरहाकुल, पुलकित, श्रवत बिलोचन नीर।
स्वासि स्वासि वृषभानु नंदिनी बिलपति बिपिन अधीर॥
बंशी बिसिष, व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखामृग रिपुचीर॥

—हितचौरासी, पद सं० ३७

१. पाछे-पाछे ललिता ता आगे स्यामा प्यारी, ता-आगे पिय मारग में फूल बिछावत जात।
कठिन कली बीन-बीन करत है न्यारी-न्यारी, प्यारी के चरन कोमल जानि, सकुचत (जिय) गड़िबेकों डरात।
अरुझी (द्रुमनि) लता निजकर निरवारति, ऊँचे लै धरत पाछे सीस नाँहि परसत पल्लव-पात।
(श्री) 'सूरदास मदनमोहन' पिय की अधीनताई, देखत मेरे री नैन सिरात॥

—सूरदास मदनमोहन की वाणी : पद सं० ५५

२. पिय छबि निरखत नागरी, अँग-दसा भुलानी।
अंतरगत आनँद भरी ललिता हरषानी॥
सहचरि सौं कहि सुमन लै, हरि फेंट भराए।
अति अधीन पिय ह्वै रहे, बस परे डराए॥
मारग सुमन बिछावहीं, पग निरखि निहारैं।
फूले फूले धर धरैं, कलियाँ चुनि डारैं॥
ऐसे बस पिय बाम कैं, सुख सूरज जानैं।
जो जिहिं भावनि हरि भजै, तिहिं तैसेइ मानै॥

—सूरसागर, पद सं० ३२३३

३. तू रिस छाँड़िरी राधे राधे।
ज्यौं-ज्यौं तोकों गहरु त्यों-त्यों, मोकों बिथारी साधे साधे॥
प्राननि कों पोषत सुनियत तेरे वचन आधे आधे।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी तेरो प्रीति बांधे बांधे॥

—केलिमाल, पद सं० १७

कर अभयदान की याचना करते हैं।[1] राधा के सम्मुख वे मल्लिका की माला हाथ में लेकर सजल लोचन उपस्थित होते हैं। ले-लेकर उस माला को आगे रखते हैं, मनुहार करते हैं, पैरों पर पड़ते हैं। चिबुक पकड़ कर कृष्ण उठाते हैं, उन्हें मनाते हैं, किन्तु जब तब भी राधा का दृष्टिभंग अनुकूल नहीं होता, तब वे जल-हीन मीन की भांति आकुल हो जाते हैं—छू भी नहीं सकते, पर रहा भी नहीं जाता।[2] उनकी ऐसी विचित्र और कातर अवस्था को देखकर राधा का मान विगलित होने लगता है। मोहन के बदन को देखते ही राधा का मान छूट जाता है। नेत्रों से नेत्र मिलने पर राधा मुस्करा पड़ती हैं, विरह का दुख छंट जाता है। देखने पर मान क्यों न भंग हो : कृष्ण की रूप-रेखा ही सम्मोहक है। सुभग कपोल, मृदु बोल तथा कुण्डल की छवि से राधा को मोहिनी लग जाती है। कृष्ण की मुख-शोभा कोटि-कोटि मदन को निर्जित कर लेती है, राधा अंततः कैसे न पराजित हो।[3] कृष्ण की मुख-शोभा ही नहीं, उनका प्रेम-वचन भी राधा के मान को भंग कर देता है। मान-भंग होने पर पुनः रसप्रवाह उमग पड़ता है। नवकुंजों में राधा-मोहन की छवि दर्शनीय है। तमाल से सुकुमार कनकवेलि लिपटी है, अद्भुत रूप है उनका। वदन सरोज में डहडहे लोचनों की छवि सुखकारी है। रसविहार पुनः आरम्भ हो जाता है, वृषभानु-सुता फुलवारी जो ठहरी और परमानंद-प्रभु मत्त मधुप।[4] फुलवारी से दूर मधुप कैसे रह सकता है? दोनों का मिलन सहज है, सुन्दर है, सुखकारी है।

भक्तिरस में मान का लीलारूप तब ठीक-ठीक समझ में आता है जब राधा कृष्ण की हृदय-मणि में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर विकट मान कर बैठती हैं। हरि के उर में राधा अपनी परछांई को किसी अन्य की परछाईं समझ लेती हैं। वे समझती हैं कि मुख से कृष्ण उनसे प्रेम का प्रदर्शन करते हैं किन्तु हृदय में किसी और को छिपाये हुये हैं। वह उनकी प्रताड़ना करती हुई कहती हैं कि कृष्ण का मन तो अन्यत्र लगा हुआ है, दिखावे के लिये मान क्यों मना रहे हैं? पर-स्त्रियों के संग रमणकारी, दावाग्नि के दमनकारी, कुंजों के विहारी, धेनु-चारणहारी, कमरी ओढ़ने वाले, गोपसभा के बैठने वाले, मोरपंख के भूषण और मुरलीवाले के पास प्रेम कहां है?[5] कृष्ण के वचनों का राधा पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। कृष्ण राधा का रुख लिये नाचते फिरते हैं पर राधा का रोष कम नहीं होता। भक्त की महिमा भी कैसी है कि जिसके डर से त्रिभुवन नाचता है, वह भक्त के तनिक से मान के कारण स्वयं नाच नाचता है। जिसके नेत्रों को देख कर दुःख भूल जाता है, उसके नेत्रों में दुःख समाया हुआ है। जो मुख सारे सुखों का दाता है, उसको और प्रिया तनिक भी नहीं देखती। और जो ललाट त्रिभुवन का टीका है, वह मानिनी राधा के

---

१. राधे दुलारी मान तजि।
प्रान पायो जात हैरी मेरौ री सजि।
मेरे माथे अपनौ हाथ धरि अभयदान दै अजि॥ —केलिमाल, पद सं० २२

२. आये सनमुख लाल लोचन सजल कीने माला एक मल्लीकी नवल कर लीने हैं।
आगे लै लै धरत करत मनुहार अति पांइन परत कर कैसे डारि दीने हैं॥
मोहन मनावत उठावति चिबुक गहि जतन बनावत न सौंहे दृग कीने हैं।
छुउ न सकात पै न रह्यो पुनि जात जिय अति अकुलात जैसे मीन जल हीने हैं॥
—माधुरी वाणी : मानमाधुरी, पद सं० २७

३. गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ५१० ।

४. सोहत नव कुंजन छबि भारी।
अद्भुत रूप तमाल सों लिपटी कनक बेलि सुकुमारी॥
बदन सरोज डहडहे लोचन निरखत छवि सुखकारी।
'परमानंद' प्रभु मत्त मधुप हैं वृषभानु सुता फुलवारी॥ —परमानंदसागर : पद सं० ४१२

५. पर धन-रमन. . . तिनकैं प्रेम कहाँ हो। —सूरसागर, पद सं० ३४४३

पाँवों के नीचे सो रहा है।[1] कृष्ण अवला से अपना सारा बल हार जाते हैं।[2] भक्त कितना भी निर्बल हो और प्रभु कितने भी सबल हों, प्रेम में उन्हें हारना ही पड़ता है। कृष्ण दीन होकर आत्म-निवेदन करते हैं : तुम्हीं मेरी तिलक हो, तुम्हीं मेरी भूषण हो, तुम्हीं प्राण और धन हो मेरी। मैं सेवक हूँ, और तुम्हारे शरणागत आया हूँ। हित से वैर और अनहित से नेह : यह कैसा न्याय है? वे वृषभानु-नंदिनी की शपथ खाकर कहते हैं कि उनके अतिरिक्त कृष्ण के मन में और कोई नहीं है, वही उनकी सर्वस्व हैं।[3] प्रत्येक भक्त को यह शिकायत रहती है कि भगवान् के प्रति उसकी लगन में जैसी निष्ठा है वैसी भगवान् को भक्त के प्रति नहीं है। भक्त के लिए एक भगवान् हीं हैं किन्तु भगवान् के लिए हजारों भक्त हैं। इसे कृष्ण का बहुनायकत्व कह कर अभिव्यक्त किया गया है। किन्तु बहुनायक कृष्ण अपनी प्रत्येक प्रेमिका के लिए पूर्ण रूप से निष्ठावान हैं। उनके हृदय में प्रिया का ही प्रतिबिम्ब रहता है, किसी इतर जन का नहीं। वे अपने हृदय में प्रेयसी को छिपाये रहते हैं। हर गोपी राधा का ही प्रतिबिम्ब है, उन्हीं का आभास है। प्रत्येक जीव अपना ही स्वरूप है, अपने बृहत्-स्व का ही आत्मप्रसार है। अपने से ईर्ष्या कैसी? अपना ही आभास प्रतिबिम्बित हो रहा है, यहां और कौन है?[4] सत्य को प्रमाणित करने के लिए कृष्ण राधा के पांव के नीचे मणिदर्पण रख देते हैं और उनसे कहते हैं कि देखो—दोनों में कौन है? राधा देखती हैं कि वे और कृष्ण, पति और प्रिया, दर्पण में परछाई की भांति प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।[5] कृष्ण अपनी प्राणप्रिया के सेवक हैं, वंचक नहीं।[6] राधा को कृष्ण-प्रेम की प्रतीति हो जाती है, अपने भ्रम का ज्ञान हो जाता है और उनका मान छूट जाता है।

अब राधा कृष्ण से कभी मान न करें—यही कृष्ण की प्रार्थना है, मान उनके लिए बहुत कष्टदायी है। प्रेम की ललित भावना में मान जैसी आत्म-पीड़ामयी लीला की क्या उपयोगिता है? राधा कहती हैं कि मान प्रेम की कसौटी है, प्रेम ने ही मान सहन करने की शक्ति प्रदान की है।[7] मान की कसौटी पर कसे जाकर कृष्ण भक्त को अपने प्रेम का परिचय देते हैं। मान रस को प्रगाढ़ कर देता है। बिना स्नेह के मान नहीं है, बिना मान के स्नेह नहीं; दोनों एक दूसरे के रंजक हैं; जैसे मिष्ठान्न नमकीन के साथ होने पर अधिक रोचक होता है। मान मिश्री की भांति है जो छूने

---

१. नाचत जाकैं डर त्रिभुवन, तिहिं नैंकुहुँ मान नचावै।
जिन नैननि देखत दुख भूले, ते दुख नैन समोवै।।
जो मुख सकल सुखनि कौ दाता, सो मुख नैंकु न जोवै।
जिहिं ललाट त्रिभुवन कौ टीकौ सो पाइनि तन सोवै।। —सूरसागर, पद सं० ३४४३

२. हारे बल दबला सौं मोहन, तजहिं न पानि कपोलै। —वही, पद सं० १११६

३. तुम मम तिलक, तुमहिं मम भूषन, तुमहिं प्रान धन मेरै।
हौं सेवक सरनागत आयौ, जानहु जतन घनेरैं।।
तेरी सौं वृषभानुनंदिनी, एक गाँठि सौ फेरैं।
हित सौं बैर, नेह अनहित सौं, इहै न्याउ है तेरैं।। —वही, पृ० १११७

४. लिये फिरत उर माँझ दुराए, जानत लोग अँधेरौ।
एते मान भावती तौ कत, मान मनावत मेरौ।।
तेरी सौं आभास तिहारौ, इहाँ और को जो है।
दै दरपन मनि धर्‌यौ पाइ तर, देखि दुहुँनि मैं को है।। —वही, पृ० १११८

५. पति अरु प्रिया प्रगट प्रतिबिंबित, ज्यौं दरपन मैं झाँई। —वही, पृ० १११९

६. हौं, सेवक निज प्रानप्रिया कौ, कहो तौ पत्र लिखाऊँ। —वही, पृ० १११९

७. स्याम मान है प्रेम कसौटी, प्रेमहिं मान सहायौ। —वही, पृ० १११९

कर अभयदान की याचना करते हैं।[1] राधा के सम्मुख वे मल्लिका की माला हाथ में लेकर सजल लोचन उपस्थित होते हैं। ले-लेकर उस माला को आगे रखते हैं, मनुहार करते हैं, पैरों पर पड़ते हैं। चिबुक पकड़ कर कृष्ण उठाते हैं, उन्हें मनाते हैं, किन्तु जब तब भी राधा का दृष्टिभंग अनुकूल नहीं होता, तब वे जल-हीन मीन की भांति आकुल हो जाते हैं—छू भी नहीं सकते, पर रहा भी नहीं जाता।[2] उनकी ऐसी विचित्र और कातर अवस्था को देखकर राधा का मान विगलित होने लगता है। मोहन के बदन को देखते ही राधा का मान छूट जाता है। नेत्रों से नेत्र मिलने पर राधा मुस्करा पड़ती हैं, विरह का दुख छंट जाता है। देखने पर मान क्यों न भंग हो : कृष्ण की रूप-रेखा ही सम्मोहक है। सुभग कपोल, मृदु बोल तथा कुण्डल की छवि से राधा को मोहिनी लग जाती है। कृष्ण की मुख-शोभा कोटि-कोटि मदन को निर्जित कर लेती है, राधा अंततः कैसे न पराजित हो।[3] कृष्ण की मुख-शोभा ही नहीं, उनका प्रेम-वचन भी राधा के मान को भंग कर देता है। मान-भंग होने पर पुनः रसप्रवाह उमग पड़ता है। नवकुंजों में राधा-मोहन की छवि दर्शनीय है। तमाल से सुकुमार कनकवेलि लिपटी है, अद्भुत रूप है उनका। वदन सरोज में डहडहे लोचनों की छवि सुखकारी है। रसविहार पुनः आरम्भ हो जाता है, वृषभानु-सुता फुलवारी जो ठहरी और परमानंद-प्रभु मत्त मधुप।[4] फुलवारी से दूर मधुप कैसे रह सकता है? दोनों का मिलन सहज है, सुन्दर है, सुखकारी है।

भक्तिरस में मान का लीलारूप तब ठीक-ठीक समझ में आता है जब राधा कृष्ण की हृदय-मणि में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर विकट मान कर बैठती हैं। हरि के उर में राधा अपनी परछाईं को किसी अन्य की परछाईं समझ लेती हैं। वे समझती हैं कि मुख से कृष्ण उनसे प्रेम का प्रदर्शन करते हैं किन्तु हृदय में किसी और को छिपाये हुये हैं। वह उनकी प्रताड़ना करती हुई कहती हैं कि कृष्ण का मन तो अन्यत्र लगा हुआ है, दिखावे के लिये मान क्यों मना रहे हैं? पर-स्त्रियों के संग रमणकारी, दावाग्नि के दमनकारी, कुंजों के विहारी, धेनु-चारणहारी, कमरी ओढ़ने वाले, गोपसभा के बैठने वाले, मोरपंख के भूषण और मुरलीवाले के पास प्रेम कहां है?[5] कृष्ण के वचनों का राधा पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। कृष्ण राधा का रुख लिये नाचते फिरते हैं पर राधा का रोष कम नहीं होता। भक्त की महिमा भी कैसी है कि जिसके डर से त्रिभुवन नाचता है, वह भक्त के तनिक से मान के कारण स्वयं नाच नाचता है। जिसके नेत्रों को देख कर दुःख भूल जाता है, उसके नेत्रों में दुःख समाया हुआ है। जो मुख सारे सुखों का दाता है, उसको और प्रिया तनिक भी नहीं देखती। और जो ललाट त्रिभुवन का टीका है, वह मानिनी राधा के

---

१. राधे दुलारी मान तजि।
प्रान पायो जात हैरी मेरी री सजि।
मेरे मांथे अपनौ हाथ धरि अभयदान दै अजि॥ —केलिमाल, पद सं० २२

२. आये सनमुख लाल लोचन सजल कीने माला एक मल्लीकी नवल कर लीने हैं।
आगे लै लै धरत करत मनुहार अति पांइन परत कर कैसे डारि दीने हैं॥
मोहन मनावत उठावति चिबुक गहि जतन बनावत न सौंहे दृग कीने हैं।
छुउ न सकात पै न रह्यो पुनि जात जिय अति अकुलात जैसे मीन जल हीने हैं॥
—माधुरी वाणी : मानमाधुरी, पद सं० २७

३. गोविंदस्वामी : पद संग्रह, पद सं० ५१० ।

४. सोहत नव कुंजन छबि भारी।
अद्भुत रूप तमाल सों लिपटी कनक बेलि सुकुमारी॥
बदन सरोज डहडहे लोचन निरखत छवि सुखकारी।
'परमानंद' प्रभु मत्त मधुप हैं वृषभानु सुता फुलवारी॥ —परमानंदसागर : पद सं० ४१२

५. पर धन-रमन... तिनकैं प्रेम कहाँ हीं। —सूरसागर, पद सं० ३४४३

पाँवों के नीचे सो रहा है।[1] कृष्ण अबला से अपना सारा बल हार जाते हैं।[2] भक्त कितना भी निर्बल हो, और प्रभु कितने भी सबल हों, प्रेम में उन्हें हारना ही पड़ता है। कृष्ण दीन होकर आत्म-निवेदन करते हैं : तुम्हीं मेरी तिलक हो, तुम्हीं मेरी भूषण हो, तुम्हीं प्राण और धन हो मेरी। मैं सेवक हूँ, और तुम्हारे शरणागत आया हूँ। हित से बैर और अनहित से नेह : यह कैसा न्याय है? वे वृषभानु-नंदिनी की शपथ खाकर कहते हैं कि उनके अतिरिक्त कृष्ण के मन में और कोई नहीं है, वही उनकी सर्वस्व हैं।[3] प्रत्येक भक्त को यह शिकायत रहती है कि भगवान् के प्रति उसकी लगन में जैसी निष्ठा है वैसी भगवान् को भक्त के प्रति नहीं है। भक्त के लिए एक भगवान, ही हैं, किन्तु भगवान् के लिए हजारों भक्त हैं। इसे कृष्ण का बहुनायकत्व कह कर अभिव्यक्त किया गया है। किन्तु बहुनायक कृष्ण अपनी प्रत्येक प्रेमिका के लिए पूर्ण रूप से निष्ठावान हैं। उनके हृदय में प्रिया का ही प्रतिविम्ब रहता है, किसी इतर जन का नहीं। वे अपने हृदय में प्रेयसी को छिपाये रहते हैं। हर गोपी राधा का ही प्रतिविम्ब है, उन्हीं का आभास है। प्रत्येक जीव अपना ही स्वरूप है, अपने बृहत्-स्व का ही आत्मप्रसार है। अपने से ईर्ष्या कैसी? अपना ही आभास प्रतिबिम्बित हो रहा है, यहां और कौन है?[4] सत्य को प्रमाणित करने के लिए कृष्ण राधा के पांव के नीचे मणिदर्पण रख देते हैं और उनसे कहते हैं कि देखो—दोनों में कौन है? राधा देखती हैं कि वे और कृष्ण, पति और प्रिया, दर्पण में परछाई की भांति प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।[5] कृष्ण अपनी प्राणप्रिया के सेवक हैं, वंचक नहीं।[6] राधा को कृष्ण-प्रेम की प्रतीति हो जाती है, अपने भ्रम का ज्ञान हो जाता है और उनका मान छूट जाता है।

अब राधा कृष्ण से कभी मान न करें—यही कृष्ण की प्रार्थना है, मान उनके लिए बहुत कष्टदायी है। प्रेम की ललित भावना में मान जैसी आत्म-पीड़ामयी लीला की क्या उपयोगिता है? राधा कहती हैं कि मान प्रेम की कसौटी है, प्रेम ने ही मान सहन करने की शक्ति प्रदान की है।[7] मान की कसौटी पर कसे जाकर कृष्ण भक्त को अपने प्रेम का परिचय देते हैं। मान रस को प्रगाढ़ कर देता है। बिना स्नेह के मान नहीं है, बिना मान के स्नेह नहीं; दोनों एक दूसरे के रंजक हैं; जैसे मिष्ठान्न नमकीन के साथ होने पर अधिक रोचक होता है। मान मिश्री की भांति है जो छूने

---

१. नाचत जाकैं डर त्रिभुवन, तिहिं नैंकुहुँ मान नचावै।
जिन नैननि देखत दुख भूले, ते दुख नैन समोवैं।।
जो मुख सकल सुखनि कौ दाता, सो मुख नैंकु न जोवै।
जिहिं ललाट त्रिभुवन कौ टीकौ सो पाइनि तन सोवै।। —सूरसागर, पद सं० ३४४३

२. हारे बल बबला सौं मोहन, तजहिं न पानि कपोलै। —वही, पद सं० ४४४६

३. तुम मम तिलक, तुमहिं मम भूषन, तुमहिं प्रान धन मेरै।
हौं सेवक सरनागत आयौ, जानहु जतन घनेरैं।।
तेरी सौं वृषभानुनंदिनी, एक गाँठि सौ फेरैं।
हित सौं बैर, नेह अनहित सौं, इहै न्याउ है तेरैं।। —वही, पृ० ४४४७

४. लिये फिरत उर माँझ दुराए, जानत लोग अँधेरौ।
एते मान भावती तौ, कत, मान मनावत मेरौ।।
तेरी सौं आभास तिहारौ, इहाँ और को जो है।
दै दरपन मनि धर्‌यौ पाइ तर, देखि दुहुँनि मैं को है।। —वही, पृ० ४४४८

५. पति अरु प्रिया प्रगट प्रतिबिंबित, ज्यौं दरपन मैं झाँई। —वही, पृ० ४४४९

६. हौं, सेवक निज प्रानप्रिया कौ, कहौ तौ पत्र लिखाऊँ। —वही, पृ० ४४४९

७. स्याम मान है प्रेम कसौटी, प्रेमहिं मान सहायौ। —वही, पृ० ४४४९

३०

पर तो कठोर प्रतीत होती है, किन्तु जब उसके रस का पान किया जाता है तब उसके सरस स्वाद को रसना ही जानती है।[१] उसी प्रकार, रसज्ञ मानलीला की अंतःमाधुरी का रसास्वादन करते हैं।

(३) मथुरागमन-लीला

कंस ने अक्रूर को भेज कर श्याम और बलराम को मथुरा बुलवाया। कृष्ण अक्रूर के साथ जाने में ऐसी उत्सुकता प्रकट करने लगते हैं जैसे वे तैयार बैठे रहे हों, और रथ पर बैठ कर, ब्रजसमाज को विरह-सागर में तैरता छोड़ कर कृष्ण चलने लगते हैं। उन्हें जाता हुआ देख कर गोपियां हतचेष्ट रह जाती हैं। जो जहां रहती है वहां कृष्ण को एकटक देखती खड़ी रह जाती है, लोचन फेरे नहीं फिरते। पुकारने पर वह सुनती नहीं, देह की गति भूल गई है। गोपियाँ कृष्ण से दूध-पानी की तरह मिल चुकी हैं, अलग किये जाने पर अलग नहीं होतीं। मानसिक रूप से वे मत्त मत्तंग की भांति कृष्ण के साथ लग लेती हैं, घेरे नहीं घिरतीं, एकमात्र प्रेमाशा का अंकुश है। हृदय में और कोई नहीं है। वे न इधर देखती हैं न उधर, एकटक कृष्ण को बिछुड़ता हुआ देख रही हैं और चित्रलिखित-सी जड़वत् हुई जा रही हैं।[२] कृष्ण के चले जाने पर क्या उनके प्राण रहेंगे? कृष्ण ने प्रीतिपगी जो बातें कहीं थीं, वैसी बातें फिर कहेंगे? उनके नेत्र-खंग कृष्ण के इन्दु-वदन की तीव्रतर लालसा नहीं करेंगे? वे जो निशि वासर कभी अलग नहीं होते थे उनसे बिछुड़ना क्या वे सहेंगे? उन्हें विश्वास नहीं होता कि कृष्ण जायेंगे। वे कहती हैं कि श्याम जा नहीं रहे हैं, वे वृन्दावन में ही रहेंगे। यशोमती को छोड़कर वे मथुरा जाकर क्या लेंगे?[३] किन्तु स्नेह बावली गोपियों का विश्वास सच नहीं निकलता। कृष्ण मथुरा के लिये प्रस्थान करते हैं। अक्रूर उन्हें संग लिवा ले जाते हैं और वे देखती ही रह जाती हैं। जैसे मधु निकाल लेने पर मक्खियां बिलबिला जाती हैं वैसी ही गोपियों की दशा हो जाती है। वे अपने घर को लौटती हैं किन्तु नेत्र पीछे ही देखते रहते हैं, पैर घर की ओर जाते ही नहीं। मन तो माधुरी-मूर्ति ले गई, ब्रज जाकर वे क्या करें? यही पश्चाताप है कि वे पवन न हुईं जो रथ की पताका के साथ लग लेतीं, या रथ का कोई अंग ही होतीं, धूल ही होतीं तो चरन से लिपट जातीं और वहां तक साथ चली जातीं! किन्तु अब क्या, अब तो साक्षात् विरह उपस्थित है। इसीलिए कृष्ण को मधुपुरी भेज कर ब्रजबालायें मुरझा जाती हैं।[४] अब किया ही क्या जा सकता है?

---

१. बिन सनेह नहिं मान, मान विना न सनेह कछु।
जैसे रस मिष्ठान्न, नोंन सहित रोचक अधिक ॥३६॥
मिश्री मान समान, छूवत कर लागत कठिन।
जब कीजै रस पान, तब जानै रसना सरस ॥३८॥ —माधुरीवाणी : मानमाधुरी, पृ० ८२

२. चलत जानि चितवतिं ब्रज जुवती मानहु लिखीं चितेरैं।
जहाँ सु तहां एकटक रहि गई, फिरत न लोचन फेरैं॥
बिसरि गई गति भाँति देह की, सुनति न स्रवननि टेरैं।
मिलि जु गईं मानौ पै पानी, निबरतिं नहीं निबेरैं॥
लागीं संग मतंग मत्त ज्यौं, घिरति न कैसैंहुँ घेरैं।
'सूर' प्रेम आसा अंकुस जिय, वै नहिं इत उत हेरैं॥ —सू०सा०, पद सं० ३५७९

३. सूरसागर, पद सं० ३५८३।

४. पाछैं ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पायँ।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जायँ॥
पवन न भई पताका अम्बर, भई न रथ के अंग।

कृष्ण के चले जाने पर गोपियों की जो विरह-पीड़ा होती है वह उन्हें समस्त बाह्य चेतना से विगत कर देती है। एक प्राण नहीं निकलता, बाकी सारी इन्द्रियां कृष्ण के अभाव में शिथिल हो जाती हैं। आधे पल के लिए भी इन्द्रियों की चेतना अपनी नहीं रह जाती। गोपाल के चलते ही धैर्य चला जाता है. धैर्य को जाता देख तत्क्षण नेत्र की वृत्ति चल देती है, एकमात्र आंसू रह जाते हैं। उसमें अश्रु के साथ-साथ वलयों की गति भी नष्ट हुई, अंग शिथिल हो जाते हैं।. मन तो पहले ही चला गया था अब सब चले गये, सारी इंद्रियां अवश हो गयी हैं।[१] गोपियां अपनी प्रेमासक्ति के लिए कृष्ण को दोषी ठहराती हैं। एक ही बार में यदि कृष्ण को सब त्याग देना था तब क्यों उन्होंने मुरली में टेर कर सबका मन चुराया था और प्रेम की डोरी में बांध लिया था? घाट, बाट, घर, बन सब जगह जिनके संग वह फेरे लगाते थे, उनकी यह दुर्दशा कर गये कृष्ण! दुःख की बेड़ी पहना गये,—यही थी उनकी प्रीति? यदि वे चतुर और समझदार हैं तो उन्हें समझ लेना चाहिये कि वे गोपियों-सी बिना मोल की दासी फिर न पा सकेंगे।[२] गोपियों-सी प्रेमिकायें कृष्ण को कहां मिलेगी? आखिर मथुरा है कितनी दूर जो कृष्ण ने निकट को ही विदेश बना दिया? क्या उन्हें कागज और मसि नहीं मिलती जो संदेश भी नहीं भेज देते? वस्तुतः दूरी स्थान की नहीं, हृदय की है। बिना दाम की चेरी-सी प्रेमिकाओं को त्याग कर कृष्ण ने नई प्रीति कर ली है। किन्तु गोपियां उनकी प्रतीक्षा में हिरणी की तरह पंथ निहारती हैं। उनकी श्वास विरह के कारण ऊर्ध्व चलने लगी है। वे प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण उनकी इस दशा को देख जायँ।[३] किन्तु जब कृष्ण सन्देश तक नहीं भेजते तब देखने क्या आएँगे? कृष्ण नहीं आते और हताश गोपियां उनके विरह में दिनोंदिन क्षीण होती जाती हैं। निराश गोपियां कृष्ण पर व्यंग करती हैं। कृष्ण मधुपुरी जाकर छा रहे; यहां मधुबन की बाट देखते-देखते उनके नेत्र धुंधला गये, उंगलियों में छाले पड़ गये, रटते-रटते वाणी थक गई। यहां तो उनकी यह दशा है, वहां कृष्ण कुब्जा के संग सुख-चैन कर रहे हैं। जोड़ी दोनों की बिल्कुल ठीक है, एक कुबड़ी है दूसरे बौना (वामन)।[४]

शेष—धूरि न भई चरन लपटातीं, जातीं उहँ लौं संग।।
ठाढ़ी कहा करौ मेरी सजनी, जिहिं बिधि मिलहिं गुपाल।
'सूरदास' प्रभु पठै मधुपुरी, मुरझि परीं ब्रजबाल।। —सूरसागर, पद सं० ३६१९

१. चलत गुपाल के सब चले।
यह प्रीतम सौं प्रीति निरन्तर, रहे न अर्ध पले।।
धीरज पहिल करी चलिबैं की, जैसी करत भले।
धीर चलत मेरे नैननि देखे, तिहिं छिन आँसु हले।।
आँसु चलत मेरी बलयनि देखे, भए अंग सिथिले।
मन चलि रह्यौ हुतौ पहिलै हीं, चले सबै बिमले।
एक न चलै प्रान 'सूरज' प्रभु, असलेहु साल सले।। —वही, पद सं० ३८००

२. वही, पद सं० ३८०७।

३. माधौं तें प्रीति भई नयी।
कितनी दूर यह मथुरा ते निकटहि कियो बिदेस।।
कागद मसि खूटि गई पठ्यो न सन्देस।
हरिनी ज्यौं जोवत मग ऊरध लेत उसास।
यह दसा देखि जाहु 'परमानन्ददास''।। —परमानंदसागर, पद सं० ५२६

४. देखि-देखि मधुबन की बाटहिं, घूँघरे भये मेरे नैन।
अवधि गनत अँगुरिनि छाले परे, रटत जु थाके बैन।।

इसीलिए वे दो अक्षर भी नहीं लिख भेजते। गोपियां इस पार हैं और कृष्ण दूसरे पार, बीच में विरह की वेगवान धारा है। कृष्ण क्या मिल नहीं सकते? किन्तु वे मिलते नहीं, उन्होंने अपना हृदय कठोर कर लिया है।[१] अब उन्हें कुब्जा से प्रीति हो गयी है, गोपियों से प्रीति नहीं रही। दोष उनका नहीं गोपियों का है जो वे कृष्ण पर विश्वास कर बैठीं। परदेशी की प्रीति पर क्या भरोसा? प्रीति बढ़ाकर परदेशी कृष्ण मधुवन चल दिये। बिछुड़ने का उन पर तो कोई प्रभाव हुआ नहीं, किन्तु बिछुड़ कर गोपियों को उन्होंने भारी दुःख दिया। जलहीन तड़पती मीन के सदृश उनके प्राण व्याकुल हैं, कृष्ण के लिए छटपटा रहे हैं। कृष्ण-दर्शन के बिना उनके मन में अंधकार छाया हुआ है, जैसे अंधकारग्रसित भवन।[२] उन्होंने कृष्ण को ऐसा नहीं समझा था। सेवा करते रहने पर कृष्ण ने यह प्रतिदान दिया? गोपियाँ अपनी जाति, कुल, यश से गयीं, पर कृष्ण उन्हें छोड़कर अन्यत्र प्रीति जोड़ बैठे। तन मन से प्रीति लगा कर तोड़ने में कौन भलाई है? पर कृष्ण ने यही किया, तन मन से गोपियों से प्रीति जोड़ी, और फिर तोड़ दिया; जैसे कहीं कुछ रहा ही न हो। अविचल प्रेमिकायें उन पर व्यंग करती हैं कि कृष्ण प्रीति क्या समझें। वे दूसरों के प्रेम की पीर क्या जानें, वे तो अपने काम से लुब्ध हैं। नगर नारियों के रतिनागर कुब्जा की रति में रंगे हुए हैं। जिसकी जो प्रकृति होती है वह अंत में प्रकट हो जाती है।[३] अब जब कृष्ण की प्रकृति गोपियों पर प्रकट हो गई तब उन्हें प्रीति करने पर पश्चाताप होता है। बल्कि गोपी के घर वे जन्म न लेतीं, गर्भ में ही पड़ी रहतीं, ऐसी दुर्दशा तो न होती उनकी। बीच में कृष्ण ने उन्हें मार डाला। तनकुटी को विरह दावानल ने फूंक-फूंक कर जला दिया। सोचते-सोचते तन क्षीण हो गया,—कैसी बिगाड़ दी कृष्ण ने यह देह! वह देह जिसे विधि ने कृष्ण के लिए ही संवारा था, उसकी क्या दुर्गति हो गयी।[४] दोष कृष्ण का नहीं, गोपियों के प्रेम का ही है। प्रणयिनी गोपिकाएं अंततः अपने को ही

शेष—आपुन जाइ मधुपुरी छाएँ, कुविजा सँग सुख चैन।
'सूरदास' प्रभु अविचल जोरी, वह कुबरी वे बौन।। —सूर सागर, पद सं० ३८७४

१. लिखि नहिं पठवत हैं द्वै बोल।
द्वै कौड़ी कै कागद मसि कौ, लागत है कछु मोल?
हम इहि पार, स्याम पैले तट, बीच बिरह कौ ज़ोर।
'सूरदास' प्रभु हमरे मिलन कौं, हिरदै कियौ कठोर।। —वही, पद सं० ३८७३

२. प्रीति बढाइ चले मधुबनकौं बिछुरि दियौ दुख भारौ।
ज्यौं जलहीन मीन तरफत त्यौं, व्याकुल प्रान हमारौ।
सूरदास प्रभु के दरसन बिन, दीपक भौन अंध्यारौ।। —वही, पद सं० ३८१३

३. ऐसे हम नहिं जाने स्यामहिं।
सेवा करत करी उनि ऐसी, गई जाति कुल नामहिं।।
तन मन प्रीति लाइ जो तोरै कौन भलाई तामहिं।
वै कह जानैं पीर पराई, लुब्ध आपने कामहिं।
नगर नारि रति के रतिनागर, रते कूबिजा बामहिं।
अंतहुँ 'सूर' सोइ पै प्रगटै, होइ प्रकृति जो जामहिं।। —वही, पद सं० ३८०६

४. गोविन्द बीच दै सर मारी।
उर तन कुटी बिरह दावानल फूंकि फूंकि सब जारी।
सोच-सोच तन छीन भयो अति कैसी देह बिगारी।
जो पहले बिधि हरि के कारन अपने हाथ संवारी।

दोषी ठहराती हैं, उनकी प्रीति ही अधूरी थी। वे अपने स्नेह को सच्चा स्नेह न मान कर कपट-स्नेह मानती हैं। नेत्रों के विद्यमान होते हुए भी वे सूना गृह देख पाती हैं और उनका हृदय विदीर्ण नहीं होता,—यह प्रीति का कच्चापन नहीं है तो और क्या है ?[१] इतना ही नहीं वे यह मानती हैं कि सेवा न करके उन्होंने अपराध किया है। भील घर के चन्दन को ईंधन समझता है, वैसे ही गोपियां कृष्ण का माहात्म्य नहीं जान सकीं। किन्तु फिर भी ग्राम कृष्ण का है, देश उनका है, भूमि उनकी है। पहले के नाते ही कृष्ण उनकी सुधि लें।[२] वे प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण एक बार फिर ब्रज आ जायें, अब वे उनकी सेवा में कोई चूक नहीं करेंगी। अब वे कृष्ण को जगाकर गोधन के साथ नहीं भेजेंगी। मक्खन खाते, दही लुटाते कभी मना न करेंगी। नंद के घर जाकर इन बातों के लिये फिर उलाहना नहीं देंगी। अब वे कृष्ण को बंधायेंगी नहीं। गोपियां न चोरी उद्‌घाटित करेंगी, न जाकर अवगुण कहेंगी। इतना ही नहीं, वे कृष्ण से अपना मनुहार करने को भी नहीं कहेंगी,—न चरणों में जावक लगाने को कहेंगी, न वेणी में फूल गूंथने को। न मान करेंगी, न कृष्ण के दान मांगने पर हठ करेंगी। यहां तक कि मृदु मुरलीवादन के लिये भी नहीं कहेंगी, और न ही गाने का कष्ट देंगी। वे यह सब कुछ नहीं करेंगी, बस एक बार कृष्ण आकर दर्शन दे दें।[३] यह सब तो दूर, अब वे कृष्ण का सम्मान करेंगी। उन्हें ग्वाल नहीं कहेंगी, नंद के राजकुमार कहे जायेंगे वे। इस बार मुरलीध्वनि का निशान बजायेंगे, तो युवती मंडलरूपी भूपगण आकर कृष्ण के पैरों पर गिर पड़ेंगे। इस प्रकार वे कृष्ण की दिग्विजय की घोषणा करेंगी।[४] अब वे पूर्णतया अधीन रहेंगी, सेविका का भाव धारण करके स्वामी को सम्मान प्रदान करेंगी। उन्हें कोई भी भाव अपनाना पड़े कृष्ण आ जायँ। बिना कृष्ण के वे असहाय हैं; जब से कृष्ण ब्रज छोड़कर चले गये हैं तबसे उनके नयन अनाथ हो गये हैं। आंखें कृष्ण-मिलन के लिए अत्यन्त हठ कर रही हैं। अतिथि बन कर ही कृष्ण चार दिन के लिए मिल जायँ। काक उड़ाते हुये बाँह थक गयी, आखिर कृष्ण कब दिखाई पड़ेंगे? गोपियां कालिंदी के कगारों में श्याम-श्याम पुकारती हैं किन्तु प्रत्युत्तर देने वाला कोई नहीं है। नेत्र अश्रु में डूबे हुये हैं, पलकें शिथिल हैं।[५] कृष्ण के बिछुड़ने पर कुछ अच्छा नहीं लगता, पूंजी-खोई-सी गोपियों की दशा है। न किसी ने चीर धोया है, न किसी के मुख में ताम्बूल है और न

शेष—बरु गोपी घर जन्म न लेतीं रहत गरभ में डारी।
'परमानन्द' बिरहनी हरि की सोचत अरु पछताई।। —परमानंदसागर, पद सं० ५२८

१. सखीरी हरिहिं दोष जनि देहु।
तातैं मन इतनो दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु।।
विद्यमान अपने इन नैननि, सूनौ देखति गेहु।
तदपि सखी ब्रजनाथ बिना उर फटि न होतु बड़ वेहु।। —सूर सागर, पद सं० ३८१५

२. गोविन्द गोकुल की सुधि कीबी।
पहिलेहि नाते स्याम मनोहर इतनीक पाती दीबी।
गाम तुम्हारो देस तुम्हारो भूमि तुम्हारी देवा।
चूक परी अपराध हमारे नाथ न कीनी सेवा।
चंदन भील पुलिंदी के घर ईंधन करि ताहि माने।
'परमानंद प्रभु' जहां सो तहां, जो न महातम जाने।। —परमानंदसागर, पद सं० ५४९

३. सूरसागर, पद सं० ३८४७।
४. वही, पद सं० ३८४६।
५. वही, पद सं० ३८६२।

आंखें में काजल : बिरह ने शरीर को नष्ट कर रखा है। गोपियां घाट-बाट बन पर्वत (जहां-जहां कृष्ण ने क्रीड़ा रचाई थी) उन्हें ढूंढ़ती फिरती हैं और उनकी लीला का स्मरण करती हैं।[१]

यह स्मृति गोपियों को और नहीं रहने देती। वास्तविक मिलन के अभाव में कृष्ण के साथ व्यतीत की गई सुखद अनुभूतियों की स्मृति रह-रह कर उनके मन में जग उठती है और उन्हें चैन नहीं लेने देती। विरह में पूर्व-स्मृति ही एकमात्र सहारा बनती है। वे कुंज में विलाप करती हुई यह सोचती हैं कि एक दिन जब वे इसी मार्ग से दही बेचने जा रही थीं तब दान के मिस कृष्ण ने उनकी बांह पकड़ी थी। और यह सोचते ही विरहाग्नि दहक उठती है, दर्शन के अभाव में नेत्रों से जल धारा बह निकलती है।[२] अब उनकी बातों का रसिक कौन रहा? नंदनंदन के बिना अपने दुखी मन की बातें वे किससे कहें? कहां है वह यमुना का पुलिन, शरद-चन्द्र की रात, कहां हैं मन्द सुगन्ध अमल रस से भरे जलजात और भ्रमर? बन में फलों के तथा मृदु पत्रों के बिछौने पर शयन, कोमल कृष्ण के कोमल गात का स्पर्श, दर्शन आदि सब कहां हैं?[३] रासलीला, निकुंजलीला की माधुरी सब मिट गई किन्तु उसकी स्मृति कैसे मिटे, वह मधुर स्मृति ही गोपियों को उद्विग्न कर देती है। वे फिर से कृष्ण का सान्निध्य चाहने लगती हैं। बार-बार वे कृष्ण के गुणों का स्मरण करती हैं; कर-पल्लव में ग्रहीत, लोल अधरों पर विराजमान मुरली का वे ध्यान करती हैं। कृष्ण के रूप और गुणों का स्मरण करते ही विरहातुर हो माथा फोड़ने लगती हैं और पथिक से कृष्ण को संदेश भेजती हैं और पूछती हैं कि फिर कब कृष्ण से मिलन होगा?[४] किन्तु कृष्ण के पास संदेश भेजने से भी क्या? संदेशों से तो मधुबन के कूप पट गये होंगे, कृष्ण ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। कृष्ण ने सारी प्रीति भुला दी, पर क्यों? कृष्ण की इस उपेक्षा को कहते, सुनते, समझते हृदय में बहुत दुख होता है। जो कृष्ण एक समय गोपियों के प्रेम में कष्ट सहन करके भी प्रसन्न रहते थे, वे अब इतने कठिन-हृदय कैसे हो गये? एक बार बन के भीतर खेलते हुये कृष्ण ने गोपी की वेणी संवारी थी, वेणीग्रन्थन के लिए फूल बीनते समय कांटा चुभ गया किन्तु कृष्ण ने गोपी के लिए उस व्यथा को भी सह लिया। जिनके लिए भारी गोवर्द्धनपर्वत उन्होंने उठा लिया था, उन्हीं के लिए कृष्ण ने अब अपना हृदय इतना कठिन कैसे कर डाला? वे तो प्रीति भूल गये, किन्तु गोपियां विरह की मारी मृतप्राय हो रही हैं।[५] मिलकर बिछुड़ने की वेदना

---

१. केते दिन भये रैनि सुख सोये।
कछु न सुहाई गोपालहिं बिछुरे रहे पूंजी-सी खोये।।
जब तैं गए नंदलाल मधुपुरी चीर न काहू धोये।
मुख तंबोर नैन नहिं काजर विरह सरीर बिगोये।।
ढूंढ़त बाट घाट बन परबत जहँ-जहँ हरि खेल्यौ।
'परमानन्द प्रभु' अपनो पीताम्बर मेरे सीस पर मेल्यौ।। —परमानन्दसागर, पद सं० ५२१

२. परमानंदसागर, पद सं० ५१९।

३. वही, पद सं० ५४२।

४. कहियो अनाथ के नाथहिं।
स्याम मनोहर सब चाहति हैं बहुरि तुम्हारो साथहिं।।
बार-बार बिरहिनि ब्रज बनिता सुमिरत हैं गुन गाथहिं।
मुरली अधर लोल कर पल्लव ध्यान करत ओहि हाथहिं।।
लोचन सजल प्रेम बिरहातुर पुनि-पुनि फोरति माथहिं।
'परमानन्द' मिलन बहुरि कब दुखित निहारति पाथहिं।। —वही, पद सं० ५४८

५. मोहन वो क्यों प्रीति बिसारी।
कहत सुनत समुझत उर अन्तर दुख लागत है भारी।।

कुछ और ही होती है; जिसे होती है वही समझ पाता है कि इस वियोग में कितनी भारी पीड़ा है। कृष्ण तो मिल कर बिछुड़ने की पीड़ा से अनभिज्ञ हैं, सारी वेदना गोपियों के हृदय में समा गई है। विरह अब इतना असहनीय हो उठा है कि वे विधाता से ही क्षुब्ध हो उठती हैं। जन्म लेते ही विधाता ने क्यों नहीं मार डाला, इतने दिनों तक जीवित क्यों रखा?[१] इस वेदना-दग्ध जीवन से तो मृत्यु शान्तिमय थी।

गोपियां नखशिख विरह-दावाग्नि में जल रही हैं। अपनी व्यथा में उन्हें प्रकृति से भी कोई सांत्वना नहीं मिलती। उन्हें मधुबन पर आक्रोश आता है कि वह हरा-भरा कैसे है, श्यामसुन्दर के विरह में खड़ा-खड़ा ही क्यों नहीं भस्म हो गया? इस मधुबन से कृष्ण के साहचर्य की कितनी स्मृतियां लिपटी पड़ी हैं—उसी के वृक्ष के नीचे कृष्ण वेणु बजाते थे, उसकी ही शाखा को टेक कर खड़े होते थे। किन्तु प्रकृति जड़ है, उसे कृष्ण-साहचर्यजनित कोई पीड़ा नहीं है। कृष्ण की चितवन उसके मन में नहीं बसी है, नहीं तो मधुबन अब तक वह निष्प्राण हो गया होता, बार-बार फूलों को धारण न करता। यह वेदना तो गोपियों को ही है, वे ही सौख्यविहीन है, आपादमस्तक विरहज्वलित हैं।[२] विरह में सारी बातें उलट गयीं। जिन प्राकृतिक वस्तुओं से सुख मिलना था वे अब दुःसह लगने लगीं। श्याम सुन्दर के साथ श्याम रजनी और पावस का गरजना सुख की अवधि प्रतीत होता था, अब दुःख की परावधि। मोर की पुकार, कोकिल का शोर, अलि का गुंजार कृष्ण के बिना अब दादुर की पुकार के समान प्रतीत होता है। चंद्रमा, चंदन, समीर, अग्नि के समान लगते हैं, ये तन में दावाग्नि जला देते हैं। कालिंदी और कमल सब देखने में ही सुन्दर हैं, गोपियों के मन पर उनका कोई ह्लादक प्रभाव नहीं पड़ता। शरद, वसन्त, शिशिर, ग्रीष्म और हेमन्त सारी ऋतुओं की जैसे अधिकता हो गयी है, गोपियों से उनका आधिक्य सहा नहीं जाता। और पावस में तो सर्वत्र आर्द्रता के रहते हुए भी वे जलती हैं, तड़पते हुए रैन का अवसान हो जाता है।[३] सारी ऋतुयें और ही प्रतीत होने लगी हैं। ब्रजराज के बिना ब्रज में ऋतुओं का सौन्दर्य फीका लगता है। घन को बरसता देखकर उनके नेत्रों से वर्षा होने लगती है, बल्कि पावस बीतने पर कुछ शान्ति मिलती है। चंद्र को देखकर हेमन्त उपज आता है। शिशिर में श्याम के रसभोग का स्मरण कर हृदय-कमल कंपित हो उठता है। बसंत में विरह-बेली फूल उठती है और ग्रीष्म में काम का ताप एक क्षण को भी नहीं छोड़ता, देहदशा सब भूल जाती है। षटऋतुयें एक ही स्थान पर

[शेष—एक दिवस खेलत बन भीतर बैंनी हाथ सम्हारी।
बीनत फूल गयो चुभि काँटौ ऐसी सही बिथा री।।
हम पै कठिन हृदै अब कीन्हो लाल गुबरधन धारी।
'परमानंद' बलबीर विना हम मरत बिरह की मारी।। —परमानन्दसागर, पद सं० ५३२

१. मिलि बिछुरन की बेदन न्यारी।
जाहि लगै सोई पै जानै, बिरह पीर अति भारी।।
जब यह रचना रची बिधाता, तबहीं क्यों न सँभारी।
'सूरदास' प्रभु काहैं जिवाई, जनमत ही किन मारी।। —सूरसागर, पद सं० ३८२५

२. मधुबन तुम क्यौं रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यौं न जरे।।
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे।।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिर पुहुप धरे।
'सूरदास' प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौं न जरे।। —वही, पद सं० ३८२९

३. वही, पद सं० ३८१७।

(गोपियों की देह में) एकत्रित हो गई हैं, उस पर से त्रिदोष जुड़ गया है। गोपियाँ जीवित कैसे रहें? कृष्ण जो अवधि बता गये थे, उसी को उपचार मान कर वे अब तक जीवित हैं।[1] किन्तु कृष्ण अपनी भूल अवधि भूल चुके हैं, वे आते नहीं। बल्कि प्रकृति में सहृदयता है; बादल वर्षा करने के लिए आ गये, अपनी अवधि जानकर गगन पर छा गये हैं। कहने को बादल दूर बसते हैं—सुरलोक में, और स्वतंत्र भी नहीं हैं—इन्द्र के सेवक हैं, किन्तु चातक और पिक की वेदना को समझ कर वे वहाँ से दौड़े आये, दूरी और पराधीनता उन्हें नहीं रोक सकी। बादलों ने अपने स्नेहदान से द्रुमों को हरित किया। वेलियां हर्षित हो द्रुमों से जा मिलीं, मृतप्राय दादुर जीवित हो उठे। पंछियों के मन को भी वे भाये, उन्होंने तृण संचित कर. कर के निविड़ नीड़ का निर्माण कर लिया। जब जड़ घन में इतनी संवेदना है, पर दुःखकातरता है तब रसिक-शिरोमणि कृष्ण में तो और भी अपेक्षित है। पर वे मधुवन में बस कर गोपियों को भूल गये हैं। वे अवधि बीतने पर भी नहीं आये।[2] गोपियों को अपनी कोई गलती नहीं समझ में आती, वे कृष्ण की निष्ठुरता पर खीझ उठती हैं। क्या इन्द्र ने बादलों को मधुपुरी जाने से मना कर दिया है, घन वहाँ नहीं गरजते? क्या दादुरों को शेषनाग ने खा लिया है? उस देश में क्या बगुलों ने जाना छोड़ दिया है, और क्या चातक, मोर, कोकिला का वहाँ के बधिकों ने बध कर डाला है? वहाँ क्या बालायें झूला झूलकर गीत नहीं गातीं।[3] लगता है मथुरा में पावस का कोई लक्षण नहीं है तभी कृष्ण को कुछ याद नहीं आता। जब मथुरा में बादल नहीं गये, तब वे ब्रज पर क्यों छा गये? गोपियों को क्षोभ है कि बदलियाँ ब्रज पर क्यों दौड़ आयीं? विधि ने वियोग लिखा था, उस पर से बादल ने उस शूल को और पीड़ाजनक बना दिया। किशोरियाँ दुःख पा रही हैं इसीलिए वे उससे अपने घर वापस चली जाने को कहती हैं। जिसकी जोड़ी बिछुड़ जावे,

---

१. सबै रितु औरै लागति आहि।
सुनि सखि वा ब्रजराज बिना सब, फीकौ लागत चाहि।।
वै घन देखि नैन बरषत है, पावस गएँ सिरात।
सरद सनेह सँचै सरिता उर, मारग ह्वै जल जात।।
हिम हिमकर देखे उपजत अति, निसा रहति इहिं जोग।
सिसिर बिकल काँपत जु कमल उर, सुमिरि स्याम रस भोग।।
निरखि बसंत बिरह बेली तन, वे सुख दुख ह्वै फूलत।
ग्रीषम काम निमिष छाँड़त नहिं, देह दसा सब भूलत।।
षट् रितु ह्वै इक ठाम कियो तनु उठे त्रिदोष जुरै।
सूर अवधि उपचार आजु लौं, राखे प्रान भुरै।।　　—सूरसागर, पद सं० ३९६४

२. बरु ए बदरौ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नंदनंदन, गरजि गगन घन छाए।।
कहियत हैं सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराए।
चातक पिय की पीर जानि कै तेउ तहाँ तैं धाए।।
द्रुम किए हरित हरषि बेली मिलीं दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड तृन सँचि सँचि, पंछिनहूँ मन भाए।।
समुझति नहीं चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमणि, मधुबन बसि बिसराए।।　　—वही, पद सं० ३९२७

३. वही, पद सं० ३९२९।

वह पावस में कैसे जीवित रहे ?[१] श्याम के बिना जब ये बादल उमड़-घुमड़ आते हैं तब गोपी को कृष्ण की स्मृति सालने लगती है। उसी रात्रि को शायद उसने कृष्ण को स्वप्न में देखा था, और अब बादल छा गये हैं। किशोरी के नेत्र भर आते हैं, काजल ढल जाता है।[२] काली घटायें छाई हैं, पवन झकझोर रहा है, लतायें तरुओं से लिपटी हैं। मोर, चकोर, मधुप, पिक और दादुर अमृत वाणी बोल रहे हैं। कृष्ण के बिना पावस ऋतु गोपियों के लिए बैरिन बन कर आई है। भला पावस के ये दिन भी रूठने के हैं। कृष्ण को हो क्या गया ?[३] एक तो वर्षा ऋतु गोपियों को बहुत कष्ट देती है, दूसरा चन्द्रमा। जिस चन्द्र ने मिलन की अवधि में उन्हें मधुर आह्लाद की अनुभूति से भर दिया था, वह अब गोपियों को भानु की किरणों से भी अधिक संतापकारी लगता है। विरह में सारी वस्तुओं की प्रतिक्रिया बदल गई है। अब चंद्र उनके अभिनन्दन का पात्र न रह कर उपालम्भ का पात्र बन गया है। उसकी ओर देखकर उन्हें श्याम का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। इस स्मृति के तीव्रदंश से वे विकल हो जाती हैं और सारा धैर्य खो बैठती हैं,—आखिर गोपाल क्यों नहीं आ मिलते ?[४] उनके लोचन चातक की भाँति कृष्ण-दर्शन की आशा में बैठे हैं। यों तो सुत, पति, स्वजन का स्नेह सरिता, सिन्धु और अन्य जलराशि की भाँति उनके सम्मुख हैं, किंतु ये सब उनके लिए अर्थशून्य हैं, यदुनाथ-रूपी जलद के बिना उन्हें और भी दग्ध करते हैं। इनसे उनकी स्नेह-तृषा नहीं बुझती, एकमात्र कृष्ण ही उस तृषा को शमित कर सकते हैं। जब तक ब्रज में उनका आगमन नहीं होता, जब तक ब्रज पर नव-घन-श्याम शरीर नहीं बरसता, तब तक क्या ओस के नीर से गोपी की तृषा बुझ जायेगी ? उन्हें तो नीरद घनश्याम की ही अपेक्षा है, और किसी की नहीं।[५] इसीलिए कृष्ण से मिलने के लिए वे आकुल अधीर हैं। यद्यपि सोच कर अनेक यत्न करके वे मन को बहलाती हैं, किन्तु हठी नेत्र सिवाय कृष्ण के और कुछ देखना ही नहीं चाहते। निशिवासर रसना प्राणवल्लभ के अतिरिक्त और कुछ नाम ही नहीं लेती। प्रेम ने गोपियों को पूर्णतया अधिकृत कर रखा है, बातों से समझाये जाने पर वे कैसे समझ सकती हैं ? किस प्रकार माधव उन्हें मिलें, यह उन्हें कोई नहीं बताता।[६] कोई बताये भी कैसे, जब कृष्ण ही कृपा नहीं करते तब कौन

---

१. बदरिया तू कित ब्रज पै दौरी।
असलन साल सलामन लागी बिधना लिख्यौ बिछौहरी॥
रहो जु रहो जाइ घर अपने दुख पावत है किसोरी।
'परमानन्द' प्रभु सों क्यों जीवै जाकी बिछुरी जोरी। —परमानन्दसागर, पद सं० ५३८

२. सूरसागर, पद सं० ३९२६।

३. ये दिन रूसिबे के नाहीं।
कारी घटा पौन झकझोरै, लता तरुन लपटाहीं॥
दादुर मोर चकोर मधुप पिक, बोलत अमृत बानी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बैरिनि रितु नियरानी। —सूरसागर, पद सं० ३९१९

४. चितै चंद तन सुरति स्याम की, विकल भई ब्रज बाल।
'सूरदास' अजहूँ इहिं औसर, काहे न मिलत गुपाल॥ —वही, पद सं० ३९७४

५. वही, पद सं० ३८६४।

६- बातनि सब कोउ जिय समुझावै।
जिहिं बिधि मिलनि मिलै वै माधौ सो बिधि कोउ न बतावै॥
जद्यपि जतन अनेक सोच पचि त्रिया मनहिं बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नैना, और न देख्यौ भावैं॥

उन्हें ब्रज आने के लिए बाध्य कर सकता है। वे थोड़े दिन की प्रीति करके चले गये। कहाँ वह प्रीति, कहाँ यह बिछुड़ना! गोपियों के लिये सब कुछ एकदम विपरीत हो गया। ऐसा लगता है मानों युग बीत गया। दर्शन के बिना प्राण कैसे रहें? एक बार तो कृष्ण को मिल जाना चाहिये।[1] लेकिन कृष्ण ने तो प्रीत करके गोपियों का वध किया है। प्रीति के कपट कणों को चुगाकर बाद में उनके गले पर छुरी चलाई है। गोपियों को तड़पता छोड़ कर स्वयं मधुबन चले गये, फिर कभी उनकी खबर नहीं ली।[2] प्रेमी कृष्ण अंततः गोपियों की दृष्टि में बधिक निकले। इस बध की तड़पन अत्यन्त असहनीय है।

साक्षात् मिलन के अभाव में स्वप्न में मिलन की आशा गोपियों को जीवित किये रहती है, पर कभी स्वप्न में मिलन हो भी जाता है तो उनकी तड़पन और भी बढ़ जाती है। जब वे जगतीं हैं तब कोई नहीं दिखता। ऐसी स्थिति में विरह द्विगुणित हो जाता है, हिचकी रोके नहीं रुकती। नखशिख से तन ऐसा जलने लगता है जैसे दिया और बत्ती साथ मिल कर जल रहे हों।[3] यों रात में स्वप्न का प्रश्न भी नहीं उठता, क्योंकि जब से कृष्ण चले गये हैं गोपियों की नींद भी चली गई है। उनकी रात्रि जागर्य में व्यतीत हो जाती है। कमलनयन की अकथ कहानी का गान करते हुए रात्रि यों ही समाप्त हो जाती है। रात्रि में कृष्ण के बिना विरह अथाह समुद्र जैसा हो जाता है, बिना केवट के वे कैसे पार पावें, इसीलिए उस अथाह समुद्र में वे समा जाती हैं। किन्तु दिन होने पर भी यह घटता नहीं। सूर्य के उदय होने पर चकई का मिलाप होता है, अरविंद से अलि का मिलन होता है किन्तु गोविंद से गोपियों का मिलन नहीं होता। उन्हें दिन-रात दुःसह दुःख है। वे कृष्ण को क्या कहें![4] प्रिय के बिना काली रात नागिन बन जाती है। जब कभी जुन्हाई होती है तो ऐसा लगता है जैसे नागिन डस कर उलट गई। तब तो विरह का दंश और भी चढ़ जाता है, यंत्र मंत्र का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। श्याम के बिना बिकल विरहिणी मुड़-मुड़ कर लहरें खाती हैं।[5] इतने दुःसह क्लेश को सहन करना क्या आसान है? वे कृष्ण के बिना अपना दारुण क्लेश किससे कहें? मनसिज की व्यथा उर-अंतर का दहन कर रही है। कानन, भवन, रात्रि और दिवस, कहीं भी,

---

शेष—वासर निसा प्रानबल्लभ तजि, रसना और न गावैं।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि कै, कहिए जो कहि आवै।। —सूर सागर, पद सं० ३८०२

१. करि गए थोरे दिन की प्रीति।
कहँ वह प्रीति कहाँ यह बिछुरनि, कहँ मधुबन की रीति।
अब की बेर मिलौ मनमोहन, बहुत भई बिपरीति।
कैसैं प्रान रहत दरसन बिनु, मनहु गए जुग बीति।। —वही, पद सं० ३८०३

२. वही, पद सं० ३८०४।

३. जौ जागौं तौ कोऊ नाहीं, रोके रहति न हिलकी।
तन फिरि जरति भई नखसिख तैं, दिया बाति जनु मिलकी।। —वही, पद सं० ३८८०

४. हमकौं जागत रैनि बिहानी।
कमलनैन, जग जीवन की सखि गावत अकथ कहानी।।
बिरह अथाह होत निसि हमकौं, बिनु हरि समुद समानी।
क्यौं करि पावहिं बिरहिनि पारहिं, बिनु केवट अगवानी।।
उदित सूर चकई मिलाप, निसि अलि जु मिलै अरबिंदहिं।
'सूर' हमें दिन राति दुसह दुख, कहा कहैं गोविन्दहिं।। —वही, पद सं० ३८९०

५. वही, पद सं० ३८९१।

कभी भी सुख नहीं मिलता। यज्ञ के मूक पशु की भाँति कब तक गोपियाँ दुःख सहन करें? इसीलिए उन्हें मरण का विचार प्रेरित करने लगता है, मन में ऐसी भावना होती है कि वे यमुना में जा डूबें।[१] कृष्ण-वियोग की असह्य पीड़ा में व्याकुल हो वे प्रलाप करने लगती हैं, अपनी मानसिक चेतना खो देती हैं। वे कहती हैं कि कौन गाय चरावे, कौन उनका शृंगार करे? सब दीपमालिका की पूजा कर रहे हैं, वे क्या पूजें? कृष्ण बलराम मधुपुरी गये हैं, ब्रज उन्हें खाये दौड़ता है। रस्सी, दोहिनी, माट, मथानी, गाय, गो-वत्स की पूजा वे क्या करें? जिसके कारण गोकुल की श्री थी वही नहीं है, इन्हें लेकर वे क्या करें? गोकुल कृष्ण के कल वेणुकूजन से रहित है, अब ब्रज में गोपियों का प्रलाप मुखरित है।[२] इतने निकट बस कर भी कृष्ण ने मिलन दुर्लभ कर रखा है। प्रलाप कर लेने से उनकी विरह व्यथा शांत नहीं पड़ती, बारंबार अतीत की स्मृतियां कचोटने लगती हैं और वे उन्मादिनी हो उठती हैं। उनकी मानसिक अवस्था ठीक नहीं रहती, वे उन्माद की दशा को पहुँच जाती हैं। कृष्ण की लीला की सुधि गोपियों को विक्षिप्त कर देती है। वे कभी निविड़ तिमिर का आलिंगन करती हैं, कभी पिक की भांति गाने लगती हैं, कभी संभ्रम सहित "क्वासि क्वासि" कहती हुई एक साथ मिल कर दौड़ पड़ती हैं। कभी नेत्र मूंद कर हृदय में कृष्ण को मणि-माला पहनाती हैं, कभी कृष्ण की मृदु मुस्कान, वंक अवलोकन, छबीली चाल को प्रस्तुत करने लगती हैं।[३] योग का उपदेश भी इस अवस्था से उनका उद्धार नहीं कर पाता। वे प्रेम में पूर्णतया निमग्न हैं, विरह में उन्माद-ग्रस्त हैं। कोई गोपी कहती है कि इन्द्रवर्षा को देख कर गोवर्द्धन गिरि उठा रखा है कृष्ण ने। कोई कहती है कि

---

१. हरि बिनु कौन सौं किहयै।
मनसिज बिथा अरनि लौं जारति, उर अंतर दहियै॥
कानन भवन रैनि अरु बासर कहुँ न सचु लहियै।
मूक जु भये जज्ञ के पसु लौं, कौलौं दुख सहियै॥
कबहुँक उपजै जिय में ऐसी, जाइ जमुन बहियै।
सूरदास प्रभु कमलनैन बिनु, कैसैं ब्रज रहियै॥
—सूरसागर, पद सं० ४००९

२. माई को इहि गाय चरावै।
दामोदर बिनु अपनु संघातिन, कौन सिंगार करावै॥
सब कोऊ पूजै दीपमालिका, हम कहा पूजैं माई।
राम गोपाल मधुपुरी गमने धाय धाय ब्रज खाई।
दाम दोहिनी माट मथानी गाय बाछि को पूजैं॥
काके मिलें चले ये गोकुल कौन बेनु कल कूजैं॥
करत प्रलाप, सकल गोपीजन मन मुकुंद हरि लीनौं।
'परमानंद' प्रभु इतनी दूर बसि मिलन दोहिलौ कीनौं॥
—परमानंदसागर, पद सं० ५३०

३. हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल नैन मन मोहन मूरति के मन मन चित्र बनावै॥
कबहुंक निबिड़ तिमिर आलिंगन कबहुंक पिक ज्यों गावै।
कबहुंक संभ्रम "क्वासि क्वासि" कहि संग हिलिमिलि उठि धावै।
कबहुंक नैन मूंदि उर अन्तर मनि माला पहिरावै।
मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि चाल छबीली भावै॥
एक बार जाहि मिलहिं कृपा करि सो कैसे बिसरावै।
'परमानंद' प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गंवावै॥
—वही, पद सं० ५६४

कालियनाग की फुफकार सुन कर हरि यमुना तीर गये हैं, कोई कहता है कि अघासुर मारने के लिए वे बलबीर के साथ गये हैं और कोई यह कहता है कि ग्वालबालों के साथ खेलते हुए कृष्ण बन में छिपे हैं।[१] किन्तु इस उन्माद की दशा में कब तक वे स्वस्थ बनी रह सकती हैं। उन्माद के आवेश में वे व्याधिग्रस्त हो जाती हैं और उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगती हैं। गोपी न किसी से बोलती है, न आँखें खोलती हैं, और न ही किसी बात का उत्तर देती है। उसके तन का रूप नष्ट हो जाता है, मुख-कमल सूख जाता है, वह व्याधिग्रस्त-सी, अनमनी, और मूर्च्छित-सी पड़ी रहती है।[२] जब कोई मुरली में राग मल्हार बजा देता है तो विकल विरहिनी मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ती है।[३] वियोग की असहनीय व्यथा उसे मरण तक के लिये प्रेरित कर डालती है। वह सोचती है कि जिस देह के बचे रहने के कारण इतना कठिन विरह-दुःख सहन करना पड़ रहा है, उसे रख कर क्या किया जाय। वह सखियों को परामर्श देती है कि आपस में विषम विष बांट कर पी लिया जाय, या पर्वत से गिर कर मर जाया जाय, अथवा शंकर के सम्मुख शीश अर्पित कर दिया जाय। नहीं तो, दारुण दावानल में जल कर या यमुना में धंसकर प्राणान्त कर लिया जाय। आखिर इस दुःसह वियोग में दिनोंदिन क्षीण होने से तो एक बार मर जाना ही श्रेयस्कर है। बिना कृष्ण के जीवन हाथ मल कर पछताने जैसा है। इससे तो मृत्यु अभिमत है।[४]

विरह की अनुभूति ने गोपियों की सम्पूर्ण ऐन्द्रिय चेष्टाओं को निरुद्ध कर दिया है। उनके नेत्रों की वृत्ति, श्रवण की वृत्ति, अंगों की लालसा, मन की कामना सभी कृष्ण के लिये व्याकुल हैं। उनके लिये कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है। नेत्र हरि-दर्शन के लिए तड़पते हैं, भुजायें कृष्ण-मिलन के लिये, श्रवण कृष्ण-वचन के लिए और हृदय वन-विहार के लिए तड़पता है। कृष्ण के बिना एक क्षण भी चैन नहीं पड़ता, रात-दिन वे रुदन करती रहती हैं,

---

१. कोऊ सुनत न बात हमारी।
मानैं कहा जोग जादवपति, प्रगट प्रेम ब्रजनारी।।
कोउ कहति हरि गए कुंज बन, सैन धाम वै देत।
कोउ कहति इंद्र बरसा तकि गिरि गोबर्धन लेत।।
कोऊ कहति नाग काली सुनि, हरि गए जमुना तीर।
कोऊ कहति अघासुर मारन, गए संग बलबीर।।
कोऊ कहत ग्वाल बालनि सँग, खेलत बनहिं लुकाने।
'सूर' सुमिरि गुन नाथ तुम्हारे, कोऊ कह्यौ न माने।। —सू० सा०, पद सं० ४७५१

२. तेरे तन को रूप कहां गयो अरु मुख कमल सुकाइ रह्यौ।
तबसौं भाग गयौ हरि के संग हृदै सुकोमल बिरह दह्यौ।।
को बोलै को नैन उघारे को प्रति उत्तर देइ बिकल मन।
जो सरबस अक्रूर चुरायो 'परमानंद स्वामी' जीवनधन।। —परमानंद सागर, पद सं० ५१६

३. राग मलार कियौ जब काहू मुरली मधुर बजाई।
बिरहिन बिकल 'दास परमानंद' धरनि परी मुरझाई।। —परमानंदसागर, पद सं० ५३१

४. अब या तनहिं राखि कह कीजै।
सुनिरी सखी स्यामसुन्दर बिनु, बाँटि विषम विष पीजै।।
कै गिरिये गिरि चढ़ि सुनि सजनी, सीस संकरहिं दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै।।
दुसह वियोग बिरह माधौ के को दिन ही दिन छीजै।
'सूर' स्याम प्रीतम बिन राधे, सोचि सोचि कर मीजै।। —सू० सा०, पद सं० ३९८१

चैन कैसा ? एकमात्र कृष्ण की उत्कट अभिलाषा है, इसी अभिलाषा ने उन्हें जीत रखा है।[1] विरह की मर्मान्तिक अनुभूति ने कृष्ण को उनके हृदय में पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दिया है, चलते-फिरते, सोते-जागते—एक क्षण भी वह मूर्ति इधर-उधर नहीं जाती, सतत उनके पास रहती है।[2] विरह में उन्हें कृष्ण का मानसिक साहचर्य प्राप्त हो गया है। जड़-चेतन, सर्वत्र कृष्ण छाये हुए हैं। उनके रोम-रोम में कृष्ण समा गये हैं। विरह के द्वारा उन्होंने कृष्ण से सायुज्य प्राप्त कर लिया है। यदि उनके तन की पुनः रचना की जाय, तब भी मन में कृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं रहेगा। यदि त्वचा की दुंदुभी बनाई जाय तो उसके मधुर और उत्तुंग स्वर से कृष्ण कृष्ण की ध्वनि ही निकलेगी। प्राण निकल कर मिट्टी में गिरे और वहां वृक्ष उगे तो उसके पत्र, फल, शाखा से हरि का नाम उठता मिलेगा। गोपियां कृष्णमय हो चुकी हैं।[3] जो एक बार श्याम-रंग में रंग जाता है, उस पर अन्य कोई रंग नहीं चढ़ता।[4] वह अन्य सारे प्रभावों से रहित होकर एकमात्र घनश्याम में डूब जाता है। मथुरागमन-लीला के पश्चात् गोपियां कृष्ण से नित्य मिलन की स्थिति में पहुँच चुकी हैं। ब्रजनायक कृष्ण से उन्होंने पूर्ण सायुज्य प्राप्त कर लिया है। वे यशोदा के परममनोहर सुत का मुख देख कर जीवित हैं—वही जो प्रतिदिन गोपसखाओं के साथ वन में धेनु चराने जाता है, गोधूलि वेला में नेत्रों की गति को पंगु कर देने वाले मुख-सौंदर्य का दर्शन करता है। वे कंस का वध करने वाले को नहीं जानतीं, वासुदेव के सुत को भी नहीं पहिचानतीं। अगम, अगोचर, अविनाशी की चर्चा उनके लिए बकवास है। उनके ब्रज में एकमात्र नंदकुमार हैं जिनकी उन्हें नित्य-अनुभूति होती रहती है।[5] प्रेमसहित मनमोहन गोपियों के हृदय-कमल के

---

१. हरि दरसन कौं तलफत नैन।
अरु जो चाहत भुजा मिलन कौं, स्रवन सुनन कौं बैन।।
जिय तलफत है बन बिहरन कौं तुम मिलि अरु सब सखियाँ।
कल न परत तुम बिनु हम इक छिन, रोवति दिन अरु रतियाँ।।
जब तैं तुम हरि बिछुरे हम तैं, निसि बासर नहिं चैन।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौं, काग उड़ावति सैन।। —वही, पद सं० ४६४८

२. चलत चितवत दिवस जागत स्वप्न सोवत राति।
हृदै तैं वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति।। —वही, पद सं० ४३५१

३. (ऊधौ) जौ कोउ यह तन फेरि बनावै।
तौऊ नंद-नंदन तजि मधुकर, और न मन मैं आवै।।
जौ या तन की त्वचा काटि कै, लै करि दुंदुभि साजै।
मधुर उतंग सप्त सुर निकसै, कान्ह कान्ह करि बाजै।।
निकसै प्रान परैं जिहि माटी, द्रुम लागे तिहिं ठाम।
अब सुनि 'सूर' पत्र, फल, साखा, लेत उठै हरि नाम।। —वही, पद सं० ४४२६

४. 'सूरदास' जे रँगी स्याम रँग, फिर न चढ़ै रँग यातैं। —वही, पद सं० ४१६६

५. ह्याँ तुम कहत कौन की बातैं।
अहो मधुप हम समुझति नाहीं, फिरि बूझति हैं तातैं।।
को नृप भयो कंस किन मार्‍यो, को बसुद्यौ सुत आहि।
ह्याँ जसुदासुत परम मनोहर, जीजतु है मुख चाहि।।
दिन प्रति जात धेनु बन चारन, गोप सखनि कैं संग।
बासर गत रजनी मुख आवत, करत नैन गति पंग।।

कालियनाग की फुफकार सुन कर हरि यमुना तीर गये हैं, कोई कहता है कि अघासुर मारने के लिए वे बलबीर के साथ गये हैं और कोई यह कहता है कि ग्वालबालों के साथ खेलते हुए कृष्ण बन में छिपे हैं।[१] किन्तु इस उन्माद की दशा में कब तक वे स्वस्थ बनी रह सकती हैं। उन्माद के आवेश में वे व्याधिग्रस्त हो जाती हैं और उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगती हैं। गोपी न किसी से बोलती है, न आँखें खोलती हैं, और न ही किसी बात का उत्तर देती है। उसके तन का रूप नष्ट हो जाता है, मुख-कमल सूख जाता है, वह व्याधिग्रस्त-सी, अनमनी, और मूर्च्छित-सी पड़ी रहती है।[२] जब कोई मुरली में राग मल्हार बजा देता है तो विकल विरहिनी मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ती है।[३] वियोग की असहनीय व्यथा उसे मरण तक के लिये प्रेरित कर डालती है। वह सोचती है कि जिस देह के बचे रहने के कारण इतना कठिन विरह-दुःख सहन करना पड़ रहा है, उसे रख कर क्या किया जाय। वह सखियों को परामर्श देती है कि आपस में विषम विष बांट कर पी लिया जाय, या पर्वत से गिर कर मर जाया जाय, अथवा शंकर के सम्मुख शीश अर्पित कर दिया जाय। नहीं तो, दारुण दावानल में जल कर या यमुना में धंसकर प्राणान्त कर लिया जाय। आखिर इस दुःसह वियोग में दिनोंदिन क्षीण होने से तो एक बार मर जाना ही श्रेयस्कर है। बिना कृष्ण के जीवन हाथ मल कर पछताने जैसा है। इससे तो मृत्यु अभिमत है।[४]

विरह की अनुभूति ने गोपियों की सम्पूर्ण ऐन्द्रिय चेष्टाओं को निरुद्ध कर दिया है। उनके नेत्रों की वृत्ति, श्रवण की वृत्ति, अंगों की लालसा, मन की कामना सभी कृष्ण के लिये व्याकुल हैं। उनके लिये कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है। नेत्र हरि-दर्शन के लिए तड़पते हैं, भुजायें कृष्ण-मिलन के लिये, श्रवण कृष्ण-वचन के लिए और हृदय वन-विहार के लिए तड़पता है। कृष्ण के बिना एक क्षण भी चैन नहीं पड़ता, रात-दिन वे रुदन करती रहती हैं;

---

१. कोऊ सुनत न बात हमारी।
मानैं कहा जोग जादवपति, प्रगट प्रेम ब्रजनारी।।
कोउ कहति हरि गए कुंज बन, सैन धाम वै देत।
कोउ कहति इंद्र बरसा तकि गिरि गोबर्धन लेत।।
कोऊ कहति नाग काली सुनि, हरि गए जमुना तीर।
कोऊ कहति अघासुर मारन, गए संग बलबीर।।
कोऊ कहत ग्वाल बालनि सँग, खेलत बनहिं लुकाने।
'सूर' सुमिरि गुन नाथ तुम्हारे, कोऊ कह्यौ न माने।। —सू० सा०, पद सं० ४७५१

२. तेरे तन को रूप कहां गयो अरु मुख कमल सुकाइ रह्यौ।
तबसौं भाग गयौ हरि के संग हृदै सुकोमल बिरह दह्यौ।।
को बोलै को नैन उघारे को प्रति उत्तर देइ बिकल मन।
जो सरबस अक्रूर चुरायो 'परमानंद स्वामी' जीवनधन।। —परमानंद सागर, पद सं० ५१६

३. राग मलार कियौ जब काहू मुरली मधुर बजाई।
बिरहिन बिकल 'दास परमानंद' धरनि परी मुरझाई।। —परमानंदसागर, पद सं० ५३१

४. अब या तनहिं राखि कह कीजै।
सुनिरी सखी स्यामसुन्दर बिनु, बाँटि विषम विष पीजै।।
कै गिरिये गिरि चढ़ि सुनि सजनी, सीस संकरहि दीजै।
कै दहिऐ दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै।।
दुसह वियोग बिरह माधौ के को दिन ही दिन छीजै।
'सूर' स्याम प्रीतम बिन राधे, सोचि सोचि कर मींजै।। —सू० सा०, पद सं० ३९८१

चैन कैसा ? एकमात्र कृष्ण की उत्कट अभिलाषा है, इसी अभिलाषा ने उन्हें जीत रखा है।[1] विरह की मर्मान्तिक अनुभूति ने कृष्ण को उनके हृदय में पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दिया है, चलते-फिरते, सोते-जागते—एक क्षण भी वह मूर्ति इधर-उधर नहीं जाती, सतत उनके पास रहती है।[2] विरह में उन्हें कृष्ण का मानसिक साहचर्य प्राप्त हो गया है। जड़-चेतन, सर्वत्र कृष्ण छाये हुए हैं। उनके रोम-रोम में कृष्ण समा गये हैं। विरह के द्वारा उन्होंने कृष्ण से सायुज्य प्राप्त कर लिया है। यदि उनके तन की पुनः रचना की जाय, तब भी मन में कृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं रहेगा। यदि त्वचा की दुंदुभी बनाई जाय तो उसके मधुर और उत्तुंग स्वर से कृष्ण कृष्ण की ध्वनि ही निकलेगी। प्राण निकल कर मिट्टी में गिरे और वहां वृक्ष उगे तो उसके पत्र, फल, शाखा से हरि का नाम उठता मिलेगा। गोपियां कृष्णमय हो चुकी हैं।[3] जो एक बार श्याम-रंग में रंग जाता है, उस पर अन्य कोई रंग नहीं चढ़ता।[4] वह अन्य सारे प्रभावों से रहित होकर एकमात्र घनश्याम में डूब जाता है। मथुरागमन-लीला के पश्चात् गोपियां कृष्ण से नित्य मिलन की स्थिति में पहुँच चुकी हैं। ब्रजनायक कृष्ण से उन्होंने पूर्ण सायुज्य प्राप्त कर लिया है। वे यशोदा के परममनोहर सुत का मुख देख कर जीवित हैं—वही जो प्रतिदिन गोपसखाओं के साथ वन में धेनु चराने जाता है, गोधूलि वेला में नेत्रों की गति को पंगु कर देने वाले मुख-सौंदर्य का दर्शन करता है। वे कंस का वध करने वाले को नहीं जानतीं, वासुदेव के सुत को भी नहीं पहिचानतीं। अगम, अगोचर, अविनाशी की चर्चा उनके लिए बकवास है। उनके ब्रज में एकमात्र नंदकुमार हैं जिनकी उन्हें नित्य-अनुभूति होती रहती है।[5] प्रेमसहित मनमोहन गोपियों के हृदय-कमल के

---

१. हरि दरसन कौं तलफत नैन।
अरु जो चाहत भुजा मिलन कौं, स्रवन सुनन कौं बैन।।
जिय तलफत है बन बिहरन कौं तुम मिलि अरु सब सखियाँ।
कल न परत तुम बिनु हम इक छिन, रोवति दिन अरु रतियाँ।।
जब तैं तुम हरि बिछुरे हम तैं, निसि बासर नहिं चैन।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौं, काग उड़ावति सैन।। —वही, पद सं० ४६४८

२. चलत चितवत दिवस जागत स्वप्न सोवत राति।
हृदै तैं वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति।। —वही, पद सं० ४३५१

३. (ऊधौ) जौ कोउ यह तन फेरि बनावै।
तौऊ नंद-नंदन तजि मधुकर, और न मन मैं आवै।।
जौ या तन की त्वचा काटि कै, लै करि दुंदुभि साजै।
मधुर उतंग सप्त सुर निकसै, कान्ह कान्ह करि बाजै।।
निकसै प्रान परें जिहि माटी, द्रुम लागे तिहिं ठाम।
अब सुनि 'सूर' पत्र, फल, साखा, लेत उठै हरि नाम।। —वही, पद सं० ४४२६

४. 'सूरदास' जे रँगी स्याम रँग, फिर न चढ़ै रँग यातैं। —वही, पद सं० ४१६६

५. ह्याँ तुम कहत कौन की बातैं।
अहो मधुप हम समुझति नाहीं, फिरि बूझति हैं तातैं।।
को नृप भयो कंस किन मार्यो, को बसुद्यौ सुत आहि।
ह्याँ जसुदासुत परम मनोहर, जीजतु है मुख चाहि।।
दिन प्रति जात धेनु बन चारन, गोप सखनि कैं संग।
बासर गत रजनी मुख आवत, करत नैन गति पंग।।

मध्य विराजमान हैं, तनिक भी नहीं हटते। त्रिभुवन का उजाला उनके हृदय-कमल में उद्भासित है।[१] और वे उस महत् प्रेममूर्ति पर न्योछावर हैं।

वियोग के द्वारा व्यक्तित्व का जब शोधन हो जाता है तब रूपान्तरित चेतना में प्रियतम कृष्ण की नित्य-अनुभूति स्फुरित होने लगती है। मिलन की लीलायें भी चित्त के निरोध में सहायक होती हैं, किन्तु वियोग की लीलायें चित्त को बहिर्मुखी से एकदम अंतर्मुखी करके नितान्त निरुद्ध कर देती हैं। और तब, उस परमनिरुद्ध चेतना में, भक्त के हृदय-कमल में श्री कृष्ण का चिर-आविर्भाव होता है। फिर भक्त और भगवान् का कभी विच्छेद नहीं होता, वे नित्ययुक्त रहते हैं। यह नित्ययुक्त अवस्था ही लीलारस की आत्यंतिक अनुभूति की अवस्था है। इसकी प्राप्ति वियोग के पश्चात् ही संभव है, क्योंकि वियोग की स्थिति में भक्त अहं और मम से रहित हो जाता है, कृष्ण का ध्यान भक्त के व्यक्तित्व को होली की तरह जला डालता है।[२] स्नेह का मूल ही दुःख है, जिसके हृदय में यह विरह-दुःख पैठ जाता है वह प्रेमसागर में पड़ कर लीन हो जाता है।[३] देह, गेह, स्नेह, सब कमल-नयन के ध्यान में समर्पित हो जाते हैं।[४] तब भक्त जीवन-मुक्त हो जाता है। सगुण का रूप उसे पूर्णतया आबद्ध कर लेता है और उसके मन की वृत्ति कहीं भटकने नहीं जाती।[५] वस्तुतः विरह परमार्थ का साधक है। दोनों में पार्थक्य क्या है?[६] इस परमार्थ के सध जाने पर सब सध जाता है। ब्रज में कृष्ण की नित्य स्थिति का भान हो जाता है। तब ऐसा रससिंधु उमड़ पड़ता है कि सारी तृषा बुझ जाती है।[७] व्यक्ति अमृत-तत्व के आस्वादन में अत्यन्त सुखी होता है, वह आनन्द की निरवद्य अनुभूति से आप्तकाम हो जाता है।

शेष—को अविनासी अगम अगोचर, को बिधि वेद अपार।
'सूर' बृथा बकवाद करत कत, इहिं ब्रज नंदकुमार॥ —सू० सा०, पद सं० ४२४५

१. आऐं मेरे नंदनंदन के प्यारे।
माला तिलक मनोहर बाना त्रिभुवन के उजियारे॥
प्रेम सहित बसत मन मोहन नैकहु टरत न टारे।
हृदै कमल के मध्य बिराजत श्री ब्रजराज दुलारे॥ —परमानंदसागर, पद सं० ५३८

२. नंदनंदन को रूप विचारत निस दिन होरि चढ़ी। —वही, पद सं० ५३५

३. दुख को मूल सनेह सखीरी सो उर पैठि रह्यौ।
'परमानंद' प्रेम सागर मंह पर्यौ सो लीन भयौ॥ —परमानंदसागर, पद सं० ५६५

४. देह गेह सनेह अर्पन, कमललोचन ध्यान।
सूर उनकौ प्रेम देखैं, फीकौ लागत ज्ञान॥ —सूरसागर, पद सं० ४७६३

५. हम तौं जोग जुगुति जिय सीखी, स्यौं सिंगार अरविंद।
तातैं जीवन मुक्त भईं हम, भेंटति हैं गोबिंद॥
जोगी जरैं मरैं उटि सीसी, निरगुन क्यौं ठहरात।
तातैं सगुन सुरूप सिंधु तजि, दृग भरमन नहिं जात॥ —वही, पद सं० ४३०८

६. जा कारन तुम पठए माधौ, सो सोचौ जिय माहीं।
केतिक बीच बिरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं॥ —वही, पद सं० ४२४०.

७. माधौ जू मैं अतिही सचु पायौ।
कटुककथा लागी मोहिं मेरी, वह रस सिंधु उम्हायौ।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषा जु बुझायौ॥ —वही, पद सं० ४७७०.

तदाकारता : नित्य-मिलन

मथुरागमन लीला के वियोग के द्वारा भक्त और भगवान् की सारूप्यावस्था आ जाती है। भक्त भगवान का अहर्निशि स्मरण करते हुए तदाकार हो जाता है।[१] भक्त और भगवान् का जब मिलन होता है तब वे सारूप्य-मुक्ति की अवस्था में पहुंच जाते हैं, बाह्यरूप से भी वे एकमेक हुए रहते हैं। कुरुक्षेत्र से लौटने के पश्चात् जब राधा-कृष्ण का मिलन होता है तब उनकी गति कीट-भृंग-सी हो जाती है। भृंग का चिंतन करते-करते कीट भृंगवत् ही नहीं, साक्षात् भृंग हो जाता है, दोनों विशुद्ध रूप से अद्वैत हो जाते हैं। तब दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता : राधा माधव हो जाती हैं, माधव राधा। वे तदाकार हो जाते हैं, एक दूसरे के रंग में रंग जाते हैं।[२] रसानुभूति की चरम परिणति वहीं होती है जहां भोक्ता और भोग्य तद्रूप, तदाकार हो जायँ, दोनों एकमेक हो जायं, वैसे ही जैसे ज्ञान की चरम अवस्था उपस्थित होने पर ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। इसी तदाकार अवस्था में व्रजरस नित्य होकर सतत संवेद्य होता है।

●●

---

१. नंद-सुवन की लीला जिती, मथुरा द्वारावति बहु बिती।
सुमिरत तदाकार ह्वै जाहिं, यह बियोग इहि बिधि ब्रज माहिं।।
—नंददास : प्रथम भाग (बिरहमंजरी), पृ० २९

२. राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।।
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई।।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई नई।।
—सूरसागर, पद सं० ४९११

नवम परिच्छेद

उपसंहार एवं उपलब्धियाँ

उपसंहार

कृष्ण-भक्तिसाधना में सौन्दर्योपासना और रसावेश जिस रूप में व्यक्त हुआ है उसमें हृदय का उल्लास और प्राण का आवेग ही प्रमुख है, तत्वदृष्टि गौण। वैदिक युग से लेकर मध्ययुग तक भगवान् के प्रति जो आकर्षण देखा जाता है उसमें उनकी महानता से अभिभूत और श्रद्धानत होने की प्रवृत्ति ही अधिक परिलक्षित होती है। उपनिषद् में ब्रह्म के आनन्द की चर्चा अवश्य है, किन्तु हृदय की संपूर्ण वृत्तियों को रमाने वाली रंजकता के साथ नहीं। आनंद स्वयं में तो अमूर्त तत्व है ही, सौन्दर्य भी धार्मिक साधनाओं में बहुत अमूर्त होकर उपस्थित होता रहा है। उसे अनिर्वचनीय "ज्योति" किंवा "नूर" के रूप में अनुभव कर कुछ पहुँचे हुए साधक आह्लाद में डूबते रहे हैं, किन्तु सौन्दर्य का वह प्रकाश सबको दृष्टिगोचर न हो सका। ज्योतिरूप में अभिव्यक्त होकर वह आंतरिक अनुभूति का ही विषय बना रहा, इन्द्रिय, चित्त और बुद्धि की पकड़ में न आ सका। सूफ़ी-साधना ने उस "नूर" को बहुत परिचित आकार देने का प्रयास किया, किन्तु रूपक बांधकर सारी उपासना को प्रतीकात्मक बना डाला। प्रतीकात्मक ढंग से रूपतत्व कितनों के समझ में आ सकता है?

मध्ययुग में कृष्ण भक्ति-साधना ने पहली बार भगवान् के रूप और रस को ठोस धरातल पर उतारा। कृष्ण न तो सौंदर्य की ज्योति हैं, न उसके प्रतीक, वे स्वयं "सौन्दर्य" हैं,—सौन्दर्य की चित्तग्राह्य तत्व-मूर्ति ! उनका रस "राम-रसायन" की भांति शून्य-चेतना में पकने और वहीं तैयार होकर झरने वाला नहीं है, वरन् अनुग्रहीत-चेतना के संपर्क द्वारा सत्ता के व्यक्त स्तरों पर अनुक्षण आनन्द का उन्मेष करने वाला है। उनके सौन्दर्य के बोध और रस की अनुभूति में व्यक्तिगत साधना का महत्व घट जाता है। परम-सौन्दर्य का दर्शन तथा चिदानंद-रस की अनुभूति भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है। कृष्ण का अनुग्रह दुष्ट-वध तक सीमित नहीं है, संसार-उद्धार तक भी नहीं। वह चेतना के आत्यंतिक विकास तक पहुँचता है। सत्यदृष्टि और शिववृत्ति ही उसका अंतिम विश्रान्तिस्थल नहीं है, वह और आगे बढ़ता है। सच्चिदानन्द की आनन्द-चेतना को, जो चराचर में अंतर्भूत है, उद्घाटित करके प्राणी को अनुभवगम्य कराने का श्रेय कृष्ण के अनुग्रह को ही है। आनन्द में सौन्दर्य और रस दोनों संगुम्फित हैं। अभिव्यक्ति में, मूर्त रूप में वह सौन्दर्य की संज्ञा प्राप्त करता है, अनुभूति में तथा अमूर्त रूप में रस की। जहां अन्य अवतार भूभार-हरण में अपनी सार्थकता पा लेते हैं, वहाँ कृष्णावतार कार्य-भार से अनाक्रान्त रहकर चेतना के उस विरल और अगम सूक्ष्म लोक को भू पर अवतरित करता है जिसे आनन्द का लोक कहा गया है। अपरार्द्ध देह, प्राण, मन की त्रयी में कृष्ण परार्द्ध त्रयी—सत्, चित्, आनन्द—को अवतरित करके भू-भार हरण ही नहीं करते, वरन् जड़ाभिभूत चेतना को पूर्ण रूप से रूपान्तरित कर डालते हैं। यह रूपान्तरण भी बड़े मनोरंजक ढंग से साधित होता है। परार्द्ध लोक में विचरण करने के लिए व्यक्ति को न "ऊर्ध्व धूम" घूटना पड़ता है, न "त्रिपुटी" में ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। उस सौन्दर्य और रस की अनूभूति के लिए यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। उस अलभ्य सौन्दर्य और अगम्य रस को कृष्ण अपने एक विशिष्ट इंगित से सर्वसुलभ बना देते हैं : वह विशिष्ट इंगित है लीला।

(१) आत्यंतिक अर्थ : लीलापुरुषोत्तम

लीलावाद कृष्ण भक्तिसाधना का प्राण है। यों तो रामभक्ति-साधना में भी सगुण की लीला का गान हुआ है, किन्तु लीला का आत्यंतिक अर्थ वहां चरितार्थ नहीं हो पाया है। चरित-नायक राम मर्यादा-पुरुषोत्तम रहे हैं, विपिन-विहारी कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम। यहीं पर दोनों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। मानवीय लीला करते हुए राम ने मानव मन की अनुरंजनकारी वृत्तियों को उतना नहीं उकसाया जितना कृष्ण ने। कृष्ण का जो रूप साहित्य में मुखरित है वह विपुल क्रीड़ा-संपन्न है, क्रीड़ा-प्रेरित और क्रीड़ा-प्रिय। कृष्ण विशुद्ध रूप से क्रीड़ा-परायण हैं, यही उन्हें लीला पुरुषोत्तम की संज्ञा से विभूषित कर देता है। यह क्रीड़ा-प्रियता उनके आनंदातिरेक का परिणाम है। वे अगणितानंद पुरुषोत्तम हैं, उनके आनन्द की गणना नहीं हो सकती। इसलिए वह आनन्द रूप की शत-शत किरणों में उद्भासित हुआ है, रस की अगणित लहरों से उद्वेलित हुआ है। कृष्ण की सृष्टि पूर्ण आनन्दमय है, उनकी रचना में जड़प्रकृति तथा चेतनप्राणी सभी में आनन्द का उन्मेष है। वे स्वयं आनन्दमय हैं, आनन्द प्रदान करते हैं और आनन्द का उपभोग करते हैं। निरतिशय आनन्द-प्रियता उनका विशिष्ट गुण और लक्षण है। वे स्वयं रस-रूप हैं, किन्तु रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण और कुछ नहीं उनकी लीलाप्रियता है। उनकी इस लीला-परक वृत्ति का लीला के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। आनन्द-विधान ही उसका एकमात्र लक्ष्य है, उद्धारकार्य आदि अन्य कोई नहीं। इस लीलारूप का साक्षात्कार करना, सौन्दर्य और रस का साक्षात्कार करना ही कृष्ण-साक्षात्कार है जो अन्य प्रकार के भगवत्साक्षात्कार से भिन्न है।[1] कृष्ण का अन्य रूप साहित्य में उभरा ही नहीं है। कुरुक्षेत्र का वीर रूप और द्वारिका का शासक-रूप जन-मानस से धुल गया। अवतार के ये पार्श्व राम के अवतार में सर्वांगीण विकास के साथ उपस्थित हुए हैं। कृष्ण मात्र लीलाधारी रूप में स्मरण किये गये। उनके ललित और मधुर रूप से जनसाधारण को अपने आकर्षण-पाश में इतना आबद्ध कर लिया कि उत्तर-मध्यकाल तक काव्य-क्षेत्र में उनका एकाधिपत्य रहा, वे काव्य-चर्चा के एकमात्र विषय बने रहे। कृष्ण के रूपाकर्षण और रसमाधुरी में भारतीय जनता इतनी तल्लीन हो गई कि वही स्वरूप मध्ययुग की धर्मसाधना में सर्वोपरि हो उठा। रूप और रस पर आधारित धर्मसाधना ने जनमानस को आकंठ डुबा लिया। कृष्ण इस साधना के नायक थे, चरित नायक नहीं, लीलानायक, "अपूर्व लीलाधर"! कृष्णावतार का प्रथम और अंतिम गुण है—लीला।

(२) सृष्टि का रहस्य

लीला मानव-मन को रुचिकर होने के नाते महत्वपूर्ण तो है ही, सृष्टि का रहस्य भी वही है। इस नाम रूपात्मक सृष्टि के मूल में लीला की भावना कार्य कर रही है। यह सृष्टि सच्चिदानंद की लीला-प्रेरित रचना है, माया का भ्रमजंजाल नहीं। लीला रूप और गुण पर आधारित है। सृष्टि में रूप और गुण का प्रसार देखा जाता है। इस अनंत रूपश्री को इन्द्रजाल कहना अथवा अपरिमित गुणास्वाद को निस्सार कहना कहां तक उचित है? रूप पर आधारित सौंदर्य और गुण पर आधारित रस की सत्ता क्या भ्रान्तिजन्य है, माया का छद्म है? अवश्य ही प्रपंच में रूप और गुण की अनाविल अभिव्यक्ति नहीं है, किन्तु क्या उसकी अभिव्यक्ति मात्र, अशुद्ध होने के कारण, निराधार

---

१. "भगवान् का स्वरूप आत्मा से जाना जाता है, अनुभव किया जाता है। वह सत्-चित्-आनंद का आकार है। आनन्द से ही उसने सृष्टि रची है। वह स्वयं आनन्द रूप है, अमृत रूप है, आनन्द रूपममृतं यद्विभाति, वह रस-रूप है—रसो वै सः, और फिर भी रहस्य यह है कि वह रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। ऐसा क्यों होता है—रसंह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति—सो क्यों? क्योंकि यह उस अपूर्व लीलाधर की लीला है। लीला ही लीला का कारण है, लीला ही लीला का लक्ष्य। केवल भगवत्साक्षात्कार ही बड़ी बात नहीं है। लीला बड़ी बात है भगवान् का प्रेम।"

—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना (लीला और भक्ति), पृ० १३२

नवम परिच्छेद

उपसंहार एवं उपलब्धियाँ

उपसंहार

कृष्ण-भक्तिसाधना में सौन्दर्योपासना और रसावेश जिस रूप में व्यक्त हुआ है उसमें हृदय का उल्लास और प्राण का आवेग ही प्रमुख है, तत्वदृष्टि गौण। वैदिक युग से लेकर मध्ययुग तक भगवान् के प्रति जो आकर्षण देखा जाता है उसमें उनकी महानता से अभिभूत और श्रद्धानत होने की प्रवृत्ति ही अधिक परिलक्षित होती है। उपनिषद् में ब्रह्म के आनन्द की चर्चा अवश्य है, किन्तु हृदय की संपूर्ण वृत्तियों को रमाने वाली रंजकता के साथ नहीं। आनंद स्वयं में तो अमूर्त तत्व है ही, सौन्दर्य भी धार्मिक साधनाओं में बहुत अमूर्त होकर उपस्थित होता रहा है। उसे अनिर्वचनीय "ज्योति" किंवा "नूर" के रूप में अनुभव कर कुछ पहुँचे हुए साधक आह्लाद में डूबते रहे हैं, किन्तु सौन्दर्य का वह प्रकाश सबको दृष्टिगोचर न हो सका। ज्योतिरूप में अभिव्यक्त होकर वह आंतरिक अनुभूति का ही विषय बना रहा, इन्द्रिय, चित्त और बुद्धि की पकड़ में न आ सका। सूफ़ी-साधना ने उस "नूर" को बहुत परिचित आकार देने का प्रयास किया, किन्तु रूपक बांधकर सारी उपासना को प्रतीकात्मक बना डाला। प्रतीकात्मक ढंग से रूपतत्व कितनों के समझ में आ सकता है ?

मध्ययुग में कृष्ण भक्ति-साधना ने पहली बार भगवान् के रूप और रस को ठोस धरातल पर उतारा। कृष्ण न तो सौंदर्य की ज्योति हैं, न उसके प्रतीक, वे स्वयं "सौन्दर्य" हैं,—सौन्दर्य की चित्तग्राह्य तत्व-मूर्ति ! उनका रस "राम-रसायन" की भांति शून्य-चेतना में पकने और वहीं तैयार होकर झरने वाला नहीं है, वरन् अनुग्रहीत-चेतना के संपर्क द्वारा सत्ता के व्यक्त स्तरों पर अनुक्षण आनन्द का उन्मेष करने वाला है। उनके सौन्दर्य के बोध और रस की अनुभूति में व्यक्तिगत साधना का महत्व घट जाता है। परम-सौन्दर्य का दर्शन तथा चिदानंद-रस की अनुभूति भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है। कृष्ण का अनुग्रह दुष्ट-वध तक सीमित नहीं है, संसार-उद्धार तक भी नहीं। वह चेतना के आत्यंतिक विकास तक पहुँचता है। सत्यदृष्टि और शिववृत्ति ही उसका अंतिम विश्रान्तिस्थल नहीं है, वह और आगे बढ़ता है। सच्चिदानन्द की आनन्द-चेतना को, जो चराचर में अंतर्भूत है, उद्घाटित करके प्राणी को अनुभवगम्य कराने का श्रेय कृष्ण के अनुग्रह को ही है। आनन्द में सौन्दर्य और रस दोनों संगुम्फित हैं। अभिव्यक्ति में, मूर्त रूप में वह सौन्दर्य की संज्ञा प्राप्त करता है, अनुभूति में तथा अमूर्त रूप में रस की। जहां अन्य अवतार भूभार-हरण में अपनी सार्थकता पा लेते हैं, वहीं कृष्णावतार कार्य-भार से अनाक्रान्त रहकर चेतना के उस विरल और अगम सूक्ष्म लोक को भू पर अवतरित करता है जिसे आनन्द का लोक कहा गया है। अपरार्द्ध देह, प्राण, मन की त्रयी में कृष्ण परार्द्ध त्रयी—सत्, चित्, आनन्द—को अवतरित करके भू-भार हरण ही नहीं करते, वरन् जड़ाभिभूत चेतना को पूर्ण रूप से रूपान्तरित कर डालते हैं। यह रूपान्तरण भी बड़े मनोरंजक ढंग से साधित होता है। परार्द्ध लोक में विचरण करने के लिए व्यक्ति को न "ऊर्ध्व धूम" घूटना पड़ता है, न "त्रिपुटी" में ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। उस सौन्दर्य और रस की अनूभूति के लिए यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। उस अलभ्य सौन्दर्य और अगम्य रस को कृष्ण अपने एक विशिष्ट इंगित से सर्वसुलभ बना देते हैं : वह विशिष्ट इंगित है लीला।

(१) आत्यंतिक अर्थ : लीलापुरुषोत्तम

लीलावाद कृष्ण भक्तिसाधना का प्राण है। यों तो रामभक्ति-साधना में भी सगुण की लीला का गान हुआ है, किन्तु लीला का आत्यंतिक अर्थ वहां चरितार्थ नहीं हो पाया है। चरित-नायक राम मर्यादा-पुरुषोत्तम रहे हैं, विपिन-बिहारी कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम। यहीं पर दोनों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। मानवीय लीला करते हुए राम ने मानव मन की अनुरंजनकारी वृत्तियों को उतना नहीं उकसाया जितना कृष्ण ने। कृष्ण का जो रूप साहित्य में मुखरित है वह विपुल क्रीड़ा-संपन्न है, क्रीड़ा-प्रेरित और क्रीड़ा-प्रिय। कृष्ण विशुद्ध रूप से क्रीड़ा-परायण हैं. यही उन्हें लीला पुरुषोत्तम की संज्ञा से विभूषित कर देता है। यह क्रीड़ा-प्रियता उनके आनंदातिरेक का परिणाम है। वे अगणितानंद पुरुषोत्तम हैं, उनके आनन्द की गणना नहीं हो सकती। इसलिए वह आनन्द रूप की शत-शत किरणों में उद्भासित हुआ है, रस की अगणित लहरों से उद्वेलित हुआ है। कृष्ण की सृष्टि पूर्ण आनन्दमय है, उनकी रचना में जड़प्रकृति तथा चेतनप्राणी सभी में आनन्द का उन्मेष है। वे स्वयं आनन्दमय हैं. आनन्द प्रदान करते हैं और आनन्द का उपभोग करते हैं। निरतिशय आनन्द-प्रियता उनका विशिष्ट गुण और लक्षण है। वे स्वयं रस-रूप हैं, किन्तु रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण और कुछ नहीं उनकी लीलाप्रियता है। उनकी इस लीला-परक वृत्ति का लीला के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। आनन्द-विधान ही उसका एकमात्र लक्ष्य है, उद्धारकार्य आदि अन्य कोई नहीं। इस लीलारूप का साक्षात्कार करना, सौन्दर्य और रस का साक्षात्कार करना ही कृष्ण-साक्षात्कार है जो अन्य प्रकार के भगवत्साक्षात्कार से भिन्न है।[१] कृष्ण का अन्य रूप साहित्य में उभरा ही नहीं है। कुरुक्षेत्र का वीर रूप और द्वारिका का शासक-रूप जन-मानस से धुल गया। अवतार के ये पार्श्व राम के अवतार में सर्वांगीण विकास के साथ उपस्थित हुए हैं। कृष्ण मात्र लीलाधारी रूप में स्मरण किये गये। उनके ललित और मधुर रूप से जनसाधारण को अपने आकर्षण-पाश में इतना आबद्ध कर लिया कि उत्तर-मध्यकाल तक काव्य-क्षेत्र में उनका एकाधिपत्य रहा, वे काव्य-चर्चा के एकमात्र विषय बने रहे। कृष्ण के रूपाकर्षण और रसमाधुरी में भारतीय जनता इतनी तल्लीन हो गई कि वही स्वरूप मध्ययुग की धर्मसाधना में सर्वोपरि हो उठा। रूप और रस पर आधारित धर्मसाधना ने जनमानस को आकंठ डुबा लिया। कृष्ण इस साधना के नायक थे, चरित नायक नहीं, लीलानायक, "अपूर्व लीलाधर"! कृष्णावतार का प्रथम और अंतिम गुण है—लीला।

(२) सृष्टि का रहस्य

लीला मानव-मन को रुचिकर होने के नाते महत्वपूर्ण तो है ही, सृष्टि का रहस्य भी वही है। इस नाम रूपात्मक सृष्टि के मूल में लीला की भावना कार्य कर रही है। यह सृष्टि सच्चिदानंद की लीला-प्रेरित रचना है, माया का भ्रमजंजाल नहीं। लीला रूप और गुण पर आधारित है। सृष्टि में रूप और गुण का प्रसार देखा जाता है। इस अनंत रूपश्री को इन्द्रजाल कहना अथवा अपरिमित गुणास्वाद को निस्सार कहना कहां तक उचित है? रूप पर आधारित सौंदर्य और गुण पर आधारित रस की सत्ता क्या भ्रान्तिजन्य है, माया का छद्म है? अवश्य ही प्रपंच में रूप और गुण की अनाविल अभिव्यक्ति नहीं है, किन्तु क्या उसकी अभिव्यक्ति मात्र, अशुद्ध होने के कारण, निराधार

---

१. "भगवान् का स्वरूप आत्मा से जाना जाता है, अनुभव किया जाता है। वह सत्-चित्-आनंद का आकार है। आनन्द से ही उसने सृष्टि रची है। वह स्वयं आनन्द रूप है, अमृत रूप है, आनन्द रूपममृतं यद्विभाति, वह रस-रूप है—रसो वै सः, और फिर भी रहस्य यह है कि वह रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। ऐसा क्यों होता है—रसंह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति—सो क्यों? क्योंकि यह उस अपूर्व लीलाधर की लीला है। लीला ही लीला का कारण है, लीला ही लीला का लक्ष्य। केवल भगवत्साक्षात्कार ही बड़ी बात नहीं है। लीला बड़ी बात है भगवान् का प्रेम।"

—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना (लीला और भक्ति), पृ० १३२

है ? क्या उसके पीछे किसी महत् चेतना का मेरुदंड नहीं है ? क्या उसकी विकृतियों के पर्दे में कोई अपरूप सौंदर्य और आह्लादक रस नहीं है ? इस बहिर्मुखी प्रसार के रूप और रस में, प्रत्यक्ष विकारों के बावजूद भी, क्या किसी आंतरिक सत्ता का बोध नहीं होता ? अनन्त विरूपताओं और विषमताओं में भी क्या किसी उज्ज्वल मुख की मधुर मुस्कान का आभास नहीं मिलता ? इन सतत क्षर गतियों को जो अपने अक्षर हाथों में थामे हुए है (यदि न थामता तो सृष्टि विघटित हो जाती) वह कौन है ? लीलाधर पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण। वही "परम ज्योति" हैं जो प्रेममय होने के कारण रसानुभूति के चिरन्तन आधार हैं। वही रूप के नित्य निलय हैं।[1] कृष्ण ही रूप और रस के परम रहस्य हैं, अंतिम तत्व हैं। वे रूप और गुण के चरम-निधान हैं। कृष्ण गुणमय रूपोपासना के केन्द्र में विराजमान हैं। सृष्टि में व्याप्त समस्त रूप-विधाओं के वे आदि-रूप हैं, गुणाश्रित रस के वे आदि-कारण हैं। उन्हें केवल निर्गुण नहीं कहा जा सकता। निर्गुण तो यावत् सृष्टि से निर्लिप्त रहता है, प्रकृति के गुणों से तटस्थ ! किन्तु कृष्ण प्रकृति के गुणों से तटस्थ नहीं हैं; हां, वे उसके विकारों में लिप्त नहीं हैं। प्रकृति के त्रिगुण-सत्व, रज, तम—उन्हीं के गुणों के अंश हैं, चाहे जड़ता के कारण वे विकृत हो गये हों। कृष्ण इस गुणमयी सृष्टि के बीजस्वरूप हैं। यदि उनके गुण नहीं हैं तो गुण आये कहां से ? कृष्ण ही तो सर्वभूत के आदि-कारण हैं। यदि बीज में तरु सन्निहित न हो तो प्रकट कहां से हो सकता है ? इस सृष्टि में कृष्ण के गुणों की ही परछाईं पड़ रही है, जो गुण उनमें हैं वे ही सृष्टि में प्रतिबिम्बित हैं। अवश्य ही यह प्रतिबिम्ब चिद्दर्पण में न पड़ कर माया-दर्पण में पड़ता है। इसीलिए उसकी यथार्थता और शुद्धता नष्ट हो जाती है।[2] किन्तु गुणों का अस्तित्व माया में नहीं, कृष्ण में ही है। वस्तु के बिना गुण नहीं हो सकता। गुण का अधिष्ठान आवश्यक है। कृष्ण ही उसके अधिष्ठान हैं। वे "निर्गुणो गुणी" हैं। उनकी जो निर्गुण शक्ति है वह अपने में सगुण को संवाहित किए हुये है। वह निर्गुण ही गुणों में प्रतिबिम्बित है, जैसे जल-बिम्ब में ज्योति।[3] यही कृष्ण के मानव-रूप का रहस्य है, नितान्त गुणों के बीच उनका निर्मल निर्गुण ही अभिव्यक्त है। वे वस्तुरहित और गुणरहित होकर शून्य में नहीं रमते। वे सृष्टि की समस्त अभिव्यक्ति में—रूप और गुण में—अपने शुद्ध चैतन्य को प्रतिबिम्बित करके व्याप्त हैं। यही शुद्धाद्वैत मत में "जगत्" है जो संसार की यवनिका की ओट में सतत विद्यमान है। रूप और गुण के इसी अतिप्राकृतिक स्रोत के सन्धान में कृष्ण-भक्ति के सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति का मर्म छिपा है।

---

१. प्रथमहिं प्रनऊँ प्रेममय, परम जोति जो आहिं।
रूप-उपावन, रूपनिधि, नित्य कहत कबि ताहिं।।
परम प्रेम-पद्धति इक आही। 'नंद' जयामति बरनत ताही।
जाके सुनत-गुनत मन सरसै। सरस होइ रस-बस्तुहि परसै।।
रस परसे बिन तत्व न जानै। अलि बिन कमलहिं को पहिचानै।।५।।

—नंददास : प्रथम भाग (रूपमंजरी), पृ० १०

२. जौ उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहां तें।
बीज बिना तरु जमै, मोहिं तुम कहौ कहाँ तें।।
वा गुन की परछाँह री, माया-दर्पन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच।।
सखा सुनि स्याम के।

—नंददास : प्रथम भाग (भँवरगीत), पृ० १२८

३. पै इतनो नहिं जानहीं, वस्तु बिना गुन नाहिं।
निर्गुन सक्ति जु स्याम की, लिये सगुन ता माहिं।।
जोति जल-बिंब में।

—वही, पृ० १३६

जाग्रत-चेतना में व्यक्त रूप और रस की तुरीय स्थिति ही उसे काम्य है। शुद्धसत्वमयी चेतना को सत्व, रज, तम के धरातल पर उतारना ही उसके सौन्दर्यबोध और रसानुभूति की सिद्धि है। कृष्ण-भक्त उस सम्पूर्ण-सौन्दर्य और आत्यंतिक-रस को प्राप्त करके कृतार्थ होता है जो अपनी बृहत् परिधि में यावत् सृष्टि को समाहित किए हुये है। सच्चिदानंद के प्रकाश में यह सृष्टि जिस दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है वह शुद्धसत्व का दर्पण है, "माया-दर्पण" नहीं। इसलिए उसके गुण और रूप में कोई विकृति नहीं आ पाती। वे अपनी विशुद्ध स्थिति में प्रतिबिंबित रहते हैं। इस शुद्धसत्वमय चिति में रूप और रस की अनुभूति करना कृष्ण भक्तिसाधना को अभीष्ट है, अन्य किसी चेतना में नहीं। इस चेतना में रूप की अभ्रान्त गतियाँ हैं, रस की अंकुठ धारायें हैं। सच्चिदानंद के धरातल पर पहुँच कर ही रूप और रस शुद्ध, बुद्ध और पूर्ण बनता है। इसके पहले सौन्दर्य और रस को किसी भी धरातल पर अपनी बाह्य एवं आंतरिक पूर्णता नहीं मिल पाती।

(३) रूप और रस

रूप और रस की आत्म-परिपूर्णता को प्राप्त करने का मार्ग इन्हीं के द्वारा है, इन्हें छोड़कर नहीं। अरूप की उपासना किंवा निर्गुण की आराधना से सौन्दर्य और रस को पूरी तरह नहीं पाया जा सकता। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उद्धव निर्गुण का उपदेश देने ब्रज पहुँचे थे। वे साकाररूप और सगुण-रस को मिटाकर निराकार और निर्गुण के माध्यम से गोपियों को मोह-विगत करने का उपक्रम कर रहे थे। किन्तु रूप और गुण के प्रति, सौन्दर्य और रस के प्रति गोपियों का मोह भी धन्य था। उसके रंग में परम ज्ञानी उद्धव रंग गये। मोह-विगत होने की अपेक्षा सौन्दर्य और रस की निष्कृतिकारी अनुभूति में डूब जाना स्वयं उन्हें भी श्रेयस्कर लगने लगा। मुक्ति का अंतिम रहस्य भुक्ति में है, आनन्द में है। साधना का अंतिम रहस्य जीवन-मुक्ति है। मुक्त होकर निस्पंद हो जाना पर्याप्त नहीं है, अचल नीरवता में आनन्द के बृहत् उत्ताल छंद को उतार लाना ही उसकी चरम-प्राप्ति है। उस बृहत् आनन्द के अवतरण से व्यक्ति स्वतः मुक्त हो जाता है। आनन्द-चेतना अपनी भुक्ति में ही मुक्ति प्रदान कर देती है, मुक्ति के लिए अलग से आयास नहीं करना पड़ता। कृष्णभक्ति-साधना आनन्द-चेतना के इसी परम अनुग्रह पर निर्भर है। उससे अनुग्रहीत होकर जीव जीवन-मुक्त हो जाता है, व्यक्ति अमृत-भोगी। आनन्द की मधुरता सौन्दर्य-शोभा तथा रस-पेशलता के द्वारा व्यक्ति को जीवन-द्रष्टा और पूर्ण-प्रकाम बना देती है। कृष्णभक्ति की मधुरोपासना सौन्दर्य और रस का सिद्धि-स्वरूप है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "इस 'मधुर' के माधुर्य का पूर्णभाव हृदयंगम करते समय हमारे सामने किसी मधुरता और मिष्ठता अथवा अधिक-से-अधिक सौन्दर्य एवं शोभा सम्बन्धी गुणविशेष की ही भावना रहा करती है। यदि 'मधु' शब्द के 'दिव्य पेय' सूचक होने की ओर हमारा ध्यान जा सके तो, हम, सम्भवतः, 'मधुरोपासना' के उस वास्तविक लक्ष्य तक का भी संकेत पा सकते हैं जो ईश्वरीय प्रेमानुभूति का परिचायक है"।[१] यह मार्ग आकर्षक होने के साथ सरल भी है।[२] कृष्ण का सौन्दर्य, उनका लीलारस व्यक्ति के चित्त को बाँध लेता है। सारी इन्द्रियाँ, चित्त की सारी वृत्तियाँ कृष्ण के रूप और रस की अनुभूति में निरुद्ध हो जाती हैं। ज्ञान से जितनी तत्व की प्राप्ति नहीं हो पाती उतनी सौन्दर्य और लीला से होती है। चित्त लीलासक्त

---

१. परशुराम चतुर्वेदी,: भक्तिसाहित्य में मधुरोपासना पृ० ६-७।

२. कौन ब्रह्म की ज्योति? ग्यान कासौं कहौ ऊधौ?
हमरे सुंदर स्याम, प्रेम कौ मारग सूधौ॥
नैन, बैन, श्रुति, नासिका, मोहन रूप दिखाइ।
सुधि-बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगौरी लाइ॥
सखा सुनि स्याम के॥४६।——नंददास: प्रथम भाग (भँवरगीत), पृ० १२५

होता है; कृष्ण की लीलाएँ उसकी इस प्रवृत्ति को पूर्णतया तृप्त करती हैं। श्रवण कृष्ण के गुणकथन से अभिभूत रहते हैं, लोचन रूप-ध्यान से; तन, मन और इन्द्रिय की वृत्तियों को कृष्ण अपने में नियोजित कर लेते हैं।[१] रूप और रस पर आधारित लीला का मार्ग राजमार्ग है, उसे छोड़कर कोई इधर-उधर क्यों भटके?[२] इस मार्ग में सौन्दर्य मानवरूप में अभिव्यक्त है, रस मानव-प्रेम में। भक्त भगवान् को निज रूप के अनुरूप मानता है, ज्योतिस्वरूप अनिर्देश्य नहीं। और वह रूप प्रेम की उत्कटता में प्रकट हो जाता है।[३] प्रेम ही विशुद्ध रस की प्राप्ति कराता है, अन्य कोई युक्ति नहीं। कर्म और ज्ञान से विशुद्ध रस की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान निश्चल आनंदानुभूति में लीन हो जाता है, लीलारस की उसे कोई अनुभूति नहीं होती। कर्म रस से बहुत दूर रहता है। वह पाप और पुण्य के बन्धनों में जकड़ा रहता है। पाप और पुण्य रसानुभूति के लिए लोहे और सोने की बेड़ियों के समान हैं। ये दोनों रसानुभव में बाधक हैं। पाप और पुण्य के फलस्वरूप सुख-दुःख के जो संस्कार संचित होते हैं वे विशुद्ध आनंदानुभूति के अवरोधक बन जाते हैं। कर्म से विषय-वासना का रोग दूर नहीं होता। एकमात्र प्रेम उस रोग का निदान है।[४] जब तक इस रोग का निदान नहीं हो जाता, परात्पर रस की अनुभूति अलभ्य है। प्रेम का जो शुद्धतम रूप है वह प्रपंचातीत है, दिव्य है। ऐसा प्रेम ही कृष्ण के रस को पचा सकता है, पाप और पुण्य-जनक कर्म-विधान नहीं।[५] प्रेम पर आधारित भक्ति मन को शुद्ध कर देती है, चित्त के संशय और द्विविधा को दूर करती है और अंत में रसानुभूति का कारण बनती है।[६] जब तक मन शुद्ध नहीं हो जाता तब तक अधोक्षज रस पकड़ में नहीं आ सकता। मन की शुद्धि किंवा चित्त की शुद्धि का मुख्य साधन प्रेमभक्ति है। वस्तुतः प्रेम आनन्द की वृत्ति है।

---

१. तन रिपु काम, चित्त रिपु लीला, ज्ञान गम्य नहिं तातैं।
स्रवन सुन्यौ चाहत गुन हरि कौ, जो वै कथा पुरातैं॥
लोचन रूप ध्यान धर्‌यौ निसि दिन, कहौ घटै को कातैं॥ —सूर सागर, पद सं० ४२९८

२. छाँड़ि राजमारग यह लीला, कैसैं चलहिं कुपैंडे। —वही, पद सं० ४२३५

३. जोगी जोतिहि भजैं, भक्त निज रूपहि जानैं।
प्रेम-पियूषै प्रगट, स्याम सुन्दर उर आनैं॥ —नंददास : प्र० भा० (भँवरगीत), पृ० १२७

४. कर्म पाप अरु पुन्य, लौहे सौने की बेरी।
पाइन बंधन दोउ, कोउ मानौ बहुतेरी॥
ऊँच कर्म तैं स्वर्ग है, नीच कर्म तैं भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरे, विषय-वासना रोग॥
सखा सुनि स्याम के॥ —वही, (भँवरगीत), पंक्तिक्रम ८०, पृ० १२७

५. सुद्ध प्रेममय रूप, पंचभौतिक तैं न्यारी।
तिनिहिं कहा कोउ गहै, जोति सी जग उजियारी॥
जे रुकि गई घर, अति अधीर गुनमय सरीर बस।
पुन्य-पाप प्रारब्ध सच्यौ, तिन नाहिं पच्यौ रस॥
—नंददास : प्र० भा० (रासपंचाध्यायी, पंक्तिक्रम, १२५), पृ० १६०

६. कबहुँ कहै गुन गाइ, स्याम के इनहिं रिझाऊँ।
तो भले प्रेम-भक्ति, स्यामसुंदर को पाऊँ॥
जिहि-किहि बिधि ये रीझहीं, सो बिधि करौं बनाइ।
जातैं मोमन सुद्ध ह्वै, दुबिधा-ग्यान नसाइ॥
पाई रस प्रेम की॥—नंददास : प्र० भाग भँवरगीत : पं० २२०, पृ० १३४

सिद्धिरूप में जो आनन्द है, साधना रूप में वही प्रेम है। साधन रूप में आनन्द प्रेमभक्ति है, प्रेमभक्ति ह्लादिनी शक्ति का विलास है। ईश्वर में परानुरक्तिस्वरूपा शुद्धाभक्ति ज्ञान की द्विविधा, चित्त की ग्लानि और मंदता का नाश कर देती है। विकाररहित चैतन्य रस का वाहक बनता है। चेतना को विकार-रहित करने में यह प्रेम सर्वोपरि है। इसीलिए यह प्रेम हरि-रस का निज पात्र है।[1] लोक की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला यह प्रेम परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। परमानन्द ही रस है। रस की प्राप्ति का एकमात्र साधन प्रेम है। प्रेम ज्ञान, योग, कर्म से परे है। प्रेम के आगे ये व्यर्थ हैं, जैसे हीरा के आगे कांच।[2] अन्य साधनों को त्याग कर एकमात्र प्रेम पर आधारित शुद्ध भक्ति परमानंद के रस को अनुभवगम्य बना देती है।

रसानुभूति का आधार प्रेम है, और प्रेम का आधार सौन्दर्य तथा लीला। इन्द्रियों की वृत्ति को रमाने के लिए सौन्दर्य है, चित्त की वृत्तियों को रमाने के लिए लीला। शुद्ध प्रेम में जड़ इंद्रियाँ और चंचल चित्त ही सबसे अधिक बाधा उत्पन्न करते हैं। कृष्णोन्मुखी प्रेम में इंद्रियाँ और चित्त कृष्ण की असमोर्द्ध रूपश्री तथा चमत्कारी लीला के द्वारा स्वतः निरुद्ध हो जाते हैं। चित्त के पाँव प्रीति की नदी में डूब जाते हैं और दृष्टि रूप में पग जाती है। जब ये दोनों कृष्ण से गुड़-चींटी सदृश पग जाते हैं फिर अनुराग में बाधा ही क्या रह जाती है? उद्धव की गलती ही यह थी कि उन्होंने प्रीति की नदी में पाँव नहीं डुबाया था, तथा रूप में दृष्टि को नहीं पागा था। इसी-लिए उनका मन अनुरागी नहीं बन पाया था। बिना अनुराग के स्पर्श के रस कहाँ?[3] प्रेम के लिए ठोस रूप का आधार आवश्यक है। यह आधार जितना पवित्र, जितना सूक्ष्म होगा प्रेम एवं उसके द्वारा प्राप्त रस उतना ही पवित्र तथा उतना ही सूक्ष्म होगा। कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। वे अवतरित रूप में भी "स्वयंरूप" रहते हैं। जब वे प्रेम के आधार बनें, जब स्वयं आनंदमय भगवान प्रेम की धारा को अपनी ओर मोड़ लें, तब रस की अनुभूति में कौन सी कठिनाई रह जायगी? वह रस नितान्त शुद्ध होने के साथ-साथ परम मधुर भी होगा। कृष्ण से आगे न कोई-रूप है, न रस। कृष्ण के सौन्दर्य का बोध और उनके रस की अनुभूति समस्त धर्म-साधनाओं का सार है। सौन्दर्य और आनन्द जीवन का अंतिम लक्ष्य है। जिसने यह पा लिया, उसके लिए और कुछ पाने को रह ही क्या जाता है? इसीलिए गोपियां बार-बार उद्धव से कहती हैं कि उनकी योग में कोई रुचि नहीं है। वे सगुण रूप की उपासिका

---

१. प्रेम-प्रसंसा करत, सुद्ध जो भक्ति प्रकासी॥
दुबिधा-ग्यान, गलानि, मंदता सगरी नासी॥
कहत भयौ निहचै यहै, हरि-रस कौ निज पात्र।
हौ तौ कृतंकृत ह्वै गयौ, इनके दरसन मात्र॥
मेटि मल ग्यान कौ॥
—वही (पंक्तिक्रम ३१९), पृ० १३८

२. जे ऐसैं मरजाद मैटि, मोहन कौ धावैं।
क्यौं नहिं परमानंद, प्रेम-पदवी कौ पावैं॥
ग्यान जोग सब कर्म तैं, प्रेम परे है साँच।
हौ नहिं पटतर देत हौं, हीरा आगे काँच॥
विषमता बुद्धि कीं।
—वही, (पंक्तिक्रम ३२०), पृ० १३९

३. ऊधौ तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेह तगादैं, नाहिन मन अनुरागी॥
पुरइनि पात रहत जल भीतर, ता रस देह न दागी।
प्रीति नदी मैं पाउँ न बोर्‌यौ, दृष्टि न रूप परागी॥
'सूरदास' अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यौं पागी॥
—सूरसागर, पद सं० ४५७७

हैं उसी में आकंठ मग्न हैं, अब मन को अन्यत्र कैसे ले जायं ? कैसे का प्रश्न ही नहीं उठता, वहीं तो मन की खोज का अंतिम लक्ष्य है ? सौन्दर्य का दर्शन और आनंद की प्राप्ति यही उसकी चिर-चंचल व्याकुलता का विश्रान्ति स्थल है।

उपलब्धियाँ

(१) **रूपासक्ति** : व्यक्ति के सामने चिरकाल से यह प्रश्न रहा है कि रूपरेखा, गुणजाति के अभाव में चंचल मन भगवान् को कैसे प्राप्त करे ? इनके अभाव में तो वह निरालम्ब होकर भटकने लगता है। मध्ययुग में कृष्णभक्तिसाधना ने इसका बड़ा हृदयग्राही उत्तर खोज निकाला,—कृष्ण के रूप में। उनके लीला-रस में मन को निवेशित कर लिया। इस भक्ति-विधा में रूप-निष्ठा द्रष्टव्य है। गोपियों के नेत्र रूप-रस में राँचे हुये हैं। इस रूपासक्ति के सम्मुख योगयुक्ति, ब्रह्म-ज्ञान निरर्थक है। मन के लिए किसी आकर्षक रूप की आवश्यकता होती है, वह गोपियों को मिल गया। उनका मन अब भटकता नहीं। नवकिशोर की मृदु और मोहक मूर्ति में मन उलझ गया है। अब मन को वश में करने के लिये वे योग की युक्तियाँ सीख कर क्या करें ? सौन्दर्य की चिर आकर्षक मूर्ति को पाकर जिस आह्लाद से वे अभिभूत हैं उसके आगे ब्रह्मज्ञान का क्या महत्व है ?[१] वे रूप के परम आधार, सौन्दर्य की चरम अभिव्यक्ति—नवकिशोर—को पाकर तृप्त हो जाती हैं। इस उपलब्धि के आगे सारे उपदेश व्यर्थ हैं। रूपासक्त नेत्र किसी का कहना नहीं मानते, वे सौन्दर्य में निमज्जित होकर आप्तकाम हो जाते हैं। रूपोपासक वैष्णव कवि रूप के आगे और कुछ नहीं देखना चाहता। रूपातीत अरूप को वह भूल जाता है, एकमात्र रूप का बन्धन उसे प्रिय होता है। रूप का यह बन्धन उसकी चित्तवृत्ति की मुक्ति का साधक है, बाधक नहीं।[२] इसी बन्धन के द्वारा वह मुक्ति-साधना करता है। रूप से अतीत होकर वह मुक्ति नहीं चाहता। मुक्ति तो दूर, मन को निराधार नहीं छोड़ा जा सकता। जिस ब्रह्म का वपु, आकार, वेश नहीं है, जो रूपातीत है, उसमें मन कैसे लग सकता है ? वह रूपातीत रूप की इन गतियों में बंधकर बोधगम्य होता है, रूपाकार में बंधकर ही वह ग्राह्य होता है। जिस प्रकार मणियां बिना धागे से पिरोये हुए कंठहार नहीं बन पातीं, उस प्रकार रूप में संग्रथित हुए बिना रूपातीत का बोध नहीं हो पाता।[३] वह अगोचर रूप की सीमा में बंध कर ही गोचर होता है। एक बार जब वह गोचर हो जाता है तब मन अन्यत्र नहीं भटकता। गोपियाँ रूप की डाल से दृढ़तापूर्वक लग जाती हैं। इस रूप की डाल से लगकर उनका अनुराग भी प्रगाढ़ हो जाता है।[४] रूपासक्ति मन को आधार ही नहीं जुटाती, वह उसे अनुरक्ति भी प्रदान करती है। रूप की उपासना अंततः अनुराग को जन्म देती है। अनुराग विकसित और प्रौढ़ होकर रसानुभूति में

---

१. मधुकर कहा सिखावन आयौ।
ए तौ नैन रूप रस राँचे, कह्यौ न करत परायौ।।
जोग जुगति हम कछू न जानैं, ना कुछ ब्रह्मज्ञानौ।
नवकिसोर मोहन मृदु मूरति, तासौं मन उरझानौ।। —सूरसागर, पद सं० ४२२७

२. "यही वैष्णव कवियों की रूप-उपासना है। रूप के अतीत अरूप सत्ता को वह भूल जाता है पर इस बन्धन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की मुक्ति में। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति में पाती है।"—हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १९९

३. बपु आकार वेष नहीं जाकै, कौन ठौर मन लागै।
क्यौं करि रहै कंठ में मनियाँ, बिना पिरोये धागै।। —सूरसागर, पद सं० ४५९७

४. जोग समीर धीर नहिं डोलति, रूप डार दृढ़ लागी।
'सूर' पराग न तजति हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागी।। —वही, पद सं० ४१२७

परिणत होता है। सौंदर्य-बोध मात्र रूपाकर्षण तक सीमित नहीं रहता, वह अनिवार्यतः रस की अनुभूति की ओर अग्रसर होता है। इसी में उसकी सार्थकता है; अन्यथा वह मात्र रूप-लोभ बनकर रह जायेगा। कृष्ण भक्ति-काव्य में रूप-लोभ नहीं है, रूप-विमोहन है। अपरूप सौंदर्य को देखकर भक्त मोहित हो जाता है, अपना सर्वस्व खो बैठता है। सब कुछ उस "मदन मोहनिहारु" की छवि पर न्योछावर कर देता है। इस आत्मसमर्पण के अनन्तर ही उसे रस प्राप्त होता है, इसके पहले नहीं। रूप के प्रबल आकर्षण से भक्त त्वरित आत्म-समर्पण कर देता है। रूप उसे लुब्ध ही नहीं करता, अनुरक्त भी करता है। यह अनुरक्ति रस की पोषक है।

(२) **गुणासक्ति** : रस की अनुभूति मात्र रूपाश्रित नहीं है। सौन्दर्य के बोध और उसके प्रबल आकर्षण से वह आरम्भ अवश्य होती है किन्तु उसमें अन्य तत्वों का भी योग होता जाता है। रूपासक्ति कृष्णभक्ति की रसानुभूति का आवश्यक अंग है, किंतु गुणों पर आधारित लीलाभाव रसानुभूति के लिए अनिवार्य है। रूप-रेखा निश्चित हो जाने पर गुण-जाति का निर्धारण आवश्यक है। साकार भाव का आधार बनता है, किन्तु सगुण भाव को सक्रिय करता है। गुण का अवलम्बन लेकर भाव पल्लवित और पुष्पित होता है। भगवान् के गुणों के कारण उनके प्रति अनुरक्ति पुष्ट होती है, प्रतीति उपजती है। गुण मन के लिए आहार है, जैसे रूप नेत्र के लिए। निर्गुण से प्रीति और प्रतीति होना दुष्कर है। जिसके विषय में कुछ ज्ञात ही नहीं उससे परिचय कितना गाढ़ हो सकता है? परिचय के अभाव में प्रेमभाव कैसे पनप सकता है? प्रभु के गुणों का स्मरण भक्त को प्रेम-भक्ति के पथ पर दृढ़ कर देता है। यह "सुमिरन" उतना ही सहज है जितना रूप का ध्यान। रूप और गुण की छत्र-छाया में व्यक्ति संसार-सागर से तर जाता है। प्रेम, प्रीति और प्रतीति के लिए गुण एकमात्र आधार है, उसे छोड़कर कोई कैसे प्रेम-निर्वाह कर सकता है?[1] रूप के प्रति आसक्ति जितनी आवश्यक है, उतनी ही गुण के प्रति आसक्ति भी आवश्यक है। आराध्य के गुणों में लीन होकर मन त्रिगुणातीत हो जाता है, उसका प्रेम प्रपंचातीत हो जाता है। कृष्ण की विभिन्न लीलायें उनके भिन्न-भिन्न गुणों को प्रकाशित करती हैं। गुणासक्ति की ये प्रधान साधन हैं। इसीलिए गोपियों में कृष्ण की लीलाओं के प्रति घोर आसक्ति देखी जाती है। लीला के कारण रस की अनुभूति होती है, इसीलिए लीला महत्वपूर्ण है। रसानुभूति में रूप का जितना योगदान है उससे अधिक लीला का है। लीला भक्त के बहिर्मुखी चित्त को कृष्ण-चेतना में नियोजित करती हुई अंत में निरुद्ध कर लेती है। कृष्ण के साक्षात्कार के लिए सौन्दर्य-बोध के अतिरिक्त लीलानुभूति भी आवश्यक है। योग की युक्ति से गीता के कृष्ण जाने जा सकते हैं, वृन्दावन-बिहारी कृष्ण नहीं। रसमय कृष्ण को पहिचानने के लिए लीला का वातायन खोला गया है। लीला व्यक्तित्व का रूपान्तर करती है, जैसे पारस लोहे का, वह स्वर्ण-सा खरा और अकुलष बना देती है।[2] कृष्ण के साहचर्य से व्यक्ति कृष्णमय हो जाता है, फिर वह गुणबद्ध चेतना में नहीं लौटता। संसार से उसे कोई आकर्षण नहीं रह जाता। गोपियां कृष्ण की बाल और कैशोर लीला के शोभा-सिन्धु में समा गईं,—समुद्र में बूंद की भांति। अब उन्हें अलग करके कौन पहचान सकता है? वे कृष्णमय हो गई हैं। रात-दिन, जागते-सोते वे कृष्ण के रूप में परवाना बनी हुई हैं। उनकी मृदु मुस्कान

---

१. गुन अवलम्ब कहै नहिं कोऊ, निरगुन तुमहूँ सुनावहु।
प्रेम प्रतीति प्रीति जिनहीं मन, कित आधार छँड़ावहु।।
सुमिरन ध्यान आस छाया करि, मन मोहन प्रभु नागर।
दुस्तर तरहिं सूर क्यों अबला, चखे जल सरिता सागर।।

—सूर सागर, पद सं० ४२२९

२. सोहत लोह परसि पारस कौं, ज्यौं सुबरन बर बानि।
पुनि वह कहा चारु चुम्बक हौं, लटपटाइ लपटानि?

—वही, पद सं० ४१६०

ने गोपियों के तन, मन, प्राण को खरीद लिया है, और वे लीला के सिन्धु में समा गई हैं।[१] रूप और लीला—इन्हीं दो तत्वों ने अगम अविनाशी को गोपियों के निकट पहुँचाया है। लीला कृष्ण को भक्त का प्राण-वल्लभ बना देती है। इस लीला के कारण गोपियों के सारे सांसारिक-सम्बन्ध टूट जाते हैं। वे माया और ममता से विगत हो जाती है।[२] "अहं" और "मम" के नाश पर ही चिद्रस की अनुभूति होती है, उनके रहते हुए नहीं। लीला इस कार्य की साधिका है।

रूप और रस कृष्ण-भक्तिसाधना का मूलमंत्र है। कृष्ण के रंग और रस में रिस जाने पर भक्त के हृदय में और कुछ नहीं आता। रूप धर कर कृष्ण सर्वस्व हरण कर लेते हैं, और लीला-गुण के द्वारा हरि-रस में एकांत निष्ठा उत्पन्न कर देते हैं। उनके रूप और रस के प्रति गोपियों की वैसी ही निष्ठा रहती है जैसी चातक की घन के लिए, चकोर की चंद्र के लिए।[३] उनके चित्त में मदन-मोहन की चितवन और मृदु मुस्कान चुभ जाती है, और नंद-नंदन से स्नेह जुड़ जाता है। इस रूप-सम्मोह और प्रीतिरस में पगी गोपियां दुःख-सुख, लाभ-हानि सब भूल जाती हैं। रूप और रस के सिन्धु में वे सन जाती हैं।[४] सगुण-साकार से उनकी पूर्ण पहचान हो जाती है, स्नेह छूटता नहीं।

(३) **श्रेय और प्रेय की एकात्मिका वृत्ति :** रूप और रस की साधना ने व्यक्ति के चिर-द्वंद्व को समाप्त कर दिया। श्रेय और प्रेय में जो निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है वह कृष्णाराधना में मिट गई। आनन्द की साधना और सौंदर्य की उपासना में "प्रियता" का जो तत्व है (प्रेय) वह कृष्ण से जुड़कर श्रेय बन गया। व्यक्ति का निजी सुख, उसका निजी "प्रेय" कुछ नहीं रहा। एकमात्र कृष्ण उसकी प्रियता के केन्द्र बन गये। उनका सौन्दर्य भक्त के नेत्रों का अनुरंजनकारी हुआ, लीला-रस हृदय का। अब चित्त की चेतन-अवचेतन सारी वृत्तियां कृष्ण के आक-

---

१. जागत सोवत सपन रैन दिन, उहै रूप परवाने।
बालमुकुंद किसोरी लीला, सोभा सिन्धु समाने।।
जिनके तन मन प्रान 'सूर' सुनि, मृदु मुसकानि बिकाने।
परी जु पयनिधि अल्प बूंद जल, सु पुनि कौन पहिचानै।। —सूरसागर, पद सं० ४४५९

२. भूख न प्यास नींद गई हरि बिनु, पति, सुत, गृह को कौन गनै।
माया और छूटि गई ममता, अधिक कहा लौं लोग बनै।।
सो हरि प्रान, प्रान तैं बल्लभ, मोहन की लीला अगनै।
आवत है तो कहौ 'सूर' प्रभु, नहीं रहौ तुम मौन बनै।। —वही, पद सं० ४४२२

३. मधुकर जुवती जोग न जानैं।
एक पतिब्रत हरि रस जिनकैं, और हृदै नहिं आनैं।।
जिनके रँग रस रस्यौ रैनदिन, तन मन सुख उपजायौ।
जिन सरबस हरि लियौ रूप धरि, वहै रूप मन भायौ।।
तू अति चपल आपनैं रस कौ, या रस मरम न जानै।
पूछौ 'सूर' चकोर चंद, चातक घन केवल मानै।। —वही, पद सं० ४१७१

४. नहिं हम निरगुन सौं पहिचानि।
मन मनसा रस रूप सिंधु में, रहौ अपनपौ सानि।।
जदपि आन उपदेसत ऊधौ, पूरन ज्ञान बखानि।
चित चुभि रही मदन-मोहन की, चितवनि मृदु मुसकानि।।
जुर्यौ सनेह नंद-नंदन सौं, तजि परिमिति कुलकानि।
छूटत नहीं सहज 'सूरज' प्रभु, दुःख सुख लाभ कि हानि।। —वही, पद सं० ४४२५

र्षण में बंध गईं, किसी कष्ट-साधना के द्वारा नहीं वरन् कृष्ण के अति प्रिय व्यक्तित्व के कारण। कृष्ण-सौन्दर्य और कृष्ण-लीला से भिन्न व्यक्ति का कोई प्रेय नहीं रहा। भक्त के सारे मनोराग, सारे आकर्षण कृष्ण के प्रति उन्मुख हो गए, उन्मुख ही नहीं उन्हीं से सन गये। कृष्णावतार ने अपने मानवीय रस के कारण व्यक्ति की सौंदर्य-प्रियता और प्रेम को आकर्षित करके उसे ही श्रेय का रूप दे डाला। सच्चिदानन्द की लीलाधारी चेतना में प्रेय ही श्रेय हो गया। "श्री कृष्णावतार की लीलाओं में अद्भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च धरा-तल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने भी मनोराग हैं वे सभी भगवान् की ओर प्रवृत्त होकर महान बन जाते हैं इसी मनोवृत्ति से चालित होकर भक्त कवियों ने मनुष्य के सभी रागों को भगवदुन्मुख करने का प्रयत्न किया है। लोक में मनुष्य स्त्री-पुत्र के लिए, धन-दौलत के लिए और यश कीर्ति के लिए जो कुछ करता है वह खण्ड विच्छिन्न व्यक्ति की ओर उन्मुख होने के कारण खण्ड विच्छिन्न हो जाते हैं पर वे पूर्णतम की ओर प्रवृत्त होने पर समस्त जगत् के मंगल विधायक बन जाते हैं।"[1] सौन्दर्य में आकर्षण अनुभव करना और मनोरागों के वशीभूत होना मानव प्रकृति है। खण्डसत्ता के सौन्दर्य और प्रेम में पूर्ण तृप्ति नहीं मिल पाती। खण्ड-सौन्दर्य किसी पूर्ण सौन्दर्य, मानव-प्रेम किसी परम प्रेम की ओर सतत इंगित करता है। उस पूर्ण-सौन्दर्य और परम प्रेम के आधार को पाकर मन-प्राण की सारी खोज समाप्त हो जाती है, सारी ग्रंथियां सुलझ जाती हैं। आनन्द, जो चिरकाल से मानवमात्र का श्रेय रहा है, सौन्दर्य और प्रेम के पूर्णाधार कृष्ण में व्यक्त होकर मनुष्य का प्रेय बन गया। सौन्दर्य और रस के माध्यम से जो साधना होती है वह प्रेय के तत्वों को लेकर होती है, इन्हें त्याग कर नहीं। श्रीकृष्ण किंवा श्रीराधा के रूप और रस में नियोजित होकर प्रेय के सूत्र श्रेय बन कर कृतार्थ हो उठे। उनमें श्रेय और प्रेय एकाकार हो गये। गोपियां निर्गुण और निराकार की अलग से साधना करने को प्रस्तुत नहीं होतीं। यद्यपि उद्धव इनके माध्यम से उनके सम्मुख श्रेय का मार्ग खोलना चाहते हैं तथापि वे अपनी गोपालोपासना से सन्तुष्ट हैं। प्रेय कुछ और, श्रेय कुछ और : यह बात उनके समझ में नहीं आती। उन्होंने प्रेय के द्वारा ही श्रेय प्राप्त कर लिया है, अलग से श्रेय के लिए व्यर्थ क्यों परिश्रम करें? आनन्द का भोग और सौन्दर्य की आराधना उन्हें जिस भाव-भूमि पर लाकर प्रतिष्ठित कर देती है उसके सम्मुख भक्ति तिरस्कृत हो जाती है। वे कृष्णकी मुरली पर योग-युक्ति, मुक्ति सभी न्योछावर कर देतीं हैं। उन्हें निर्गुण श्रेयस्कर नहीं है, प्रियतम कृष्ण ही श्रेयस्कर हैं।[2] गोपियों का श्रेय नीरस नहीं है, वह सरस और अनुरंजनकारी है। लीला-धारी होने के कारण कृष्ण ने ज्ञानियों और गोपियों के सच्चिदानन्द को प्रेय के धरातल पर उतार दिया है। सौंदर्य और लीला के द्वारा श्रेय प्रेय बन गया और प्रेय श्रेय। दोनों कृष्ण के लीलाकमल में एक हो गए। तन, प्राण, मन का रस स्वर्णनील चेतना में पहुँच कर आध्यात्मिक अनुभूति से भर उठा। देह, मन, प्राण में उतर कर अव्यक्त घनश्याम मानव के रस में विहार करने लगा। व्यक्ति कृष्ण के पास पहुंचा, कृष्ण व्यक्ति के पास। दोनों जब एकाकार हो गए तब कीट-भृंग की स्थिति उत्पन्न हो गई : मानव-रस भगवद्रस हो गया, भगवद्रस मानव-रस। दोनों में कोई अंतर न रहा। इस सहज किन्तु दुर्लभ तत्व को न समझने के कारण आलोचकगण कृष्ण-लीला की मानवीयता पर बहुत आक्षेप करते रहे हैं, किंतु उनके आक्षेप निराधार हैं। कृष्ण का रूप और रस मानवीय होते हुए भी अतिमानवीय है। भक्त की लीला-रस की अनुभूति प्राकृत प्रतीत होते हुए भी अतिप्राकृत है। कृष्णावतार एक ऐसा केंद्रबिन्दु है जहां मानव-अतिमानव, प्राकृत-अतिप्राकृत, जड़-अध्यात्म ओतप्रोत हो गए हैं। नीली यमुना ने अपने आध्यात्मिक प्रवाह में जड़ चेतन सबको डुबा लिया। ऐहिक और लौकिक कुछ भी नहीं रहा, सब गोलोकमय हो गया, प्रकाशमय! जीवन और जगत् का सारा अंधकार नीलप्रकाश में रूपांतरित होकर सौन्दर्य और रस की शत-शत आनन्द-धाराओं

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन धर्मसाधना (श्रीकृष्ण की प्रधानता), पृ० १२०

२. जोग जुक्ति अरु मुक्ति परम निधि, वा मुरली पर वारौं।
जिहिं उर कमंल नयन जु बसत हैं, तिहिं निरगुन क्यौं आवै॥ —सूर सागर, पद सं० ४२४०

में फूट पड़ा। कृष्ण भक्तिकाव्य की यहीं सिद्धि है : उसने सौंदर्य और रस के द्वारा मन, प्राण तथा देह-चेतना को आध्यात्मिक आनंद से भर दिया। काव्य के माध्यम से, उसके शब्द-नाद और विचार-बिम्ब के द्वारा सौंदर्य और रस के मूलाधार को मूर्त कर दिया।[1] उसके सौंदर्य-बोध और रसानुभूति की यह अलभ्य देन है।

---

1. By aesthesis is meant a reaction of the consciousness, mental and vital and even bodily, which receives a certain element in things, something that can be called their taste, Rasa, which, passing through the mind or sense or both, awakes a vital enjoyment of the taste, Bhoga, and this can again awaken us to something yet deeper and more fundamental, than mere pleasure and enjoyment, so some form of the spirit's delight of existence, Anandar. Poetry, like all arts, serves the seeking for these things, this aesthesis, this Rasa, Bhoga, Ananda; it brings us a Rasa of word and sound but also of the idea and, through the idea, of the things expressed by the word and sound and thought, a mental or vital or somtimes the spirituall, mage of their form, quality, impact upon us or even, if the poet is stronge nough of their world"—essence, their cosmic reality, the very soul of them, the spirit that resides in them as it resides in all things.

—*Sri Avrobindo* : Letters on "Savitri" (Savitri) p. 930.

परिशिष्ट

परिशिष्ट

(१) देव-विग्रह का रूपायन

(उत्तमदशताल-प्रतिमा)

प्रतिमा शास्त्र (Iconography) के विधान

भारतीय मूर्तिकला ने प्रत्येक वर्ग की प्रतिमाओं के लिये 'लक्षण' निर्धारित किये हैं जिनका 'ध्यान' करके उन्हें मूर्तित किया जाता रहा हैं। लक्षण में माप के सूत्र हैं। मुख-मण्डल को इकाई माना गया है और इस इकाई को 'ताल' कहा गया है। साधारण मानव-देह अष्ट-तालम् में अंकित किया जाता है, अर्थात् मुख की लम्बाई का आठ गुना। महत् देवी और देवताओं की प्रतिमा का निर्माण 'दश-तालम्' में होता है। लघु देवता मानव और महत् देवता के बीच में निर्मित होते हैं—'नवतालम्' के पैमाने में। भाल से चिबुक तक मुख का माप लिया जाता है, उसके ऊपर नहीं—यही ताल की इकाई है।

'ताल' को बारह समान भागों में विभाजित किया गया है जिसे 'अंगुल' कहा जाता है। मुख-मण्डल को बारह अंगुल में विभाजित किया गया। अधिकांशतः मुख की चौड़ाई उसकी लम्बाई के बराबर ही होती है, किंतु दक्षिण में कभी-कभी मुख को अंडाकार बनाकर लम्बाई को तेरह या चौदह अंगुल का कर दिया जाता है। विभिन्न देवताओं की शक्ति एवं महत्व के अनुसार मूल माप के अंतर्गत सापेक्ष माप भी सन्निहित कर दिये गये हैं। 'दश-ताल' उत्तम, मध्यम, अधम में वर्गीकृत किया गया है। दशताल के उत्तम रूप में १२४ अंगुल हैं, मध्यम में १२०, अधम में ११६।

उत्तम दशताल का विग्रह इस प्रकार है: मुख की लम्बाई, चिबुक से वक्ष तक, वक्ष से नाभि, नाभि से लिंग तक की लम्बाइयाँ प्रायः समान हैं, नितम्ब और पिंडली उसकी दुगुनी लम्बाई के हैं। बीच की उंगली के बीच की दो रेखाओं के मध्यस्थ स्थान को यदि एक इंच या अंगुल मानकर चला जाय तो दशताल प्रतिमा का मुख १० इंच का होगा। तब दशताल विग्रह दस फीट लम्बा होगा। मोटे तौर पर मूर्ति को दस या नौ समान भागों में विभाजित किया जाता है। ये भाग एक-एक ताल के बराबर होते हैं। ताल का बारहवां हिस्सा अंगुल कहलाता है। जहां पर शास्त्रीय दृष्टि से मुख के बारह अंगुल में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता होती है वहां पर मूर्ति के माप में कुछ हेर-फेर करना पड़ता है।

प्रतिमा-निर्माण का अक्षरशः पालन देव-विग्रह की रूपान्विति में अनिवार्य था, मानव किंवा पशु के रूपांकन में नहीं। बौद्ध मूर्तिकला के मान हिंदू मूर्तिकला से, और दक्षिण भारत के उत्तर भारत से कुछ भिन्न हैं। 'लक्षण' में निश्चित माप निर्धारित हैं, मूर्ति-निर्माण में उनका पालन करना आवश्यक है। नेत्र को दो अंगुल का होना चाहिये, पुतली को उसका दो-तिहाई और तारे को उसका भी एक तिहाई होना चाहिये। कान दो अंगुल चौड़े और चार अंगुल लम्बे हों, ऊपरी सिरा भृकुटी के स्थान के समानान्तर हो। आंखों के बीच का स्थान, भाल, चिबुक और कंठ चार अंगुल हों। नासिका भी चार अंगुल लंबी हो। अंत में उठी हो, दो अंगुल की ऊँचाई की हो। मुख तीन-चौथाई अंगुल चौड़ा हो, ऊपरी अधर अर्द्धांगुल हो, लम्बाई चार अंगुल हो। स्कन्ध आठ अंगुल हों। भुजाओं का ऊपर और नीचे का भाग बारह अंगुल हो। चेरण मुखमण्डल की लम्बाई के बराबर हो और,

उसकी चौड़ाई की आधी चौड़ाई का हो। अंगुष्ठ तीन अंगुल लम्बा और एक-चतुर्थ अंगुल ऊंचा हो, नख तीन-चतुर्थ अंगुल का हो।

स्त्री की देह में कंठ, वक्षोज और उनके बीच का स्थान मुखमण्डल की लम्बाई का आधा हो। नाभि तीन यव की हो, वायें से दायें की ओर घूमी हो। कंठ चौड़ाई से आठ अंगुल हो, उदर (मध्य में) पंद्रह तथा नितम्ब सोलह अंगुल का हो। भुजा-मूल, मध्य, एवं सामने के अंश में—आठ, छः, एवं चार अंगुल की हो और गोलाई उनकी चौड़ाई की तिगुनी हो।

रूपान्विति में छः मुख्य मानक हैं—मान, प्रमान, उन्मान, परिमान, उपमान, लम्बमान। मान है ताल में विभाजन। प्रमान चौड़ाई का माप है। उन्मान मूर्ति की गहराई का माप है। परिमान अंगांगों के वृत्त का माप है। उपमान अंग-प्रत्यंगों के पारस्परिक एवं मध्य रेखा से उनके माप का आधार है। लम्बमान विभिन्न अंगों की ऊंचाई का माप है।

इस प्रकार, विग्रह के रूपायन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का ध्यान रखा गया है।

(२) रसशास्त्र के अंतर्गत आलंबन-विभाव से कृष्ण और राधा का नायक-नायिका-रूप

ब्रज के कृष्ण-भक्ति-काव्य में यद्यपि रस का शास्त्रीय रूप भी मिल जाता है, तथापि उसका दृष्टिकोण नितांत लीलापरक है। लीला पर आधारित लीला से संपोषित भक्ति के लीला-रस की निष्पत्ति के लिये ही भक्त-कवि सचेष्ट रहे हैं। यह बात दूसरी है कि प्रकारान्तर से गोपियों अथवा कृष्ण के द्वारा नायिका-भेद तथा नायक-भेद का उद्घाटन हो गया है। नंददास के अतिरिक्त किसी कवि ने रस-शास्त्रीय उद्देश्य से इनका निरूपण नहीं किया। गौड़ीय वैष्णव-कवियों ने कृष्ण-भक्ति-रस की व्याख्या नितांत शास्त्रीय रूप से प्रस्तुत किया है। हरि-भक्ति-रसामृतसिंधु तथा उज्ज्वल-नीलमणि जैसे ग्रंथों का सुदक्ष प्रणयन करके जीव गोस्वामी ने अपने मत में स्वीकृत रसों को विभावानुभाव के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, नायिका के तथा सखियों के भेदों का विस्तारपूर्वक कथन किया है। सैद्धान्तिक प्रतिपादन ही नहीं हुआ है, ब्रजबुलि के काव्य का संकलन भी काव्य-रस के अंगों के अंतर्गत किया गया है। वहां लीला गौण हो गई है, रस की अनुभूति पूर्वराग, अभिसार, मान, प्रवास आदि के मार्ग से की गई है। इसलिये बंगला के कृष्ण-भक्तिकाव्य में रस-शास्त्र की सांगोपांग चर्चा है उनका दृष्टिकोण ही यही था।

हिंदी में नंददास एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिनका यह विश्वास है कि जग में रूप, प्रेम, आनंद, रस जो कुछ भी है वह सब गिरिधर देव का है, इसलिए वे निधड़क होकर उसका वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास है कि जब तक हाव भाव, हेलादि का सूक्ष्म परिचय नहीं हो जाता तब तक प्रेमतत्व, जिस पर मधुर-रसानुभूति आश्रित है, को पहिचानना असंभव है।[1] और फिर उनके एक मित्र को नायक-नायिका भेद जानने की भी जिज्ञासा थी। इन्हीं प्रेरणाओं ने नंददास को 'रसमंजरी' लिखने को उत्साहित किया। हाव, भाव, हेलादि का निरूपण तो उन्होंने 'रूपमंजरी' में कर दिया था, स्वतंत्र रूप से नायकभेद नया नायिका-भेद का विवेचन 'रसमंजरी' के अंतर्गत किया। रस-शास्त्र में नायिका-भेद का बहुत महत्व है, उसका विस्तृत विश्लेषण नंददास ने किया है।

नायिका-भेद

नंददास ने, तथा एकाध स्थल पर ध्रुवदास ने नायिका-भेद में अपनी रुचि प्रदर्शित की है। इन दोनों कवियों ने अलग से नायिकाओं का वर्गीकरण आदि प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों में भी नायिका

१. नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी, पंक्तिक्रम १०, १५), पृ० ३९

के भेदोपभेद मिल जायेंगे, पर उनका निरूपण नहीं किया गया है, लीला-गायन के क्रम में वे स्वयमेव समाहित हो गये हैं। जो बात सूरदास के विषय में प्रभुदयाल मित्तल जी ने कहा है वह बात सभी कृष्ण-भक्त-कवियों के विषय में न्यूनाधिक सत्य है। वह है :... "अनेक पदों में नायिका-भेदोक्त कथन मिलते हैं। राधा-कृष्ण की प्रेम भावना के विकास में अज्ञात-यौवना से लेकर स्वकीया के समस्त भेदोपभेदों के अनकूल वर्णन किये गये हैं।.... कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेमानुराग एवं तत्सम्बन्धी उनकी अनेक चेष्टाओं में परकीया-प्रेम की भी अभिव्यंजना हो जाती है। इसके अतिरिक्त मानवती, गर्विता आदि दशानुसार और खण्डिता, कलहांतरिता आदि अवस्था-नुसार सभी भेदों के अनुकूल बड़े विस्तारपूर्वक कथन किये गये हैं। नायिकाओं के लक्षण और उनके नामों का निर्देश किये बिना प्रायः सम्पूर्ण नायिका-भेद सूरदास के पदों में मिल जाता है"।[1] किंतु नंददास ने सम्पूर्ण रूप से तथा ध्रुवदास ने आंशिक रूप से नायिका-भेद का रूप स्पष्ट किया है। नंददास जी के नायिका-भेद निरूपण के पीछे 'प्रेम-सार विस्तार' की भावना विद्यमान है।[2] वे कदाचित् भक्ति की रसानुभूति के लिये भी इसे आवश्यक समझते रहे हों।

नंददास के अनुसार जग में युवती तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया, परकीया, सामान्या। पुनः इनके तीन-तीन प्रकार हैं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा के अंतर्गत पुनः दो भेद हैं—नवोढ़ा, विश्रब्ध-नवोढ़ा।[3] यह भेद प्रचलित परंपरा से किंचित् भिन्न है। मुग्धा के नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा तथा आगे अज्ञात-यौवना और ज्ञात-यौवना के भेदों को भी अपनाया है। ध्रुवदास ने नायिका के तीन भेद माने हैं—नवोढ़ा, मध्या, प्रौढ़ा। नवोढ़ा और मध्या अति चतुर है, प्रौढ़ा परम प्रवीन है।[4]

(१) मुग्धा

नंददास ने मुग्धा के दो भेद किये हैं—मुग्ध नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा। जिसे उन्होंने मुग्ध नवोढ़ा कहा है उसे ही ध्रुवदास ने मात्र नवोढ़ा कहा है। लक्षण प्रायः समान हैं। नवोढ़ा दशा का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि वह दशा ऐसी है जिसमें नायिका नखशिख लाज का अम्बर ओढ़े रहती है। वह नमित-ग्रीव रहती है, अंग छूने नहीं देती। अनुरागवश आतुर प्रियतम उसे अपनी मृदु भुजाओं में भर लेता है। उरोज-स्पर्श में नवल नायक के कर कम्पित से उठते हैं, नायिका भुजाओं को जोड़कर कर-कमलों से उन्हें ढक लेती है। अंचल में परम चतुर अथच सहज चंचल नैन छिपे रहते हैं, जिन्हें देखकर प्रियतम के रोम-रोम में प्रेमरस का मैन बढ़ जाता है। वह अधीर और अधीन होकर 'हा हा' खाते हुए नायिका के पांवों पर गिरता है।[5] प्रायः ऐसा ही वर्णन नंददास की

---

१. ब्रज भाषा साहित्य का नायिका भेद : ले० प्रभुदयाल मीतल, पृ० १०३

२. 'रसमंजरि' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहं, प्रेम सार विस्तार ॥ —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी,) पृ० ४०

३. जग मैं जुवति तीनि परकार, करि करता निज रस बिस्तार।
प्रथम सुकीया पुनि परकिया, इक सामान्य बखानी तिया।
ते पुनि तीनि तीनि परकार, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ बिहार।
मुग्धा हू पुनि द्वै बिधिगनी, उत्तर उत्तर ज्यौं रस सनी।
प्रथमहि मुग्ध नवोढ़ा होई, पुनि विश्रब्ध नवोढ़ा सोई। —वही, पृ० ४०

४. नौढा मध्या अति चतुर, प्रौढ़ा परम प्रवीन।
कुँवरि चरन नखचंद्रिकनि, सेवत ज्यौं जल मीन ॥३॥ —ध्रुवदास : बयालीसलीला (आनंददसा विनोद), पृ० २२४

५. प्रथमहि नौढा की दसा, रुचि लै प्रगटी आइ।
नखसिख अम्बर लाज कौ, मनौ, लयौ उढाइ ॥६॥

मुग्ध-नवोढ़ा का भी है। उसके तन में नव-यौवन का अंकुर है, अत्यधिक लज्जा से तन-मन संकुचित है। भूषणों में उसकी अधिक रुचि नहीं है, वह रति के अधीन है। प्रियतम जब कर-पंकज पकड़ कर शैय्या पर निवेशित करता है, क्रीड़ापूर्वक अंगों को ग्रहण करता है तब नायिका वहां से गमन करना चाहती है। वयःसन्धि की अवस्था रहती है, तन से वह भागती है, मन से रमना चाहती है। विचित्र स्थिति रहती है। उसकी दशा पारे के समान होती है। नवोढ़ा बाला को हृदय पर धारण करना पारे को हाथों पर स्थिर करने के सदृश कठिन है। निपट लाज में लपेटी मुग्ध नवोढ़ा का रस निपीड़न से नष्ट हो जाता है, दुलराये जाने पर प्राप्त होता है।[1]

विश्रब्ध नवोढ़ा में मुग्धा-नायिका के भाव का किंचित् विकास होता है। अब यौवन का अंकुर न रहकर अंग अंग में उसकी ज्योति संचरित होने लगती है। वह नग जड़ी कंचन की छड़ी-सी दीपित हो उठती है। भूषण से अरुचि जाती रहती है, वरन् नव भूषणों में उसकी रुचि और अनुरक्ति जाग्रत हो जाती है। मुस्कराकर अपने अंगों की छवि को कनखियों से देखने लगती है। नेत्र सलज्ज नहीं रह जाते, उनमें कुछ आतुरता भी जग जाती है, उनकी चंचलता के आगे खंजन की चातुरी भी लज्जित हो उठती है। तन में लावण्य मुक्ता की नव कांति जैसा झलक पड़ता है।[2] यह तो हुई विश्रब्ध-नवोढ़ा की मानसिक व शारीरिक अवस्था। केलि-विषयक उसकी चेष्टाएं मुग्ध-नवोढ़ा से भिन्न होती हैं। प्रिय से हृदय के किंचित् मिलन से ही प्रेम-भाव की दीप-शिखा जल उठती है। शैय्या पर भी यह अधिक स्थिर रहती है, गमन का प्रयास नहीं करती। किंतु कुचस्थल को तथा नीबी-बंधन को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहती है। उरोमाल को बांधकर एक कर लेती है। उसके अर्द्धमुद्रित नैनों की छवि औंघते हुए मृगछौनों का स्मरण कराती है। विश्रब्ध नवोढ़ा में भय का स्थान कोमल कोप ग्रहण कर लेता है। वह प्रिय को गाढ़ालिंगन नहीं दे सकती, इस डर से कि कहीं हृदय में उपजता हुआ नव अनंग का अंकुर टूट न जाय।[3]

शेष—नमित ग्रीव छबिसींव रही, अंग छुवन नहिं देत।
आतुर पिय अनुराग बस, मृदु भज भरि भरि लेत ॥१०॥
चाहत उरजनि छुयौ जब, उठत नवल कर काँपि।
समुझि लाड़िली जोर भुज, कर कमलनि रही ढाँपि ॥११॥
परम चतुर चंचल सहज, अंचल में दोऊ नैन।
रोम रोम पिय के बढ़्यौ, निरखि प्रेम रस मैंन ॥१२॥
भये अधीर आधीन अति, कहि न सकत कुछ बात।
फिरिफिरि पाइनि में परत, मृदु मुख हा हा खात ॥१३॥ —वही, पृ० २२५

१. नंददास : प्रथम भाग, (रसमंजरी-मुग्ध नवोढ़ा), पृ० ४०-४१।
२. अँग-अँग जुबन जोति संचरी, कंचन छरी मनौं नग जरी।
किंचित मिलन पिया सौं हिया, उपज्यौ प्रेमभाउ कौ दिया।
नव भूषन रुचि सुचि अनुरागी, मुसकि कनखियन चाहन लागी।
न्यौतिय सब छबि जाके अंग, आवन लगी नवल नव रंग।
उपजी कछुक दृगनि आतुरी, लज्जित जहँ खंजन चातुरी।
तन लावन्य झलक परी ऐसी, मुक्ता फल नव पानिप जैसी।—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४१
३. पिय सँग सोवत अति छबि लहै, कर करि कलित कुचस्थल गहै। ५०
नीबी बंधन दिढ़ करि धरै, उरज माल बाँधि इक करै।
अध-मुद्रित नैनन छबि पावै, मृग-छौनहि कछु औंघ सी आवै।
कोमल कोप कबहुँ जौ गहै, कूप छाँह जिमि हिय ही रहै।

अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना :

मुग्धा नायिका का एक और भेद नंददास ने किया है—अज्ञातयौवना, तथा ज्ञात-यौवना का। वस्तुतः ज्ञातयौवना के अंतर्गत नवोढ़ा और विश्रब्ध-नवोढ़ा का भेद लिया जा सकता था। किंतु नंददास ने अज्ञात और ज्ञात-यौवना का पृथक् विवरण दिया है।

अज्ञातयौवना नायिका अपने यौवन से इतनी अनभिज्ञ रहती है कि सखियाँ जब उसे सरोवर स्नान के लिए ले जाती हैं तब वह रोम-धारा को शैवाल की डोर समझकर पोंछ डालना चाहती है। चंचल नेत्रों की गति कोने की ओर हो जाती है किंतु लोनापन शरद के कमल दलों से भी अधिक होता है। वह उन्हें कानों के बीच पकड़ना चाहती है। इस प्रकार जिसकी छवि सुधा बरसाती है, और जो अपनी इस छवि-सुधा से अज्ञात रहती है, उस नायिका को अज्ञात-यौवना कहा गया है।[1]

ज्ञातयौवना अपने यौवन से पूर्ण परिचित रहती है, परिचित ही नहीं उसमें रुचि भी लेती है। सखियों के उरोजों की ओर देखकर, पुनः अपनी ओर देखकर मुस्कराती हैं। उन्हें लक्ष्य करके कहे गये विदग्ध रति-वचनों का तात्पर्य भी वह भली भांति समझती है।[2] यौवन एवं यौवन के संकेतों से सुविज्ञ नायिका ज्ञातयौवना कही गई है।

(२) मध्या

मध्या नायिका में मुग्धा नायिका की अवस्था भी रहती है और प्रौढ़ा की भी किंतु अपनी विशेष छवि के साथ। उसे लज्जा और मदन समान रूप से प्रिय होता है, दिनोंदिन प्रेम की चौंप बढ़ती जाती है। प्रिय के संग शयन करते नहीं बनता किंतु मन-मन यही सोचकर सुख पाती है। वह कृष्ण के संग रमण के लिए उत्सुक रहती है। वह यौवन की चेष्टाओं से शून्य नहीं रहती। प्रेम का आधार लेकर जिसमें यौवन-सुलभ चेष्टाएं प्रकट होती हैं उसे उत्तम मध्या नायिका समझना चाहिए।[3]

शेष—इहि परकार परखियै जोई, है विश्रब्धनबोढ़ा सोई।५५
गाढ़ालिंगन पीय सौं, दै न सकै तिय सोइ।
नव अनंग अंकुर हिये, डरति भंग जिनि होइ॥ —वही, पृ० ४१

१. सखि जब सर-स्नान लै जाही, फूले अमलन कमलन माही।
पौंछे डारति रोम की धारा, मानति बाल सिवाल की डारा।
चंचल नैंन चलत जब कौने, सरद कमल दल हू तैं लौने।
तिन्हिं श्रवन बिच पकर्‌यौ चहै, अम्बुज दल से लागैं, कहै।
इहि प्रकार बरसै छबि-सुधा, सो अग्यातजोबना मुग्धा।—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४१-४२

२. नंददास : प्रथम भाग—रसमंजरी (ज्ञातयौवना), पृ० ४२

३. लज्जा मदन समान सुहाई, दिन दिन प्रेम चोप अधिकाई।
पिय सँग सोवत, सोइ न ज़ाई, मन मन इमि सोचै सचु पाँई।
सोयैं प्रीतम मोहन मुख की, हानि हौइ अवलोकन सुख की।
जागे तैं कर-ग्रहन प्रसंग, रम्यौ चहैं नगधर बर संग।
इहि प्रकार जुबति जो लहियै, सो मध्या नाइका कहियै।
छूटहि हार-बिहार रस, छुयौ करै कुचैं हार।
उत्तम मध्या जानियै, परी सुप्रेम अधार॥ —वही, पृ० ४२

मध्या दशा का वर्णन ध्रुवदास ने 'आनंद दशा बिनोद लीला' में किया है। पैरों पर गिरते हुए अधीन प्रिय के प्रति नायिका की चेष्टाएँ उसकी मध्यावस्था की सूचक है। प्रिय की गति देखकर वह मुस्कराती है, करुणा करके मुख का चुम्बन करती है और अधर-सुधा का पान करवाती है। कृष्ण के उर से लटक कर लग जाती है। और उसमें अगणित भाव उपजते हैं। उसकी वचन-रचना से प्रियतम लुब्ध हो रहते हैं। मध्या नायिका रति-विलास के रस की राशि है, वह हाव-भाव में चतुर है। चंचल नेत्रों से देखती है, और मंद मृदु हँसी हँसती है। मध्या नायिका के संग कृष्ण का बिहार लाजदुकूल त्याग कर, रुचि सहित सम्पन्न होता है। दोनों के हृदय में प्रेम मदन का रस-रंग भरा रहता है; दो तन, मन एक हुये रहते हैं।[1]

नंददास ने मध्या में धीरा, अधीरा, और धीराधीरा भेद भी किये हैं। मध्या धीरा नायिका जब प्रिय को सापराध पकड़ती है तब व्यंग और कोप से भरे वचन बोलती है, जैसे : 'हे मोहन, निकुंज-पुंज में भ्रमण करते हुए तुम अत्यंत श्रमित हो गये हो। बैठो, भला मैं क्यों खीजूं, नलिनी के दल के पंखे से तुम्हें व्यजन करूं।' उसकी भौंहें कोप से किंचित् कड़ी भी हो जाती हैं।[2] बाह्य रूप से मध्या धीरा नायिका आक्रोश को प्रदर्शित नहीं करती, किंतु चेहरे के भाव तथा वचन-वक्रता से उसका कोप प्रकाशित हो जाता है। फिर भी उसमें धीर भाव बना रहता है। मध्या अधीरा नायिका का सारा धैर्य खो जाता है। वह स्पष्ट रूप से कृष्ण पर व्यंग्य की बौछार करती है किंतु विदग्ध शैली में। उदाहरणार्थ कृष्ण के बहुनायकत्व पर जब वह खीझती है तब इस प्रकार व्यंग करती है : 'हे प्राण-प्यारे, रात भर जागे तो तुम हो किंतु नेत्र हमारे अरुण हो रहे हैं। अधर सुधासव का पान तुमने किया है, किंतु हृदय हमारा घूम रहा है।[3] प्रखर नख-शर तुम्हें लगे हैं, किंतु पीड़ा हमारे हृदय में हो रही है। बन में श्रीफल तुमने पाया, किंतु काम उसके लिये हमें मार रहा है। इस प्रकार व्यंगरहित (किंतु प्रच्छन्न व्यंग सहित) वचनों को क्रोध सहित जो स्त्री कहती है उसे अधीरा मध्या कहते हैं। मध्या धीराधीरा व्यंग अव्यंग सब कुछ कहती है। व्यंगरहितता का वह परित्याग भी कर देती है, जैसे अहो मोहन प्रिय, तुम्हारे

---

१. यह गति देखत पीय की, चितई कछु मुसिकाइ।
करुना करि चूंवत मुखहि, अधर सुधारस प्याइ।।१४।।
लटकि लाल उरसौं लगी, उपजे अगनित भाइ।
बचन रचन सुख कहा कहौं, प्रीतम रहे लुभाइ।।१५।।
हाव भाव में अति चतुर, रतिविलास रस रासि।
चंचल नैंननि चितवनी, करत मंद मृदु हाँसि।।१६।।
राखै लै अति प्यार सौं, उरजनि मधि भुजमूल।
रुचि प्रवाह मैं परै दोऊ, तजिकै लाज दुकूल।।१७।।
प्रेम मदन रस रंग करि, भरै रहत विवि हीय।
लपटे ऐसी भाँति सौं, द्वै तन मन इक कीय।।१८।।
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (आनन्द दसा बिनोद लीला), पृ० २२५-२२६

२. सापराध पिय कौं जब लहै, बिग कोप के बचनन कहै।
भ्रमत निकुंज पुंज मैं मोहन, तुम अति श्रमित भये पिय सोहन।८५
बैठहु बलि! हौं काहे खीजौं, नलिनी दल बिजना करि बीजौं।
रंचक भौंह करेरी लहियै, सो तिय मध्या धीरा कहियै।—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४३

३. जागे तुम निसि प्रान पियारे, अरुन भये ये नैन हमारे।
अधर सुधासव पिय तुम पियौ, घूमत है यह हमरौ हियौ।

हृदय से अनुराग टपक रहा है। तुम नव यौवन, गुण, रूप सम्पन्न हो, चतुर शिरोमणि हो।' धीराधीरा मध्या नायिका कोप वचन कहते हुए साश्रु-नयना भी हो जाती है।[१] उसका सारा धैर्य खो जाता है, किंतु फिर भी वह कुछ धैर्य धारण किये रहती है, इसलिये उसकी आंखें भर आती हैं।

यों मुग्धा में धीरादि भेद लक्षित होते हैं किंतु प्रकट वे मध्यावस्था में ही होते हैं।

(३) प्रौढ़ा

रति-चेष्टाओं में प्रौढ़ता की दृष्टि से नायिका का प्रौढ़ा भेद किया गया है। प्रौढ़ा नायिका में पूर्ण यौवन की प्रतिष्ठा हो जाती है, उसमें अनंग का भाव अधिक, लज्जा का भाव बहुत थोड़ा रहता है। वह केलिकलाप की कोविदा होती है, मद की आकांक्षिणी होती है। उसे दीर्घ रजनी अच्छी लगती है, भोर का नाम सुनते ही दुःख होता है। वह अत्यंत प्रगल्भा होती है, प्रियतम को सुख देने वाली होती है।[२]

प्रौढ़ा के भी धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा उपभेद कथित हैं। प्रौढ़ा धीरा अपराधी प्रियतम से गूढ़ मान कर बैठतीं है। प्रियतम उससे अनुनय करता है, बारम्बार कर-कमलों को पकड़ता है। किंतु न वह बोलती है, न डोलती है। प्रियतम के अनुनय का कोई प्रत्युत्तर नहीं देती, उसकी भृकुटि भ्रमर के समान भ्रमित होती फिरती है।[३] अधीरा नायिका के मान का कोई कारण नहीं होता। प्रियतम के उर-मुकुर में अपना ही प्रतिविम्ब देख कर वह मानवती हो जाती है। उसे दूसरी स्त्री समझकर प्रिय से रूठ जाती है। पुनः वह अवधारणा करती है, कोप का निवा-रण करती है, हँस-हँस कर उस प्रतिबिम्ब को मारती है।[४] प्रौढ़ा धीराधीरा इतनी अधीर नहीं होती, किंतु वह अधिक विदग्ध होती है। अपराधी प्रिय के प्रति वह कोमल मान पकड़ लेती है। प्रिय के प्रेम भरे वचनों को सुनकर उसके कपोलों पर हँसी छा जाती है। यह हँसी व्यंगात्मक ही होती है पर होती है संयत, किंतु उसकी अधीरता क्रोध भरे नेत्रों के कारण छिपी नहीं रह पाती। क्रोध से नेत्र ऐसे लाल हो जाते हैं जैसे मीन को महावर से धो दिया गया हो।[५] ये भेद मान के प्रसंग में स्पष्ट किये गए हैं।

शेष— प्रखर नखर सर लगैं तिहारे, पीर होति पिय हिये हमारे।९०
बन मैं श्रीफल मिलि गये तुम कौं, काम कूर मारत है हम कौं।
बचन अबिंग कहै रिस भोई, है अधीर मध्या तिय सोई। —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४३

१. प्रीतम कौं जब सागस लहै, बिंग अबिंग बचन कछु कहै।
अहो अहो मोहन सोहन पिया, नव अनुराग चुचात है हिया।
चतुर सिरोमनि नँद के लाल, नव जोबन गुनरूप रसाल। —वही, पृ० ४३-४४
यौं कहि दृग भरि आवै जोई, धीराधीरा मध्या सोई।

२. वही, पृ० ४२-४३।

३. सागस जानि साँवरे पिया, गूढ़ मान करि बैठी तिया।
प्रीतम तासों अनुनय करै, बार बार कर-अंबुज धरै॥
बोलति क्यौं न सुधा सी धारा, डोलति क्यौं न रूप की डारा॥
केतकि कुसुम गरभ सम गोरी, सेज न भजसि, लजसि क्यौं भोरी। —वही, पृ० ४४
भृकुटि भ्रमर जिमि भ्रमत सु लहियै, सो तिय प्रौढ़ा धीरा कहियै॥ —वही, पृ० ४४

४. पिय उर मुकुर......अधीर प्रौढ़ा तिय सोई।

५. सागस जानि रसीले लाला, कोमल मान गहै वर बाला।
प्रेम भरे सुनि बचन पिया के, हँसहि कपोल सलोल तिया के।

मध्या दशा का वर्णन ध्रुवदास ने 'आनंद दशा बिनोद लीला' में किया है। पैरों पर गिरते हुए अधीन प्रिय के प्रति नायिका की चेष्टाएँ उसकी मध्यावस्था की सूचक है। प्रिय की गति देखकर वह मुस्कराती है, करुणा करके मुख का चुम्बन करती है और अधर-सुधा का पान करवाती है। कृष्ण के उर से लटक कर लग जाती है। और उसमें अगणित भाव उपजते हैं। उसकी वचन-रचना से प्रियतम लुब्ध हो रहते हैं। मध्या नायिका रति-विलास के रस की राशि है, वह हाव-भाव में चतुर है। चंचल नेत्रों से देखती है, और मंद मृदु हँसी हँसती है। मध्या नायिका के संग कृष्ण का बिहार लाजदुकूल त्याग कर, रुचि सहित सम्पन्न होता है। दोनों के हृदय में प्रेम मदन का रस-रंग भरा रहता है; दो तन, मन एक हुये रहते हैं।[1]

नंददास ने मध्या में धीरा, अधीरा, और धीराधीरा भेद भी किये हैं। मध्या धीरा नायिका जब प्रिय को सापराध पकड़ती है तब व्यंग और कोप से भरे वचन बोलती है, जैसे : 'हे मोहन, निकुंज-पुंज में भ्रमण करते हुए तुम अत्यंत श्रमित हो गये हो। बैठो, भला मैं क्यों खीजूं, नलिनी के दल के पंखे से तुम्हें व्यजन करूं।' उसकी भौंहें कोप से किंचित् कड़ी भी हो जाती हैं।[2] बाह्य रूप से मध्या धीरा नायिका आक्रोश को प्रदर्शित नहीं करती, किंतु चेहरे के भाव तथा वचन-वक्रता से उसका कोप प्रकाशित हो जाता है। फिर भी उसमें धीर भाव बना रहता है। मध्या अधीरा नायिका का सारा धैर्य खो जाता है। वह स्पष्ट रूप से कृष्ण पर व्यंग्य की बौछार करती है किंतु विदग्ध शैली में। उदाहरणार्थ कृष्ण के बहुनायकत्व पर जब वह खीझती है तब इस प्रकार व्यंग करती है : 'हे प्राण-प्यारे, रात भर जागे तो तुम हो किंतु नेत्र हमारे अरुण हो रहे हैं। अधर सुधासव का पान तुमने किया है, किंतु हृदय हमारा घूम रहा है।[3] प्रखर नख-शर तुम्हें लगे हैं, किंतु पीड़ा हमारे हृदय में हो रही है। बन में श्रीफल तुमने पाया, किंतु काम उसके लिये हमें मार रहा है। इस प्रकार व्यंगरहित (किंतु प्रच्छन्न व्यंग सहित) वचनों को क्रोध सहित जो स्त्री कहती है उसे अधीरा मध्या कहते हैं। मध्या धीराधीरा व्यंग अव्यंग सब कुछ कहती है। व्यंगरहितता का वह परित्याग भी कर देती है, जैसे अहो मोहन प्रिय, तुम्हारे

---

१. यह गति देखत पीय की, चितई कछु मुसिकाइ।
करुना करि चूंवत मुखहि, अधर सुधारस प्याइ॥१४॥
लटकि लाल उरसौं लगी, उपजे अगनित भाइ।
बचन रचन सुख कहा कहौं, प्रीतम रहे लुभाइ॥१५॥
हाव भाव में अति चतुर, रतिविलास रस रासि।
चंचल नैंननि चितवनी, करत मंद मृदु हाँसि॥१६॥
राखै लै अति प्यार सौं, उरजनि मधि भुजमूल।
रुचि प्रवाह मैं परै दोऊ, तजिकै लाज दुकूल॥१७॥
प्रेम मदन रस रंग करि, भरै रहत विवि हीय।
लपटे ऐसी भाँति सौं, द्वै तन मन इक कीय॥१८॥
—ध्रुवदास : बयालीस लीला (आनन्द दसा बिनोद लीला), पृ० २२५-२२६

२. सापराध पिय कौं जब लहै, बिंग कोप के बचनन कहै।
भ्रमत निकुंज पुंज मैं मोहन, तुम अति श्रमित भये पिय सोहन।८५
बैठहु बलि! हौं काहे खीजौं, नलिनी दल बिजना करि बीजौं।
रंचक भौंह करेरी लहियै, सो तिय मध्या धीरा कहियै।—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४३

३. जागे तुम निसि प्रान पियारे, अरुन भये ये नैन हमारे।
अधर सुधासव पिय तुम पियौ, घूमत है यह हमरौ हियौ।

हृदय से अनुराग टपक रहा है। तुम नव यौवन, गुण, रूप सम्पन्न हो, चतुर शिरोमणि हो।'[1] धीराधीरा मध्या नायिका कोप वचन कहते हुए साश्रु-नयना भी हो जाती है।[2] उसका सारा धैर्य खो जाता है, किंतु फिर भी वह कुछ धैर्य धारण किये रहती है, इसलिये उसकी आंखें भर आती हैं।

यों मुग्धा में धीरादि भेद लक्षित होते हैं किंतु प्रकट वे मध्यावस्था में ही होते हैं।

(३) प्रौढ़ा

रति-चेष्टाओं में प्रौढ़ता की दृष्टि से नायिका का प्रौढ़ा भेद किया गया है। प्रौढ़ा नायिका में पूर्ण यौवन की प्रतिष्ठा हो जाती है, उसमें अनंग का भाव अधिक, लज्जा का भाव बहुत थोड़ा रहता है। वह केलिकलाप की कोविदा होती है, मद की आकांक्षिणी होती है। उसे दीर्घ रजनी अच्छी लगती है, भोर का नाम सुनते ही दुःख होता है। वह अत्यंत प्रगल्भा होती है, प्रियतम को सुख देने वाली होती है।'

प्रौढ़ा के भी धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा उपभेद कथित हैं। प्रौढ़ा धीरा अपराधी प्रियतम से गूढ़ मान कर बैठती है। प्रियतम उससे अनुनय करता है, बारम्बार कर-कमलों को पकड़ता है। किंतु न वह बोलती है, न डोलती है। प्रियतम के अनुनय का कोई प्रत्युत्तर नहीं देती, उसकी भृकुटि भ्रमर के समान भ्रमित होती फिरती है।[3] अधीरा नायिका के मान का कोई कारण नहीं होता। प्रियतम के उर-मुकुर में अपना ही प्रतिविम्ब देख कर वह मानवती हो जाती है। उसे दूसरी स्त्री समझकर प्रिय से रूठ जाती है। पुनः वह अवधारणा करती है, कोप का निवारण करती है, हँस-हँस कर उस प्रतिबिम्ब को मारती है।[4] प्रौढ़ा धीराधीरा इतनी अधीर नहीं होती, किंतु वह अधिक विदग्ध होती है। अपराधी प्रिय के प्रति वह कोमल मान पकड़ लेती है। प्रिय के प्रेम भरे वचनों को सुनकर उसके कपोलों पर हँसी छा जाती है। यह हँसी व्यंगात्मक ही होती है पर होती है संयत, किंतु उसकी अधीरता क्रोध भरे नेत्रों के कारण छिपी नहीं रह पाती। क्रोध से नेत्र ऐसे लाल हो जाते हैं जैसे मीन को महावर से धो दिया गया हो।[5] ये भेद मान के प्रसंग में स्पष्ट किये गए हैं।

शेष— प्रखर नखर सर लगैं तिहारे, पीर होति पिय हिये हमारे।९०
बन मैं श्रीफल मिलि गये तुम कौं, काम कूर मारत है हम कौं।
बचन अबिंग कहै रिस भोई, है अधीर मध्या तिय सोई।—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४३

१. प्रीतम कौं जब सागस लहै, बिंग अबिंग बचन कछु कहै।
अहो अहो मोहन सोहन पिया, नव अनुराग चुचात है हिया।
चतुर सिरोमनि नँद के लाल, नव जोबन गुनरूप रसाल।
यौं कहि दृग भरि आवै जोई, धीराधीरा मध्या सोई। —वही, पृ० ४३-४४

२. वही, पृ० ४२-४३।

३. सागस जानि साँवरे पिया, गूढ़ मान करि बैठी तिया।
प्रीतम तासों अनुनय करै, बार बार कर-अंबुज धरै॥
बोलति क्यौं न सुधा सी धारा, डोलति क्यौं न रूप की डारा॥
केतकि कुसुम गरभ सम गोरी, सेज न भजसि, लजसि क्यौं भोरी।
भृकुटि भ्रमर जिमि भ्रमत सु लहियै, सो तिय प्रौढ़ा धीरा कहियै॥ —वही, पृ० ४४

४. पिय उर मुकुर......अधीर प्रौढ़ा तिय सोई। —वही, पृ० ४४

५. सागस जानि रसीले लाला, कोमल मान गहै बर बाला।
प्रेम भरे सुनि बचन पिया के, हँसहि कपोल सलोल तिया के।

मिलन के प्रसंग में ध्रुवदास ने प्रौढ़ा की दशा का अत्यंत स्पष्ट अंकन किया है। जब नायिका राधा में प्रौढ़ा दशा प्रकट होती है तब वह कृष्ण को अंक में भर लेती हैं, उरोजों से लगा लेती हैं। नासापुट चटका कर उन्हें सावधान करती हैं। परिरम्भन और चुम्बन अधिक होने लगता है, बहु रीति के आलिंगन का विस्तार होने लगता है। विपरीत-रति का विधान भी होता है।[१] रति चेष्टाओं के उद्दाम-विलास में प्रौढ़ा नायिका ही समर्थ होती है, मुग्धा और मध्या नहीं।

मुग्धा (नवोढ़ा), मध्या और प्रौढ़ा के इन भेदों का निरूपण करते हुए ध्रुवदास ने कहा कि ये एक ही रसास्वाद की अलग-अलग दशायें हैं।[२] ये दशायें मदन-विनोद के भिन्न प्रकार हैं। नायिका राधिका में तीनों दशायें परिलक्षित होती हैं। कोक कला में जिन तीन प्रकार की नायिकाओं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा—का वर्णन हुआ है वे प्रिया-चरण को हृदय में धारण करके, हाथ जोड़ कर खड़ी रहती हैं।[३]

परकीया के अन्य भेद

नंददास ने उपर्युक्त भेद स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीनों में किया है। उसके अतिरिक्त परकीया के तीन भेद और गिनाये हैं,—सुरति-गोपना, वाग्विदग्धा, लक्षिता। मुदिता आदि अन्य भेद छोड़ दिये गये हैं।

सुरतिगोपना-परकीया नायिका अपनी सखी से निवेदन करती है कि अब से वह इस गृह में शयन न करेगी चाहे सास लड़े चाहे कुछ भी हो, क्योंकि बिल्ली के उछल कर उस पर गिर जाने से जो तीक्ष्ण नखक्षत हो गया है उसकी वेदना कोई समझ ही नहीं सकता। इस प्रकार छलपूर्वक जो परकीया रति-चिन्हों को छिपाती है वह सुरतिगोपना कही गई है।[४] वाग्विदग्धा परकीया वाग्छल से प्रिय पर अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देती है। नायिका कृष्ण को सुनाकर किसी पथिक को सम्बोधित कर कहती है कि 'हे पथिक, अत्यंत भीषण घाम है, कहीं जरा विश्राम कर लो। यहाँ से कालिंदी का तीर निकट है, वहाँ शीतल मंद सुगंधित समीर बहता है, वहीं पर एक गह्वर तमाल तरु है, जिस पर मल्लिका की वल्लरी प्रफुल्लित है। क्षण भर के लिये वहाँ छाँह लेकर, यमुना का जल पीकर, फिर मार्ग पकड़ना।[५] तमाल और मल्लिका के द्वारा विदग्ध नायिका ने

शेष— राते दृग रिस-रस सौं भोये, मानहुँ मीन महावर धोये।
इहि परकार तिया जो लहियै, प्रौढ़ा धीराधीरा कहिये। —वही, पृ० ४४

१. ध्रुवदास : बयालीस लीला, (आनंददास बिनोद लीला, दोहा २०-२३) पृ० २२६।

२. न्यारी न्यारी दशा कही, एक स्वाद हित जाँनि।
जैसे एकै बात कै, कीने विंजन वाँनि॥२९॥ —वही, पृ० २२६

३. नाइका तीन प्रकार की, बरनी कोक कलानि।
प्रिया चरन उर मैं धरैं, ठाढ़ी जोरैं पानि॥२॥ —वही, पृ० २२४

४. कहै सखी सों उहि गृह अंतर, अब तैं हौं सोऊँ न सुतंतर।
सास लरौ, धैया किन लरौ, दैया जो भावै सो करौ।
आखु धरन हित दुष्ट मजारी, मो पै उछरि परी दइमारी।
दै गई तीछन नख दुखदाई, कासौं कहौ दरद सो माई।
इहि छल छतन छिपावै जोई, परकिय सुरतिगोपना सोई।
—नंददास : प्रथम भाग, (रसमंजरी), पृ० ४४-४५

५. अहो पथिक! अति बरसत घाम, रंचक कहूँ करौ बिश्राम।
इत तैं निकट कालिंदी तीर, सीतल मंद सुगंध समीर।

कृष्ण के साथ संगम की अभिलाषा को प्रकट कर दिया। स्थान का निर्देश भी उसने कर दिया। जहाँ छलवल, चातुरी किसी प्रकार भी सुरतचिन्ह छिपाये नहीं जा पाते, वहाँ नायिका को लक्षिता-परकीया कहा गया है। गुरुजन के आक्रोश को वह सहती है। यदि वे उससे कुछ पूछते हैं तो वह न छिपाने की चेष्टा करती है, न छलने की। वह निधड़क होकर अपने अनुराग को स्वीकार कर लेती है। वह कहती है कि जो कुछ हुआ वह अच्छा हुआ, जो होना है वह होकर रहेगा। अब जो होना है वह सिर पर हो।[1]

अवस्थानुसार भेद

अवस्था के अनुसार नायिका-भेद का भी नंददास ने विस्तृत विवेचन किया है। उनके द्वारा परिगणित भेद इस प्रकार हैं :

१. प्रोषितपतिका
२. खण्डिता
३. कलहांतरिता
४. उत्कंठिता
५. विप्रलब्धा
६. वासकसज्जा
७. अभिसारिका
८. स्वाधीनबल्लभा
९. प्रीतमगवनी

इनके पुनः तीन तीन प्रकार—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा—कहे गये हैं।

(१) प्रोषितपतिका

जिसका पति देशांतर रहता है, और इस कारण जो विरह का अतिसंताप सहन करती हुई दुर्बल तन और व्याकुलमना हुई रहती है उसे प्रोषितपतिका नायिका कहा गया है।[2]

प्रोषितपतिका की मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा के अनुसार तीन दशायें होती हैं। मुग्धा प्रोषितपतिका वह होती है जो अपने हृदय की विरह व्यथा को अंदर ही अंदर सहती है, सखिजन से भी नहीं कहती। संवार कर शीतल शैया बिछाती है, किंतु लज्जा के कारण लेट नहीं सकती। गद्-गद्-कंठ होकर आकुल रहती है, किंतु नेत्रों में पानी नहीं लाती। रात्रि में वह मनसिज का दुख अनुभव करती है।[3] लज्जावश अभिव्यक्ति को अपने तक

शेष—गहबर तरु तमाल इक जहाँ, प्रफुल्लित बल्लि मल्लिका तहाँ।
छिनक छाँह लीजै, पय पीजै, बहुर्यौ उठि मारग मन दीजै।
पियहि सुनाइ पथिक सौं कहै, परकीया सु बिदग्धा उहै। —वही, पृ० ४५

१. लच्छन चिन्हन........सो परकीय लच्छिता कहियै। —वही, पृ० ४५

२. जाकौ पति देसांतर रहे, अति संताप बिरह जुर सहै।
दुर्बल तन, मन ब्याकुल होई, प्रोषितपतिका, कहिये सोई।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४६

३. बिरह-बिथा निज हित की सहै, सखि जन हुसौं नाहिंन कहै।
सीतल सेज सँवारि बिछावै, पौढ़ि न सकै लाज जिय आवै।

मिलन के प्रसंग में ध्रुवदास ने प्रौढ़ा की दशा का अत्यंत स्पष्ट अंकन किया है। जब नायिका राधा में प्रौढ़ा दशा प्रकट होती है तब वह कृष्ण को अंक में भर लेती हैं, उरोजों से लगा लेती हैं। नासापुट चटका कर उन्हें सावधान करती हैं। परिरम्भन और चुम्बन अधिक होने लगता है, बहु रीति के आलिंगन का विस्तार होने लगता है। विपरीत-रति का विधान भी होता है।[१] रति चेष्टाओं के उद्दाम-विलास में प्रौढ़ा नायिका ही समर्थ होती है, मुग्धा और मध्या नहीं।

मुग्धा (नवोढ़ा), मध्या और प्रौढ़ा के इन भेदों का निरूपण करते हुए ध्रुवदास ने कहा कि ये एक ही रसास्वाद की अलग-अलग दशायें हैं।[२] ये दशायें मदन-विनोद के भिन्न प्रकार हैं। नायिका राधिका में तीनों दशायें परिलक्षित होती हैं। कोक कला में जिन तीन प्रकार की नायिकाओं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा—का वर्णन हुआ है वे प्रिया-चरण को हृदय में धारण करके, हाथ जोड़ कर खड़ी रहती हैं।[३]

परकीया के अन्य भेद

नंददास ने उपर्युक्त भेद स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीनों में किया है। उसके अतिरिक्त परकीया के तीन भेद और गिनाये हैं,—सुरति-गोपना, वाग्विदग्धा, लक्षिता। मुदिता आदि अन्य भेद छोड़ दिये गये हैं।

सुरतिगोपना-परकीया नायिका अपनी सखी से निवेदन करती है कि अब से वह इस गृह में शयन न करेगी चाहे सास लड़े चाहे कुछ भी हो, क्योंकि बिल्ली के उछल कर उस पर गिर जाने से जो तीक्ष्ण नखक्षत हो गया है उसकी वेदना कोई समझ ही नहीं सकता। इस प्रकार छलपूर्वक जो परकीया रति-चिन्हों को छिपाती है वह सुरतिगोपना कही गई है।[४] वाग्विदग्धा परकीया वाग्छल से प्रिय पर अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देती है। नायिका कृष्ण को सुनाकर किसी पथिक को सम्बोधित कर कहती है कि 'हे पथिक, अत्यंत भीषण घाम है, कहीं जरा विश्राम कर लो। यहाँ से कालिंदी का तीर निकट है, वहाँ शीतल मंद सुगंधित समीर बहता है, वहीं पर एक गह्वर तमाल तरु है, जिस पर मल्लिका की वल्लरी प्रफुल्लित है। क्षण भर के लिये वहाँ छाँह लेकर, यमुना का जल पीकर, फिर मार्ग पकड़ना।[५] तमाल और मल्लिका के द्वारा विदग्ध नायिका ने

शेष— राते दृग रिस-रस सौं भोये, मानहुँ मीन महावर धोये।
इहि परकार तिया जो लहियै, प्रौढ़ा धीराधीरा कहिये। —वही, पृ० ४४

१. ध्रुवदास : बयालीस लीला, (आनंददास बिनोद लीला, दोहा २०-२३) पृ० २२६।

२. न्यारी न्यारी दशा कही, एक स्वाद हित जाँनि।
जैसे एकै बात कै, कीने विंजन वाँनि ॥२९॥ —वही, पृ० २२६

३. नाइका तीन प्रकार की, बरनी कोक कलानि।
प्रिया चरन उर मैं धरैं, ठाढ़ी जोरैं पानि ॥२॥ —वही, पृ० २२४

४. कहै सखी सों उहि गृह अंतर, अब तैं हौं सोऊँ न सुतंतर।
सास लरौ, घैया किन लरौ, दैया जो भावै सो करौ।
आखु धरन हित दुष्ट मजारी, मो पै उछरि परी दइमारी।
दै गई तीछन नख दुखदाई, कासौं कहौ दरद सो माई।
इहि छल छतन छिपावै जोई, परकिय सुरतिगोपना सोई।
—नंददास : प्रथम भाग, (रसमंजरी), पृ० ४४-४५

५. अहो पथिक ! अति बरसत घाम, रंचक कहूँ करौ बिश्राम।
इत तैं निकट कालिंदी तीर, सीतल मंद सुगंध समीर।

कृष्ण के साथ संगम की अभिलाषा को प्रकट कर दिया। स्थान का निर्देश भी उसने कर दिया। जहाँ छलबल, चातुरी किसी प्रकार भी सुरतचिन्ह छिपाये नहीं जा पाते, वहाँ नायिका को लक्षिता-परकीया कहा गया है। गुरुजन के आक्रोश को वह सहती है। यदि वे उससे कुछ पूछते हैं तो वह न छिपाने की चेष्टा करती है, न छलने की। वह निधड़क होकर अपने अनुराग को स्वीकार कर लेती है। वह कहती है कि जो कुछ हुआ वह अच्छा हुआ, जो होना है वह होकर रहेगा। अब जो होना है वह सिर पर हो।[1]

अवस्थानुसार भेद

अवस्था के अनुसार नायिका-भेद का भी नंददास ने विस्तृत विवेचन किया है। उनके द्वारा परिगणित भेद इस प्रकार हैं :

१. प्रोषितपतिका
२. खण्डिता
३. कलहांतरिता
४. उत्कंठिता
५. विप्रलब्धा
६. वासकसज्जा
७. अभिसारिका
८. स्वाधीनबल्लभा
९. प्रीतमगवनी

इनके पुनः तीन तीन प्रकार—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा—कहे गये हैं।

(१) प्रोषितपतिका

जिसका पति देशांतर रहता है, और इस कारण जो विरह का अतिसंताप सहन करती हुई दुर्बल तन और व्याकुलमना हुई रहती है उसे प्रोषितपतिका नायिका कहा गया है।[2]

प्रोषितपतिका की मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा के अनुसार तीन दशायें होती हैं। मुग्धा प्रोषितपतिका वह होती है जो अपने हृदय की विरह व्यथा को अंदर ही अंदर सहती है, सखिजन से भी नहीं कहती। संवार कर शीतल शैया बिछाती है, किंतु लज्जा के कारण लेट नहीं सकती। गद्-गद्-कंठ होकर आकुल रहती है, किंतु नेत्रों में पानी नहीं लाती। रात्रि में वह मनसिज का दुख अनुभव करती है।[3] लज्जावश अभिव्यक्ति को अपने तक

शेष—गहबर तरु तमाल इक जहाँ, प्रफुल्लित बल्लि मल्लिका तहाँ।
छिनक छाँह लीजै, पय पीजै, बहुर्यौ उठि मारग मन दीजै। —वही, पृ० ४५
पियहि सुनाइ पथिक सौं कहै, परकीया सु बिदग्धा उहै।

१. लच्छन चिन्हन........सो परकीय लच्छिता कहियै। —वही, पृ० ४५

२. जाकौ पति देसांतर रहे, अति संताप बिरह जुर सहै।
दुर्बल तन, मन ब्याकुल होई, प्रोषितपतिका, कहिये सोई।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४६

३. बिरह-बिथा निज हित की सहै, सखि जन हुसौं नाहिन कहै।
सीतल सेज सँवारि बिछावै, पौढ़ि न सकै लाज जिय आवै।

मिलन के प्रसंग में ध्रुवदास ने प्रौढ़ा की दशा का अत्यंत स्पष्ट अंकन किया है। जब नायिका राधा में प्रौढ़ा दशा प्रकट होती है तब वह कृष्ण को अंक में भर लेती हैं, उरोजों से लगा लेती हैं। नासापुट चटका कर उन्हें सावधान करती हैं। परिरम्भन और चुम्बन अधिक होने लगता है, बहु रीति के आलिंगन का विस्तार होने लगता है। विपरीत-रति का विधान भी होता है।[१] रति चेष्टाओं के उद्दाम-विलास में प्रौढ़ा नायिका ही समर्थ होती है, मुग्धा और मध्या नहीं।

मुग्धा (नवोढ़ा), मध्या और प्रौढ़ा के इन भेदों का निरूपण करते हुए ध्रुवदास ने कहा कि ये एक ही रसास्वाद की अलग-अलग दशायें हैं।[२] ये दशायें मदन-विनोद के भिन्न प्रकार हैं। नायिका राधिका में तीनों दशायें परिलक्षित होती हैं। कोक कला में जिन तीन प्रकार की नायिकाओं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा—का वर्णन हुआ है वे प्रिया-चरण को हृदय में धारण करके, हाथ जोड़ कर खड़ी रहती हैं।[३]

परकीया के अन्य भेद

नंददास ने उपर्युक्त भेद स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीनों में किया है। उसके अतिरिक्त परकीया के तीन भेद और गिनाये हैं,—सुरति-गोपना, वाग्विदग्धा, लक्षिता। मुदिता आदि अन्य भेद छोड़ दिये गये हैं।

सुरतिगोपना-परकीया नायिका अपनी सखी से निवेदन करती है कि अब से वह इस गृह में शयन न करेगी चाहे सास लड़े चाहे कुछ भी हो, क्योंकि बिल्ली के उछल कर उस पर गिर जाने से जो तीक्ष्ण नखक्षत हो गया है उसकी वेदना कोई समझ ही नहीं सकता। इस प्रकार छलपूर्वक जो परकीया रति-चिन्हों को छिपाती है वह सुरतिगोपना कही गई है।[४] वाग्विदग्धा परकीया वाग्छल से प्रिय पर अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देती है। नायिका कृष्ण को सुनाकर किसी पथिक को सम्बोधित कर कहती है कि 'हे पथिक, अत्यंत भीषण घाम है, कहीं जरा विश्राम कर लो। यहाँ से कालिंदी का तीर निकट है, वहाँ शीतल मंद सुगंधित समीर बहता है, वहीं पर एक गह्वर तमाल तरु है, जिस पर मल्लिका की वल्लरी प्रफुल्लित है। क्षण भर के लिये वहाँ छाँह लेकर, यमुना का जल पीकर, फिर मार्ग पकड़ना।[५] तमाल और मल्लिका के द्वारा विदग्ध नायिका ने

शेष— राते दृग रिस-रस सौं भोये, मानहुँ मीन महावर धोये।
इहि परकार तिया जो लहियै, प्रौढ़ा धीराधीरा कहिये। —वही, पृ० ४४

१. ध्रुवदास : बयालीस लीला, (आनंददास बिनोद लीला, दोहा २०-२३) पृ० २२६।

२. न्यारी न्यारी दशा कही, एक स्वाद हित जाँनि।
जैसे एकै बात कै, कीने विजन वाँनि ॥२९॥ —वही, पृ० २२६

३. नाइका तीन प्रकार की, वरनी कोक कलानि।
प्रिया चरन उर मैं धरैं, ठाढ़ी जोरैं पानि ॥२॥ —वही, पृ० २२४

४. कहै सखी सों उहि गृह अंतर, अब तैं हौं सोऊँ न सुतंतर।
सास लरौ, भैया किन लरौ, दैया जो भावै सो करौ।
आखु धरन हित दुष्ट मजारी, मो पै उछरि परी दइमारी।
दै गई तीछन नख दुखदाई, कासौं कहौ दरद सो माई।
इहि छल छतन छिपावै जोई, परकिय सुरतिगोपना सोई।
—नंददास : प्रथम भाग, (रसमंजरी), पृ० ४४-४५

५. अहो पथिक ! अति बरसत घाम, रंचक कहूँ करौ बिश्राम।
इत तैं निकट कालिंदी तीर, सीतल मंद सुगंध समीर।

कृष्ण के साथ संगम की अभिलाषा को प्रकट कर दिया। स्थान का निर्देश भी उसने कर दिया। जहाँ छलबल, चातुरी किसी प्रकार भी सुरतचिन्ह छिपाये नहीं जा पाते, वहाँ नायिका को लक्षिता-परकीया कहा गया है। गुरुजन के आक्रोश को वह सहती है। यदि वे उससे कुछ पूछते हैं तो वह न छिपाने की चेष्टा करती है, न छलने की। वह निधड़क होकर अपने अनुराग को स्वीकार कर लेती है। वह कहती है कि जो कुछ हुआ वह अच्छा हुआ, जो होना है वह होकर रहेगा। अब जो होना है वह सिर पर हो।[१]

अवस्थानुसार भेद

अवस्था के अनुसार नायिका-भेद का भी नंददास ने विस्तृत विवेचन किया है। उनके द्वारा परिगणित भेद इस प्रकार हैं :

१. प्रोषितपतिका
२. खण्डिता
३. कलहांतरिता
४. उत्कंठिता
५. विप्रलब्धा
६. वासकसज्जा
७. अभिसारिका
८. स्वाधीनबल्लभा
९. प्रीतमगवनी

इनके पुनः तीन तीन प्रकार—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा—कहे गये हैं।

(१) प्रोषितपतिका

जिसका पति देशांतर रहता है, और इस कारण जो विरह का अतिसंताप सहन करती हुई दुर्बल तन और व्याकुलमना हुई रहती है उसे प्रोषितपतिका नायिका कहा गया है।[२]

प्रोषितपतिका की मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा के अनुसार तीन दशायें होती हैं। मुग्धा प्रोषितपतिका वह होती है जो अपने हृदय की विरह व्यथा को अंदर ही अंदर सहती है, सखिजन से भी नहीं कहती। संवार कर शीतल शैया बिछाती है, किंतु लज्जा के कारण लेट नहीं सकती। गद्-गद्-कंठ होकर आकुल रहती है, किंतु नेत्रों में पानी नहीं लाती। रात्रि में वह मनसिज का दुख अनुभव करती है।[३] लज्जावश अभिव्यक्ति को अपने तक

शेष—गहबर तरु तमाल इक जहाँ, प्रफुल्लित बल्लि मल्लिका तहाँ।
छिनक छाँह लीजै, पय पीजै, बहुर्यौ उठि मारग मन दीजै।
पियहि सुनाइ पथिक सौं कहै, परकीया सु बिदग्धा उहै। —वही, पृ० ४५

१. लच्छन चिन्हन........सो परकीय लच्छिता कहियै। —वही, पृ० ४५

२. जाकौ पति देसांतर रहै, अति संताप बिरह जुर सहै।
दुर्बल तन, मन ब्याकुल होई, प्रोषितपतिका, कहिये सोई।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४६

३. बिरह-बिथा निज हित की सहै, सखि जन हुसौं नाहिन कहै।
सीतल सेज सँवारि बिछावै, पौढ़ि न सकै लाज जिय आवै।

सीमित रखने के कारण वह मुग्धा प्रोषितपतिका कही गई है। मध्या प्रोषितपतिका नायिका अपने मनोभावों को सखी से अभिव्यक्त कर देती है। प्रिय के बिना जब वह मदन-ज्वर से दहती है, तब सखी से अपनी विरहावस्था का कथन करती है।[१] प्रौढ़ा प्रोषितपतिका प्रियतम के परदेश चले जाने पर धैर्य नहीं धारण कर पाती। तरुण अनंग का दुःख ऐसे बढ़ जाता है जैसे अंग-अंग में महा गरल चढ़ गया हो। विरह-लहर जब मूर्च्छित कर देती है तब बाहु का वलय ढलकर हाथ में आ जाता है। नाड़ी इतनी क्षीण हो जाती है कि पता नहीं चलता वह जीवित है अथवा मृतक।[२]

मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा प्रोषितपतिका का उपर्युक्त अनुकथन स्वीकीया नायिका के संदर्भ में किया गया है। नंददास ने परकीया प्रोषितपतिका का अलग निर्देश भी किया है। परकीया प्रोषितपतिका जब अपने प्रियतम को नहीं देखती तब उसे सारा जगत सूना दिखाई देने लगता है। दूसरे के पास उसास तक नहीं लेती, मुंदे हुए मुख से ही उत्तर देती है। उसकी निश्वास नितान्त तप्त होती है। निश्वास ही नहीं सर्वांग विरह-ज्वर से तप्त रहता है। सखि जब कमल का फूल पकड़ाती है, तब वह हाथ से छूती नहीं, निकट रखवा लेती है, छूती इसलिये नहीं कि उसके विरह-ज्वर संतप्त करों के स्पर्श से कहीं कमल कुम्हला न जाय। उसकी देह ही नहीं, उसका अंतर भी अवाअग्नि की तरह दहता है। प्रियतम के परदेश-गमन से उसका प्रेम मिटता नहीं है। उसके मन की लगन उत्तम होती है, जन्म भर नहीं मिटती, वैसे ही जैसे चकमक की आग युगपर्यन्त जल में रहकर भी मिटती नहीं।[३] परकीया प्रोषितपतिका का प्रेम भी अक्षुण्ण रहता है। प्रेम की उत्तमता के कारण ही वह विरह से संतप्त रहती है।

(२) खण्डिता

प्रियतम रात्रि कहीं और व्यतीत करता है और भोर होने पर अंग-अंग में रति-चिन्हों से सुशोभित जिस नायिका के घर आता है वह नायिका खण्डिता कहलाती है।[४]

शेष—गदगद कंठ रहै अकुलानी, नैंनन माँझ न आनै पानी।
जामिनि सँग मनसिज दुख पावै, सो मुग्धा प्रोषिता कहावै। —वही, पृ० ४६

१. पिय बिन जबहिं मदन जुर दहै, इहि परकार सखी सौं कहै।
सखि हों उहै उहै कर-बलै, ऐ परि कर करिये नहिं चलै।
बसन सोइ कटि किंकिनि सोई, छिन-छिन अधिक अधिक क्यौं होई।
कौन समै आयौ यह सजनी, इंदु अनल बरसै सब रजनी।
इहि परकार कहत जो लहियै, मध्या प्रोषितपतिका कहियै।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४६

२. पिय परदेस धीर नहिं धरै......प्रौढ़ा प्रोषितपतिका सोई। —वही, पृ० ४६

३. प्रानपियारे पियहि न पेखै, सो तिय सब जग सूनौ देखै।
आन के ढिँग उसास नहिं लेहि, मूँदे मुँह तिहि उत्तर देहि।।
तपत उसासन जो कोउ लहै, परकिय बिरहिनि का तब कहै।
सखि जब कमल फूल पकरावे, हाथन छुवै, निकट धेरवावे।
अपने कर जु बिरह-जुर ताते, मति मुरझाहि डरति तिय याते।
अवा-अग्नि जिमि अंतर दहियै, परकिय प्रोषितपतिका कहियै।।
प्रेम मिटै नहिं जन्म भरि, उत्तम मन की लागि।
जौ जुग भरि जल में रहै, मिटै न चकमक आगि।। —वही, पृ० ४७

४. प्रीतम अनत रैनि सब जगै, अंग अंग रति चिन्हन पगे।
भोर भये जाके घर आवै, सो बनिता खंडिता कहावै।।—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ४७

खण्डिता के भी वैसे ही भेद किए गए हैं : मुग्धा खण्डिता, मध्या खण्डिता, प्रौढ़ा खण्डिता तथा परकीया खण्डिता। मुग्धा खण्डिता नायिका रति-चिन्हों से पूर्णतया विज्ञ नहीं होती। प्रिय के उर पर उरोजों के चिन्ह को कुंभ का चिन्ह समझकर पहिचानती हैं। वक्ष पर नख-क्षत को देखकर चकित हो जाती है, चकित ही नहीं प्रियतम से पूछना भी चाहती है। उसकी इस भोली अनभिज्ञता से प्रिय हँस कर उसे कंठ से लिपटा लेता है।[1] मध्या खण्डिता भोली नहीं होती, वह प्रियतम के उर पर कुच-चिन्हों को देखती है, जानती है किंतु कुछ कहती नहीं। तन पर नख-रेख देखकर सांस नहीं भरती, कनखियों से देखती रहती है। अपने अश्रु को छिपाती हैं। मन ही मन वह रोष युक्त और उन्मन हो जाती है किंतु अपने किसी व्यवहार से प्रियतम के सामने उन्मनता स्पष्टतया प्रकट नहीं करती।[2] प्रौढ़ा-खण्डिता भोर आये हुए प्रियतम की स्पष्ट भर्त्सना करती है। पर स्त्री के जावक से अंकित भाल को देखकर प्रौढ़ा खण्डिता नायिका के नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं, किंतु प्रातःकाल के समय अमंगल जानकर उन्हें गिरने नहीं देती। दर्पण लेकर प्रियतम के आगे रख देती है जिससे वे अपने रति-अंकित देह को देख लें। दर्पण रख कर ही वह संतुष्ट नहीं हो जाती, वह निडर होकर व्यंग-वचनों का प्रयोग भी करती है, क्रोध से सनी व्यंग वाणी बोलती है।[3] परकीया खण्डिता प्रिय के गले में कंकण की मुद्रा बनाती है, गंडों के श्रम-कण को बारंबार देखती है। अथवा वह नमित-वदन खड़ी रहती है, प्रीति-भंग के भय से कुछ कहती नहीं। दूती को नेत्रों से तरेरती है, उसासें भरती है। आँसू टपक-टपक कर गिरने लगते हैं।[4] उसे प्रीति-भंग का भय रहता है, इसीलिए वह वाणी से अपने मनोभावों को व्यक्त नहीं करती, किंतु अनुभाव उसकी अंतरकथा कह डालते हैं।

(३) कलहान्तरिता

जो नायिका पहिले तो प्रिय का अनादर करती है, और फिर बाद में पश्चात्ताप करती है, उसे कलहांतरिता कहते हैं। पश्चात्ताप उसे इतना अधिक होता है कि वह सांसें भरने लगती है, मूर्च्छित हो जाती है और प्रलाप करने

---

१. पिय उर उरज अंक पहिचानै, कुंभ चिन्ह से कछु जिय जानै।
नख-छत छती चितै चकि रहै, ते प्रीतम तैं पूंछ्यौ चहै॥
पिय हँसि ताहि कंठ लपटावै, सो मुग्धा खंडिता कहावै॥ —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी) पृ० ४७

२. प्रीतम उर कुच चिन्हन चहै, जानै पर कछुवै नहिं कहै।
पुनि तन मैं नख-रेखहि देखै, साँस न भरै, कनाखिन देखै॥
चपरि चखन तैं जल जौं आवै, मुख धोवन मिस ताहि दुरावै।
मन मन बिमन होइ रिस सानी, मध्या सो खंडिता बखानी॥ —वही, पृ० ४७

३. नैंनन-नीर नैंन अवधारै, प्रात अमंगल तैं नहिं डारै।
दर्पन लै पिय आगे धरै, बिंग बचन बोलै, नहिं डरै॥
ढकहु छती नख दिखियत ऐसैं, रति की प्रीति कौ अंकुर जैसैं।
अै परि इमि दिखियत रंग भर्‌यौ, गाढ़ालिंगन टूटि है पर्‌यौ।
इहि परकार कहत रिस सानी, सो प्रौढ़ा खंडिता बखानी॥ —वही, पृ० ४८

४. पिय गर कंकन मुद्रा लहै, गंडनि श्रम-कन पुनि पुनि चहै।
नमित बदन कै ठाढ़ी रहै, प्रीति भंग भय कछुव न कहै॥
दूती पर करि नैंन तरेरै, भरै उसास दुसासन डारै।
टपकि टपकि अँसुवाँ परैं, कमल दलन जनु मोती झरैं।
इहि परकार प्रेम रस सानी, सो परकिय खंडिता बखानी॥ —वही, पृ० ४८

लगती है। सोचती है और सिर धुनती है।[१] इस प्रकार अंतर्दाह से पीड़ित प्रायश्चित्त-परायणा नायिका कलहांतरिता कही गई है।

कलहांतरिता नायिका के भी मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया भेद किए गए हैं। अनुनय करता हुआ प्रियतम जब मुग्धा कलहांतरिता नायिका का कर ग्रहण करता है तब वह लज्जा के कारण उसका आलिंगन नहीं करती। बाद में जब मलय पवन बहता है तब वह प्रिय-उर में समाहित होकर शयन करना चाहती है। किंतु तब क्या हो सकता है, वह मन ही मन शोष धुनती है।[२] मध्या कलहांतरिता रूप-गर्व के कारण अनुनयकारी रमण का अनादर करती है। बाद में उसे इसका दुःख होता है, किंतु वह कहने में लज्जा का अनुभव करती है। न कहने पर पीड़ा बनी रहती है। चकित होकर सहचरी से कहती है, पर बात अधरों पर आकर रुक जाती है। अंततः अधोमुख बैठकर वह सोच में डूब जाती है।[३] प्रौढ़ा कलहांतरिता अपनी सखी से अंतर के पश्चाताप को व्यक्त करती हुई प्रलाप करती है। वह सोचती है कि जब मोहन रंग-भरे आये थे, तब उसने नैन क्यों तरेरे थे ? जब प्रियतम ने कच-लट पकड़ा था तब उसने अनिच्छा क्यों दिखाई, कुच-स्पर्श पर कलह क्यों कर बैठी ? वह सखी से अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करती हुई कहती है कि प्राप्त निधि को खो देने में बड़ा अनिष्ट है।[४] परकीया कलहांतरिता को प्रिय-अपमान के लिए बहुत पश्चाताप होता है। वह विलाप और प्रलाप करने लगती है, और याचना करती है कि रस के लिए भी कंत से कोई कलह न करे। उसे पश्चाताप इस बात का होता है कि जिस प्रियतम के कारण उसने अपने पति की ओर नहीं देखा, गरुवे गुरुजन को हलका समझ कर देखा, धैर्य-धन को दीन होकर लुटा दिया, नीति रूपी सहचरी से बिगाड़ किया, लज्जा को तिनका के समान तोड़ दिया, उस अति मूल्यवान प्रिय का उसने अपमान किया। अपने इस व्यवहार में उसे विधाता की प्रतिकूलता ही दृष्टिगत होती है।[५] परकीया को रस लाभ बड़े विघ्नों के पश्चात् होता है, इसलिए उसकी दृष्टि में प्रियतम का मूल्य सर्वाधिक होता है। अमूल्य निधि से कलह करने के पश्चात् उसे पश्चात्ताप भी उसी मात्रा में, अन्य नायिकाओं से अधिक, होता है।

(४) उत्कंठिता

संकेत देने पर भी जब प्रिय नहीं आता तब नायिका चिंता करती हुई अत्यंत दुखी हो जाती है। रात्रि

---

१. प्रथमहिं पीय अनादर करै, पीछे तैं पछितावै भरै।
साँस भरै उर अति संताप, अरुझै, मुरझै, करै प्रलाप।
सोचति, सीस धुनति जो लहियै, सो तिय कलहांतरिता कहियै॥ नंददास : प्रथमभाग (रसमंजरी), पृ० ४८

२. प्रीतम अनुनय...... मुग्धा कलहांतरिता कहियै। —वही, पृ० ४८-४९

३. रमन आनि अनुनय अनुसरै, रूप कै गरब अनादर करै।
पीछे वह दुख कहति लजाई, कहे बिना हिय पीर न जाई॥
चकित भई सहचरि सौं कहै, बात आनि अधरन मैं रहै।
बैठि अधोमुख सोचै जोई, मध्या कलहांरिता सोई॥ —वही, पृ० ४९

४. जब आये मोहन रँग भरे...प्रौढ़ा कलहांतरिता कहियै। —वही, पृ० ४९

५. जाके लिये पति न मैं पेखे, गरुये गुरु हरुये करि लेखे।
धीरज-धन मैं दीन लुटाई, नीति-सहचरी सौं बिरराई॥
लाज तिनक सम तोरिहीं दीनी सरिता बारिबूंद सम कीनी।
सो पिय आज मैं अति अपमाने, सखि अब बिधि बिकूलयै जाने।
इहि बिधि बिलपति-प्रलपति लहियै, परकिय कलहांतरिता कहियै॥ —वही, पृ० ४९

प्रतीक्षा में बीत जाती हैं, भोर होने पर वह तन तोड़ती हुई जम्हाई लेती है, सजल नेत्र होकर अपनी मनोदशा का संकेत दे देती है।[१] तब वह उत्कंठिता कहलाती है।

उत्कंठिता की मुग्ध अवस्था का वर्णन करते हुए नंददास कहते हैं कि प्राण-प्रिय के न आने से वह मन ही मन चिंतित होती है किंतु लज्जावश सखी से पूछती नहीं। चकित होकर घर आंगन में फिरती है, कोने में जाकर निश्वास भरती है। दुःख से उसका मुख पीला पड़ जाता है, किंतु अपनी अंतर्व्यथा किसी से प्रकट नहीं करती।[२] मध्या उत्कंठिता मन ही मन विचार करती है कि प्रियतम क्यों नहीं आये, क्या सखी लेने नहीं गई, अथवा स्वयं कृष्ण भयभीत हो गये ? आँखों में आँसू आ जाने के कारण को वह धुंआ का भर जाना बताती है। इस प्रकार वह सोचती रहती है और आँसू पोछती रहती है।[३] प्रौढ़ा उत्कंठिता कुंज-सदन में खड़ी-खड़ी प्रकृति को संबोधित करती हुई प्रियतम के न आने का कारण पूछती है, जैसे : हे निकुंज ! भ्रात, इधर सुनो; हे सखि यूथि ! बहिन, मन में सोचो; हे निशि ! माता, पिता रूपी अंधकार, तुम मेरे हितू हो, मैं तुमसे पूछती हूं बताओ; हे तमाल ! हे बंधु रसाल ! मोहनलाल क्यों नहीं आये ?[४]

परकीया उत्कंठिता की मनःस्थिति सबसे विचित्र होती है। वह मन में यह सोचती हुई दुःखित होती है कि जिस मनमोहन प्रियतम के लिए घने बन में अकेली रह कर भी वह भयभीत न हुई, जिसके लिए उसने कौन-कौन सा तप नहीं किया—वर्षा के पानी से नहायी, मनसिज देवता की दृढ़ सेवा किया, लज्जा को वहां दक्षिणा में दे दिया—आज वह दृग का अतिथि न हुआ, किसी ने भोर तक उसे भुला लिया।[५] परकीया उत्कंठिता में प्रिय-निष्ठा इतनी अधिक होती है कि प्रतिदान से वंचना का दुःख उसके लिए तीव्रतर हो उठता है। वह प्रिय के लिए एक प्रकार से तपस्या करती है, लोक लज्जा को तिलांजलि दे कर एकाकी प्रेम-मार्ग पर आरूढ़ होती है। तब भी यदि प्रियतम अपना वचन पूरा नहीं करता तो उसके दुःख की सीमा नहीं रहती।

---

१. बाँधि सकेत पीउ नहिं आवै, चिंता करि तिय अति दुख पावै।
आरति करि संताप जुड़ाई, तन तोरति अरु लेति जँभाई।।
भरि भरि नैंन अवस्था कहै, उत्कंठिता नाइका सु है। —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी) पृ० ५०

२. प्रान-प्रिया अज हूँ......मुग्धा उत्कंठिता कहावै। —वही, पृ० ५०

३. करै बिचार मनहि मन भई; क्यौं नहिं आये प्रीतम दई।
कै यह सखी गई नहिं लैन, कै कछु डरपे पंकज-नैंन।
भरि आवैं जब लोचन पानी, धूम पर्‌यौ तब कहै सयानी।
सोचति इमि जल मोचति लहियै, मध्या उत्कंठिता सु कहियै।। —वही, पृ० ५०

४. प्रीतम अनआये जब लहै, ठाढ़ी कुंज सदन मैं कहै।
अहो निकुंज ! भ्रात इत सुनि धौं,
हे सखि जूथि ! बहिन मन गुनि धौं।।
हे निसि ! मात, तात अँधियारे, पूंछति हौं तू हितू हमारे।
हो तमाल ! हो बंधु रसाल ! क्यौं नहिं आये मोहनलाल।। —वही, पृ० ५०

५. जिहि मन मोहन पिय हित माई, इकली बन घन बसि न डराई।
कवन कवन तप मैं नहिं कियौ, बारिद बारि अन्हैबौ लियौ।।
मनसिज देव सेव दिढ़ कीनी, लाज तहाँ मैं दछिना दीनी।।
सु पिय आज दृग अतिथि न भये, भोरे किन हूँ भोरे लये।
यों बन मैं मन मैं दुख पावै, परकीया उत्कंठिता कहावै।। —वही, पृ० ५१

(५) **विप्रलब्धा**

प्रिय के संकेत-स्थान पर आगत नायिका यदि वहां पर प्रियतम को नहीं पाती, तो वह विप्रलब्धा कहलाती है। दुःख के कारण वह सांसें भरती है, आँखों में आँसू भरती है, मन में वैराग्य का अनुभव करती है। उसकी मनोदशा बहुत कुछ उत्कंठिता नायिका से साम्य रखती है।[1]

मुग्धा विप्रलब्धा नायिका को सखी कपट सौगन्ध खाकर निकुंज में लिवा लाती है। जब वह प्रियतम को वहां नहीं पाती तब वह क्षुब्ध होती है। उसके क्षोभ की छवि भी मुग्धकारी होती है, भौंह को तरेर कर वह सखी को डरवाती है।[2] मध्या विप्रलब्धा जब संकेत स्थान पर प्रिय को नहीं पाती तब वह अर्द्धमुद्रित नेत्रों से चकित हो जाती है। खड़ी हुई गूढ़ उसासें भरती है, और उसका मन कुछ विरक्त हो जाता है।[3] प्रौढ़ा विप्रलब्धा सूने कुंज सदन को जब देखती है, और सखियों को भी साथ नहीं पाती तब वह कुटिल कामदेव से डर कर शिव से विनती करने लगती है कि वे उसका त्राण करें। वह नेत्र भर भर कर त्रिनेत्र को प्रसन्न करने का प्रयास करती है।[4] प्रौढ़ा विप्रलब्धा अपनी गूढ़ मदन-व्यथा की शान्ति का उपाय न देख कर कातरतापूर्वक मदन-मथनकारी शंकर से उस व्यथा का निदान चाहती है। परकीया विप्रलब्धा कंटकाकीर्ण मार्ग को पार कर कुंज-सदन आती है। धैर्य-रूपी सर्प के सिर पैर पैर रखती है, लज्जा की तरल तरंगों का संतरण करती है, तिमिर रूपी महा गज को हाथों से ठेलती है, पति रूपी नाहर को पैरों से रौंदती है, तब कहीं जाकर वह प्रिय-संकेत पर निकुंज-सदन में उपस्थित हो पाती है। और तब, यदि प्रिय को वहां नहीं पाती तो वह बहुत खिन्न और चिंतातुर हो जाती है। लता को पकड़ कर चिंता में डूब जाती है, सांसें भरती है और अश्रुपूरित हो जाती है।[5] धैर्य और गुरु-डर को ठेल कर भी जब उसे प्रिय नहीं मिलता, तब उसकी मनःस्थिति क्या होती होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

---

१. पिय संकेत आप चलि आवै, तहँ प्रीतम कौं नाहिंन पावै।
साँस भरै, लोचन जल भरै, पिय सहचरि सौं झुकि झुकि परै।
मन बैराग धरै, दुख पावै, जुवति बिप्रलब्धा सु कहावै।।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५१

२. कपट सौंह करि करि सखि जाकौं, लै आवहिं निकुंज मैं ताकौं।
तहँ प्रीतम कौं नाहिंन पावै, छुभित होइ छबि नहिं कहि आवै।।
सतर भौंहे सौं सखी डरावै, मुग्धा विप्रलब्धा कहावै।। —वही, पृ० ५१

३. पिय संकेत आइ बर बाला, पावै पियहिं न रूप रसाला।
अध-मुद्रित नैंनन चकि रहै, आधी बात बदत छबि लहै।।
आधी बीरी दसननि धरै, ठाढ़ी गूढ़ उसासनि भरै।
कछु इक मन बैरागहिं आवै, मध्या बिप्रलब्धा कहावै।। —वही, पृ० ५१

४. कुंज सदन सूनौ जब देखै, सखि जन हू को संग न पेखै।
कुटिल कामदेव तैं डरै, बामदेव सों बिनती करै।।
भौ संभो! सूलिन, सिव, संकर, हर, हिमकर-धर, उग्र, भयंकर।।
मदन-मथन, मृड अंतरजामी, त्राता होउ जगत के स्वामी।
भरि-भरि नैंन त्रिनैंन मनावै, प्रौढ़ा बिप्रलब्धा कहावै।। —वही, पृ० ५२

५. धीरज अहि के सिर पग धरै......करै कुँवर सौं केलि। —वही, पृ० ५२

(६) वासकसज्जा

प्रिय-आगमन जानकर नायिका जब सुरत-सामग्री की रचना करती है, दूती से पूछती है, सखी से परिहास करती है, और उसके नेत्रों में चटपटी मच जाती है, तब उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।[१]

वासकसज्जा की भी दशाक्रम से मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया की भिन्न-भिन्न कोटियाँ होती हैं। मुग्धा वासकसज्जा छिपकर हार गूंथती है, छलपूर्वक कटि किंकिनी बजाती है। दीप को संवार कर सदन में तो रखती ही है किंतु अधिक तेल नहीं डालती। शैया बिछाते हुए यदि कहीं सखी मिल जाती है तो वह घूंघट-पट में मुस्काती हुई देखती है। क्षण-क्षण आतुरता-पूर्वक मुग्धा वासकसज्जा प्रिय की प्रतीक्षा करती है।[२] मध्या वासकसज्जा पुष्पहार का छिप कर ग्रंथन नहीं करती, वह गूंथकर सखी को दिखा भी नहीं देती है। उसे अपने माला-ग्रंथन पर गर्व होता है। बहाने से वह पट, आभूषण धारण करती है, सहचरी के आभरणों से अड़ती है। द्वार पर चित्र देखने के बहाने प्रिय का पथ देखती है। उसकी चेष्टाओं पर मनोज भी मुग्ध हो जाता है।[३] प्रौढ़ा वासकसज्जा प्रगट रूप से अंगों में आभरण सजाती है। सखियों से तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करती। शैया, वसन को धूप से सुगन्धित करती है, सखियों से सारे मनोरथ को प्रकट कर देती है।[४]

परकीया वासकसज्जा छल से सास को सुला देती है, छलपूर्वक गृहदीप बुझा देती है। सोती-सोती छल के वचनों से प्रिय को संकेत बताती है। बार-बार हँस कर करवट लेती है, शैया पर नूपुर झनकारती है, कर-कंकण खनकाती है। इस प्रकार वह प्रिय को अपने जागरण की सूचना देती है।[५] परकीया वासकसज्जा छलपूर्वक अपना मनोरथ अभिव्यक्त करने में सिद्ध होती है।

---

१. पिय आगमन जानि बर बाला, सुरति सामग्री रचै रसाला।
दूती पूछै, सखि सौं हँसै, करै मनोरथु बिकसै, लसै।।
नैननि निपट चटपटी लहियै, सौ तिय बासकसज्जा कहियै। —वही, पृ० ५२

२. छिपी हार गूंथै छबि पावै, छल करि कटि किंकिनी बजावै।
दीप सँवारि सदन मैं धरै, तिन मैं तेल अधिक नहिं करै।।
सखि कहुँ सेज बिछावत मिलै, घूँघट पट मैं मुसकै, चहै।
छिन छिन प्रीतम कौ मगु जोहै, मुग्धा बासकसज्जा सो है।।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५२-५३

३. पुहुप हार गुहिं सखिहिं दिखावै, कहै कि मो सम तोहिं न आवै।
मिस ही मिस पट भूषन धरै, सहचरि के अभरन सौं अरै।।
द्वार चित्र देखन मिस बाला, पिय मग देखै रूप रसाला।
जाके चरित बिलोकि मनोज, हँसि हँसि चूमै बदन-सरोज।।
इहि प्रकार हिय हुलसति लहियै, मध्या बासकसज्जा कहियै। —वही, पृ० ५३

४. प्रगटहिं अंगनि अभरन सजै, सखि जन तैं रंचक नहिं लजै।
सेज बसन सब धूपित करै, सौरभ करि दुर्दिन सौं अरै।। —वही, पृ० ५३
सखि सौं सबै मनोरथ कहै, प्रौढ़ा बासकसज्जा सु है।

५. छल सौं सुमुखि सास कौं स्वावै, छल ही छल गृह-दीप सिरावै।
सोवत छल के बचन सुनावै, ता पिय कौं संकेत जनावै।।
बार बार हँसि करवट लेइ, जौन्ह सौं बदन दिखाई देइ।

(७) अभिसारिका

समयानुकूल पट और भूषण धारण कर के जो नायिका स्वयं प्रिय के निकट गमन करती है वह अभिसारिका कहलाती है। रूप के आधिक्य, बुद्धि के आधिक्य तथा उत्साह के आधिक्य से उसकी छवि बहुत बढ़ जाती है।[१]

मुग्धा अभिसारिका स्वयं प्रिय के पास नहीं जाती, उसे सखी ले जाती है। दूती उसे बुलाने आती है, और सहचरी उसको संग ले जाती है। इतना ही नहीं, ज्योतिषी उसे वन-गमन का शुभ मुहूर्त तक बताता है।[२] मध्या नायिका अभिसार की वेला जानकर सखी के साथ प्रिय-विहार के लिए गमन करती है। कृष्ण-अभिसारिका तिमिर में नील निचोल धारण करती है, मुख पर घूंघट डाल लेती है। मग के सर्पों से शंकित नहीं होती, उनकी मणि हाथों में ले लेती है। शुक्लाभिसारिका मध्या नायिका चंद्रोदय के कारण तन पर चंदन का लेप करती है। स्वयं ज्योत्स्ना सी हँस-हँस पड़ती है। उसके रूप पर मुग्ध होकर मदन कुंद कुसुम का वाण तान लेता है। यही मध्या अभिसारिका का रूप है।[३] प्रौढ़ा अभिसारिका को सखी के संग की आवश्यकता नहीं होती। वह एकाकी प्रिय के पास जाती है, उसका सहायक धनुर्धर मदन होता है। रात्रि उसके लिए कोई बाधा नहीं उपस्थित कर पाती, वह उसे दिन के समान ही प्रतीत होती है, घन उसे सूर्य के समान लगता है, तिमिर सूर्य-किरण के समान, गह्वर बन भवन के समान। दुर्गम मग भी उसे सुगम प्रतीत होता है। मदन-मत्त प्रौढ़ा अभिसारिका को किसी प्रकार का भय नहीं लगता। इस प्रकार, निडर होकर वह कुंज में स्थित प्रिय के निकट एकाकी ही अभिसार करती है।[४]

परकीया अभिसारिका की छवि मनोहारी होती है। उरोभार से उसकी गति भंगुर होने लगती है। लटी हुई कटि टूटती सी लगने लगती है। प्रेम के भार के कारण वह चल नहीं सकती। मोती का हार भी उतार डालती है, धम्मिल खोल देती है, केलि-कमल दूर कर देती है। वह सुकुमारी अति-शिथिल हो जाती है, वर्षा की धारा को टेकती हुई चलती है। वह इतनी शिथिल हो जाती है कि यदि मनोरथ रूपी रथ न हो तो प्रिय के निकट पहुँच भी नहीं सकती।[५] परकीया अभिसारिका में प्रेम का अति भार द्रष्टव्य है। इस भार से आक्रान्त होकर वह भूषण तक

शेष—सेज परी नुपुर रुनकावै, कर के कल कंकन खुनकावै।।
इहि परकार जुवति जो लहियै, परकिया वासकसज्जा कहियै।। —वही, पृ० ५३

१. समै जोग पट-भूषन......अभिसारिका कहावै सोई।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५३-५४

२. बोलन आई दूति दामिनी, चली संग सहचरी जामिनी।
भूत भविष्य कौ जाननहार, कहत है बन सुभ गवन की बार।।
झींगुर मुख करि रटै अधारा, मंगल ह्वैहै न करि बिचारा।
तिया मुंच मुग्धा अभिराम, अभिसर बलि जहँ सुंदर स्याम।।
इहि बिधि जाहि सखी लै आवै, मुग्धा अभिसारिका कहावै। —वही, पृ० ५४

३. निरखि सुमुखि अभिसार की बारा......सु कहियै। —वही, पृ० ५४

४. एकाकी पिय पै अनुसरै, धनुधर मदन सहायक करै।
रजनी कौ बासर सम जानै, तामैं घन जिमि दिनमनि मानै।।
तिमिरहि तरनि किरन सम देखै, गहबर बन सु भवन करि लेखैं।
दुर्गम मगहि सुगम करि जानै, मदन मत्त डर काकौ आनै।।
इहि बिधि मंजु-कुंज चलि आवै, प्रौढ़ा अभिसारिका कहावै। —वही, पृ० ५४

५. उरज-भार भंगुर गति जाकी, परिहै टूटि लटी कटि ताकी।
चलि नहिं सकति प्रेम के भारा, डारति काढ़ि मुक्ति कौ हारा।।

धारण करने में असमर्थ होने लगती है, सुकोमल लीलापद्म को भी वह दूर कर देती है। यहीं नहीं देह-गति इतनी शिथिल हो जाती है कि चलने तक में वह असमर्थ होने लगती है। एक मात्र प्रबल प्रेम एवं दुर्लभ प्रिय-सान्निध्य का मनोरथ उसे अभिसार के लिए उत्प्रेरित एवं परिवाहित करता है।

(८) स्वाधीनपतिका

प्रिय को पूर्ण वश में कर लेने वाली नायिका स्वाधीनपतिका नायिका कही गई है। प्रिय उसका संग नहीं छोड़ता, दिनोदिन मदन-महोत्सव का आयोजन होता है। नव-नव अम्बर और आभरण धारण करते हुए वह प्रिय के संग वन-विहार करती है। जिसके सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं उसे स्वाधीनपातिका नायिका कहा गया है।[१]

मुग्धा स्वाधीनपतिका नायिका अपनी सखी से अपने प्रति प्रियतम के वशीभूत होने पर आश्चर्य प्रकट करती है। वह सोचती है और कहती है कि उसकी कटि वैसी कृश नहीं है, अंग-कांति भी उतनी उज्ज्वल नहीं है, उरोजों में भी वैसी गरिमा नहीं है, वचन-चातुरी भी वैसी स्फुरित नहीं हुई है, न गति मंद है, न गमन सुहावना, नेत्रों में वक्रता भी नहीं आई। इस पर भी प्रिय उस पर मोहित है, कारण क्या है?[२] मध्या-स्वाधीनपतिका भी प्रिय की प्रेमवश्यता पर आश्चर्य करती है। वह सहचरी से कहती है कि यद्यपि वह कुछ रति-उत्सव नहीं करती, अंक में लिए जाने पर धरनी में धंस पड़ती है, नीबी का बन्धन पकड़ रखती है, चुंबन करने पर लाज पकड़ लेती है, वह गद्‌गद कंठ से बात नहीं करती (फिर भी प्रिय को वह अमृत के समान लगती है), तथापि प्रिय पार्श्व तज कर नहीं जाता, वह क्या करे? प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका को अपने प्रिय पर गर्व है कि वह उसी से अनुरक्त है, अन्य युवती को स्वप्न में भी नहीं पहचानता। औरों के पति तो स्वकीया परकीया की बातें सुनते हैं, उसके पति इस द्वैत से परे है। वह एकमात्र उसी को जानते हैं।[४] प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका को प्रिय-प्रेम पर आश्चर्य नहीं, गर्व रहता है।

शेष— धमिल खोलि सखि कहुँ पकरावै, केलि-कमल गहि दूरि बगावै।
जब अति सिथिल होति सुकुमारा, टेकत चलै बारिधर-धारा॥
जौ न मनोरथ-रथ तहँ होई, क्यौं पहुँचै पिय पै तिय सोई।
इहि बिधि मोहन पिय पै आवै, परकिय अभिसारिका कहावै॥
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५५

१. जाकौ पार्स्व पिया नहिं तजै, दिन दिन मदन-महोत्सव सजै।
नव नव अंबर अभरन धरै, बन बिहार रुचि पिय सँग करै।
सबै मनोरथ पूरन लहियै, सो स्वाधीनबल्लभा कहियै॥ —वही, पृ० ५५

२. मो कटि तैसी कृश नहीं भई, अंग कांति कछु अति नहिं लई।
उरजन नहिंन गरिमता तैसी, बचन-चातुरी फुरी न वैसी।
गति न मंद, नहिं चलनि सुहाई, नैंननि नहिंन बक्रिमा आई।
ऐं परि! पिय मन मोहीं माहीं, कारन कवन सु जानत नाहीं।
इहि बिधि सखि प्रति बरसै सुधा, है स्वाधीनबल्लभा मुग्धा॥
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५५

३. हौं कछु रति-उत्सव...... मध्या स्वाधीनपतिका सोई। —वही, पृ० ५५-५६

४. हे सखि औरन के जे पिया, बात सुनहिं सुकिया परकिया।
मो प्रीतम मोहीं कौं जानै, आन सुवति सपने न पिछानै॥
इहि परकार कहै रस बोढ़ा, सो स्वाधीनबल्लभा प्रौढ़ा॥ —वही, पृ० ५६

परकीया स्वाधीनपतिका को इस बात का गर्व रहता है कि यद्यपि उसके प्रियतम की बहुत स्वकीया पत्नियां हैं तथापि उसे प्रेम परकीया से ही है। यद्यपि वे स्वकीया नायिकायें मृदु वचन बोलने वाली, कमल-नैनी, हास-विलास और रास-रस में निपुण हैं, तथापि प्रिय की दृष्टि बन, पुर, अटा, अटारी पर उसे ही खोजती है। किसी से प्रिय कोई बात नहीं करता, केवल उसी के संग उसकी आँखें लगी रहती हैं। उसका दृढ़ विश्वास है कि अंजन, मंजन, पट से सुसज्जित होकर प्रिय को वश में करने का कोई गर्व नहीं कर सकता। सुलक्षण प्रेम ही प्रिय को पूर्णतया वशीभूत करता है।[१]

(९) प्रीतमगमनी :

प्रीतमगमनी का एक नूतन भेद भी नंददास ने नायिका-भेद के अंतर्गत प्रतिष्ठित किया है। प्रिय जाना चाहता है, किंतु उसके गमन से भयभीत, मन मन गमन में विघ्न की बात सोचती हुई, रुदन करती हुए चिंतारत नायिका को उन्होंने प्रीतमगमनी नायिका के नाम से अभिहित किया है।[२] यों, प्रिय के जाने के कारण यह नायिका प्रोषितपतिका का ही पूर्वरूप कही जा सकती है। जिसका प्रिय जा चुका है, वह प्रोषितपतिका है, जिसका जाने वाला है वह प्रीतमगमनी। दोनों में विशेष अंतर परिलक्षित नहीं होता।

मुग्धा प्रीतमगमनी जब प्रिय-गमन की बात सुनती है तब मन ही मन धुन-सी जाती है। उसकी सखी बन में गुप्त होकर कोकिल बन कर डोलती है। कोकिल वाणी सुनकर मुग्धा रूपलता सी मुरझा जाती है।[३] मध्या प्रीतमगमनी प्रिय को गमन करता हुआ जानकर कुछ नहीं बोलती, दीर्घ श्वासें नहीं भरती, आंखों में पानी तक नहीं लाती। मात्र मत्थे पर हाथ रख कर बैठी रहती है मानों आयु के अक्षरों को टटोल रही हो।[४] मध्या प्रीतम-गमनी की ऐसी विमूढ़ स्थिति हो जाती है। प्रौढ़ा प्रीतमगमनी अपनी विरह-व्यथा के अतिरेक में शिव से पूछती

---

१. प्रीतम के घर बहुत सुकीया, मोहीं सौं हित मानत पीया।
मृदु-बैनी बर बारिज-नैनी, हास-बिलास रास-रस-रैनी ।।
ऐ परि बन, पुर, अटा, अटारी, पिय की दिष्टि न मोतैं न्यारी।
काहू सौं कछु बात न कहै, पिय की अँखियाँ संगहि लहै।
इहि परकार कहै जो तिया, है स्वाधीनपिया परकिया ।।
अंजन, मंजन, पट पहिरि, गर्व करौ मति कोइ।
औरहि प्रेम सुलच्छिनौ, जिहिं प्रीतम बस होइ ।। —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी) पृ० ५६

२. जाकौ प्रीतम गमन्यौ चहै, भीत भई कछुवै नहिं कहै।
गमन बिघन कहुँ मन मन सोचै, लोचन तैं जल नाहिंन मोचै।
चित ही चित चिंता-रत लहियै, सो तिय प्रीतमगमनी कहियै। —वही, पृ० ५६

३. गमन बात पिय की जब सुनै, सुनतहि मन मैं धुन ज्यौं धुनै।
ताकी सखी गुप्त भई डोलै, कुंजनि कल कोकिल ह्वै बोलै।
रूप-लता सी मुरझति लहियै, मुग्धा प्रीतमगमनी कहियै। —वही, पृ० ५६-५७

४. पिय कौं चलत जानि बर बाला, बोलै नहिं कछु रूप रसाला।
भरै न दीरघ साँस सयानी, नैंनन माँझ न आनै पानी।
धरि रहै हाथ माथ के धोरैं, मनहुँ आयु अछर टकटोरैं।
इहि परकार परखियै जोई, मध्या प्रीतमगमनी सोई। —वही, पृ० ५७

है कि तन त्यागने पर युवतियों को विरह जलाता है या नहीं? क्या उसके लिये परलोक भी गरल के समान नहीं हो जाता? विरह-विमूढ़ होकर वह चुप हो रहती है।[1]

परकीया प्रीतमगमनी गमनकारी प्रिय को एकांत में पाकर निवेदन करती है कि 'तुम्हारे लिये मैंने कौन सा दुष्कृत्य नहीं किया? पन्नग के फन पर मैंने पैर रखा! पति, द्विजदेव की सेवा छोड़ दिया; नीति त्याग दिया; कुल की लज्जा से लजी नहीं। इन दुष्कृत्यों के परिणाम में जो जीवित नरक मिला उसे भी मैंने सहा। तन को तपन की यातना मिली, मन को कुंभीपाक। महाघोर रौरव भी क्रोध-रूप होकर आया। प्रिय-गमन के बाद क्यों न उसकी यह गति होगी। विधि कुछ ऐसा करे कि कल ही न हो, जाने की घड़ी ही न आये।[2] सर्वस्व परित्याग के पश्चात्, लोक-प्रताड़ना सहन करने के पश्चात् प्रिय-विच्छेद की असहनीयता परकीया प्रीतमगमनी को अधीर कर देती है।

अवस्थानुसार नायिका-भेद यहीं पर समाप्त कर दिया गया है। दस प्रकार की प्रचलित नायिकाओं में आगतपतिका को नहीं लिया गया। प्रीतमगमनी का भेद बहुत कुछ प्रवत्स्यप्रेयसी सा है। नायक के भविष्यत् वियोग की आशंका प्रवत्स्यप्रेयसी को होती है, प्रीतमगमनी को गमन की विद्यमान स्थिति में वियोग आक्रान्त कर लेता है, पृष्ठभूमि में भविष्यत् वियोग की आशंका भी विचलित किये रहती है। इन नायिकाओं का मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया रूप प्रदर्शित करके प्रत्येक अवस्था का क्रमिक रूप भी नंददास ने स्पष्ट कर दिया है।[3] इस संपूर्ण नायिका-भेद में सामान्या नायिका की कोई चर्चा नहीं है। ऐसी नायिका भक्ति-भाव की माँग को किसी प्रकार पूरा नहीं कर सकती अतएव उसे नंददास ने छोड़ दिया है। इन समस्त नायिकाओं में परकीया नायिका के अवस्थानुसार वर्णन उत्कृष्ट हैं। भक्ति रूप में परकीया भाव की उत्कटता स्वीकार करने के कारण परकीया का विशेष महत्व हो गया था। रस में उप-पति-रस को रसावधि कहकर नंददास ने अपनी मान्यता को व्यक्त कर दिया है। तदनुरूप परकीया नायिका का, रसानुभूति की दृष्टि से, उन्होंने मार्मिक रूप प्रस्तुत किया है।

नायक-भेद

यद्यपि नायिका-भेद रसशास्त्र का रोचक प्रतिपाद्य विषय है तथापि नायक-भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रसानुभूति की दृष्टि से नायिका की अवस्थाओं एवं मनोदशाओं को समझना जितना महत्वपूर्ण है, नायक के प्रकारों एवं दशाओं को समझना भी उतना ही आवश्यक है। रसिक कृष्ण में नायक के प्रचलित सभी भेद विचित्र सामंजस्य के साथ अवस्थित हैं।

---

१. हे श्रीपति-पति........प्रौढ़ा प्रीतमगमनी सुहै। —वही, पृ० ५७

२. प्रानपिया कहुँ गमनत लहै, रहसि पाइ पिय सौं इमि कहैं।
तुम हित को दुकृत नहिं किये, पन्नग फन पर मैं पग दिये।
पति-द्विजदेव-सेव तब तजी, नीति तजी, कुल-लाज न लजी।
तिन के फल जे नरक बताये, ते सब मो कहुँ जीवित आये।
तपन जाचना आई तन कौं, कुंभीपाक पराभव मन कौं।
महाघोर रौरव जु बतायौ, क्रोध रूप ह्वै नैंननि आयौ।
जुगति आहि पिय गमनत तोहि, क्यौं न हौंहि ऐसी गति मोहि।
इहि परकार कहति तिय जोई, परकिय प्रीतमगमनी सोई।
चलत कहत हैं कालि पिय, का करिहौं मेरी आलि।
विधना ऐसैं करि कछु, जैसे होइ न कालि॥ —वही, पृ० ५७-५८

है कि तन त्यागने पर युवतियों को विरह जलाता है या नहीं? क्या उसके लिये परलोक भी गरल के समान नहीं हो जाता? विरह-विमूढ़ होकर वह चुप हो रहती है।[1]

परकीया प्रीतमगमनी गमनकारी प्रिय को एकांत में पाकर निवेदन करती है कि 'तुम्हारे लिये मैंने कौन सा दुष्कृत्य नहीं किया? पन्नग के फन पर मैंने पैर रखा! पति, द्विजदेव की सेवा छोड़ दिया; नीति त्याग दिया; कुल की लज्जा से लजी नहीं। इन दुष्कृत्यों के परिणाम में जो जीवित नरक मिला उसे भी मैंने सहा। तन को तपन की यातना मिली, मन को कुंभीपाक। महारौर रौरव भी क्रोध-रूप होकर आया। प्रिय-गमन के बाद क्यों न उसकी यह गति होगी। विधि कुछ ऐसा करे कि कल ही न हो, जाने की घड़ी ही न आये।[2] सर्वस्व परित्याग के पश्चात्, लोक-प्रताड़ना सहन करने के पश्चात् प्रिय-विच्छेद की असहनीयता परकीया प्रीतमगमनी को अधीर कर देती है।

अवस्थानुसार नायिका-भेद यहीं पर समाप्त कर दिया गया है। दस प्रकार की प्रचलित नायिकाओं में आगतपतिका को नहीं लिया गया। प्रीतमगमनी का भेद बहुत कुछ प्रवत्स्यत्प्रेयसी सा है। नायक के भविष्यत् वियोग की आशंका प्रवत्स्यत्प्रेयसी को होती है, प्रीतमगमनी को गमन की विद्यमान स्थिति में वियोग आक्रान्त कर लेता है, पृष्ठभूमि में भविष्यत् वियोग की आशंका भी विचलित किये रहती है। इन नायिकाओं का मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया रूप प्रदर्शित करके प्रत्येक अवस्था का क्रमिक रूप भी नंददास ने स्पष्ट कर दिया है।[3] इस संपूर्ण नायिका-भेद में सामान्या नायिका की कोई चर्चा नहीं है। ऐसी नायिका भक्ति-भाव की माँग को किसी प्रकार पूरा नहीं कर सकती अतएव उसे नंददास ने छोड़ दिया है। इन समस्त नायिकाओं में परकीया नायिका के अवस्थानुसार वर्णन उत्कृष्ट हैं। भक्ति रूप में परकीया भाव की उत्कटता स्वीकार करने के कारण परकीया का विशेष महत्व हो गया था। रस में उप-पति-रस को रसावधि कहकर नंददास ने अपनी मान्यता को व्यक्त कर दिया है। तदनुरूप परकीया नायिका का, रसानुभूति की दृष्टि से, उन्होंने मार्मिक रूप प्रस्तुत किया है।

नायक-भेद

यद्यपि नायिका-भेद रसशास्त्र का रोचक प्रतिपाद्य विषय है तथापि नायक-भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रसानुभूति की दृष्टि से नायिका की अवस्थाओं एवं मनोदशाओं को समझना जितना महत्वपूर्ण है, नायक के प्रकारों एवं दशाओं को समझना भी उतना ही आवश्यक है। रसिक कृष्ण में नायक के प्रचलित सभी भेद विचित्र सामंजस्य के साथ अवस्थित हैं।

---

१. हे श्रीपति-पति........प्रौढ़ा प्रीतमगमनी सुहै। —वही, पृ० ५७

२. प्रानपिया कहुँ गमनत लहै, रहसि पाइ पिय सौं इमि कहै।
तुम हित को दुकृत नहिं किये, पन्नग फन पर मैं पग दिये।
पति-द्विजदेव-सेव तब तजी, नीति तजी, कुल-लाज न लजी।
तिन के फल जे नरक बताये, ते सब मो कहुँ जीवित आये।
तपन जाचना आई तन कौं, कुंभीपाक पराभव मन कौं।
महारौर रौरव जु बतायौ, क्रोध रूप ह्वै नैंननि आयौ।
जुगति आहि पिय गमनत तोहि, क्यौं न हौंहि ऐसी गति मोहि।
इहि परकार कहति तिय जोई, परकिय प्रीतमगमनी सोई।
चलत कहत हैं कालि पिय, का करिहौं मेरी आलि।
विधना ऐसैं करि कछु, जैसे होइ न कालि॥ —वही, पृ० ५७-५८

नंददास ने प्रचलित नायक-भेद का ही 'रसमंजरी' में अनुकथन किया है। प्रमदा के प्रेम को बढ़ाने वाले नायक चार प्रकार के कहे गये हैं—धृष्ट, शठ, दक्षिण, अनुकूल। इन्हीं के लक्षणों को नंददास ने भी स्पष्ट किया है।[१] अपराध करके नायक प्रिया के पास आता है और निधड़क होकर बातों से बहलाता है। प्रिया उसे कटाक्षों से तार देती है, हारों से उसका निबन्धन करती है, कमलों से मारती है। मार कर द्वार तक बाहर कर आती है, किंतु नायिका को सोता हुआ जानकर वह फिर अंदर चला जाता है। अंदर ही नहीं आता, शैया पर सो भी जाता है। ऐसा नायक रसशास्त्र की दृष्टि से धृष्ट कहलाता है।[२] दूसरे प्रकार का नायक वह है जो नायिका के शीश पर कुसुम की माला गूंथता है, भाल पर तिलक-रचना करता है, भुजाओं में केयूर पहिनाता है, और उर पर मुक्ता-माल। कपोल पर मकर-पत्रिका रचता है और मनभावन वचन बोलता जाता है। बलपूर्वक किंकिणी-बंधन तोड़ता है, छल पूर्वक नीबी-बंधन खोलता है। ऐसे रमणी-रमण नायक को शठ नायक की परिभाषा दी गई है। कोई नायक एक से अधिक रमणियों में अनुरक्त रहता है। जब ललना-मंडल में वह आता है[३] तब उसकी छवि अभिवृद्ध हो जाती है। उन अनेक नायिकाओं में प्रत्येक के साथ वह रमण करना चाहता है किंतु असंभव जानकर नेत्र बंद करके वह अन्तरगत भाव से रस का आस्वादन करता है। तन में उसके रोमांच प्रकट हो जाता है, जैसे प्रेम के नव अंकुर फूट पड़े हों। जिस विलक्षण नायक में ये शुभ लक्षण होते हैं उसे दक्षिण नायक कहते हैं।[४] इसके ठीक प्रतिकूल वह नायक है जो अपनी स्त्री के ही रस के वश में रहता है। अन्य किसी सुंदरी की ओर वह स्वप्न में भी नहीं देखता। प्रिया के प्रति उसका प्रेम इतना गंभीर होता है कि जब वह कर्कश स्थान पर चलती है तब नायक के मन में पीड़ा होती है। उसकी मनोदशा श्रीराम की भाँति होती है, वह राम जो स्वयं घने बन में चल रहे थे किंतु सीता के चलने पर मन ही मन कहने लगे कि "हे अवनी। तुम मृदु तन धारण करो। हे दिनकर! तन तप्त न करो। हे पवन! तुम त्रिगुणों

---

१. नाइक बरने चारि प्रकार, प्रमदा-प्रेम बढ़ावनहार।
एक धृष्ट, इक सठ, इक दच्छिन, इक अनुकूल सुनहि अब लच्छिन।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५८

२. करि अपराध पिया ढिग आवै, निधरक भयौ, बात बहरावै।
ताकहँ पिया कटाछन तारै, झारन बाँधै, कमलन मारै।
मारि बिडारि द्वार पहुँचावै, सोवत जानि बहुरि फिरि आवै।
चपरि सेज पै सोवै जोई, नाइक धृष्ट कहावै सोई। —वही, पृ० ५८

३. सीस कुसुम की गूंथै माला, भालहि तिलक करै अभिबाला।
भाम-भुजनि केयूर बनावै, उर बर मुकुत-माल पहिरावै।
मकर-पत्रिका रचै कपोल, बोलत जाइ भावते बोल।
किंकिनि-बंधन बल करि टोरै, छल करि नीबी-बंधन छोरै।
इहि बिधि रमनी-रमन जो होई, कहत हैं कबि सठ नायक सोई। —वही, पृ० ५८

४. जब ललना-मंडल मैं आवै, अति अनुराग भर्यौ छबि पावै।
कहत कि ये अनेक छबि ऐना, मेरे अनगन हैं बिवि नैंना।
कित कित इनहिं निवेसित कीजै, बदन बदन सुख कैसे लीजै।
नैंन मूंदि तब तिन मैं रहै, भीतर ही सब मुख-सुख लहै।
दिखियत तन रोमांचित भये, मनौ प्रेम नव अंकुर लये।
जा नाइक मैं ये सुभ लच्छन, ताकों दच्छिन कहत विचच्छन। —वही, पृ० ५८-५९

से विभूषित बहो। हे पर्वत ! मग से बाहर चले जाओ। रे दंडक वन ! निकट आओ, सीता कोमल चरणों से चल नहीं सकतीं। ऐसा प्रियानुरक्त, एकनिष्ठ नायक 'अनुकूल' कहा गया है।[1]

इस प्रकार, धृष्ट, शठ, दक्षिण, अनुकूल नायकों के लक्षण बताते हुए नंददास ने नायक-भेद का संक्षिप्त रूप स्पष्ट कर दिया है। पति, उपपति का भेद उन्होंने अलग से नहीं किया जैसा कि नायिका-भेद के अंतर्गत स्वकीया-परकीया, सामान्या का किया है। नायक-भेद में नंददास की रुचि अधिक रमती हुई प्रतीत नहीं होती। बड़े विस्तार के साथ उन्होंने नायिका-भेद का निरूपण किया है, वह विस्तार इसमें दृष्टिगत नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे परम्परा-पालन के लिये नंददास ने नायक-भेद का कथन कर दिया है।

रस की अभिव्यक्ति के रूप : भाव, हाव, हेला, रति

रसानुभूति के क्रम में अभिव्यक्त होने वाली प्रीति की अवस्थाओं के निरूपण में भी नंददास ने अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की है। भाव, हाव, हेलादि का उन्होंने विश्लेषण किया है।

नंददास के अनुसार प्रेम की प्रथम अवस्था को कविजन भाव कहते हैं। जिसके हृदय में भाव संचरित होता है, उसके लिये नीरस वस्तु भी रसमय हो जाती है, वैसे ही जैसे मधु से मिलकर निंबादि रस मधुर हो जाते हैं। भाव की वृद्धि का यह लक्षण है कि हृदय में अन्य वस्तु के लिये स्थान नहीं रह जाता।[2]

जब भाव नेत्रों और वाणी से प्रकट होता है तब उसे हाव कहते हैं। हाव के प्रकट होने पर नायिका रूप-ज्योति सी लटकती डोलती है, सबसे मनोहर वचन बोलती है। हँसती हुई सुदर लगती है। उसे दृग के डोरे का विलास तथा मैन-धनुष-सी भौंहों का मरोड़ना आ जाता है। भावभरी युवती में हाव रस इस प्रकार प्रकट होता है।[3]

हेला में स्पष्ट रूप से आंगिक चेष्टाएँ होती हैं। नायिका प्रिय की ओर कनखियों से देखकर, नीबी और कुच को प्रकट करती है तथा आच्छादित करती है। कंदुक-क्रीड़ा करती है, सखियों को ठेलती है तथा अंग अंग

---

१. निज ही तिय के रस-बस रहै, आन सुंदरी सुपन न चहै।
करकस ठौर प्रिया जब चलै, तिहि दुख ताकौ हिय कलमलै।
ज्यौं श्रीराम चले बन घन मैं, सिय के चलत कहत यौं मन मैं।
हे अवनी ! तुम मृदु तन धरौ, हे दिनकर ! तन तपत न करौ।
अहौ पवन ! तुम त्रिगुन बहावौ, रे नग ! मग तैं बाहिर जावौ।
रे दंडक वन ! नियरे आउ, चलि न सकति सिय कोमल पाउ। —वही, पृ० ५९
इहि परकार रहै रस सान्यौ, सो नाइक अनुकूल बखान्यौ।

२. प्रेम की प्रथम अवस्था जोइ, कवि जन भाउ कहत हैं सोइ।
जाके हिये भाउ संचरै, निरस बस्तु सो रसमय करै।
जैसैं निंबादिक रस जिते, मधुर हौहिं मधुमय मिलि तितै।
भाउ बढ्यौ क्यौं जानिये सोई, और वस्तु कौं ठौर न होई।
—नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ५९

३. नैंन बैन जब प्रगटै भाउ, ताकौं सुकवि कहत हैं हाउ।
रूप-जोति सी लटकति डोलै, सब सौं बचन मनोहर बोलै।
हँसै लसै, बिलसै दृग-डोरे, मैन-धनुष सी भौंह मरोरे। —वही, पृ० ५९-६०
इहि परकार जुवति जो लहियै, भाउ-भरी सुहाउ छबि कहियै।

से नाना भाव प्रदर्शित करती है। क्षण-क्षण अपनी छवि संवारती है। बार-बार दर्पण लेकर श्रृंगार करती है। अति श्रृंगार में उसका मन मग्न रहता है। इसे कविगण नायिका की हेला-छबि कहते हैं।[१]

रति की अवस्था तब होती है जब नायिका कामरस में पूर्णतया निमज्जित हो जाती है। उसकी भूख-प्यास मिट जाती है, गुरुजन का भय मिट-सा जाता है। मन की गति प्रिय की ओर ऐसी अभिमुख हो जाती है जैसे समुद्र की ओर गंगा की धारा। यदि प्रिय की तनिक-सी बात भी सुनने को मिलती है तो सौ बार सुन कर भी उसे तृप्ति नहीं होती। यद्यपि रति-रस के मिटाने वाले विघ्न आते हैं तथापि वह तनिक भी विचलित नहीं होती, चित्त एक-रूप होकर रस के आस्वादन में तत्पर रहता है। उसके तन में सारे सात्विक प्रकट होते हैं— स्तंभ, स्वेद, पुलक, अश्रु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, कम्प, मूर्च्छा। इस प्रकार की मन और देह की अवस्था को रति कहा गया है।[२]

इन प्रकरणों के साथ नंददास ने रस का विवेचन समाप्त कर दिया है। 'रसमंजरी' की अवतारणा उन्होंने रसिकों के लिये किया है। उनकी दृढ़ोक्ति है कि जो कोई रसमंजरी को कर्णाभूषण बनायेगा वह परम प्रेम-रस को प्राप्त करेगा।[३] 'रसमंजरी' रसमय सुख के कंद के रूप में प्रस्तुत की गई है।[४] रस का मर्म उसमें अवतरित कर दिया गया है,—ऐसा कविवर नंददास का विश्वास है।

⊙⊙⊙

---

१. पिय तन तनक कनखियन झाँकै, नीबी कुच प्रगटै अरु ढाँकै।
   कंदुक खेलै, सखि कहुं ठेलै, अँग अँग भाउ उमंगि छबि छेलै।
   छिन छिन बान बनायौ करै, बार बार कर दरपन धरै।
   अति सिंगार मगन मन रहै, ताकौं कबि हेला छबि कहै। —वही, पृ० ६०
२. उचित सुसुधाम-काम तौ करै...... रंग भरी रति कहियै।
   —नंददास : प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० ६०
३. यह सुंदर बर 'रसमंजरी', 'नंददास' रसिकन हित करी।
   करन-आभरन करिहै जोइ, परम प्रेम-रस पैहै सोइ। —वही, पृ० ६०
४. पढ़त बढ़त अति चोप चित, रसमय सुख कौ कंद।। —वही, पृ० ६०

ग्रंथ-सूची

(संस्कृत)

१. अणुभाष्य—श्रीमद् बल्लभाचार्य, संपा० एवं प्रका० : रत्नगोपालभट्ट, बनारस संस्कृत सिरीज। १९०७।

२. उज्ज्वल-नीलमणि—जीवगोस्वामी। प्रका०—रामनारायण विद्यारत्न, बहरमपुर, द्वितीय संस्करण, चैत्र १२९५।

३. कृष्णकर्णामृत—भक्तभारत अंक, संपादक—रामदास जी शास्त्री, चार संप्रदाय आश्रम, वृन्दावन। सं० २००७।

४. भक्तिरसामृतसिंधु—रूपगोस्वामी। संपा० : रामनारायण विद्यारत्न, प्रका० : हरिभक्तिप्रदायिनी सभा, बहरमपुर, चैत्र १३२०।

५. भगवत्-संदर्भ—जीवगोस्वामी। प्रका०—सत्यानंद गोस्वामी के बंगानुवाद सहित प्रकाशित, १०८ नारिकेल डांगा मेन रोड, स्वर्णप्रेस, कलकत्ता, १३३३।

६. यमुनाष्टकम्—हितहरिवंश। प्रका०—बाबा हितदास, बिलासपुर। १९५० ई०।

७. (श्री) राधासुधानिधि—हितहरिवंश, अनु० बाबा हितदास, प्रका०—श्री राधाबल्लभ-आनंद-भवन, झगरहटा-बिलासपुर, सन् १९५० (प्रथम संस्करण)।

८. षोडशग्रन्थ—बल्लभाचार्य। प्रका० और अनु० : भट्ट रमानाथ शर्मा, निर्णयसागर मुद्रणालय। सं० १९७९, सन् १९२३ (द्वितीयावृत्ति)।

⊙

(हिन्दी)

१. अनुग्रह मार्ग—देवर्षि पं० रमानाथ शास्त्री, प्रका०—श्री पुष्टिमार्ग सिद्धान्त भवन, परिक्रमा नाथद्वारा। सं० १९९६।

२. अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, प्रका०—हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। सं० २००४ (प्रथम संस्करण)।

३. अष्टादश सिद्धान्त के पद—स्वामी हरिदास, प्रका०—तुलसीदास बाबा। विक्रमाब्द २००९।

४. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम और सौंदर्य—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली।

५. आधुनिक काव्य में सौंदर्यभावना—कु० शकुन्तला शर्मा, एम० ए०, प्रका०—सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस। १९५२ (प्रथम संस्करण)।

६. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत—डा० श्यामसुंदर दीक्षित, प्रका०—विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। १९५८।

७. (श्री) कृष्णावतार—देवर्षि रमानाथ शास्त्री, प्रका०—शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त कार्यालय, नाथद्वारा। सं० १९९२।

८. कुंभनदास—प्रका०—विद्या-विभाग, अष्टछाप-स्मारक-समिति, कांकरोली (राजस्थान)। प्रथमावृत्ति।

९. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० जगदीश गुप्त, प्रका०—हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग। १९५८।

१०. गोविंदस्वामी—साहित्यिक विश्लेषण, वार्त्ता और पद-संग्रह, संपा०—गो० ब्रजभूषण शर्मा, पो० कण्ठमणि शास्त्री, क० गोकुलानंद तैलंग, प्रका०—विद्याविभाग, अष्टछाप-स्मारक-समिति, कांकरोली (राजस्थान) प्रथमावृत्ति, २००८ वि०।

११. चतुर्भुजदास—(जीवन-झांकी तथा पद संग्रह)। प्रका०—विद्याविभाग, अष्टछाप-स्मारक-समिति, कांकरौली, प्र० संस्करण, सन् १९५७।

१२. छीतस्वामी—प्रका०—विद्याभवन, अष्टछाप-स्मारक-समिति, कांकरौली। प्रथम संस्करण सं० २०१२।

१३. नंददास—[प्रथम एवं द्वितीय भाग] संपा०—पं० उमाशंकर शुक्ल, एम० ए०। प्रका०—प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग। प्रथम संस्करण, सन् १९४२।

१४. निम्बार्क-माधुरी—प्रका०—ब्र० बिहारीशरण, वृन्दावन।

१५. परमानन्दसागर—संपा०—डा० गोवर्द्धननाथ शुक्ल, (पद संग्रह) प्रका०—भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।

१६. बीठल विपुल की वाणी—प्रका०—बाबा तुलसीदास, वि० २००९।

१७. बयालीस लीला तथा पद्यावली—हितध्रुवदास, प्रका०—बाबा तुलसीदास। सं० २०१०।

१८. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद—प्रभुदयाल मीतल, प्रका०—अग्रवाल प्रेस, मथुरा। सं० २००५ वि०।

१९. ब्रजबुलि साहित्य—प्रो० रामपूजन तिवारी, प्रका०—ग्रन्थवितान, पटना। १९६०।

२०. भक्तकविव्यास जी—वासुदेव गोस्वामी (वाणी-संकलन) प्रका०—अग्रवाल प्रेस, मथुरा। सं० २००९ वि०।

२१. भक्ति-श्रृंगार की पृष्ठभूमि—डा० मिथिलेशकांति।

२२. भक्ति साहित्य में मधुरोपासना—परशुराम चतुर्वेदी, प्रका०—भारती भंडार, इलाहाबाद। सं० २०१८ वि०।

२३. भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद—देवर्षि रमानाथ शास्त्री, प्रका०—दे० रमानाथ शास्त्री, परिक्रमा—नाथद्वारा। सं० १९९२।

२४. भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं—परशुराम चतुर्वेदी, प्रका०—साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद १९५५ ई०।

२५. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा, प्रका०—आचार्य शुक्ल साधना सदन, १९।४४ पटकापुर, कानपुर। सं० २०१० वि०।

२६. मीरांबाई की पदावली—संपा०—श्री परशुराम चतुर्वेदी, प्रका०—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पंचम संस्करण, २०११।

२७. महावाणी—हरिव्यास देवाचार्य, प्रका०—ब्र० बिहारीशरण, वृन्दावन। सं० २००८।

२८. मध्यकालीन धर्म-साधना—ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रका०—साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद। प्रथम संस्करण, १९५२।

२९. युगल-शतक—श्री भट्ट देवाचार्य, प्रका०—लाला लक्ष्मीनारायण लुधियाना, श्री वृन्दावन धाम। वि० २०१३।

३०. रासलीला—विरोध और परिहार—भट्ट रमानाथ शास्त्री, प्रका०—देवर्षि पं० ब्रजनाथ शर्मा, श्रीनाथद्वारा। सं० १९८९।

३१. राधाबल्लभ संप्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक, प्रका०—हिंदी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय के निमित्त नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०।

३२. रसखान और घनानन्द—संकलनकर्ता स्व० बाबू अमीरसिंह, प्रका०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। द्वि० संस्करण, सं० २००८ वि०।

३३. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डा० बच्चन सिंह, प्रका०—काशी नागरी प्रचारिणी सभा। सं० २०१५ वि०।

३४. श्रीमद् बल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त—भट्ट ब्रजनाथ शर्मा, प्रका—शु० वै० वेल्लनाटीय विद्या-समिति, बम्बई। प्रथमावृत्ति, सं० १९८४।

३५. सौंदर्य-दर्शन—डा० हरद्वारीलाल शर्मा, प्रका०—साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद।१९५३ ई०।

३६. साहित्यलहरी—व्याख्याकार प्रभुदयाल मीतल, प्रका०—साहित्य संस्थान, मथुरा। १९६१।

३७. सुधर्म-बोधिनी—लाडलीदासकृत, प्रका०—पं० भीमसेन जी रामानंद जी पुरोहित, अटेर, राज्य ग्वालियर। प्रथम संस्करण, वि० १९८४।

३८. सूरसागर—संपादक—श्री नंददुलारे बाजपेयी, प्रका०—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पहला खण्ड : द्वितीय संस्करण सं० २००९ वि०, दूसरा खण्ड : तृतीय संस्करण सं० २०१८ वि०।

३९. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रका०—हिंदी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग। द्वि० संस्करण १९५०।

४०. सूरसाहित्य—ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

४१. सोलहवीं शती के हिंदी और बंगाली के वैष्णव कवि—डॉ० रत्नकुमारी, प्रका०—भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली।

४२. हितसुधासिंधु—अर्थात् हितचौरासी, (हितहरिवंश) स्फुटवाणी (हितहरिवंश) तथा सेवकवाणी (सेवकजी), प्रका०—रामलाल श्यामसुंदर चतुर्वेदी, श्रीहित पुस्तकालय, पुरानाशहर, वृन्दावन। सं० २०१४।

४३. हिंदी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, प्रका०—किताब महल, इलाहाबाद।१९५२।

४४. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, प्रका०—रामनारायण लाल, इलाहाबाद। तृ० संस्करण १९५४।

४५. हिंदी साहित्य की भूमिका—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रका०—हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई। प्र० संस्करण १९४०।

४६. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास—षष्ठ भाग, रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य (सं० १७००-१९००) संपा०—डा० नगेन्द्र, प्रका०—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५ वि०।

४७. मध्ययुगीन हिंदी कृष्णभक्तिधारा और चैतन्य संप्रदाय—मीरा श्रीवास्तव प्रका०—हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६८।

—

ग्रंथ - सूची

(अंग्रेजी)

1. Ajanta—G. Yazdani, Pub : Oxford University Press, London 1930.
2. Aesthetic Experience and its Presuppositions—M. C. Nahn, Pub : Harper and Bros. Publishers, Newyork and London.
3. Art and Regeneration—Maria Petrie, Pub : Paul Elek Publishers Ltd., London, 1946.
4. Art of Chandelas—O. C. Ganguly, Pub : Rupa and Co., Cal. 1957.
5. Art of Pallavas—O. C. Ganguly, Pub : Rupa and Co., Cal 1957.
6. Art of Rashtrakutas—O. C. Ganguly, Pub : Bombay Orient Longmans 1958.
7. Beauty and Other Forms of Value—S. Alexander, Pub : MACmillan and Co. Ltd. London 1933.
8. Contribution to a bibliography of Indian Art and Aesthetics—Haridas Mitra, Pub : Vishvabharati Shantiniketan, Cal. 1951.
9. Fundamentals of Indian Art—Surendra Nath Das Gupta, Pub : Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay.
10. Female Form—Arco Pub.
11. Indian Art—Essays edited by Sir Richard Winstedt. Pub : Faber and Faber Ltd., 24 Russell Square, London.
12. Indian Art and Heritage—O. C. Ganguly, Pub : Oxford Book and Co., Calcutta 1957.
13. Indian Art; a short introduction—K. Bharat Aiyer, Pub : Asia Publishing House, July 1958.
14. Indian Art in relation to Cutlure—Bhupendra Nath Datta, Pub : Naba Bharat Publishers, 153-1, Radha Bazar Street, Cal. 1956.
15. Indian Aesthetics—K. S. Ramaswamy Shastri, Pub : Sri Rangan, Sri Vani Vilas Press 1928.
16. Indian Temples—Odette Monod Bruhl, Pub : Oxford University Press 1955.
17. Introduction to Indian Art—A. Coomarswamy, Pub : Theosophical Publishing House, Adyar, 1956.

18. Indian Painting—Percy Brown, Pub : Y. M. C. A. Publishing House, Cal. 1953, IVth ed.
19. Icon and Idea : the function of art in development of human consciousness—Herbert Read, Pub : Faber and Faber Ltd., London 1955.
20. Indian Temples and Sculpture—Pub : Louis Frederic, London. (Thames and Hudson) 1959.
21. Indian Temple Sculpture—A. Goswami, Pub : Rupa and Co., Calcutta 1959.
22. Icons in Bronze, an introduction to Indian metal images—P. R. Thapar, Pub : Asia Publishing House, Bombay1961.
23. Konark—O. C. Ganguly, Pub : Jiten Bose, Cal. 1956.
24. Krishna Legend in Pahari Painting—M. S. Randhawa, Pub : Lalit Kala Acadami, New Delhi 1956.
25. Kangra Valley Painting—Int. by M. S. Randhawa, Pub : The Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India 1954.
26. Letters on "Savitri" (SAVITRI)—Sri Aurobindo, Pub : Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry 1954.
27. On the Veda—Sri Aurobindo, Pub : Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry 1956.
28. Rupadarshini : The Indian Approach to human form—M. R. Archekar, Pub : Rekha Publication, Bombay 1958.
29. Rupam : Journal of Indian Art, No. 4 (1920), no. 11 (1922).
30. Saga of Indian Sculpture—K. M. Munshi, Pub : Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.
31. Social function of Art—Radhakamal Mukerjee, Pub : Hind Kitabs, Bombay 1951.
32. Some Notes on Indian artistic anatomy— A. N. Tagore Calcutta 1914.
33. Some Aspectsof Literary Criticism in Sanskrit or The Theories of Rasa and Dhavani—A. Sanskaran, Pub : The University of Madras 1929.
34. The Transformation of Nature in Art—A. K. Coomarswamy, Pub : The Harvard Univeristy Press, Cambridge, Mass 1934.
35. The Hindu View of Art—Mulk Raj Anand, Pub : Asia Publishing House, Bombay. 1957.
36. The Art of India—Stella Kramrisch, Pub : MCMLV, The Phaidon Press, London.
37. The Erotic Sculpture of India—Max Pol Fouchet, translated by Brian Rhys, Pub : George Allen and Unwin Ltd., London 1959.
38. The Aesthetical Necessity in Life—James. H. Cousins, Pub : Kitabistan, Allahabad 1944.
39. The Message of East—A. K. Coomarswamy, Pub : Ganesh and Co., Madras.
40. The Philosophy of the Beauty—James. H. Cousins, Pub : Theosophical Publishing House, Adyar, Madras 1925.

41. The Dance of Shiva—A. K. Coomarswamy, Pub : Asia Publishing House, Bombay, Cal. 1956.

42. The Indian Concept of the Beautiful—R. Shastri

43. The Structure of Aesthetics—F. E. Sparshott, Pub : Toronto : University of Toronto Press. London : Routledge and Kegan Paul 1963.

44. The Bhakti Cult in Ancient India—B. K. Goswami, Pub : B. Banerjee and Co., 25 Corn Wallis St. Cal.

45. The Erotic Principle and Unalloyed evotion—N. K. Sanyal, Pub : Gaudiya Mission, Cal. 1941.

46. The Forms of Things Unknown—Herbert Read, Pub : Horizon Press, New York 1960.

47. The Foundations of Indian Culture—Sri Aurobindo, Pub : Sri Aurobindo Library, New York 1963 (Ist ed).